शिवयोगिशिवाचार्यविरचितः

श्रीसिद्धान्तशिखामणिः



हिन्दीव्याख्याकारः

प्रो. डॉ० राधेश्याम चतुर्वेदी

शोधप्रकाशनग्रन्थमाला : ४४

शिवयोगिशिवाचार्यविरचितः

श्रीसिद्धान्तशिखामणिः

श्रीमरितोण्टदार्यविरचिततत्त्वप्रदीपिकाख्यसंस्कृतव्याख्यया
'ज्ञानवती' हिन्दीव्याख्यया च संवलितः

हिन्दीव्याख्याकारः
प्रोफेसर डॉ० राधेश्याम चतुर्वेदी
शास्त्रचूडामणि विद्वान्
पूर्व-आचार्य
संस्कृतविभाग, कलासङ्काय,
काशीहिन्दूविश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रकाशकः
शैवभारती-शोधप्रतिष्ठानम्
डी० ३५/७७ जङ्गमवाडी मठ, वाराणसी - २२१००१

प्रकाशक :
शैवभारती शोध प्रतिष्ठानम्
डी० ३५/७७, जङ्गमवाड़ी मठ
वाराणसी - २२१००१
दूरभाष : (०५४२) २४५०५४६

प्रथम संस्करण २००६

मूल्य : रु. ६००.०० (सजिल्द), रु. ४५०.०० (अजिल्द)

अक्षर संयोजन : **मालवीय कम्प्यूटर्स,**
B 31/21 लंका, वाराणसी-५
दूरभाष : २३६९३१८

मुद्रक :
मित्तल ऑफसेट्
सुन्दरपुर वाराणसी

Research Publication Series : 44

ŚRĪSIDDḤĀNTAŚIKḤĀMAṆIH

of Śivayogī Śivācārya

With Tattvapradīpikā Sanskṛta Commentary

By Śrī Maritoṇṭadārya

&

'Jñānavatī' Hindi commentary

By

Dr. Radheshyam Chaturvedi

Śāstracūdāmaṇi Scholar

Ex-Professor

Department of Sanskrit, Faculty of Arts,

Banaras Hindu University

Varanasi - 221005

SHAIVA BHARATI SHODHA PRATISHTHANAM

D. 35/77, Jangamawadimath, Varanasi - 221001

Published by :
SHAIVA BHARATI SHODHA PRATISHTHANAM
D. 35/77, Jangamawadimath
Varanasi - 221001
Phone : (0542) 2450546

First Publised 2006

ISBN 81-86768-76-9 (Hb)
ISBB 81-86768-77-7 (Pb)

Price : Rs. 600.00 (Hb), Rs. 450.00 (Pb)

Laser Typeset at : **Malviya Computer**
B 31/21 Lanka, Varanasi-5
Phone : 2369318

Printed at :
Mittal Offset
Sundarpur, Varanasi

॥ ॐ नमः पञ्चजगद्गुरुभ्यः ॥

शैवभारती शोधप्रतिष्ठान के संस्थापक श्रीकाशीविश्वाराध्य ज्ञानसिंहासनाधिश्वर श्री १००८ जगद्गुरु डॉ० चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामी जी का



शुभाशीर्वचन

शैवभारती शोध प्रतिष्ठान के ४४वें ग्रन्थपुष्प के रूप में 'ज्ञानवती' हिन्दी व्याख्या के साथ श्रीसिद्धान्तशिखामणि ग्रन्थ का शिवार्पण करते हुए हम अपार हर्ष का अनुभव कर रहें हैं । काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्रोफेसर डॉ० राधेश्याम चतुर्वेदी ने इस ग्रन्थ पर 'ज्ञानवती' नामक हिन्दी व्याख्या लिखकर इस की उपादेयता को बढ़ा दिया है । अभी तक अनेक विद्वानों ने श्रीसिद्धान्तशिखामणि का संस्कृत, कन्नड़, मराठी, तेलुगु, तमिल और अंग्रेजी आदि भाषाओं में अनुवाद किया है, लेकिन भारत की राष्ट्रभाषा में उसका अनुवाद कार्य अभी तक नहीं हुआ था ।

कुछ वर्ष पहले महात्मा गान्धी काशी विद्यापीठ के कन्नड प्राध्यापक डॉ० शान्त शर्मा हिरेमठ ने श्रीसिद्धान्तशिखामणि के हिन्दी अनुवाद का कार्य किया था, लेकिन उनकी अकाल मृत्यु के कारण वह अनुवाद सामग्री लुप्त हो गयी। अब पं० राधेश्याम चतुर्वेदी ने 'ज्ञानवती' नामक हिन्दी व्याख्या लिखकर उस क्षति की पूर्ति की है । पण्डित चतुर्वेदी जी ने श्रीसिद्धान्तशिखामणि के मूल श्लोकों की व्याख्या लिखते हुए कुछ विशिष्ट स्थलों पर जहाँ तत्त्वप्रदीपिकाख्य संस्कृत व्याख्या में विशेष बातें लिखी गयी हैं, उनको भी अपनी 'ज्ञानवती' व्याख्या में समाविष्ट किया है ।

जगह-जगह उद्धरणों के मूल स्थान को ढूँढकर उसे नीचे टिप्पणी के रूप में प्रस्तुत किया गया है । श्रीसिद्धान्तशिखामणि सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के शक्तिविशिष्टाद्वैत वेदान्ताचार्य परीक्षा में एवं काशी हिन्दुविश्वविद्यालय के धर्मागम आचार्य परीक्षा में पाठ्यग्रन्थ के रूप में स्वीकृत हुआ है । अब पं० राधेश्याम चतुर्वेदी के द्वारा लिखित 'ज्ञानवती' व्याख्या के साथ प्रकाशित होने के कारण यह ग्रन्थ उक्त कक्षा के छात्रों के लिये बहुत ही उपयोगी सिद्ध हो रहा है। इसलिए आचार्य राधेश्याम चतुर्वेदी भूरि-भूरि प्रशंसा के पात्र हैं ।

हम कामना करते हैं कि प्रोफेसर राधेश्याम चतुर्वेदी स्वस्थ रहकर आजीवन संस्कृत साहित्य की सेवा करते हुए राष्ट्रिय साहित्य की समृद्धि में योगदान देते रहें । उसी प्रकार हमारी आकांक्षा है कि भगवान् विश्वनाथ माता अन्नपूर्णा एवं श्री जगद्गुरु विश्वाराध्यजी की असीम कृपा आपके समस्त परिवार के ऊपर सदैव बनी रहे ।

इत्याशिषः

प्रस्तावना

भारतीय धर्मपरम्परा में वीरशैव धर्म एक सनातन धर्म माना जाता है । इस धर्म के संस्थापक पाँच आचार्य हैं । उन्हें श्री जगद्गुरु पञ्चाचार्य कहा जाता है। सिद्धान्तशिखामणि एक वीरशैव धर्म ग्रन्थ है, अत: इस प्रसङ्ग में जगद्गुरु पञ्चाचार्य का संक्षेप में परिचय देते हुए श्री जगद्गुरु रेणुकाचार्यजी एवं श्रीसिद्धान्तशिखामणि के बारे में विस्तृत विवरण आवश्यक प्रतीत हो रहा है। हम आगे चलकर उपर्युक्त विषय पर यथासम्भव प्रकाश डालेंगे । उससे जिज्ञासु लोगों की जिज्ञासा का प्रचुर मात्रा में समाधान हो सकेगा।

भारतीय धर्मदर्शनों में वीरशैव धर्मदर्शन का एक विशिष्ट स्थान है । इसकी स्थापना रेणुक, दारुक, घण्टाकर्ण, धेनुकर्ण एवं विश्वकर्ण नामक पाँच प्रमुख शिवगणों ने शिव के आदेशानुसार की । इन्हीं पाँच शिवगणों को श्रीजगद्गुरु पञ्चाचार्य कहते हैं । ये पञ्चाचार्य भूलोक में क्रमश: आन्ध्रप्रदेश के कोल्लीपाकी क्षेत्र के सोमनाथ, मध्यप्रदेश के उज्जैन में स्थित वट क्षेत्र के सिद्धेश्वर, आन्ध्रप्रदेश के श्रीशैल क्षेत्र के मल्लिकार्जुन एवं उत्तरप्रदेश के काशी क्षेत्र के विश्वेश्वर ज्योतिर्लिंगों से प्रकट हुए । उन्होंने धर्मस्थापना के निमित्त रम्भापुरी (कर्नाटक), उज्जैन (मध्यप्रदेश एवं कर्नाटक), ओखीमठ (उत्तराञ्चल) तथा काशी (उत्तरप्रदेश) क्षेत्रों में पाँच धर्मपीठों की स्थापना की । ये पाँच पीठ वीरशैव धर्म के राष्ट्रिय पीठ माने जाते हैं । इन पाँचों पीठों के आचार्यो ने पांच महर्षियों को सूत्र रूप में वीरशैव धर्म-दर्शन का उपदेश दिया । इनमें रम्भापुरी पीठ के श्री जगद्गुरु रेणुकाचार्य जी ने महर्षि अगस्त्य जी को पडविडि-सूत्र का, उज्जैन पीठ के जगद्गुरु दारुकाचार्य जी ने दधीचि महर्षि को वृष्टि-सूत्र का, हिमवत् केदार पीठ के घण्टाकर्णाचार्य जी ने व्यास महर्षि को लम्बनसूत्र का, श्री शैलपीठ के जगद्गुरु धेनुकर्णाचार्य जी ने सानन्द महर्षि को मुक्तागुच्छ-सूत्र का और काशी पीठ के जगद्गुरु विश्वकर्णाचार्य जी ने महर्षि दुर्वासा को पञ्चवर्ण-महासूत्र का उपदेश दिया।

इसके बारे में—

पञ्चाननमुखोद्भूतान् पञ्चाक्षरमनूपमान् ।
पञ्चसूत्रकृतो वन्दे पञ्चाचार्यान् जगद्गुरून् ॥

(पञ्चमुख सदाशिव के पाँच मुखों से आविर्भूत होकर न, म, शि, वा एवं य इन पञ्चाक्षरों के समान स्वरूप वाले पांच सूत्रों की रचना करने वाले जगद्गुरु पञ्चाचार्यों को नमस्कार) यह परम्परागत श्लोक सुप्रसिद्ध है ।

इनमें काशी पीठ के जगद्गुरु विश्वकर्णाचार्य जी के द्वारा महर्षि दूर्वासा को उपदिष्ट पञ्चवर्णमहासूत्र को भाष्य और हिन्दी व्याख्या के साथ ईसवी सन् २००५ में काशी जङ्गमवाडी मठ के शैवभारती शोधप्रतिष्ठान के द्वारा प्रकाशित किया जा चुका है । इस शोधसंस्था के निदेशक राष्ट्रियपण्डित व्रजवल्लभ द्विवेदी जी ने अत्यन्त परिश्रम से हिन्दी अनुवाद के साथ उसका सम्पादन किया है । आशा है अन्य आचार्यों के द्वारा उपदिष्ट अवशिष्ट चार सूत्रों का संशोधन और सम्पादन भी शीघ्र ही सम्पन्न होगा ।

रम्भापुरी पीठ के जगद्गुरु के द्वारा महर्षि अगस्त्य को पडविडि-सूत्र के साथ आगमोक्त वीरशैव सिद्धान्त का जो विस्तार से उपदेश किया गया था, उसका संग्रह श्री शिवयोगी शिवाचार्य ने किया है । यही ग्रन्थ आज श्रीसिद्धान्तशिखामणि के नाम से प्रसिद्ध है ।

श्रीसिद्धान्तशिखामणि वीरशैव धर्म दर्शनों का प्रतिपादक एक अद्वितीय संस्कृत ग्रन्थ माना जाता है । जैसे वेदान्त-प्रस्थानत्रयी में उपनिषदों की सारभूत भगवद्गीता भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा उपदिष्ट होने पर भी वह महर्षि व्यास के द्वारा लिपिबद्ध की गयी, उसी प्रकार जगद्गुरु रेणुकाचार्य जी के द्वारा महर्षि अगस्त्य जी को उपदिष्ट वीरशैव सिद्धान्त को शिवयोगी शिवाचार्य नामक सुप्रसिद्ध वीरशैव आचार्य ने रेणुकागस्त्यसंवाद के रूप में लिपिबद्ध किया । जिस प्रकार भगवद्गीता सभी उपनिषदों का सारसर्वस्व है, उसी प्रकार श्रीसिद्धान्तशिखामणि कामिकादि वातुलान्त २८ सिद्धान्तगमों का सारभूत है ।

इक्कीस परिच्छेदों में उपनिबद्ध श्रीसिद्धान्तशिखामणि में प्राय: १४०० श्लोक हैं । इस ग्रन्थ के पहले परिच्छेद से लेकर चौथे परिच्छेद तक मङ्गलाचरण, कवि का वंशवर्णन, कैलास-पर्वत-वर्णन, जगद्गुरु रेणुकाचार्य जी के लिङ्गावतार का वर्णन और महर्षि अगस्त्य जी के आश्रम आदि का वर्णन किया गया है। इक्कीसवें परिच्छेद में विभीषण की प्रार्थना के अनुसार श्रीलङ्का में जगद्गुरु रेणुकाचार्य जी के द्वारा तीन करोड़ शिवलिङ्गों की युगपत् स्थापना करने की महिमा वर्णित है । इस ग्रन्थ के पञ्चम परिच्छेद से बीसवें परिच्छेद तक के भाग में वीरशैव धर्म-दर्शन का षट्स्थल सिद्धान्त एक सौ (१०१) एक अवान्तर स्थलों के रूप में बहुत ही विस्तार से प्रतिपादित किया गया है ।

श्रीसिद्धान्तशिखामणि ही ऐसा पहला ग्रन्थ है, जिसमें वीरशैव षट्स्थल सिद्धान्त को एकोत्तरशत स्थलों के रूप में शास्त्रोक्त रीत्या प्रतिपादित किया गया है । अन्य शैवागमों में षट्स्थलों का केवल नामोल्लेख तथा उनके सिद्धान्तों को प्रतिपादित किया गया है, लेकिन श्री शिवयोगी शिवाचार्य जी ने आगमोक्त षट्स्थल सिद्धान्त को आधार मानते हुए उन षट्स्थलों को १०१ स्थलों में विस्तृत करके एक अपूर्व एवं अद्भुत पद्धति से उनका विवेचन किया है । अत: षट्स्थलों के एकोत्तरशत स्थलों के रूप में प्रथम विवेचक श्री शिवयोगी शिवाचार्य ही माने जाते हैं ।

ग्रन्थनाम रहस्य—श्री रेणुकागस्त्यसंवादात्मक इस ग्रन्थ का 'श्रीसिद्धान्तशिखामणि' नामकरण किया गया है । इसका रहस्य यह है कि कामिकादि वातुलान्त शिवोपदिष्ट २८ शैवागम सिद्धान्तागम के नाम से प्रसिद्ध हैं[१] । इस सिद्धान्तागमों के उत्तर भाग में वीरशैव सिद्धान्त प्रतिपादित है । इस तरह सिद्धान्तागमों के उत्तर भाग में प्रतिपादित वीरशैव सिद्धान्त को श्री शिवयोगी शिवाचार्य ने अपनी विशिष्ट रचनाशैली में संगृहीत किया है । यह संगृहीत सिद्धान्त शिखामणि, अर्थात् शिरोरत्न के समान होने के कारण इसे 'सिद्धान्तशिखामणि' कहा जाता है । इसी अर्थ का समर्थन करते हुए ग्रन्थकार ने स्वत: कहा है—

सर्वेषां शैवतन्त्राणामुत्तरत्वान्निरुत्तरम् ।
नाम्ना प्रतीयते लोके यत्सिद्धान्तशिखामणि: ॥

अत: आगमप्रतिपादित अनेक सिद्धान्तों में वीरशैव सिद्धान्त एक शिखामणि-सदृश होने के कारण प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रतिपादित है । इसीलिए इस ग्रन्थ को श्रीसिद्धान्तशिखामणि कहा गया है ।

ग्रन्थकार और उनका काल—ग्रन्थकार श्री शिवयोगी शिवाचार्य ने इस ग्रन्थ के प्रथम परिच्छेद में श्लोक सं० १३-२० पर्यन्त अपने वंश का वर्णन किया है । इस वर्णन से यह ज्ञात होता है कि इनके वंश में बहुत पहले शिवयोगी नामक एक महान् योगी उत्पन्न हुए थे । उनके वंश में मुद्ददेव नामक आचार्य हुए । उनके सिद्धनाथ नामक एक सुपुत्र थे। उनको पुन: शिवयोगी नामक पुत्र उत्पन्न हुए । यह शिवयोगी ही इस ग्रन्थ के रचयिता शिवयोगी शिवाचार्य हैं ।

(ग्रन्थकार का वंशवृक्ष)

शिवयोगी



मुद्ददेव



सिद्धनाथ



शिवयोगी (सिद्धान्तशिखामणि के रचयिता)

इस वंशवर्णन से शिवयोगी शिवाचार्य जी के देश और काल के बारे में स्पष्ट रूप से कुछ भी पता नहीं चलता । १७ वीं शताब्दी में वर्तमान कर्नाटक के मरितोण्टदार्य नामक एक विद्वान् ने इस ग्रन्थ पर तत्त्वप्रदीपिका नामक संस्कृत व्याख्या लिखी । उन्होंने अपने व्याख्यान की अवतरणिका के प्रारम्भ में—'अत्र कलिकालप्रवेशानन्तरं लोकहितार्थं रेणुकगणेश्वर इति प्रसिद्धो रेवणसिद्धेश्वर: कुम्भसम्भवाय वीरशैवशास्त्रमुपदिष्टवान् । तदनन्तरं रेणवसिद्धेश्वरदृष्टिगर्भसम्भूतसिद्धरामेश्वरसम्प्रदायप्रसिद्ध:

---

१. सिद्धान्तशब्द: पङ्कजादिशब्दवद योगरूढ्या शिवप्रणीतेषु कामिकादिषु दशाष्टादशतन्त्रेषु प्रसिद्ध: (रत्नत्रयम्, पृ० ५) ।

सकलनिगमागमपारग: शिवयोगीश्वर इत्यभिधानवान् कश्चिन्माहेश्वरस्तद्रेणुकागस्त्यसंवादं निर्विघ्नेन स्वशिष्यान् बोधयितुं स्वमनसि कृतसकल्पसिद्धान्तश्रेष्ठनिगमागमैक्यगर्भीकार-लक्षणस्वेष्टदेवतानमस्काररूपं मङ्गलं शिष्यशिक्षार्थं सप्तभि: श्लोकैर्निबध्नाति'[१] इस अवतरणिका में ग्रन्थकार शिवयोगी शिवाचार्यजी को श्रीसिद्धरामेश्वरजी के सम्प्रदाय से सम्बद्ध, अर्थात् उनका वंशज माना गया है । लेकिन मरितोण्टदार्यजी की यह उक्ति तर्कसङ्गत नहीं प्रतीत होती ।

महाराष्ट्र प्रान्त के सोलापुर में १२ वीं शताब्दी में श्री सिद्धरामेश्वर नामक एक महान् शिवयोगी आचार्य हुए । उनके पिता का नाम मुद्दगौडा था । यहाँ पर शिवयोगी शिवाचार्य ने अपने पूर्ववंशजों में एक का नाम मुद्ददेव कहा है। उधर मुद्दगौडा का पुत्र सिद्धराम था । यहाँ मुद्ददेव का पुत्र सिद्धनाथ रहा है। इस प्रकार के नामसाम्य के कारण सम्भवत: मुद्ददेव को मुद्दगौडा समझकर और सिद्धनाथ को सिद्धराम समझकर मरितोण्टदार्यजी के मन में भ्रम पैदा हो गया होगा । वस्तुत: सोलापुर के श्रीसिद्धरामेश्वर के वंश के साथ श्री शिवयोगी शिवाचार्यजी का कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता । कर्नाटक के वीरशैव विद्वान् डॉ ज. च. नि.[२] और एन. आर. करिबसव शास्त्री[३] आदि विद्वानों ने श्री मरितोण्टदार्यजी की विचारसरणि को विसङ्गत माना है ।

ग्रन्थ के कालनिर्णय में दासगुप्त की अनवधानता—डॉ. एस. एन. दासगुप्त भारतीय दर्शनशास्त्र के बहुत बड़े इतिहासज्ञ माने जाते हैं । इन्होनें (A History of Indian Philosophy, Vol. No. 5 Page No. 44) में श्रीसिद्धान्तशिखामणि के काल के बारे में लिखते समय कहा है—'श्रीसिद्धान्तशिखामणि मे श्री बसवेश्वर जी के नाम का उल्लेख होने से यह ग्रन्थ श्री बसवेश्वर के बाद का तथा श्रीकरभाष्य में श्रीसिद्धान्तशिखामणि का उल्लेख होने से यह श्रीपति पण्डिताराध्य जी से पहले की रचना हो सकती है ।' किन्तु श्री दासगुप्त जी के मत की अपेक्षा इन दो व्यक्तियों की युक्तियों के आधार पर भी सिद्धान्तशिखामणि का काल श्रीकरभाष्य की अपेक्षा प्राचीन मानना अधिक युक्त है । लेकिन यह ग्रन्थ बसवेश्वर के बाद का है, यह कथन निराधार है, क्योंकि श्रीसिद्धान्तशिखामणि के मूल श्लोकों में कहीं पर भी श्री बसवेश्वर का उल्लेख नहीं मिलता । किन्तु श्री मरितोण्टदार्यकृत तत्त्वप्रदीपिका व्याख्या की अवतरणिका में वीरभद्राचार एवं बसवेश्वराचार का प्रतिपादन किया गया है[४] ।

इससे यह सिद्ध होता है कि श्रीसिद्धान्तशिखामणि की तत्त्वप्रदीपिकाव्याख्या के कर्ता श्रीमरितोण्टदार्य श्री बसवेश्वर के परवर्ती थे, न कि मूल लेखक शिवयोगी

१. सि.शि., पृष्ठसंख्या १-२
२. कन्नडमणिकान्तिपीठिका, पृष्ठ-१६ से २० (ई. सन् १९५१) ।
३. सिद्धान्तशिखामणि, कन्नड प्रस्तावना, पृष्ठ-५ (ई. सन् १९२१) ।
४. सि.शि. ९-३६, तत्त्वप्रदीपिकाव्याख्या, पृष्ठ १८५ (वीरशैव साहित्य संशोधन मण्डल, सोलापुर प्रकाशन, ई. १९९०)

शिवाचार्य । श्रीदासगुप्त जी सम्भवत: सिद्धान्तशिखामणि के काल के निर्णय के सन्दर्भ में मूलग्रन्थ तथा उसकी व्याख्या में भेद को न समझने के कारण अनवधानता कर बैठे ।

यहाँ पर एक तथ्य समझ लेना चाहिये कि महात्मा बसवेश्वर ने अपने एक वचन में श्रीसिद्धान्तशिखामणि के—

प्रसादाद् देवताभक्तिः प्रसादो भक्तिसम्भवः ।
यथैवाङ्कुरतो बीजं बीजतो वा यथाऽङ्कुरः ॥

इस श्लोक को प्रमाण के रूप में उद्धृत किया है[1] । यह श्लोक श्रीसिद्धान्तशिखामणि के नवम परिच्छेद का ३६ वाँ श्लोक है । इसके अतिरिक्त १२ वीं शताब्दी के चन्नबसवेश्वर आदि सन्तों ने जातिवाद के निराकरण प्रसङ्ग में—

शिवभक्तिसमावेशे क्व जातिपरिकल्पना ।
इन्धनेष्वग्निदग्धेषु को वा भेदः प्रकीर्त्यते ॥

(सि.शि. ११.५५)

सिद्धान्तशिखामणि के इस श्लोक को प्रमाण रूप में उद्धृत किया है । अत: श्रीशिवयोगीशिवाचार्य १२ वीं शताब्दी से पहले ही विद्यमान थे, यह स्पष्ट रूप से सिद्ध होता है ।

इसके अतिरिक्त श्रीपति पण्डिताराध्य विरचित श्रीकरभाष्य में[2] श्रीसिद्धान्तशिखामणि का सप्रमाण उल्लेख होने के कारण इस ग्रन्थकार का समय श्रीपति पण्डिताराध्य से पूर्व मानना पड़ेगा । श्रीपति पण्डिताराध्यजी के कार्यकाल के बारे में भारतीय दर्शनशास्त्र के सुप्रसिद्ध विद्वान् स्वर्गीय पण्डित बलदेव उपाध्याय जी[3] ने खीष्ट सन् १०६० ई० माना है और श्रीकरभाष्य में श्री रामानुजाचार्य जी का तथा उनके श्रीभाष्य का उल्लेख होने के कारण श्रीपति जी श्री रामानुजाचार्य से परवर्ती सिद्ध होते हैं । भारत के भूतपूर्व राष्ट्रपति स्वर्गीय डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन् जी ने रामानुजाचार्य का काल खीष्ट सन् १०२७ ई० माना है[4] ।

काशीपीठ के पूर्व जगद्गुरु वीरभद्र शिवाचार्य जी[5] तथा श्री टी. एस. नारायण शास्त्री जी[6] ने श्रीकरभाष्य का काल प्राचीन शिलाशासनों के आधार पर क्रमश: खीष्ट सन् १०६४ ई० तथा १०७२ ई० माने हैं । इन सभी विद्वानों के विचारों

---

१. बसवेश्वर के वचन भाग (१) पृष्ठ, १०७ कर्नाटक विश्वविद्यालय प्रकाशन, ई. सन् १९७६.
२. ब्रह्मसूत्र श्रीकरभाष्य १-१-१
३. भारतीय दर्शन, पृष्ठ-४६९ चौखम्बा ओरियंटालिया, ई. सन् १९७६.
४. Indian Philosophy, Vol. No. 2, Page No. 665, Published by D. R. Bhagi, Bombay 1977 A.D.
५. श्रीकरभाष्य चतु:सूत्रीपीठिका, पृष्ठ-४, जङ्गमवाडी मठ, वाराणसी प्रकाशन, ई. सन् १९५६
६. 'The Indian Review', Vol. No. 16, May 1915, Page No. 5.

से श्रीपति पण्डिताराध्यजी का काल निश्चित रूप से ११ वीं शताब्दी सिद्ध होता है। इनके द्वारा लिखित श्रीकरभाष्य में उल्लिखित श्रीसिद्धान्तशिखामणि के रचयिता श्रीशिवयोगी शिवाचार्य जी को उससे भी पूर्ववर्ती अवश्य मानना चाहिये । इसके अतिरिक्त श्रीसिद्धान्तशिखामणि में श्रीशिवयोगि शिवाचार्य ने कहा है—

येन रक्षावती जाता शिवभक्तिः सनातनी ।
बौद्धादिप्रतिसिद्धान्तमहाध्वान्तांशुमालिना ॥

इस श्लोक में बौद्ध आदि प्रतिसिद्धान्तों से शिवभक्तों की रक्षा के लिये प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना की ऐसा इनके उपर्युक्त वचन से सिद्ध होता है । भारत में बौद्ध धर्म के प्रबल प्रचार का समय ६००-८०० ईस्वी माना जाता है । अतः श्रीसिद्धान्तशिखामणि का रचनाकाल भी ६००-८०० ईस्वी मानना चाहिये । इस प्रकार सिद्धान्तशिखामणि का रचनाकाल लगभग ८ वीं शताब्दी मानने में कोई अनौचित्य नहीं है ।

शिवयोगी शिवाचार्य का देश विचार—श्रीसिद्धान्तशिखामणि के रचनाकार श्रीशिवयोगी शिवाचार्य ने अपना वंशवर्णन करते समय कहीं भी अपने गाँव या प्रदेश का नामनिर्देशन नहीं किया है । अतः उनके देश के बारे में निश्चित रूप से कहना कठिन है । तथापि मैसूर के वे.पं. काशीनाथ शास्त्रीजी और डॉ. ज. च. नि. महोदय ने 'शिवयोगी शिवाचार्य जी कर्नाटक प्रदश के रहे, तत्रापि बीजापुर जिले के सालोटगी ग्राम निवासी रहे' इस प्रकार उनके स्थान का प्रतिपादन किया है[1] ।

श्रीसिद्धान्तशिखामणि के टीकाकार—वीरशैवों के धर्मग्रन्थ के रूप में प्रख्यात श्रीसिद्धान्तशिखामणि के ऊपर संस्कृत, कन्नड, हिन्दी मराठी, तेलुगु तथा अंग्रेजी आदि भाषाओं में अनेक विद्वानों ने व्याख्याएं लिखी हैं । वीरशैव धर्म-दर्शन के किसी और संस्कृत ग्रन्थ की इतनी भाषाओं में व्याख्या नहीं है । इससे इस ग्रन्थ की महत्ता और लोकप्रियता सिद्ध होती है ।

१७ वीं शताब्दी में वर्तमान सोसले रेवणाराध्य नामक कन्नड विद्वान् ने इस ग्रन्थ के ऊपर 'सिद्धार्थबोधिनी' नामक कन्नड व्याख्यान की रचना की । उसके बाद १७ वीं शताब्दी में श्री मरितोण्टदार्यजी ने 'तत्त्वप्रदीपिका' नामक संस्कृत व्याख्या की रचना की । तत्पश्चात् मैसूर के आस्थानविद्वान् लिं. एन्. आर. करिबसव शास्त्री जी, मैसूर के ही लिं. पं. काशीनाथ शास्त्री जी, एम्. एल्. नागण्णा जी, बीजापुर के ज्ञानयोगाश्रम के संस्थापक श्री मल्लिकार्जुन स्वामी जी आदि २० (बीसवीं) वीं शताब्दी के विद्वानों ने कन्नड भाषा में अपनी-अपनी शैली में व्याख्या लिखी है ।

कर्नाटक के चित्रदुर्ग के एस्.एम्. सिद्दय्या नामक विद्वान् ने श्रीसिद्धान्त-शिखामणि के ऊपर कन्नड भाषा में 'भामिनीषट्पदी' नामक कन्नड छन्द में पद्य रूप में व्याख्या लिखी है । यह एक विलक्षण कृति है । बंगलोर विश्वविद्यालय

१. सिद्धान्तशिखामणि प्रस्तावना, पृष्ठ-७, काशीनाथ ग्रन्थमाला, मैसूर, ई. सन् १९७२.

के भूतपूर्व संस्कृतविभागाध्यक्ष डॉ. एम्. शिवकुमार स्वामी जी १९६८ ईस्वी में श्रीसिद्धान्तशिखामणि के चुने हुए श्लोकों पर अंग्रजी अनुवाद करके इसे 'श्रीरेणुकगीता' के नाम से प्रकाशित किया है । अभी वही विद्वान् मरितोण्टदार्य जी की व्याख्या के साथ मूल सम्पूर्ण ग्रन्थ का अंग्रेजी भाषा में विस्तृत अनुवाद लिख रहे हैं । इसका प्रकाशन सम्भवत: ई. सन् २००६-२००७ में जङ्गमवाडी मठ के शैवभारती शोधप्रतिष्ठान के द्वारा होगा ।

महात्मा गान्धी काशी विद्यापीठ के कन्नड भाषा के प्राध्यापक लिङ्गैक्य श्री ष. ब्र. डॉ. श्रीपति पण्डिताराध्य शिवाचार्य हिरेजेवरगी ने (शान्त शर्मा हिरेमठ) श्रीसिद्धान्तशिखामणि की 'भावमञ्जूषा' नामक हिन्दी व्याख्या लिखी थी, लेकिन उनकी अकालमृत्यु के कारण वह सामग्री लुप्त हो गई । उसका प्रकाशित न होना खेद की बात है । सम्प्रति काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के पूर्व आचार्य पं. राधेश्याम चतुर्वेदी ने श्रीसिद्धान्तशिखामणि पर 'ज्ञानवती' नामक हिन्दी व्याख्या लिखकर हमारे शैवभारती शोधप्रतिष्ठान को प्रकाशनार्थ समर्पित किया है । ई. सन् २००६ के महाशिवरात्रि पर्व के उपलक्ष में आयोजित विद्वत्सभा में उसका शिवार्पण करके हम अपार हर्ष का अनुभव कर रहे हैं । श्रीसिद्धान्तशिखामणि के राष्ट्रभाषा में अनूदित होने से उत्तरभारतीय जनता के लिए इसका बहुत महत्त्व होगा । इसलिए पं. राधेश्याम चतुर्वेदी प्रशंसा के पात्र हैं ।

कर्नाटक के सुप्रसिद्ध संशोधक एवं बहुत बड़े साहित्यरचनाकार डॉ. ज. च. नि. (निडुमामिडि संस्थान के श्री ष. ब्र. डॉ. चन्नबसवराज देशिकेन्द्र महास्वामी जी) महोदय ने श्रीसिद्धान्तशिखामणि ग्रन्थ के ऊपर 'जीवनसिद्धान्त' के नाम से विस्तृत विवेचनात्मक व्याख्या लिखी है, जो छ: भागों में १९६९-१९७० ईस्वी में प्रकाशित होकर कर्नाटक में विद्वन्मान्य हो गयी है ।

हम अपने पूर्वाश्रम में श्रीसिद्धान्तशिखामणि के ऊपर कन्नड भाषा में प्रवचन करते रहे । धीरे-धीरे उस ग्रन्थ के १०१ स्थलों पर अलग-अलग प्रवचन ग्रन्थ प्रकाशित करने की इच्छा हुई । 'श्रीसिद्धान्तशिखामणिप्रवचनप्रभे' नाम से ई. सन् १९८९ तक इसके छ: भाग प्रकाशित हो गये । काशी जङ्गमवाडी मठ के पीठाधीश्वर होने के पश्चात् हमने अवशिष्ट सभी स्थलों पर प्रवचन लिखकर पूरे १०१ स्थलों को २ बृहद् भागों में (१७४९ पृष्ठ) ई. सन् २००० में छपवाकर पहली बार प्रकाशित कराया ।

कन्नड भाषा में प्रकटित प्रवचनशैली के ये दो भाग अतिशय लोकप्रिय होने के कारण अभी तक उसके तीन संस्करण निकल चुके हैं । २००६ ईसवी में इसका चतुर्थ संस्करण प्रकाशित हो गया है । इन दोनों भागों के सङ्कलनकार्य में काशी जङ्गमवाडी मठ के वरिष्ठ शोधछात्र और बबलेश्वर बृहन्मठ के पट्टाध्यक्ष श्री ष. ब्र. डॉ. महादेव शिवाचार्य एवं हिप्परगी व एडूर मठाध्यक्ष श्री ष. ब्र. डॉ. सिद्धराम पण्डिताराध्य शिवाचार्य स्वामी जी का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है, अत: वे भी साधुवाद के पात्र हैं ।

श्रीसिद्धान्तशिखामणि पर आधृत हमारे प्रवचनों का सोलापूर के मराठी वीरशैव साहित्य के बहुत बड़े विद्वान् डॉ. शे. दे. पसारकर ने संग्रह करके मराठी भाषा में उनका अनुवाद किया । उन मराठीप्रवचनों का संग्रह 'जन्महा अखेरचा' नाम से प्रकाशन हुआ । उसके भी अभी तक तीन संस्करण निकल चुके हैं। इस तरह श्रीसिद्धान्तशिखामणि में प्रतिपादित वीरशैव दार्शनिक सिद्धान्त को लोगों को समझाने के लिए अनेक विद्वानों ने विभिन्न भाषाओं में टीका, व्याख्यान और प्रवचनादि लिखकर वीरशैव साहित्य के संवर्धन में अपना बहुत बड़ा योगदान किया है ।

श्रीसिद्धान्तशिखामणि पर आधृत शोधप्रबन्ध—एक दार्शनिक ग्रन्थ होने के कारण श्रीसिद्धान्तशिखामणि के ऊपर एक समीक्षात्मक अध्ययन करने की इच्छा हमारे मन में हुई । १९७३ ईसवी में वेदान्ताचार्य परीक्षा में उत्तीर्ण होने के पश्चात् सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के तत्कालीन वेदान्तविभागाध्यक्ष स्वर्गीय पं. देवस्वरूप मिश्र के मार्गदर्शन में 'श्रीसिद्धान्तशिखामणेर्दर्शनान्तरीयसिद्धान्तैः सह समीक्षा' विषय पर अनुसन्धान कार्य १९७४ में प्रारम्भ हुआ । ई. सन् १९८४ में अनुसन्धान कार्य पूर्ण हुआ । बाद में ई. सन् १९८९ में शैवभारती भवन जङ्गमवाडी मठ के द्वारा इसका प्रकाशन हुआ । इसके प्रकाशन के लिए केन्द्र सरकार के मानवसंसाधनविकास मन्त्रालय के शिक्षा विभाग के द्वारा आर्थिक सहायता प्राप्त हुई थी । 'सिद्धान्तशिखामणि-समीक्षा' नामक यह शोध-प्रबन्ध सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के वेदान्त विभाग में शक्तिविशिष्टाद्वैत वेदान्ताचार्य की एवं काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृतविद्या-धर्मविज्ञान सङ्काय के धर्मागम विभाग की आचार्य परीक्षा के लिए पाठ्यग्रन्थ के रूप में स्वीकृत हुआ है ।

काशी जङ्गमवाडी मठीय जगद्गुरु विश्वाराध्य गुरुकुल के शोधछात्र श्री ष. ब्र. डॉ. सिद्धराम पण्डिताराध्य शिवाचार्य (सिद्धराम देव हिप्परगी) ने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृतविद्या-धर्मविज्ञान सङ्काय के वेदान्त विभाग में प्रोफेसर पण्डित सुधांशुशेखर शास्त्री जी के मार्गदर्शन में श्रीसिद्धान्तशिखामणि एवं श्रीमद्भगवद्गीता का तुलनात्मक अध्ययन कर डाक्टरेट उपाधि प्राप्त की । इस शोधप्रबन्ध में श्रीसिद्धान्तशिखामणि एवं श्रीमद्भगवद्गीता के तात्त्विक सिद्धान्तों की तुलना की गयी है ।

श्रीसिद्धान्तशिखामणि पर राष्ट्रिय शास्त्रसङ्गोष्ठी—दिनाङ्क १५ अक्टूबर से १७ अक्टूबर १९९७ तक काशी जङ्गमवाडी मठ में 'श्रीसिद्धान्तशिखामणि के विविध आयामों पर विचार विमर्श' नामक एक राष्ट्रस्तरीय शास्त्रसङ्गोष्ठी का आयोजन हुआ था । उसमें पूरे भारतवर्ष के विभिन्न प्रान्तों से बीस प्रमुख विद्वानों ने भाग लिया था । इस गोष्ठी में विद्वानों के निबन्धवाचन तथा उसके ऊपर चर्चाएँ हुई। इन सारे विषयों को 'सिद्धान्तशिखामणि मीमांसा' नामक शोध ग्रन्थ के रूप में जङ्गमवाडी मठ के शैवभारती शोधप्रतिष्ठान के द्वारा ईसवी सन् २००० में प्रकाशित किया गया । इस प्रकार अनेक विद्वानों ने श्रीसिद्धान्तशिखामणि ग्रन्थ के ऊपर व्याख्यान, प्रवचन, संशोधन आदि कार्य करके दार्शनिक क्षेत्र में इसकी महत्ता को समझाया है ।

श्री जगद्‌गुरु रेणुकाचार्यजी की लिङ्गोद्भव लीला—शिव के आदेशानुसार वीरशैव धर्म के संस्थापक श्री जगद्‌गुरु पञ्चाचार्य भूलोक में शिवलिङ्ग से प्रकट हुए । यह विषय शिवागमों में प्रतिपादित है । श्रीसिद्धान्तशिखामणि के तृतीय एवं चतुर्थ परिच्छेद में श्री जगद्‌गुरु रेणुकाचार्य जी की लिङ्गोद्भव लीला वर्णित है । उसके अनुसार एक बार कैलास में भगवान् शिव की सभा चल रही थी। तब भगवान् शिव ने ताम्बूल प्रसाद देने के लिए रेणुक गणेश्वर का आह्वान किया । उस आह्वान से प्रसन्न रेणुक गणेश्वर शीघ्रता में पास में बैठे हुए दारुक गणेश्वर को लांघ कर शिवजी के पास पहुँच गये । इसे देखकर क्रुद्ध शिवजी ने रेणुक गणेश्वर को भूलोक में जन्म लेने के लिए आदेश दे दिया ।

उस समय रेणुक गणेश्वर ने भगवान् शिवजी से प्रार्थना की कि—'हे भगवन्! आपके आदेश से मैं भूलोक जाने को तैयार हूँ लेकिन सामान्य मनुष्यों जैसे मुझे जन्म न लेना पड़े, आप ऐसी कृपा करें ।' इस प्रार्थना से सन्तुष्ट शिवजी ने कहा—'हे रेणुक! तुम बिल्कुल भयभीत मत हो । भूलोक के त्रिलिङ्ग देश (आन्ध्र प्रदेश) में विद्यमान सुप्रसिद्ध श्रीशैल क्षेत्र की उत्तर दिशा में 'कोल्लिपाकि' नामक एक क्षेत्र है । वहाँ मैं सोमेश्वर लिङ्ग के नाम से विद्यमान हूँ । तुम उस शिवलिङ्ग में प्रकट हो जाओ । तब तुम्हें मानुष भाव का स्पर्श नहीं होगा। इस प्रकार तुम लिङ्गोद्भव होकर सम्पूर्ण मानव जाति के कल्याण के लिए मेरे द्वारा उपदिष्ट वेद-वेदान्तसम्मत शिवाद्वैत सिद्धान्त अर्थात् वीरशैव सिद्धात की स्थापना करोगे ।' शिव के आदेशानुसार रेणुक गणेश्वर उस सोमेश्वर शिवलिङ्ग से दिव्य देहधारी होकर प्रकट हुए । उसी घटना को जगद्‌गुरु रेणुकाचार्यजी की लिङ्गोद्भव लीला कहते हैं ।

मार्कण्डेय महर्षि को यम के भय से मुक्त करने के लिए जैसे शिव एक स्थावर लिङ्ग से प्रगट हुए थे एवं प्रह्लाद को अनुगृहीत करने के लिए नृसिंह भगवान् जैसे राजमहल के खम्बे से प्रगट हुए थे, उसी प्रकार जगद्‌गुरु रेणुकाचार्य जी लोकोद्धार के लिए श्री सोमेश्वर शिवलिङ्ग से प्रगट हुए । जन्म और प्राकट्य में बहुत बड़ी भिन्नता है । जन्म होने के लिए जन्म से पहले जनक और जननी की सहविद्यमानता नितान्त जरूरी होती है, किन्तु प्रकट होने के लिए जननी-जनकों की आवश्यकता नहीं होती । जो लोग योगसिद्ध होते हैं, उनका अस्तित्व पहले से ही विद्यमान होता है । वे जहाँ चाहे वहाँ प्रकट होने की क्षमता रखते हैं । श्री जगद्‌गुरु रेणुकाचार्य शिव के ही समान अणिमादि अष्ट सिद्धियों के धनी थे । अतः उनका भूलोक में शिवलिङ्ग से प्रकट होना कोई आश्चर्य की बात नहीं ।

महर्षि पतञ्जलि—'ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत् तद्धर्मानभिघातश्च' (यो.सू. ३.४५) के योगसूत्र में और 'यथा परमाणुत्वं प्राप्तो वज्रादीनामप्यतः प्रविशति' भोजवृत्ति में कहा गया है कि योगसामर्थ्य के द्वारा अणिमादि अष्ट सिद्धियों को प्राप्त योगी अणुरूप धारण करके अत्यन्त कठिन से कठिन वज्रादि में भी प्रविष्ट

होकर पुन: प्रकट हो सकता है ।

ऐसी अलौकिक घटनाएँ सामान्य जनता के लिए असम्भव जैसी लगती हैं, पर योगसिद्धों के लिए यह सहज घटना मानी जाती है । काशी में विशुद्धानन्द नामक एक दिव्य योगी २० वीं शताब्दी में हुए थे । महामहोपाध्याय पं. गोपीनाथ कविराज जी उनके परमशिष्य रहे । एक बार योगसामर्थ्य की चर्चा करते हुए विशुद्धानन्दजी ने 'जात्यन्तरपरिणाम' इस विषय पर प्रकाश डालते हुए कहा कि एक जाति की वस्तु को दूसरी जाति में परिवर्तित किया जा सकता है । इसे सुनकर पं. गोपीनाथ कविराज के—यह कैसे सम्भव होगा? ऐसा तर्क प्रस्तुत करने पर विशुद्धानन्द जी ने अपने हाथ में स्थित एक गुलाब के फूल को योगसामर्थ्य से उनकी (गोपीनाथ की) इच्छा के अनुसार लाल बन्धूक कुसुम के रूप में परिवर्तित करके दिखाया । इस विषय की चर्चा पं. गोपीनाथ कविराज जी ने कल्याण मासिक के योगाङ्क के पृष्ठ ७४८ में 'सूर्यविज्ञान' नामक लेख में की है ।

काशी के सुप्रसिद्ध तैलङ्ग स्वामी जी ने २८० वर्ष तक जीवित रहकर अनेक लीलाएँ की हैं । उनकी लीलाओं के बारे में श्री राजेन्द्रप्रसाद पाण्डेय नामक लेखक ने २८/०१/१९८३ में यहाँ के प्रसिद्ध दैनिक 'आज' अखबार में एक लेख लिखा था । उसके अनुसार एक ब्रिटिश अधिकारी तैलङ्ग स्वामीजी को नङ्गे घूमने की वजह से जेल में बन्द कर दिया । लेकिन दूसरे दिन ताला बन्द रहने के बावजूद तैलङ्ग स्वामी जी बाहर निकल आये थे । इस तरह सारे देश में योग की चामत्कारिक घटनाएँ घटती आयी हैं । अत: साक्षात् शिव के सान्निध्य में रहने वाले एक शिवगण श्रीरेणुक गणेश्वर की शिव के समान अणिमादि अष्टसिद्धि से युक्त होने के कारण लिङ्गोद्भव लीला एक सहज सम्भवनीय घटना है ।

श्रीजगद्गुरु रेणुकाचार्य द्वारा त्रिकोटि शिवलिङ्ग स्थापनलीला—श्रीसिद्धान्त-शिखामणि के अन्तिम २१ वें परिच्छेद में त्रिकोटि शिवलिङ्ग स्थापन- लीला का वर्णन आया है । उस परिच्छेद का सार यह है कि लङ्काधिपति रावण ने नवकोटि लिङ्ग की स्थापना करने का सङ्कल्प किया था । अपने जीवन काल में ही उसने छ: कोटि लिङ्गों की स्थापना की थी । श्रीराम के साथ युद्ध करते-करते स्वर्ग को प्राप्त कर रहे रावण ने अपने छोटे भाई विभीषण को बुलाकर अपने शेष सङ्कल्प को पूरा करने का दायित्व सौंपा । एक ही मुहूर्त में तीन कोटि शिवलिङ्गों की स्थापना करने के लिये विभीषण बहुत दिन तक चिन्तित रहे ।

उसी समय श्री जगद्गुरु रेणुकाचार्य जी महर्षि अगस्त्य को शिवाद्वैत सिद्धान्त का उपदेश करने के बाद व्योम मार्ग से श्रीलङ्का नगरी आ पहुँचे । श्री जगद्गुरु रेणुकाचार्य जी के श्रीलङ्का में पधारने का समाचार सुनकर विभीषण उनके पास आए और उन्हें गौरव के साथ अपने राजमहल में ले गये । वहाँ पर उनकी वैभव के साथ पादपूजा करके उनको अपने ज्येष्ठ भ्राता रावण के सङ्कल्प को

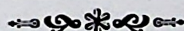
सुनाया। उस समय जगद्गुरु रेणुकाचार्य जी ने रावण के सङ्कल्प को पूर्ण करने के लिए एक ही समय में तीन कोटि गुरु-रूप धारण करके तीन कोटि शिवलिङ्गों की स्थापना की ।

इस तरह जगद्गुरु रेणुकाचार्य अपनी योगसिद्धि से अपने ही जैसे तीन करोड़ आचार्यों के रूप धारण करके अपनी महिमा को दिखाया ।

इस तरह श्री जगद्गुरु रेणुकाचार्य ने भूलोक में सोमेश्वर लिङ्ग से आविर्भूत होकर महर्षि अगस्त्य को शिवाद्वैत सिद्धान्त का उपदेश दिया । बाद में श्रीलङ्का में त्रिकोटि शिवलिङ्गों की स्थापना करके अपनी महती शक्ति का प्रदर्शन किया। अवतार का प्रयोजन पूर्ण होने के पश्चात् रेणुकाचार्य पुनः उसी सोमेश्वर शिवलिङ्ग में अन्तर्हित हो गये ।

इस प्रकार श्री जगद्गुरु रेणुकाचार्य ने लोककल्याण एवं वीरशैव धर्म की स्थापना के लिए अवतीर्ण होकर लोगों को अपनी महिमा का भान कराया और महर्षि अगस्त्य को शिवाद्वैत सिद्धान्त का ज्ञान दिया । वह ज्ञान श्री शिवयोगी शिवाचार्य के द्वारा संगृहीत होकर आज श्रीसिद्धान्तशिखामणि के रूप में सबके लिए सुलभ हो गया है । यह ग्रन्थ वीरशैव धर्म का प्रमुख आकर ग्रन्थ माना जाता है ।

श्रीजगद्गुरुचन्द्रशेखरशिवाचार्य महास्वामीजी
जंगमवाडी मठ, वाराणसी



भूमिका

(श्रीसिद्धान्तशिखामणि : समीक्षा)

शैव-वीरशैवधर्म एवं दर्शन—अद्भुत विश्वसृष्टि का रहस्य, इसके स्रष्टा, उसके साक्षात्कार इत्यादि के विषय में भारतीय मनीषा सुदूर अतीत अथवा भारतीय मान्यता के अनुसार अनादिकाल से जिज्ञासु रही है । विश्व के सर्वप्राचीन अथवा अपौरुषेय ग्रन्थ ऋग्वेद का नासदीय सूक्त (ऋ. १०.१२९.१), श्वेताश्वतर उपनिषद् का प्रथम मन्त्र इत्यादि इस तथ्य के अकाट्य प्रमाण हैं । अपनी सीमित अथवा खण्ड दृष्टि से जिस मनीषी ऋषि ने जैसा समझा उसने उसी रूप में इसके रहस्य के उद्घाटन की चेष्टा की । इस चेष्टा के द्विविध आयाम संसार में प्रचलित हुए । ऐसा नहीं है कि जिस ऋषि ने जैसा वर्णन किया, उसकी ज्ञातृत्वक्षमता उतनी ही थी, बल्कि जिज्ञासु एवं अधिजिगीषु जनों की पात्रता को दृष्टि में रखकर ऋषियों ने अपने उद्गार का प्रचार-प्रसार किया । इन विविध एवं सीमित वर्णनों की पृष्ठभूमि में एक पूर्ण एवं असीम चित्सत्ता नित्य विराजमान रहती है, यह तथ्य सर्वसम्मत है ।

चरम सत्य को, बौद्धिक स्तर पर तर्क-वितर्क के साथ, समझने का प्रयास दर्शन कहलाता है और मानसिक स्तर पर शरीर की विविध चेष्टाओं के साथ उस तक पहुँचने की प्रक्रिया धर्म कहलाती है । गहन विचार करने पर प्रतीत होता है कि दर्शन एवं धर्म एक ही वस्तु के दो आयाम हैं । ज्ञान और क्रिया अथवा दर्शन और धर्म दोनों परस्पर पूरक हैं । इतना अवश्य है कि क्रिया ऋजु पथ है और दर्शन वक्र मार्ग । इसके पीछे क्रमशः उनकी स्थूलता और सूक्ष्मता कारण है । स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ना मानव का स्वभाव है और उसके लिये श्रेयस्कर भी । इसीलिये गृहस्थाश्रम में जिन योग आदि स्थूल कृत्यों के स्थूल आचरण का नियम है, वानप्रस्थ में उन्हीं के सूक्ष्म रूप में मनन और निदिध्यासन का विधान है—

'सोऽकामयत मेध्यं म इदं स्याद् आत्मन्वी अनेन स्यामिति । ततोऽश्वः समभवत् । यत्तदश्ववत्तन्मेध्यमभूदिति तदेवाश्वमेधस्याश्वमेधत्वम् । एष ह वा अश्वमेधं वेद य एवमेवं वेद.......।' (बृ. उ. १.२.७)

भारत वसुन्धरा पर शैव और वैष्णव दोनों धारायें अपने धर्म और दर्शन रूपी दोनों आयामों के साथ प्रवाहित होती रही हैं । वैष्णवी धारा का मूल

आधार वेद एवं शैवी धारा का आगम था । अपने मूल रूप में दोनों स्वतन्त्र होती हुई भी कालक्रम एवं मानवीय स्वभाव के कारण मिश्रित हो गयीं और परवर्ती समय में मिश्रणों का मिश्रण हुआ एवं नये नये सम्प्रदाय आविर्भूत हुए। इनमें द्वैत, द्वैताद्वैत एवं अद्वैत के भेद से त्रिविध स्वरूपों का दर्शन मुख्य रूप से होता है । द्वैत से अद्वैत की उपलब्धि ही मानव का परम पुरुषार्थ है। भारत में शैव धर्म-दर्शन की परम्परा उत्तर से दक्षिण तक प्रचलित थी । सिन्धु घाटी के प्रागैतिहासिक अवशेषों से यह तथ्य सुप्रमाणित है कि उत्तरभारत में वैदिक आर्यसभ्यता के प्रचलन से पूर्व जो लोग वहाँ के निवासी थे, वे शैव-वीरशैव धर्मावलम्बी थे । मोहेनजोदड़ो एवं हडप्पा की खुदाई भी यह सिद्ध करती है कि उस अतिप्राचीन काल में लिङ्गपूजा, इष्टलिङ्गपूजा, मातृशक्तिपूजा और पशुपति-शिव-पूजा, जो कि शैव धर्म के मुख्य अङ्ग हैं, भारतवासियों के मध्य सुप्रचलित थी । उपर्युक्त खुदाई में मिली भगवान् पशुपति की त्रिनेत्र एवं त्रिमुख प्रतिमा वर्त्तमान त्रिमूर्ति शिव का ही रूप है । उक्त मूर्ति से अभिव्यक्त होने वाली ज्ञानमुद्रा तथा अर्धोन्मीलित नेत्र वाली एक योगी की मूर्ति से सङ्केतित शाम्भवी मुद्रा[1] इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व शैव और वीरशैव योगसाधना का प्रचुर प्रचलन था । इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उस सुदूर अतीत में केवल शैव-वीरशैव धर्म ही नहीं, वरन् तत्सम्बद्ध दर्शन का भी प्रचुर प्रसार रहा । यद्यपि ऋग्वेद में इन्द्र को प्रधान देवता माना गया है, किन्तु यजुर्वेद में रुद्र को प्रधान कहा गया है । कृष्णयजुर्वेद के चतुर्थ काण्ड का पञ्चम प्रपाठक इसमें प्रमाण है । इससे यह भी सिद्ध होता है कि यद्यपि वेदों में रुद्र का वर्णन है, तथापि वेद से स्वतन्त्र एक परम्परा भारत में अवश्य प्रचलित थी । जिसका परवर्ती काल में प्रभाव बौद्धों के योगाचार, वज्रयान, कालचक्रयान, पाशुपत, शैवसिद्धान्त, नाथसम्प्रदाय पर पड़ा । महात्मा बुद्ध के योग-गुरु अराड और उद्रक शैवी योगसाधना के अनुयायी रहे । दक्षिण भारत की आलवार और नायनार नामक सन्त परम्परा भी शैवसाधना से प्रभावित प्रतीत होती है । निष्कर्ष यह है कि शैव धर्म हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक प्रचलित था ।

श्रीसिद्धान्तशिखामणि : एक दर्शनग्रन्थ—जीव, जगत् और मोक्ष के विषय में किया जाने वाला विचार अथवा चिन्तन 'दर्शन' कहलाता है । जीव का स्वरूप क्या है? जगत् की उत्पत्ति का कारण क्या है? जीव का जगत् के साथ सम्बन्ध क्या है? मोक्ष का स्वरूप और उसकी प्राप्ति का उपाय क्या है? इत्यादि बिन्दु दर्शन में विचारणीय होते हैं । रेणुक-अगस्त्य-संवाद के माध्यम

---

१. वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव ।
एकैव शाम्भवी मुद्रा गुप्ता कुलवधूरिव ॥
अन्तर्लक्ष्या बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता ।
सा प्रोक्ता शाम्भवी मुद्रा सर्वशास्त्रेषु गोपिता ॥ (हठयोगप्रदीपिका, ४.३५-३६)

से उपर्युक्त बिन्दुओं पर उत्कृष्ट विचार प्रस्तुत ग्रन्थ में किये गये हैं । जो कर्मफलों का भोक्ता, अल्पज्ञ, किञ्चित्कर्ता, अनादि शरीरवान्, अनादि बद्ध, अविद्योपाधि के कारण मोह में बँधा हुआ हैं, उसे जीव कहते हैं । ब्रह्मैक्यज्ञान से रहित ये जीव अपने-अपने कर्मों के अनुसार देव-पशु-पक्षी-मनुष्य आदि अनेक योनियों में भ्रमण करते रहते हैं । इसके स्वरूप के विषय में ग्रन्थकार ने चार्वाक से लेकर बौद्ध मत तक की चर्चा करते हुए सिद्धान्त रूप में कहा है कि यह आत्मा शरीर-इन्द्रिय-बुद्धि से भिन्न है । ये शरीर आदि नश्वर हैं, किन्तु आत्मा अनश्वर अर्थात् नित्य है । यह नित्य आत्मा कर्मवशात् ब्राह्मण आदि देह धारण कर त्रिताप की विशाल अग्नि में जलता रहता है । जिस शरीर का आश्रयण कर वह भोग भोगता है, वह भी मलायतन एवं महादु:खवर्धक है । नित्यानित्यवस्तु-विवेक के द्वारा वह शरीर के मोह का त्याग कर वैराग्य के द्वारा स्वरूप की प्राप्ति रूप मोक्ष का लाभ करता है ।

जगत् की उत्पत्ति के विषय में यहाँ कहा गया है कि यह चराचरात्मक जगत् महादेव से उत्पन्न है । जिस प्रकार लूता अपने द्वारा रचित जाल का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण बनती है, उसी प्रकार महादेव शिव इस जगत् के उपादान एवं निमित्त दोनों कारण हैं । जैसे समुद्र में उत्पन्न होने वाले फेन-लहर-बुद्बुद आवर्त आदि समुद्र से भिन्न नहीं होते अथवा तन्तुओं से उत्पन्न पट तन्तुओं से पृथक् नहीं होता, उसी प्रकार यह जगत् शिव से उत्पन्न होकर शिव से भिन्न नहीं है । ग्रन्थकार ने अनेक उदाहरणों के द्वारा प्रकारान्तर से वेदान्त के विवर्तवाद, सांख्य के सत्कार्यवाद, शाक्त दृष्टि आदि का समर्थन किया है किन्तु इसे मायाविकल्प से उत्पन्न मानकर हेय कहा गया है, अर्थात् इस जगत् को शिव से अतिरिक्त मानने की भावना का त्याग बतलाया गया है ।

मोक्ष के विषय में ग्रन्थकार का मत है कि शिवत्वलाभ ही मोक्ष है । मुक्ति के चार प्रकार शास्त्रों में वर्णित हैं—१. सालोक्य, २. सामीप्य, ३. सारूप्य और ४. सायुज्य । श्रीसिद्धान्तशिखामणि में सायुज्य मुक्ति की चर्चा है[१] । यह मुक्ति अन्य सम्प्रदायों की भाँति जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति नाम से दो प्रकार की कही गयी है[२] । श्रीसिद्धान्तशिखामणि का जीवन्मुक्ति का स्वरूप अद्वैत वेदान्त-सम्मत मुक्ति जैसा है, किन्तु इसमें आगमशास्त्र का भी पुट प्रतीत होता है । चूँकि शैवागम संसार को उतना ही सत्य मानता है, जितना कि शिव; अत: संसार का निराकरण सम्भव नहीं । निराकरण केवल अहन्ता और ममता का करना होता है । आत्मा अपने विशुद्ध एवं मूल रूप में सदा मुक्त है । अनादि अज्ञान के कारण आबद्ध जीव शिव के साक्षात्कार के बाद देहवान् रहता हुआ भी देहरहित हो जाता है । भेदबुद्धि बन्धन का कारण होती है[३] । अभेदबुद्धि ही मुक्ति है । जीवनकाल में ऐसा होने पर योगी जीवन्मुक्त माना जाता है । यह अवस्था सुषुप्त्यवस्थासदृश है, जिसमें स्वरूप के अतिरिक्त कुछ भी नहीं

१. सि. शि. ९।३५-३६
२. सि. शि. १७।७९-८०
३. सि. शि. १८।४१-४२

दिखायी देता। यह स्थिति सुखस्वरूपा होती हुई उस शिव की स्फुरत्ता से युक्त होती है। वेदान्त में जीव की स्थिति प्रकाश या आनन्द रूप है, किन्तु जीव को उसका अनुभव नहीं होता। रेणुकाचार्य संविद् को उल्लासरूपी और मुक्त को संविद्-उल्लासदर्शी कहते हैं[१], अर्थात् जीव को मुक्तावस्था में अपनी आनन्दरूपता का विमर्श होता रहता है। ऐसी दशा प्राप्त करने के लिये योगी को चिदाकाश स्वरूप शिवतत्त्व के अन्दर स्वयं को विलीन कर देना पड़ता है। यही सायुज्य मुक्ति है, जो सर्वोत्कृष्ट है।

श्रीसिद्धान्तशिखामणि : एक आगम ग्रन्थ—आगम शास्त्र के चार पाद कहे गये हैं—विद्या (ज्ञान), क्रिया, योग और चर्या। श्रीसिद्धान्तशिखामणि में न्यूनाधिक मात्रा में चारों पादों का संव्यूहन मिलता है। क्रिया के विषय में कहा गया है कि शिवयोगी को चाहिये कि वह अन्य समस्त क्रियाओं का त्याग कर केवल लिङ्गपूजा रूपी क्रिया करे। यज्ञ, अग्निहोत्र, दुश्चर तप ये सब लिङ्गपूजा के क्षुद्र अंश के तुल्य हैं। जो योगी लिङ्गार्चन करता है वह समस्त क्रियाओं को करने वाला हो जाता है। यहाँ तक कि ब्रह्मा आदि भी जो अपने पदों पर प्रतिष्ठित हैं, उसके मूल में उनके द्वारा विधीयमान लिङ्गार्चन ही है[२]। शिव ही साक्षात् परमतत्त्व हैं, इसलिये उन्हीं के सन्दर्भ में क्रिया करने का विधान है। शिवसमावेश के लिये क्रिया एक आवश्यक कर्तव्य है। जिस प्रकार अरणि में स्थित अग्नि को प्रकट करने के लिये घर्षण क्रिया अनिवार्य होती है, उसी प्रकार अन्तःस्थ शिव के प्रकाश के लिये लिङ्गार्चन क्रिया आवश्यक है। यह क्रिया आगमशास्त्र का ज्ञान होने के बाद ही की जानी चाहिये। शिवरहस्य में कहा गया है—

न क्रियारहितं ज्ञानं न ज्ञानरहिता क्रिया।
अपश्यन्नन्धको दग्धोऽगच्छन् पङ्गुश्च दह्यते॥

इसलिये गुरु का आदेश लेकर (न कि केवल ग्रन्थ का अध्ययन मात्र कर) महेश्वर का लिङ्गार्चन करना चाहिये।

यद्यपि पूजाकाल में भगवान् शिव लिङ्ग में परिच्छिन्न हो जाते हैं, किन्तु उस काल में भी शिव को सर्वव्यापी समझना चाहिये क्योंकि सर्वगामित्व उनका स्वभाव है और स्वभाव 'स्व' से पृथक् नहीं होता। चूँकि यह संसार आत्मरूपी शिव से उत्पन्न है[३], अतः वह अपने उपादान से भिन्न नहीं हो सकता। अज्ञानवश रज्जु में सर्पत्व अथवा आकाश में गन्धर्वनगरत्व की भाँति शिव में जगत् का आभास होता है। शिव सर्वव्यापी होते हुए भी कैलाश, मन्दर, सुमेरु और भक्तों के हृदय में विशेष रूप से रहते हैं। क्रिया की सीमा स्थूल तक है, भाव की सीमा सूक्ष्म तक है, किन्तु ज्ञान स्थूल और सूक्ष्म दोनों के अतीत होता है। शिवपूजा का प्रारम्भ स्थूल मूर्ति अर्थात् लिङ्ग से होता है; फिर मन

१. सि. शि. १८।६८

२. सि. शि. १५।३३-३६ ३. तै. उ. २।१

में उसकी सूक्ष्म रूप से भावना होती है । लेकिन उससे भी परे अखण्ड ज्ञान रूप में उनका भजन ही मोक्षदायक होता है । अतः क्रिया से विद्या अथवा ज्ञान की ओर चलना चाहिये ।

जहाँ तक योग का प्रश्न है प्रस्तुत ग्रन्थ में दो प्रकार के योगों की चर्चा है—१. जपयोग और २. भक्तियोग । नादतत्त्व या शब्दब्रह्म का साक्षात् करने के लिये जप एक सरल सदृढ़ और सुन्दर उपाय है । 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' जप की महत्ता पर प्रकाश डाला गया है । महर्षि पतञ्जलि इस जप को स्वाध्याय की संज्ञा देते हैं और इसको क्रिया योग के रूप में निर्धारित करते हैं[1] । सिद्धान्तशिखामणि में जिस मन्त्र के जप का विधान है, वह है—पञ्चाक्षरी मन्त्र 'नमः शिवाय' । कोई-कोई इसे षडक्षरी भी कहते हैं । शिव पद में चार अक्षर श् इ व् अ है । इनमें से 'श' अथर्ववेद का, 'इ' यजुर्वेद का, 'अ' ऋक् एवं साम का तथा 'व' व्याकरण का प्रतीक है । इस प्रकार शिव पद वेद और वेदाङ्ग दोनों का वाचक है । पक्षान्तर में 'शिव' पदस्थ शकार पञ्च ब्रह्म का और वकार माया का वाचक है, अतः 'शिव' पद सम्पूर्ण सृष्टि का वाचक है। इस पञ्चाक्षरी मन्त्र का जिसको ज्ञान हो जाता है, उसे अन्य मन्त्रों को जपने की आवश्यकता नहीं होती । पञ्चाक्षर में पञ्चमहाभूत, पञ्चतन्मात्र, पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्चकर्मेन्द्रियाँ, पञ्चब्रह्म, पञ्चकृत्य आदि सब समाहित हैं । ग्रन्थ में जप के वाचिक, उपांशु और मानस भेदों की चर्चा करने के पश्चात् इसका महत्त्व बतलाते हुए कहा गया—

यावन्तः कर्मयज्ञाद्या व्रतदानतपांसि च ।
सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥[2]

श्रीसिद्धान्तशिखामणि में भक्तियोग की विशद चर्चा मिलती है । भक्ति के विषय में श्रीमद्भागवत महापुराण का कथन है—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥[3]

शिवयोगिशिवाचार्य ने नवम परिच्छेद के प्रारम्भ में 'विष्णोः' के स्थान पर 'शम्भोः' लिखकर उक्त श्लोक को उद्धृत किया है ।

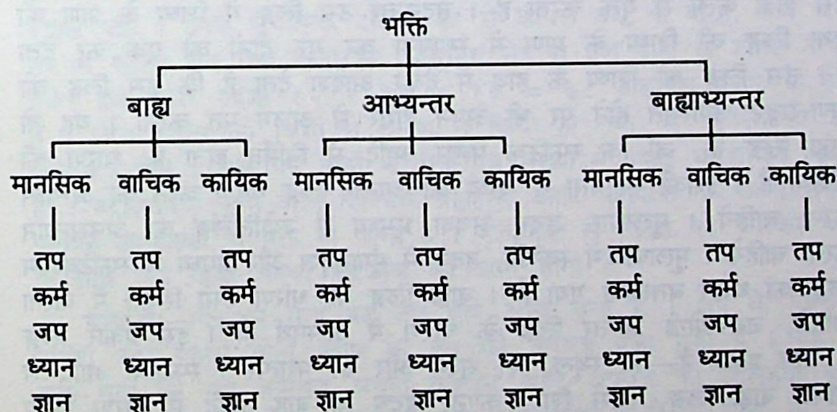
उत्तम भक्त के क्रिया-कलापों की चर्चा भी भागवत में मिलती है—

वाणी गुणानुकथने श्रवणौ कथायां
हस्तौ च कर्मसु मनस्तव पादयोर्नः ।
स्मृत्यां शिरस्तव निवासजगत्प्रणामे
दृष्टिः सतां दर्शनेऽस्तु भवत्तनूनाम् ॥[4]

---

१. तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः (यो. सू. ३।१) ।
२. सि. शि. ८।३०   ३. भा. म. पु. ७।५।२३
४. भा. पु. १०।१०।३८

इस भक्ति के दो प्रकार सिद्धान्तशिखामणि में वर्णित हैं—१. बाह्य भक्ति और २. आभ्यन्तर भक्ति । शिवलिङ्ग की नाना उपचारों से पूजा बाह्य भक्ति कहलाती है । यह सर्वसाधारण के लिये है । आभ्यन्तर पूजा का सामर्थ्य केवल वीरशैवों में ही होता है । इसमें प्राण को लिङ्ग में और लिङ्ग को प्राण में प्रतिष्ठित कर शिव के अतिरिक्त किसी अन्य का ध्यान न करने का विधान है। शाम्भवी मुद्रा अथवा शाम्भव योग के द्वारा इस भक्ति का अनुष्ठान होता है। ऐसा योगी जीवन्मुक्त होता है । इस ग्रन्थ में भक्ति के पुनः तीन प्रकार बतलाये गये हैं—१. मानसिक, २. वाचिक और ३. कायिक । शिव के रूप आदि का ध्यान उनकी पूजा आदि का चिन्तन मानसी भक्ति है । जप आदि वाचिकी एवं बाह्य शिवलिङ्ग पूजा, शैव मन्दिर आदि में जाकर दर्शन इत्यादि करना कायिकी भक्ति है । एक बाह्याभ्यन्तर पूजा होती है, जो तीसरी है । इसमें मन को ही महेश्वर में लगा देना पड़ता है, फलतः समस्त प्रकार की पूजायें स्वयं होने लगती हैं । शिखामणिकार ने भक्ति के पाँच आयाम बतलायें हैं—तप, कर्म, जप, ध्यान और ज्ञान । शिव के लिये देह को शुष्क बनाना तप है, न कि कृच्छ्र चान्द्रायण, सान्तपन आदि । शिव की पूजा ही कर्म है, न कि याग आदि । पञ्चाक्षर मन्त्र अथवा प्रणव का जप ही जप है । वेद के अन्य सूक्तों आदि का पाठ न कर केवल रुद्राष्टाध्यायी एवं रुद्र मन्त्रों का ही पाठ करने का विधान है। शिव के रूप गुण आदि का ही ध्यान करना चाहिये न कि आत्मा का । इसी प्रकार केवल शैवशास्त्रों का न कि वैष्णव आदि अन्य शास्त्रों का अध्ययन ज्ञान कहा जाता है । इस प्रकार भक्ति का भेद-प्रसार इस प्रकार समझना चाहिये—



तप आदि पांच प्रकारों के अनुष्ठान को शिवयज्ञ कहा गया है । जो इस पञ्चयज्ञ से शिव की अहर्निश पूजा करता है, वही भक्तियोगी है ।

आगमशास्त्र का चतुर्थ पाद चर्या है । चर्या का तात्पर्य है—आचरण । शिवयोगी को कैसा आचरण करना चाहिये, इसका विशद वर्णन रेणुकाचार्य ने किया है । सच पूछा जाय तो सिद्धान्तशिखामणि विशेष रूप में चर्याग्रन्थ है । वीरशैव मत किं वा समस्त आगमानुयायी जनों के लिये ज्ञान की अपेक्षा चर्या का अधिक महत्त्व है, क्योंकि चर्या के पथ का पथिक होने पर पामर जन भी अन्ततोगत्वा शिवसायुज्य प्राप्त कर सकते हैं और अपामर अर्थात् शास्त्रज्ञानी जन भी विना चर्या के शिव सायुज्य नहीं प्राप्त कर सकते । इस प्रकार चर्या पामर अपामर दोनों के लिये अनिवार्य है ।

दीक्षा—चर्या का प्रथम क्रम दीक्षा है । दीक्षा का लक्षण निम्नलिखित है—

दीयते च शिवज्ञानं क्षीयते पाशबन्धनम् ।
यस्मादतः समाख्याता दीक्षेतीयं विचक्षणैः ॥[१]

यह दीक्षा तीन प्रकार की है—१. वेधा दीक्षा, २. मन्त्र दीक्षा और ३. क्रिया दीक्षा । प्रथम दीक्षा में गुरु शिष्य के ऊपर दृष्टि डालते हुए अपने हाथ को उसके शिर पर रखते हैं और शिष्य को शिवसमावेश प्राप्त हो जाता है। मन्त्र दीक्षा में गुरु शिष्य के कान में पञ्चाक्षर मन्त्र का उपदेश करते हैं । मन्त्र का मनन करने पर त्राण करने वाली यह दीक्षा मान्त्री दीक्षा कहलाती है । क्रिया दीक्षा का वर्णन विस्तार से इस ग्रन्थ में मिलता है । इसमें किसी शुभ मुहूर्त में आचार्य ऋत्विजों के साथ मिलकर शिष्य का अभिषेक कर दक्षिण कर्ण में पञ्चाक्षरी मन्त्र का उपदेश देता है । तत्पश्चात् पञ्चाक्षर मन्त्र का न्यास विनियोग आदि बतलाता है ।

लिङ्गधारण—दीक्षा के बाद गुरु एक लिङ्ग लाकर उसकी पूजा के पश्चात् उसे शैवी कला से युक्त करता है । तदनन्तर उस लिङ्ग में शिष्य के प्राण की तथा लिङ्ग की शिष्य के प्राण में स्थापना कर गुरु दोनों को एक कर देता है। उस लिङ्ग को शिष्य के हाथ में देकर आदेश देता है कि इस लिङ्ग को प्राण-सङ्कट उपस्थित होने पर भी अपने शरीर से अलग मत करना । यह तो बाह्य लिङ्ग के, जो कि स्फटिक पत्थर आदि से निर्मित होता है, धारण की प्रक्रिया है । इसकी सहायता से शिष्य को आन्तर लिङ्ग धारण करने का अभ्यास करना चाहिये । मूलाधार, हृदय अथवा भ्रूमध्य में ज्योतिर्लिङ्ग का अनुसन्धान करना चाहिये । मूलाधार में स्वर्णिम, हृदय में मूंगासदृश और भ्रूमध्य में स्फटिकोपम लिङ्ग का ध्यान बतलाया गया है । बाह्य लिङ्ग का धारण उसी स्थिति में करना चाहिये, जब योगी आन्तर लिङ्ग के धारण में असमर्थ हो । इस प्रकार लिङ्ग के तीन प्रकार हैं—१. स्थूल, २. सूक्ष्म और ३. परात्पर । स्फटिक आदि से निर्मित बाह्य लिङ्ग, जिसे शिर, कण्ठ, हृदय या बाहु आदि में धारण किया जाता है । प्राण को सूक्ष्म लिङ्ग कहते हैं । जो परात्पर लिङ्ग है, वह तृप्ति लिङ्ग

---

१. सि. शि. ६।११

कहलाता है । स्थूल लिङ्ग का धारण नाभि के नीचे नहीं करना चाहिये । उसकी पूजा उसको हाथ पर रख कर करनी चाहिये ।

भस्मधारण—लिङ्ग-धारण के अनन्तर भस्म-धारण भी शिवयोगी के लिये अनिवार्य क्रिया है । 'भस्म' शब्द 'भास' धातु से मनिन् प्रत्यय जोड़कर बना है । इसका अर्थ होता है—भासन अर्थात् प्रकाशन कराने वाला । जो शिव का भासन कराता है, वह पञ्चाक्षरी मन्त्र ही वास्तविक भस्म है । उसके प्रतीक के रूप में मन्त्र न्यास ध्यान आदि से उत्पन्न स्थूल भस्म का धारण करने की विधि सिद्धान्तशिखामणि में वर्णित है । भस्म की विभूति, भसित आदि पाँच संज्ञायें हैं और उनके अपने-अपने विशिष्ट अर्थ हैं । ये भस्म कपिल कृष्ण आदि पाँच वर्णों वाली नन्दा आदि पाँच गायों से उत्पन्न हैं एवं इनकी उत्पत्ति में सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष और ईशान नामक पञ्चब्रह्म कारण हैं । इस भस्म का नित्य धारण करना चाहिये। इसकी धारणा त्रिपुण्ड्र रूप में करने का विधान है। त्रिपुण्ड्र का अर्थ है—अनामिका मध्यमा तर्जनी के द्वारा भस्म की तीन तिर्यक् रेखायें बनाना । इसके धारण के अङ्ग हैं—शिर, ललाट, दोनों कान, गला, दोनों भुजायें, हृदय, नाभि, पीठ, दोनों हाथ, दोनों कोहनी एवं दोनों मणिबन्ध (= कलाइयाँ) । इनके धारण से मनुष्य रुद्र के समान महान् हो जाता है ।

रुद्राक्षधारण—भस्म-धारण के पश्चात् रुद्राक्ष-धारण का भी विधान इस ग्रन्थ में वर्णित है। रुद्राक्ष की उत्पत्ति के विषय में कहा गया है कि त्रिपुरदाह के प्रस्तावकाल में भगवान् रुद्र ने तीसरे नेत्र को उन्मीलित कर तीनों पुरों को देखा। उस समय क्रोध के कारण उनमें तीनों नेत्रों से जो आँसू गिरे वे ही रुद्राक्ष बन गये । रुद्र की अक्ष अर्थात् आँख से उत्पन्न होने के कारण इनका नाम रुद्राक्ष पड़ा । उनके सूर्यात्मक दक्षिण नेत्र से कपिल वर्ण के बारह, बायें चन्द्र नेत्र से सोलह श्वेत तथा ललाटस्थ अग्निमय नेत्र से दश वर्णों के रुद्राक्ष उत्पन्न हुये। इस प्रकार रुद्राक्ष १२ + १६ + १० = ३८ अड़तीस प्रकार के होते हैं । जिस रुद्राक्ष को किसी ने धारण न किया हो तथा जो स्वर्णिम हो उसे पहनना चाहिये । भिन्न-भिन्न अङ्गों में भिन्न-भिन्न संख्या में रुद्राक्ष धारण का विधान है[१] । रुद्राक्षधारण करने वाला शिवभक्त ब्रह्महत्या आदि महापापों तथ अन्य समस्त पातकों उपपातकों से मुक्त हो जाता है । मृत्युकाल में रुद्राक्ष को पीसकर पानी के साथ पीने वाला मनुष्य रुद्रलोक को प्राप्त होता है ।

मन्त्रजप—पञ्चाक्षर मन्त्र का जप एक अन्य चर्या है । जप के वाचिक, उपांशु और मानस तीनों प्रकार के जप को जपयज्ञ कहा गया है । यह भी कहा गया कि सारे कर्मयज्ञ अथवा व्रतदान आदि जपयज्ञ की सोलहवीं कला के तुल्य भी नहीं होते । आणव, मायीय एवं कार्म पाशों से मुक्ति के लिये जप करना चाहिये । अभक्षण, वायु-भक्षण या अन्य व्रत करने वाले भी इनके

---

१. सि. शि. ७।५२-५८

द्वारा शिवलोक को प्राप्त नहीं कर सकते । यह महामन्त्र एक बार उच्चरित होकर भी सर्वसिद्धि-प्रदायक होता है । पञ्चाक्षर मन्त्र का उच्चारण कर शिवलिङ्ग पर पुष्प फेंकने से एक सहस्र वाजपेय यज्ञ का फल मिलता है । वशिष्ठ, वामदेव आदि ऋषिगण इस मन्त्र के जप से सिद्ध हो गये । शतानन्द मुनि ने नरक को स्वर्ग बना दिया । ब्रह्मा आदि के अन्दर सृष्टि आदि करने का सामर्थ्य इसी मन्त्र के कारण है ।

उपर्युक्त चर्याविधि के अतिरिक्त अन्य प्रकार की बहुत सी चर्याओं का वर्णन सिद्धान्तशिखामणि में मिलता है । यदि यह कहा जाय कि सम्पूर्ण ग्रन्थ प्रकारान्तर से चर्या-वर्णन-प्रधान ग्रन्थ है, तो अतिशयोक्ति नहीं होगी । गुरु का महत्त्व, गुरु के प्रति कर्तव्य, लिङ्ग का महत्त्व, लिङ्गधारण की महत्ता, शिवयोगी की महिमा, शिवार्चन का माहात्म्य इत्यादि अनेक विषय हैं, जिन पर ग्रन्थकार ने प्रचुर प्रकाश डाला है । आचार्य अभिनवगुप्त ने आगमशास्त्र को प्रक्रिया-शास्त्र एवं अनुभव-शास्त्र कहा है । क्रिया, प्रक्रिया, साधना, अनुष्ठान इत्यादि प्रारम्भिक स्तर के विषय हैं । विना क्रिया के कुछ भी नहीं किया जा सकता । क्रिया का जैसे-जैसे उत्कर्ष होता है, भगवत्कृपा वैसे-वैसे प्रभूतमात्रा में भक्त को अनुगृहीत करती है। इसी बीच भक्त को अनेक प्रकार के दिव्य अनुभव होने लगते हैं तथा साधक दिव्यशक्तियों से समन्वित होता जाता है । साधना-क्रम में एक अवसर ऐसा आता है, जब प्रक्रिया या क्रिया को करना नहीं पड़ता, वह अपने आप होने लगती है । जप ध्यान आदि की यह अवस्था उच्च कोटि की होती है । अन्त में 'यद् यत् कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम्' की स्थिति आ जाती है और साधक को अलग से कुछ नहीं करना पड़ता । वह स्वयं शिवत्व का अनुभव करता है और उसके समस्त कृत्य शिव के हो जाते हैं । उपनिषदों में वर्णित 'आत्मरतिः आत्मक्रीडः' इत्यादि वचन इसी अवस्था के द्योतक हैं । गणेशपुरी (महाराष्ट्र) के शिवस्वरूप सन्त भगवान् नित्यानन्द कभी-कभी अपने द्वारा अपनी ही पूजा करते थे—'ॐ गन्धं समर्पयामि आत्मने नमः, ॐ पुष्पं समर्पयामि आत्मने नमः' इत्यादि कहकर अपने ही हाथों से अपने ही ऊपर गन्ध पुष्प आदि चढ़ाते थे । सिद्धान्तशिखामणि के अट्ठारहवें परिच्छेद से लेकर बीसवें परिच्छेद तक का वर्णन शिवयोगी की साधना का चरम उत्कर्ष सङ्केतित करता है ।

जनसामान्य की अवधारणा है कि आगमशास्त्र प्रायः वेद-विरोधी है । आंशिक रूप से यह अवधारणा सत्य है । ब्राह्मण आदि ग्रन्थों का जटिल कर्मकाण्ड एवं उसके अधिकारी का विशिष्ट वर्ण, अवस्था आदि से युक्त होना इत्यादि ऐसे जो भी नियमनिर्देश हैं, उनसे तन्त्रशास्त्र सहमत नहीं है । यह शास्त्र अत्यन्त उदार है । शैवी साधना, शिवसायुज्य का अधिकार मानव मात्र को है—ऐसा आगमशास्त्र की दृढ़ मान्यता है । यहाँ तक कि जिस स्त्री को यज्ञ करने के अधिकार का वेदों में निषेध है, आगम में उसे लिङ्गार्चन का पूरा अधिकार है। उसके लिये कहा गया है—

लिङ्गार्चनरतायास्तु ऋतौ नार्या न सूतकम् ।
तथा प्रसूतिकायाश्च सूतकं नैव विद्यते ॥

(सि. शि. ९।४४)

इसीलिये परवर्ती काल (११ वीं शती या उसके बाद) में वेदों एवं आगमों में एक प्रकार का सामञ्जस्य स्थापित करने का अभियान चला और आचार्य अभिनवगुप्तपाद को कहना पड़ा—

गर्भाधानादितः कृत्वा यावदुद्वाहमेव च ।
तावत्तु वैदिकं कर्म पश्चाच्छैवे ह्यनन्यभाक् ॥

सिद्धान्तशिखामणि के ग्रथन के मूल में सामञ्जस्य की भावना निहित है। ग्रन्थकार शिवयोगी शिवाचार्य ने सांख्य, योग, पाञ्चरात्र, वेद एवं पाशुपत की प्रामाणिकता को एक समान माना है और इनमें भी वेद को सर्वप्रधान कहा है। वेद के प्रामाण्य से शेष सांख्य योग आदि का प्रामाण्य है—

सांख्यं योगः पाञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा ।
एतानि मानभूतानि नोपहन्यानि युक्तिभिः ॥

तथा—

वेदाः प्रधानं सर्वेषां सांख्यादीनां महामुने ।
वेदानुसारणादेषां प्रामाण्यमिति निश्चितम् ॥

(सि. शि. ५।४-५)

रेणुकाचार्य ने कहीं-कहीं ऐसे श्लोकों का ग्रथन किया है कि वे उपनिषत् या गीता के श्लोकों की प्रतिच्छायारूप प्रतीत होते हैं । उदाहरणार्थ—

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
जन्तुर्मरणजन्मभ्यां परिभ्रमति चक्रवत् ॥

(सि. शि. ५।६३)

इस श्लोक गीता के श्लोक को ही पूर्वार्ध के रूप में उद्धृत किया है । इसी प्रकार 'पृथिव्याद्यष्टमूर्तित्वमीश्वरस्य प्रकीर्तितम्' (सि. शि. १०।४९) वचन बृहदारूण्यक उपनिषद् के 'यस्य पृथिवी शरीरम्' से लेकर 'यस्यात्मा शरीरम्' (३।७।३-३।७।२३) को,

तथा—

नित्यं भासि तदीयस्त्वं या ते रुद्र शिवा तनूः ।
अघोराऽपापकाशीति श्रुतिराह सनातनी ॥

(सि. शि. १०।५९)

में शुक्लयजुर्वेद वाजसनेयिसंहिता के १६।२ मन्त्र को ही उद्धृत कर दिया गया है । इसी प्रकार तैत्तिरीय उपनिषद्, ब्रह्मबिन्दूपनिषत्, श्वेताश्वतर उपनिषत् आदि श्रुतियों के प्रतिच्छाया वचन प्रस्तुत ग्रन्थ में पदे-पदे देखे जा सकते हैं ।

निष्कर्ष यह है कि शिवयोगी शिवाचार्य ने इस ग्रन्थ में वेदोपनिषद्गीता सम्मत उपदेश किया है ।

श्रीसिद्धान्तशिखामणि : एक महाकाव्य—दर्शनशास्त्र एवं आगमशास्त्र का ग्रन्थ होने के साथ-साथ सिद्धान्तशिखामणि एक महाकाव्य भी है । इक्कीस परिच्छेदों में उपनिबद्ध यह ग्रन्थ 'सर्गबन्धो महाकाव्यम्' के निकष पर उत्कृष्ट कोटि का महाकाव्य सिद्ध होता है । इसके नायक रेणुकाचार्य हैं । जो धीरोदात्त नायक के गुणों से भी उच्च स्तर के गुणों से युक्त है । वे अविकत्थन अर्थात् आत्मश्लाघारहित हैं । उन्होंने अगस्त्य और विभीषण की प्रशंसा की अपनी नहीं । क्षमा उनके अन्दर इतनी कि शिव के द्वारा अभिशप्त होने पर उनको क्रोध नहीं हुआ, प्रत्युत उन्होंने विनम्रता के साथ शिव से शापोद्धार की याचना की । शिव के प्रिय गणेश्वर होने के कारण गाम्भीर्य और महत्ता से युक्त होना उनका स्वभाव ही था । दृढ़ व्रत ऐसे कि शिव के आदेश के पालन का सङ्कल्प लेकर महामुनि अगस्त्य को आदेश देकर उन्होनें वीरशैव सिद्धान्त का प्रचार-प्रसार किया तथा विभीषण के निवेदन पर एक साथ तीन करोड़ शरीर धारण कर तीन करोड़ शिवलिङ्गों की लङ्का में स्थापना की ।

इस महाकाव्य में शान्त रस अङ्गी है । सम्पूर्ण ग्रन्थ के अध्ययन के समय आद्योपान्त निर्वेद भाव उदित होता रहता है । गुरु, शिष्य, शिवभक्ति, लिङ्ग, संसार, कष्ट, लिङ्गार्चन, समर्पण आदि अनेक विषय पाठक के मन में सांसारिकता के प्रति वैरस्य एवं शिव के प्रति· अर्चन एवं समर्पण के भावों का सृजन करते हैं। नायक के व्यक्तित्व का वर्णन, नायिका वर्णन, प्रकृति वर्णन इत्यादि महाकाव्य के अनिवार्य विषय होते हैं । ग्रन्थकार ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में शिवस्तुति, शक्तिस्तुति के माध्यम से नायक-नायिका का वर्णन किया है । रघुवंश महाकाव्य की सरणि का अनुसरण करते हुए शिवयोगी ने ग्रन्थकार के (अर्थात् अपने) वंश का वर्णन किया है । शिव नामक परब्रह्म का द्वितीय परिच्छेद में विशेष कर एवं तृतीय में श्लोक से ९ से २३ तक पन्द्रह श्लोकात्मक कुलक से वर्णन किया गया है। इसी प्रकार भवानी का २४ से लेकर ३५ श्लोक तक १३ श्लोकों से सौन्दर्य-वर्णन है।· तृतीय परिच्छेद के प्रारम्भ में ही प्रकृति वर्णन भी है ।

जहाँ तक अलङ्कारों का प्रश्न है, इसमे अनेक अलङ्कारों का प्रयोग दृष्ट होता है । कुछ उदाहरण यहाँ निम्नलिखित हैं—

उपमा—

नाभिस्थानावलम्बिन्या नवमौक्तिकमालया ।
गङ्गयेव कृताश्लेषमौलिभागावतीर्णया ॥ (३.२२)

मालोपमा—

अर्थहीना यथा वाणी पतिहीना यथा सती ।
श्रुतिहीना यथा बुद्धिर्भावहीना तथा क्रिया ॥ (१६.१९)
शिवानन्दं समासाद्य को वाऽन्यमुपतिष्ठते ।

गङ्गामृतं परित्यज्य कः काङ्क्षेन्मृगतृष्णिकाम् ॥ (१३.७)

रूपक—

त्रैलोक्यसम्पदालेख्यसमुल्लेखनभित्तये ।
सच्चिदानन्दरूपाय शिवाय ब्रह्मणे नमः ॥ (१.१)
ज्ञानचन्द्रसमुद्भूतां परमानन्दचन्द्रिकाम् ।
पश्यन्ति परमाकाशे मुक्तिरात्रौ महाधियः ॥ (१९.१४)

उपर्युक्त कुछ उद्धरण इस तथ्य के प्रमाण हैं कि परम आलङ्कारिक शिवयोगी शिवाचार्य ने इस महाकाव्य में यथासम्भव यथोचित एवं यथास्थान अलङ्कारों का समावेश किया है ।

छन्द के प्रसङ्ग में मुख्य वक्तव्य यह है कि इस महाकाव्य में अनुष्टुप् (श्लोक) छन्द का ही मुख्य रूप से प्रयोग किया गया है । जैसा कि महाकाव्य की शैली होती है, प्रत्येक परिच्छेद के अन्त में छन्द बदल दिये गये हैं । अन्तिम पद्य बड़े छन्दों में लिखा गया है । उनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

परिच्छेद	अन्तिम पद्य का छन्द
१.	मालिनी
२.	वंशस्थ
३.	शार्दूलविक्रीडित
४.	वसन्ततिलका
५.	शार्दूलविक्रीडित
६.	वंशस्थ
७.	वंशस्थ
८.	मालिनी
९.	वंशस्थ
१०.	वंशस्थ
११.	वंशस्थ
१२.	वंशस्थ
१३.	वंशस्थ
१४.	वंशस्थ
१५.	शार्दूलविक्रीडित
१६.	पुष्पिताग्रा
१७.	शार्दूलविक्रीडित
१८.	वंशस्थ

१९. शार्दूलविक्रीडित

२०. अनुष्टुप् (श्लोक)

२१. शार्दूलविक्रीडित

इस ग्रन्थ का प्रणयन वैदर्भी शैली में हुआ है । प्राय: समासरहित पद, कोमल वर्णों का प्रयोग आदि वैदर्भी रीति की विशेषतायें है । इस रचना में मूर्धन्य एवं वर्ग के द्वितीय चतुर्थ वर्णों का प्रयोग अत्यन्त अल्प मात्रा में किया गया है । अत: यह रचना प्रासादगुण वाली है । इसमें श्रुतिकटुत्व, दूरान्वय, क्लिष्टता, सन्देह इत्यादि दोष नहीं है । ग्रन्थ के अध्ययन के समय अध्येता के मन में शान्त रस मिश्रित भक्ति की धारा प्रवाहित होती रहती है । यह ग्रन्थ यथार्थत: वीरशैव सिद्धान्तों की शिखामणि है ।

श्रीसिद्धान्तशिखामणि के व्याख्यान एवं सम्पादन में जिनका आशीर्वाद सहज स्नेहमयी प्रेरणा एवं योगदान रहा है, उनमें सर्वप्रथम श्रीजगद्गुरु विश्वाराध्य सिंहासनाधीश्वर श्री १००८ जगद्गुरु डॉ चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामी जी का नाम स्मरणीय है। रघुवंश महाकाव्य की 'आकारसदृशप्रज्ञ: प्रज्ञया सदृशागम:' इत्यादि वचन को चरितार्थ करने वाले व्यक्तित्व के धनी स्वामी जी की इस प्रकाशन में सहृदय साशीर्वाद आदेशात्मक प्रेरणा रही, अत: मैं उनको शतश: प्रणाम करता हूँ । शैवभारतीशोधप्रतिष्ठानम् (जङ्गमवाडी मठ) के निदेशक आचार्य पण्डित व्रजवल्लभ द्विवेदी जी मेरे गुरुकल्प हैं । उनके निष्कारण करुणामय स्नेह से निरन्तर अभिषिक्त मैं इस प्रकाशन के प्रति उनका कृतज्ञ हूँ और हृदय से उनका आधमर्ण्य स्वीकार करता हूँ । अक्षरसंयोजन-कला के मर्मज्ञ प्रिय श्री रामरञ्जन मालवीय ने पूर्ण निष्ठा के साथ अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह किया, एतदर्थ वे हमारे आशीर्वाद के पात्र हैं । इसके मुद्रण के लिये मित्तल आफसेट् सुन्दरपुर वाराणसी को भी मैं हृदय से आशीर्वाद देता हूँ । अन्त में इस अविमुक्त वाराणसी क्षेत्र के अधिष्ठाता भगवान् भूतभावन और भगवती अन्नपूर्णा के चरणों में सर्वविधया नमन करते हुए मानवसुलभ त्रुटियों, न्यूनताओं के लिये सुधी पाठकवृन्द से निवेदन करता हूँ कि वे इन पर ध्यान न देकर ग्रन्थस्थ विशेषताओं को हृदयङ्गम करें—

'सूर्पवद् दोषमुत्सृज्य गुणं गृह्णन्ति साधवः ।'

वसन्तपञ्चमी — विनयावनत

सं. २०६२ — राधेश्याम चतुर्वेदी



विषय-संक्षेप

प्रथम-तृतीय परिच्छेद—ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के लिये प्रथम परिच्छेद में प्रथम बारह श्लोकों तक मङ्गलाचरण के पश्चात् शिवयोगी शिवाचार्य का वंश-वर्णन है । शिवयोगी (प्रथम) के पुत्र मुद्ददेव उनके पुत्र सिद्धनाथ, सिद्धनाथ के पुत्र शिवयोगी (द्वितीय) हुए । ये वीरशैव के प्रवर्तक हुये । इन्होंने श्रीसिद्धान्तशिखामणि की रचना की ।

ब्रह्म सच्चिदानन्दरूप परिच्छेदातीत एवं सनातन है । सृष्टि के पहले यह विश्व उसमें लीन रहता है । उसकी शक्ति भी उसमें समवाय सम्बन्ध से नित्य वर्तमान रहती है । उस परमेश्वर ने ब्रह्मा की सृष्टि कर उन्हें समस्त विद्याओं से अलंकृत किया एवं सृष्टि का उपाय बतलाया तथा शिव जी ने ही सर्वव्यापी सर्वशक्तिमान् प्रमथगणों को उत्पन्न किया । उनमें से रेणुक और दारुक ये दो गण शिव के अत्यन्त प्रिय हुये । वे सदा अन्तःपुर के द्वार पर रहकर भगवान् शिव की सेवा किया करते थे ।

एक बार भगवान् शिव कैलास पर्वत पर विराजमान थे । भगवती उमा तथा उनका परिवार भी साथ में शोभायमान था । सरस्वती, वेद, अन्य दिव्य कन्यायें, अन्य स्त्रियाँ, विघ्नेश्वर, नन्दी आदिगण, प्रमथगण उनकी सेवा कर रहे थे । साथ ही ब्रह्मा, इन्द्र आदि देवगण; वशिष्ठ आदि ऋषिगण; द्वादश आदित्य, अष्ट वसु, एकादश रुद्र, राक्षस, दानव आदि उनकी सपर्या में निरत थे । भगवान् शिव भी क्रमशः सबको अपने कृपाकटाक्ष से कृतकृत्य कर रहे थे । इसी बीच भगवान् शिव ने रेणुक को प्रसाद के रूप में ताम्बूल देने के लिये बुलाया । रेणुक ने शिव का आह्वान सुनकर साभिमान होकर दारुक को लाँघ कर शिव के पास जाने की धृष्टता की । भगवान् शिव ने इस कुत्सित आचरण को देखकर रेणुक से कहा—अरे दुर्बुद्धे! शिवभक्तों का उल्लंघन परम अनर्थ का कारण होता है। अतः मनुष्यवत् आचरण करने के अपराध के कारण तुम मनुष्य हो जाओ। भयभीत रेणुक ने शिव से प्रार्थना की कि उसे मनुष्ययोनि से जन्म न लेना पड़े । रेणुक की प्रार्थना से प्रसन्न भगवान् शिव ने कहा—श्रीशैल के उत्तर भाग में त्रिलिङ्ग देश (= सम्भवतः तैलङ्गाना) में सोमेश्वर नाम का मेरा एक लिङ्ग है। उससे तुम्हारा प्राकट्य होगा और तुम वेद-वेदान्तसम्मत वीरशैव शास्त्र की भूलोक में स्थापना करोगे । ऐसा कहकर भगवान् अपने अन्तःपुर में चले गये और रेणुक ने इस धरती पर अवतार लिया ।

चतुर्थ-पञ्चम परिच्छेद—जब सोमेश्वर महादेव से रेणुक का प्रादुर्भाव हुआ तो तैलङ्गाना देश के समस्त प्राणी अत्यत तेजस्वी उनको देखकर अत्यन्त विस्मित हुए। उनका सम्पूर्ण शरीर भस्मोद्धूलित था। मस्तक पर त्रिपुण्ड्र सुशोभित था। कटिप्रदेश में कन्था बाँधे वे हाथों में योगदण्ड, भस्मपात्र एवं कमण्डलु लिये हुए थे। 'आप कौन हैं?'—ऐसा लोगों के पूछने पर उन्होंने कहा—'मैं भगवान् शिव का सहचर रेणुक हूँ। किसी कारण से यहाँ शिवलिङ्ग से मेरी उत्पत्ति हुई। जैन, बौद्ध, चार्वाक आदि नास्तिक दर्शनों का खण्डन कर वीरशैवसिद्धान्त की स्थापना करना मेरे अवतार का प्रयोजन है।' ऐसा कहकर रेणुकाचार्य आकाश-मार्ग से मलय पर्वत पर आ गये और वहाँ अगस्त्य के आश्रम में पधारे। वह आश्रम अत्यन्त रमणीय तथा तपस्वियों से परिपूर्ण ब्रह्मलोक के समान था। उस आश्रम के मध्य चन्दनवृक्ष के नीचे महर्षि अगस्त्य बैठे हुए थे। पिङ्गजटाधारी त्रिपुण्ड्राङ्कित मस्तक वाले अगस्त्य के चारों ओर तपस्वी एवं मुनिलोग विराजमान थे। रेणुकाचार्य को आया हुआ देखकर दिव्यचक्षु से अगस्त्य ने जान लिया कि वे कौन हैं और किस प्रयोजन से वहाँ आये हैं। लोपामुद्रा के द्वारा लाये गये जल आदि से रेणुक की पूजा कर अगस्त्य दूसरे आसन पर बैठ गये।

इसके पश्चात् अगस्त्य और रेणुकाचार्य के बीच इस प्रकार संवाद हुआ—

रेणुकाचार्य ने कहा—हे मुनिवर! आप महातेजस्वी हैं, इसलिये आपके नित्य नियम आदि में विघ्न की रञ्चमात्र भी सम्भावना कैसे हो सकती है? आपने विन्ध्याचल को झुका दिया; समुद्र का जल सोख कर उसे कीचड़ बना दिया; वातापी राक्षस को अपनी जठराग्नि में जला दिया; पूर्वकाल में स्वामी कार्त्तिकेय ने आपको शिवधर्म का उपदेश दिया, अत: आप परम शिवभक्त हैं।

अगस्त्य ने कहा—मैं सदा मुनियों के आदर का पात्र रहा। मैं आपको रेणुक नामक गणेश्वर के रूप में जानता हूँ। मेरे ऊपर कृपा करने के लिये आप इस पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए हैं। मैं आपके मुख से श्रुतिसम्मत शैवसिद्धान्त सुनना चाहता हूँ। अनेक आगमों के श्रवण के कारण मेरे मन में संशय उत्पन्न हो गया। अत: हे दिव्ययोगिन्! आप मुझे उक्त सिद्धान्त सुनाकर कृतकृत्य कीजिये।

अगस्त्य के वचन को सुनकर आचार्य रेणुक ने कहा—हे अगस्त्य! मैं आपको शिवज्ञान का उपदेश करूँगा। मनीषियों के रुचिभेद के अनुसार सांख्य, योग, पाञ्चरात्र, वेद, पाशुपत आदि अनेक सिद्धान्त प्रचलित हैं। ये सब प्रामाणिक दर्शन हैं। इनका खण्डन नहीं करना चाहिये। यह शैवतन्त्र उक्त सभी दर्शनों की अपेक्षा श्रेष्ठ है। शैव, पाशुपत, सोम और लाकुल भेद से आगम चार प्रकार के हैं। इनमें शैवागम वाम, दक्षिण, मिश्र और सिद्धान्त भेद से चार प्रकार का है। वाम आगम शक्तिप्रधान, दक्षिणागम भैरवप्रधान, मिश्रागम सप्तमातृकापरक और सिद्धान्त वेदप्रधान है। अत: शिवोपदिष्ट कामिकादि वातुलान्त आगमों की अपेक्षा वीरशैवमत अधिक प्रामाणिक है।

वीरशैव एवं वीरमाहेश्वर पद का अर्थनिर्वचन करने के बाद वीरशैव के छः भेद बतलाये गये हैं । वे हैं—भक्त स्थल, माहेश्वर स्थल, प्रसादी स्थल, प्राणिलिङ्गी स्थल, शरण स्थल और ऐक्य स्थल । उसके पश्चात् भक्त स्थल के अवान्तर पन्द्रह भेद बतलाये गये हैं । उनके नाम हैं—पिण्ड स्थल, पिण्डज्ञान स्थल, संसारहेय स्थल, गुरुकारुण्य स्थल, लिङ्गधारण स्थल, विभूतिधारण स्थल, रुद्राक्षधारण स्थल, पञ्चाक्षरजप स्थल, भक्तमार्गक्रिया स्थल, उभय स्थल, त्रिविध सम्पत्ति स्थल, चतुर्विध साराय स्थल, सोपाधिदान स्थल, निरुपाधिदान स्थल और सहजदान स्थल। शिवभक्त को चाहिये कि इन स्थलों का प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करे।

पिण्ड स्थल में पिण्ड अर्थात् शरीर, पिण्डज्ञान स्थल में शरीर का स्वरूप, संसारहेय में संसार एवं सांसारिक वस्तुओं का त्याज्य होना बतलाया गया है ।

षष्ठ-सप्तम परिच्छेद—षष्ठ परिच्छेदस्थ गुरुकारुण्य स्थल में गुरु का वैशिष्ट्य बतलाकर शिष्य को गुरु के पास जाने की बात कही गयी है । तत्पश्चात् दीक्षा की परिभाषा, उसके तीन प्रकार, मांसपिण्ड को मन्त्रपिण्ड के रूप में सुसंस्कृत करना बतलाया गया है । लिङ्गधारण स्थल में शिष्य के प्राण का लिङ्ग के साथ सामरस्य, लिङ्गधारण का प्रयोजन, उसके धारक, अन्तर्लिङ्गधारण, बाह्यलिङ्ग-धारण, लिङ्गधारण में श्रुति प्रमाण का वर्णन किया गया है ।

सप्तम परिच्छेद के भस्मधारण स्थल में भस्म के विभूति आदि पाँच नामों की अन्वर्थकता, उनके रूप, विनियोग, भस्मनिर्माण की नाना प्रक्रियायें, स्नान के सात प्रकार, भस्म स्नान, त्रिपुण्ड्र धारण, त्रिपुण्ड्र धारणीय अङ्गों का और त्रिपुण्ड्रधारी जीव का वर्णन है । रुद्राक्ष धारण स्थल में रुद्राक्षों की उत्पत्ति, धारणीय रुद्राक्ष के लक्षण, किस अङ्ग में कितने रुद्राक्ष धारण करने चाहिये, रुद्राक्ष धारण का फल इत्यादि का वर्णन प्रस्तुत है ।

अष्टम-दशम परिच्छेद—अष्टम परिच्छेद में पञ्चाक्षरी विद्या का वर्णन किया गया है । जिस प्रकार शिव से बढ़कर कोई दूसरा तत्त्व नहीं है, उसी प्रकार पञ्चाक्षर (नमः शिवाय) से बढ़कर दूसरा मन्त्र नहीं है । 'शिव' नामक दो अक्षर परब्रह्म के प्रकाशक हैं । ॐकार के साथ इसे षड़क्षर मन्त्र भी कहा जाता है। इसके पश्चात् पञ्चाक्षर जप का विधान, जप के भेद, जपयज्ञ का माहात्म्य, मानस जप की श्रेष्ठता, समन्त्रक शिवपूजन की विधि और उसका माहात्म्य, पञ्चाक्षरी जप का फल, जप करने वाले आचार्यों की महिमा का वर्णन कर परिच्छेद समाप्त किया गया है ।

नवम परिच्छेद का विषय भक्तिमार्ग-क्रिया है । इसमें भक्ति के नव भेद, बाह्य और आभ्यन्तर की दृष्टि से भक्ति के दो प्रकार, भक्ति का अनेक जन्म-लभ्यत्व, मनो-वाक्-काय भेद से पुनः भक्ति के तीन प्रकार, पुनः तप, कर्म, जप, ध्यान और ज्ञान के भेद से पाँच प्रकार का शिवयज्ञ, वीरशैव मार्ग में दीक्षित भक्त के लिये नियम, लिङ्गी और अलिङ्गी के भेद एवं कर्त्तव्य, दानों में अन्न-जल-दान की श्रेष्ठता का वर्णन किया गया है । इसके अनन्तर उभयस्थल

में शिव और गुरु में अभेद की चर्चा की गयी है । तदनन्तर उल्लिखित त्रिविधसम्पत्ति स्थल में गुरु, लिङ्ग और जङ्गम शिवयोगी का विविध आयामों की दृष्टि से वर्णन प्रस्तुत है । चतुर्विधसराय स्थल में शिव का चरणामृत, उनको अर्पित बिल्वपत्र, माला, अन्न के ग्रहण का फल बतलाया गया है । अन्त में सोपाधि, निरुपाधि एवं सहज संज्ञक तीन प्रकार के दानों की महिमा बतलायी गयी है ।

दशम परिच्छेद का विषय माहेश्वर स्थल है । इसमें माहेश्वर की प्रशंसा, लिङ्गनिष्ठा, पूर्वाश्रय निरास, अद्वैत निराकरण, आह्वान वर्जन, अष्टमूर्ति निराकरण, सर्वगतत्व का खण्डन, शिव और भक्त दोनों की शिवता—इस प्रकार नव भेदों की चर्चा है । जो महेश्वर को सर्वश्रेष्ठ समझता है, वही माहेश्वर है । वह परस्त्री-परद्रव्य पराङ्मुख शिव के लिये प्राण-त्याग इत्यादि करने वाला होता है। इस माहेश्वर के द्वारा विधीयमान लिङ्गनिष्ठा का स्वरूप यह है कि भक्त उक्त माहेश्वर लिङ्ग को ही सब कुछ समझता है । वह प्राण-सङ्कट होने पर भी लिङ्ग-पूजा का महाव्रत नहीं छोड़ता । उसे वेदोक्त अग्निहोत्र आदि कर्म नहीं करने पड़ते। वह पूर्व स्वीकृत धर्मों का त्याग कर देता है । 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' की धारणा का परित्याग करने वाला वह लिङ्ग को पूज्य और अपने को पूजक समझता हुआ द्वैतभाव से रहता है । उसे शिव का आह्वान नहीं करना चाहिये, क्योंकि लिङ्ग के रूप में शिव सदा उसके साथ हैं । पृथ्वी आदि आठ तत्त्व शिव से भिन्न हैं । इसीलिये वह सर्वगत होते हुए भी लिङ्ग में विशेष रूप से अधिष्ठित रहते हैं । भिन्न रूप में उनकी पूजा करते हुए भी पूजक को यह भावना करनी चाहिये कि शिव सर्वव्यापी है । ऐसा होते हुए भी वे अपने भक्तों के हृदय में विशेष रूप से स्थित होकर भासते हैं ।

एकादश-त्रयोदश परिच्छेद—एकादश परिच्छेद में मुख्य प्रसादी स्थल है। दूसरा गुरुमाहात्म्य इसके बाद लिङ्गप्रशंसा, जङ्गमगौरव, भक्तमाहात्म्य, शरणकीर्तन और शिवप्रसादमाहात्म्य—इस प्रकार इसमें सात स्थल (= उपपरिच्छेद) हैं । प्रसादीस्थल में मन की निर्मलता, निर्मलता की प्राप्ति के उपाय, निर्मलता से लाभ की चर्चा की गयी है । गुरुमाहात्म्य में गुरु और शिव में अभेद एवं ऐसी धारणा से लाभ का वर्णन है । तीसरे स्थल में लिङ्ग का स्वरूप, ब्रह्म ही लिङ्ग है, परमा शक्ति उसकी पीठ है, दोनों का समायोग विश्वलिङ्ग है । इसकी उपासना से परम ऐश्वर्य मिलता है । शिवयोगी लोग जङ्गमलिङ्ग होते हैं। कामादि दोषरहित शिवज्ञानी शिवचिन्तनपरायण ही वास्तविक जङ्गमलिङ्ग है। भक्तमाहात्म्य परिच्छेद में भक्त का लक्षण, शिव एवं भक्त में अभेद एवं उनका वैशिष्ट्य बतलाया गया है । शरणस्थल में शरण की महिमा, शरणार्थी का स्वरूप, शिवप्रपत्ति का महत्त्व बतलाया गया है । प्रसादमहत्त्व-स्थल का विषय शिव-प्रसाद का स्वरूप, उसकी महिमा का वर्णन कर परिच्छेद का उपसंहार किया गया है।

द्वादश परिच्छेद प्राणलिङ्गीस्थल के नाम से उद्धृत है । इसमें पाँच अवान्तर स्थल हैं—प्राणलिङ्ग, प्राणलिङ्गार्चन, शिवयोगसमाधि, लिङ्गनिजस्थल तथा अङ्गलिङ्गिस्थल । प्राण और अपान के समाघात से कन्द के मध्य से उठी हुई ज्योति को प्राणलिङ्ग कहा जाता है, जो बाह्य लिङ्ग को छोड़कर चित् लिङ्ग का परामर्श करता है, वह प्राणलिङ्गी कहा जाता है । ऐसे प्राणलिङ्ग की हृदयकमल में अर्चना प्राणलिङ्गार्चन है । इसके लिये क्षमा, विवेक, सत्य आदि गुणों का उपचार के रूप में प्रयोग होता है । शिवयोगसमाधि स्थल में समाधिस्थ का लक्षण, बहिर्वासना के अपसारण के उपाय का वर्णन है । लिङ्गनिज स्थल में लिङ्गस्वरूप की चर्चा, लिङ्ग का महत्त्व तथा अपना उसी रूप में ध्यान करने की बात कही गयी है । अङ्गलिङ्गीस्थल में यह बतलाया गया है कि ज्ञानरूपी अङ्ग और ज्ञेयरूपी लिङ्ग ये दोनों जिसके पास हैं, वह अङ्गलिङ्गी कहा जाता है। जो इन दोनों से शून्य है, उसकी मुक्ति नहीं होती ।

त्रयोदश परिच्छेद में शरण स्थल, तामसनिरसन स्थल, निर्देश स्थल एवं शीलसम्पादन स्थल की बात कही गयी है । पतिव्रता स्त्री की भाँति जो शिव को पति और अपने को पत्नी समझता हुआ तथा अन्य आराध्य देवताओं के प्रति विमुख है, उसे शरणस्थलवान् कहा जाता है । गुरु के द्वारा इस भक्त के अन्दर जब वर्तमान समस्त तमोभाव निरस्त कर दिये जाते हैं, तो वह तामसनिरासक कहा जाता है । जिसका ज्ञान तमोमिश्रित है, उसको मुक्ति नहीं मिलती। इसलिये जो शम-दम आदि से युक्त है, वह सात्त्विक महायोगी कहलाता है । इसी प्रकार शिवमय प्रपञ्च में सर्वत्र द्वेष भावना रखने वाला राजस एवं सर्वत्र असत्य भावना रखने वाला तामस शिवयोगी होता है। इनमें प्रथमकोटि का योगी सर्वोत्तम है । ऐसा व्यक्ति जिस ज्ञान को बतलाता है वह ज्ञान निर्देश कहलाता है । ऐसा निर्देश देने वाला ही वास्तविक गुरु है, वही शिवत्वलाभ कराने में समर्थ है । शिवतत्त्व की जिज्ञासा, उनके प्रति स्थिर भावना शील के नाम से अभिहित होती है । इस प्रकार शिवैक्यज्ञान, शिवध्यान, शिवप्राप्ति के लिये उत्कण्ठा यह सब शील कही जाती है । ऐसा भक्त ही शिवलिङ्गैक्यवान् कहा गया है ।

चतुर्दश-षोडश परिच्छेद—चतुर्दश परिच्छेद में ऐक्य, आचार सम्पत्ति आदि चार स्थल हैं । शरणवान् भक्त प्राण आदि लिङ्ग के योग से अतिशय सुख को प्राप्त कर शिव के साथ ऐक्य वाला हो जाता है । विषयानन्द-पराङ्मुख वह शिवानन्द के सागर में निमज्जन करता रहता है । उसको संसार का भान नहीं होता, क्योंकि भेदरूपी बिल में सोने वाले संसाररूपी सर्प के लिये शिवैक्य-भावना बाधक औषधि है । जो शिवैक्यभाव को प्राप्त है, उसे कर्मफलों का भोग नहीं करना पड़ता । इस दशा में ब्राह्मण-चाण्डाल, पापी-पुण्यात्मा एक समान हो जाते हैं । उसके कर्मबीज शिवज्ञानाग्नि से दग्ध हो जाते हैं । उसके गमन आदि समस्त कर्म शिवाराधन हो जाते हैं । वह इस विश्व को शिवमय देखता है । शिव और विश्व दोनों में उसे परस्पर आधाराधेयभाव की प्रतीति होती रहती है । शिव में लीन उसका निराकुल हृदय जब वृत्तिशून्य हो जाता

है, तो वह मुक्त हो जाता है । गुरु, शिव और शिष्य का एक रूप में स्मरण सहभोजन कहा जाता है । जो ऐसा नहीं समझता वह विश्वभोजक नहीं है । जब वह पराहन्ता रूप पावक में इदन्ता का होम कर देता है तो उसे विश्वहोमी कहते हैं । समस्त विश्व को 'अहम्' रूप में देखना पूर्णाहन्ता कही जाती है।

पञ्चदश परिच्छेद में दीक्षागुरु, शिक्षागुरु आदि नव स्थलों का वर्णन किया गया है । जो शिवज्ञान दे और त्रिविध मल का क्षय करे, उसे दीक्षा कहते हैं। उस विषय में गुरु दीक्षागुरु कहा जाता है । 'गु' अर्थात् गुणातीत, 'रु' अर्थात् रूपातीत, जो इसका ज्ञान कराये वह गुरु कहलाता है । जो शास्त्र के अर्थ को समझकर उसका संग्रह करे तथा स्वयं आचरण करे और दूसरों को उस दिशा में प्रेरित करे, उसे आचार्य कहते हैं । जो समस्त वस्तुओं में अखण्ड चैतन्य की अभिव्यक्ति करता है, वह गुरु विश्वभासक होता है । जो दीक्षागुरु है वही शिष्य का बोधक होने से शिक्षागुरु भी है । इस प्रकार ज्ञानदीपिका से शिष्य के हृदय को प्रकाशित करने वाला गुरु दुर्लभ होता है, जो व्यक्ति शिवरूपानुसन्धायी ज्ञान को देता है, वह ज्ञानगुरु नाम से अभिहित होता है । सूर्य केवल बाह्य अन्धकार दूर करता है, किन्तु ज्ञानगुरु बाह्य और आभ्यन्तर दोनों अन्धकारों का नाशक है । ज्ञानगुरु के विशेष ज्ञान के द्वारा सारी क्रियायें जिसमें लीन हो जाती हैं, उसे क्रियालिङ्ग कहते हैं । योगी लोग समस्त क्रियायों का त्याग कर केवल लिङ्गपूजा में तत्पर रहते हैं, इस कारण क्रियालिङ्ग का विशेष महत्त्व है । ऐसा करते-करते एक स्थिति ऐसी आती है, जब क्रिया और भाव दोनों लिङ्ग में लीन हो जाते हैं । इसे भावलिङ्ग कहा जाता है । इस दशा में परमेश्वर भक्त के भावमात्र से प्रसन्न होते हैं । इस प्रकार आन्तर भावपूजा सर्वोत्कृष्ट है । उसे ज्ञानी जन ही करते हैं । यहाँ ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र आदि भेद समाप्त हो जाता है । परबोध ही ज्ञान का विषय बनता है । ऐसे बोध से सम्पन्न व्यक्ति को ज्ञानलिङ्गी और बोध को ज्ञानलिङ्ग कहते हैं ।

भावलिङ्ग का ज्ञापक ज्ञान जिस ज्ञान में लीन हो जाता है, उस ज्ञान वाला व्यक्ति 'स्वयं' कहा जाता है । वह संसार में रहते हुए भी परानन्द में लीन रहता है । शिव का ध्यान, शिव का ज्ञान, भिक्षा एवं एकान्त वास, ये ही उसके कर्म होते हैं । ऐसा स्वयंलिङ्गयुक्त साधक जब काम, क्रोध आदि से रहित सर्वत्र समबुद्धि वाला होकर 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' की भावना करता रहता है, तो उसे 'चर' कहते हैं । वह जब स्वयंमात्र होकर सर्वत्र स्वयं को ही देखता है, तो उसका ऐसा बोध परबोध कहा जाता है । वह वर्ण, आश्रम, धर्म आदि से परे होकर अपने को ही सर्वोत्कृष्ट समझता है । ऐसा शिवयोगी अपने दर्शन-स्पर्शन से अज्ञानियों को भी मुक्त कर देता है । वह निरञ्जन एवं जीवन्मुक्त होकर भी सामान्य जनवत् व्यवहार करता है ।

षोडश परिच्छेद माहेश्वर के वर्णन से अलंकृत है । इस माहेश्वर स्थल में नव खण्ड हैं । उनके नाम—क्रियागम, भावागम, ज्ञानागम, सकाय, अकाय,

परकाय, धर्माचार, भावाचार और ज्ञानाचार हैं । क्रियागम स्थल में शिवपूजा की चर्चा है । जिस प्रकार विना अरणिमन्थन के अग्नि प्रकट नहीं होती, उसी प्रकार विना पूजा के शिव का साक्षात्कार नहीं होता । इसलिये गुरु का आदेश लेकर परमेश्वर की पूजा करनी चाहिये । उनकी पूजा से समस्त देव पूजित होते हैं । ज्ञान और क्रिया दोनों दो पङ्खों के समान है । एक से भी विहीन यह जीवरूपी पक्षी मोक्षाकाश में विचरण नहीं कर सकता । ऐसा अभ्यास करते-करते भावशुद्धि हो जाती है। इस स्थिति में सर्वत्र पूर्ण माहेश्वर की ही भावना होती है । भाव ही वह चक्षु है, जिससे शिव को देखा जा सकता है । ऐसा भक्त परम ज्ञानी हो जाता हैं । ज्ञानरहित कर्म बन्धन का कारण होता है । ज्ञान ही मुक्ति देता है और वह शास्त्र के अभ्यास, गुरु के उपदेश, सत्सङ्ग आदि से प्राप्त होता है । देह तथा कर्म के अभिमान से रहित योगी का शरीर आत्मसदृश होता है। उसके द्वारा यह लोक सकाय कहा जाता है, क्योंकि विना शरीर के योगी संसारी जनों को सन्मार्ग पर नहीं ला सकता । मूर्त्ति के माध्यम से देवता की पूजा की भाँति देह के माध्यम से ही योगी भी लोक में पूज्य होता है । तपस्या इत्यादि समस्त कार्य का सम्पादन योगी शरीर से ही करता है, अत: उसे शरीर का त्याग नहीं करना चाहिये । सशरीर होते हुए भी वह, शरीर आदि के प्रति भेद-बुद्धि एवं ममत्वाभिमान से रहित होने के कारण, अकाय कहा जाता है । वह अपने को मनुष्य, देवता आदि नहीं बल्कि शिव ही समझता है । चूँकि प्रकृति इसके वश में रहती है और माया का इसे स्पर्श नहीं रहता इसलिये यह सच्चिदानन्द-स्वरूप परकाय होता है । पराहन्ता अथवा पूर्णाहन्ता को प्राप्त हुआ वह योगी अखिल विश्व को स्वात्मरूप या शिवरूप में ही देखता है । फलत: वह निरवच्छिन्न होता है। उस परकाय योगी का जो आचरण होता है, वह धर्माचार कहलाता है । अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दया, क्षमा, दान, पूजा, जप और ध्यान ये धर्म हैं। इनका अनुसरण करने वाला अहङ्कार-ममकार से रहित होता है । ऐसा होकर भी योगी को चाहिये कि वह धर्माचरण का त्याग न करे । उक्त धर्माचारसम्पन्न शिवयोगी का भाव ही सामान्य जनों का भावाचार होता है । भाव से मन:शुद्धि होती है और भाव की शुद्धि कर्म से होती है । इसलिये योगी को भाव का त्याग नहीं करना चाहिये । शिव-भावना के द्वारा समस्त कार्यों को करने वाला महायोगी गुण-दोष से लिप्त नहीं होता। स्वयं को, संसार को तथा परशिव को एक समझने वाला ही वास्तविक शिवद्रष्टा है । ऐसे योगी का ज्ञानाचार ही साधारण लोगों के लिये ज्ञानाचार कहा जाता है । शिवाद्वैत-भावना ही ज्ञान है । ऐसा समझ कर जो संसार में व्यवहार करता है, वह ज्ञानाचारी कहा जाता है । वह समस्त लोगों को ज्ञान से युक्त करता है। अद्वैत भक्ति से युक्त इस शिवयोगी की समस्त क्रियायें केवल क्रियामात्र होती है, उनसे बन्धन या संसार की उत्पत्ति नहीं होती।

सप्तदश-अष्टादश परिच्छेद—सत्रहवाँ परिच्छेद प्रसादी स्थल के नाम से प्रसिद्ध है । इसमें नव स्थल हैं । जिनके नाम हैं—कायानुग्रह, इन्द्रियानुग्रह, प्राणानुग्रह,

कायार्पित, करणार्पित, भावार्पित, शिष्यस्थल, सुश्रूषास्थल और सेव्यस्थल। अपने शरीर का दर्शन कराते हुए शिवयोगी जब लोगों के ऊपर अनुग्रह करता है, तो वह कायानुग्रह कहा जाता है । ऐसा इसलिये होता है कि शिव स्वयं योगी के शरीर में आविष्ट होकर अनुग्रह करते हैं । इस प्रकार शिव एवं शिवयोगी दोनों शरीर के प्रति अनासक्त होते हैं । इन्द्रियों का परशिव से अभेद ज्ञान इन्द्रियानुग्रह कहलाता है । ऐसी स्थिति में योगी अन्तःकरण में शिव का अनुभव करते हुए कभी-कभी क्षणमात्र के लिये बाह्य पदार्थों का भी अनुभव करता है। उसे जरा-मरण का भय नहीं रहता । वह इन्द्रियों के साथ प्राण को भी मन से संश्लिष्ट कर शिवभावना करता रहता है । इन्द्रियानुग्रहसम्पन्न योगी जब प्राणवायु को निरुद्ध कर तात्पर्य को देखता है, तब वह प्राणानुग्रह कहा जाता है । तात्पर्यदर्शन का अर्थ है—परम कारण शिव में प्राण को लीन कर देना । प्राणवृत्तियों के लीन होने पर मन शान्त हो जाता है, किन्तु अपने शक्ति-संस्कार के बल से योगी शरीरयात्रा करता रहता है । वस्तुतः उसका शरीर रहते हुए भी नहीं रहता है, क्योंकि उसे निज कायाभिमान नहीं रहता । यही कायार्पित कहा जाता है । शिव के लिये स्वशरीर के अर्पण के फलस्वरूप वह योगी शिव हो जाता है । शरीर का समस्त सुखः-दुख शिव का हो जाता है । करणार्पित स्थल का विषय है, समस्त इन्द्रियों का शिवार्पण । विषय-सुख की अनुभवित्री इन्द्रियों का शिवार्पण करने वाला योगी करणार्पक कहा जाता है । इन्द्रियों का प्रधान मन है । उसके वशीकृत होने पर सब इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं । चित्त एवं जगत् की चिदग्नि में आहुति देने पर संसार नहीं रहता और शिवयोगी मुक्त हो जाता है । इसी प्रकार निश्चल भाव से शिव के लिये समस्त भावों का अर्पण भावार्पित कहा जाता है । मन में सदा भावनायें उत्पन्न होती रहती हैं । ये ही बन्धन का कारण है । 'शिवोऽहम्' की भावना चित्तस्थ अशुद्ध भावनाओं को नष्ट कर देती है । फिर भोक्ता, भोग्य और भोग यह त्रिपुटी नष्ट हो जाती है । समस्त कर्म शिवार्चन, समस्त वचन शिवकीर्तन हो जाता है—'यद्यत् कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम् ।' परकाय शिवयोगी के द्वारा जो शासनीय होता है, वह शिष्य है । शम, दम, तप, शील, सत्यवाक्त्व, समदृष्टि, गुरु और शिव में तुल्यभाव, ये सब उत्तम शिष्य के लक्षण हैं । शिष्य को चाहिये कि वह गुरु की आज्ञा का उल्लंघन न करे । ऐसे शिष्य को जब गुरु निर्देश करते हैं कि 'तुम शिव हो', तब वह मुक्त हो जाता है। परकाय गुरु के द्वारा उपदिश्यमान यह शिष्य जब उस गुरु की सेवा में लगा रहता है, तब उसे सुश्रूषु कहते हैं । शिष्य केवल सेवा ही नहीं करता, वह प्रश्न-प्रतिप्रश्न भी करता रहता है कि कौन सा परमतत्त्व ज्ञेय है? किसके साक्षात्कार से मुक्ति होती है— इत्यादि । उत्तर में गुरु कहता है—'शिव ही ज्ञेय है । तुम शिव हो । शिव का श्रवण-चिन्तन-मनन करो । इससे मुक्तिलाभ होगा ।' गुरु के इस प्रकार के उपदेशामृत का पान कर सुश्रूषु शिष्य जब शिवतत्त्व का ज्ञान प्राप्त कर लेता है, तब वह सेव्य कहा जाता है । गुरु के उपदेशानुसार आचरण

करने से वह गुरुवत् पूज्य हो जाता है । इसका परिणाम यह होता है कि वह शिष्य भी अपने दृष्टिपात से सामान्य जनों को मोक्षमार्ग पर ले जाने में समर्थ हो जाता है और ले भी जाता है ।

अठारवाँ परिच्छेद प्राणलिङ्गस्थल वाला है । इसमे आत्मस्थल, अन्तरात्मस्थल, परमात्मस्थल, निर्देहागमस्थल, निर्भावागमस्थल, नष्टागमस्थल, आदिप्रसादस्थल, अन्त्यप्रसादस्थल एवं सेव्यप्रसादस्थल हैं । सेव्यस्थल जब जीवभाव का त्याग कर तत्त्व के रूप में भावना का विषय होता है, तब इसे आत्मा कहते हैं । यह आत्मा बाल के अग्रभाग का शतांश रूप है । प्राक्तन कर्मरूपी पाश से आबद्ध होकर यह जीव होता है तथा अहङ्कार से सम्बद्ध होने के कारण शरीरवान् बनता है । अपने मूल रूप में यह निर्देह एवं निर्मल है । यह अनाम और अरूप है। देहधारी होकर यह पुष्करपलाश के सदृश देह से असंसक्त है । ऐसी स्थिति में भी वह योग के बल से शिंव का साक्षात्कार करता रहता है । यह अन्तरात्मा ही निर्मल होकर परमात्मा हो जाता है । शिव ही सर्वव्यापी एवं उत्कृष्टतम आत्मतत्त्व होने के कारण परमात्मा है । वह अपनी धूमावती आदि शक्तियों के द्वारा विश्व में पञ्चकृत्य करता हुआ स्थित है । परमात्मस्थल के बाद निर्देहागमस्थल का वर्णन है । अहन्त्व और ममत्व दोनों का निरास होने के बाद देह के स्थूलत्व आदि धर्म का योगी को भान नहीं होता । ऐसा योगी निर्देह कहा जाता है । यद्यपि सामान्य लोगों की दृष्टि में वह सदेह रहता है किन्तु यथार्थत: वह देहभावना एवं देहविकार से परे रहता है । सर्वव्यापी परंमात्मा के साथ अभिन्न होने पर वह परिच्छिन्न देहकर्मों से प्रभावित हो ही नहीं सकता। यह शिवयोगी निर्देहतत्त्व के परिणामस्वरूप राग-द्वेष आदि भावों से रहित हो जाता है । 'अहम्' और 'ब्रह्म' ये दो भाव हैं । चिदाकाश में दोनों के एक होने पर निर्भाव की स्थिति होती है । वाणी और मन की सीमा से परे शून्य चिदाकाश में अपने अस्तित्व का लय करने वाले योगी के लिये भावना की कल्पना असम्भव है । ऐसी स्थिति में जब उसका ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय रूप त्रिपुटी-भाव नष्ट हो जाता है, तब उसे नष्टागम कहते हैं । त्रिपुटी की स्थिति द्वैतता में रहती है । अद्वैत होने पर उसे स्व का भी भान नहीं होता, फिर त्रिपुटी या त्रिपुटीमय प्रपञ्च और उसके भान की क्या बात! अद्वैत-भावना के अनन्तर शिवयोगी के लिये शिवत्व पद की प्राप्ति अवशिष्ट रहती है । उसके लिये शिव की कृपा आवश्यक होती है । जिस प्रकार सूर्य को देखने के लिये सूर्य की किरणें आवश्यक होती हैं, उसी प्रकार शिवपद प्राप्त करने के लिये शिव की कृपारूपी किरण अनिवार्य होती है । शिवत्व का साक्षात्कार और संसारत्व की निवृत्ति एक ही बात है । संसार की निवृत्ति का दूसरा नाम 'अन्त्य' है । संसार मायाकृत है। इसका अन्त चिदाकाश-दर्शन से होता है । चिद्व्योम में प्रतिष्ठित होने पर संसार नहीं रहता । यह दशा सबके सेव्य शिवरूपी गुरु की प्रसन्नता से प्राप्त होती है । गुरु ही परम तत्त्व है । उसके साथ ऐक्य को प्राप्त होने के बाद कुछ भी प्राप्तव्य नहीं रहता । यह स्थिति नित्यतृप्ति की होती है ।

एकोनविंश-एकविंश परिच्छेद—उन्नीसवाँ परिच्छेद शरणस्थल के नाम से प्रसिद्ध है । इसमें बारह भाग हैं । उनके नाम—दीक्षापादोदक, शिक्षापादोदक, ज्ञानपादोदक, क्रियानिष्पत्तिक, भावनिष्पत्तिक, ज्ञाननिष्पत्तिक, पिण्डाकाशस्थल, बिन्द्वाकाशस्थल, महाकाशस्थल, क्रियाप्रकाशनस्थल, भावप्रकाशनस्थल तथा ज्ञानप्रकाशनस्थल हैं । चूँकि दीक्षा के द्वारा द्वैतभाव नष्ट हो जाता है और गुरु एवं शिष्य के विषय में ऐक्यभावना हो जाती है, अत: इसे दीक्षापादोदक कहा गया है । 'पाद' का अर्थ होता है—निर्मल परमानन्द और 'उदक' का अर्थ है—ज्ञान । दीक्षा के द्वारा ज्ञान और निर्मल आनन्द अभिन्न हो जाता है । परासंवित् से युक्त शिवयोगी परानन्द को प्राप्त कर सर्वत्र अभेद का अनुभव करता है । यह ज्ञानानन्द केवल गुरुकृपा से प्राप्त होता है ।

पूर्वोक्त ज्ञान का मनन और गुरुशिष्य की एकरूपता का ज्ञान इन दोनों की समरसता शिक्षापादोदक कहा जाता है । इसका परिणाम यह होता है कि शिवयोगी विषयानन्द से पराङ्मुख होकर निजानन्द-सागर में निमज्जन करने लगता है, क्योंकि विषयानन्द उस परानन्द की कणिकामात्र होता है । ऐसे आनन्दमय योगी की समस्त क्रियायें फल नहीं देतीं । वह ज्ञानी कर्म करता हुआ भी उनसे उसी प्रकार लिप्त नहीं होता—जैसे घृत आदि का स्वाद लेने वाली जिह्वा उससे लिप्त नहीं होती । जिस शिवयोगी के अन्दर प्रतीत होने वाले भाव भी कल्पित हों, वह भाव निष्पत्तिमान् होता है । यद्यपि उसका भाव से सम्बन्ध नहीं होता तथापि उसे तारक शिव के प्रति अद्वैत भावना करती चाहिये, क्योंकि उसका वह भाव अन्य भक्तों के लिये तारक होता है । विना भाव के ज्ञान नहीं, विना ज्ञान के भाव नहीं । इसलिये योगी को चाहिये कि वह दोनों का आश्रयण करे। इन दोनों का कारक मन होता है । मन जब लक्ष्य को प्राप्त कर परतत्त्व में विलीन हो जाता है, तब उसका ज्ञान स्वप्नवत् हो जाता है । ऐसा ज्ञानी ज्ञाननिष्पत्तिमान् कहा जाता है । जिस प्रकार जागने पर स्वाप्न पदार्थ और उसका ज्ञान लुप्त हो जाते हैं, उसी प्रकार आत्मप्रकाश होने पर संसार और उसका ज्ञान दोनों विलुप्त हो जाते हैं । ऐसी दशा में अखण्ड आनन्दस्वरूपा संवित् शेष रह जाती है ।

पिण्डाकाशस्थल का स्वरूप बतलाते हुए कहा गया है कि जैसे आकाश के घटावच्छिन्न, मठावच्छिन्न होने पर भी उसकी पूर्णता अक्षुण्ण रहती है, उसी प्रकार इस पिण्ड में स्थित आत्मा की पूर्णता में कोई कमी नहीं होती । परमेश्वर पराकाश के समान है । वही प्राणियों के शरीर में स्थित हृदयगुहा में भी रहता है। योगी को चाहिये कि वह परमेश्वर और जीव का पराकाश एवं पिण्डाकाश के समान अभेद ध्यान करे । सदाशिवतत्त्व से लेकर पृथ्वी तक स्थित समस्त तत्त्वों का मूलकारण व्यापक परशिव है । उसका बिन्दु के रूप में ध्यान करना चाहिये। यही बिन्द्वाकाश है । यह आकाश और आत्मा दोनों एक सदृश हैं । आकाश से उत्पन्न वायु जैसे एक होता हुआ भी सर्वत्र सब रूपों में तत्तदाकार ग्रहण करने के बाद भी उनसे परे रहता है, वैसे ही परमेश्वर भी सर्व शरीरों में

जीव रूप में स्थित होकर भी इनसे परे है । यही बिन्द्वाकाश है । जिस प्रकार पिण्ड एवं ब्रह्माण्ड में स्थित दोनों आकाश परस्पर अभिन्न हैं, उसी प्रकार शिवयोगी के चेतन जीवात्मा से परमात्मा का कोई भेद नहीं है । इसको महाकाशस्थल कहा जाता है । परानन्दरूपिणी संवित् ही परमाकाश है । शरीरावच्छिन्न जीव भी वही है । सिन्धु और उसकी लहरों के समान परमात्मा, जीवात्मा तथा विश्व एक और अभिन्न है । भेद का भासन उपाधि के कारण होता है । जो चिदाकाशरूपी परिपूर्ण शिव का आत्मा के रूप में अनुसन्धान करता है, वह क्रियाप्रकाशवान् होता है । ऐसी स्थिति में योगी की अन्य क्रियायें लुप्त हो जाती हैं—ऐसा नहीं है । उसके द्वारा सम्पद्यमान तथा अन्य समस्त जागतिक क्रियाओं को वह गन्धर्वनगरवत् तुच्छ समझता है । जिस प्रकार समुद्र में तरङ्ग आदि समुद्र से भिन्न नहीं होतीं, उसी प्रकार बुद्धि आदि भाव भी शिवयोगी के चैतन्य से भिन्न नहीं होते । वे शिवमय ही होते हैं । अज्ञानतिमिर के दूर होने पर योगी की समस्त क्रियायें शिवात्मक हो जाती हैं, सारे भाव शिवात्मक हो जाते हैं । इस ज्ञान के प्रकाशन में 'तत्त्वमसि' महावाक्य में जैसे भागत्याग-लक्षणा के द्वारा अखण्ड चैतन्य का बोध होता है, वैसे ही अखण्ड शिवता का भान होता है। शिवतत्त्व ज्ञान का विषय नहीं है, उसको आत्मा से अभिन्न समझना ही ज्ञान कहलाता है। यही अद्वैत ज्ञान मोक्ष का कारण होता है । उस समय संसार नहीं रहता।

बीसवें परिच्छेद को ऐक्यस्थल नाम दिया गया है । इसके अन्तर्गत नवस्थलों की चर्चा की गयी है । वे हैं—स्वीकृतप्रसादैक्यस्थल, शिष्टोदनस्थल, चराचरलय-स्थल, भाण्डस्थल, भाजनस्थल, अङ्गालेपस्थल, स्वपराज्ञास्थल, भावाभावविनाशस्थल तथा ज्ञानशून्यस्थल ।

ज्ञानप्रकाश से सम्पन्न योगी के अन्दर जब मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ दोनों का अभाव हो जाता है, तब वह पूर्णज्ञानप्रसाद वाला हो जाता है । वैसी स्थिति में वह प्रमाता-प्रमेय-प्रमाणरूप त्रिपुटी में समवायेन वर्तमान संवित् का साक्षात्कार करता हुआ स्वस्थ हो जाता है । पूर्णज्ञानी उस शिवयोगी को संसार सर्वत्र शिवमय दिखलाई देता है । तब योगी समस्त ऐन्द्रिय विषयों का चिदग्नि में होम कर निर्मल हो जाता है एवं परानन्दमय होकर विषयों का भोग करता है। माया को ओदन कहा गया है । जैसे चावल उदरस्थ होकर रक्त आदि के रूप में परिणत होकर नश्वर शरीर को पुष्ट करता है, वैसे माया भी इस संसार में नानारूपों में प्रकट होकर इसको पुष्ट करती है । जब वह चित्लिङ्ग में लीन हो जाती है, तब उसे शिष्ट कहते हैं । माया संसारीजनों की स्वामिनी एवं योगीजनों की किङ्करी होती है, क्योंकि महात्मा शिवयोगी चित्स्वरूपज्योतिर्लिङ्ग में निमग्न रहता है । ऐसे योगी के द्वारा भुज्यमान विषय चिदात्मा में लीन हो जाते हैं । जैसे अग्नि इन्धन को जलाकर स्वयं स्वस्थ हो जाती है, ऐसे ही शिवयोगी देहधारी होता हुआ भी निर्देही हो जाता है और चराचरात्मक जगत् में स्थित मलशक्ति का विनाशक बन जाता है । जैसे जागने पर स्वप्न जगत् अदृश्य या नष्ट हो

जाता है, वैसे ही आत्मप्रबोध होने पर सम्पूर्ण संसार नष्ट हो जाता है, अर्थात् तब योगी के लिये संसार वैसा नहीं रह जाता, जैसा सामान्य संसारीजनों के लिये होता है । वाणी और मन से परे तुरीयातीत अवस्था को प्राप्त योगी चिदानन्दमय शिव के अतिरिक्त कुछ नहीं जानता ।

शिवयोगी के विचाररूप परबिन्दु का दूसरा नाम भाण्डस्थल है । यह परमशिव रूप योगी की विमर्शकला है, जिसमें समस्त विश्व मयूराण्डरसन्यायेन प्रच्छन्न रहता है । यही शब्दब्रह्म है । यही पराऽहन्तारूप विमर्श है । इस विमर्शरूपी भाण्ड में सम्पूर्ण विश्व को विलीन कर योगी मुक्त रहता है । निखिल ब्रह्माण्ड का कारणभूत विमर्श जिसमें भासित होता है, उस 'अहं' में अकार शिव हैं, हकार शक्ति है। इस प्रकार 'अहम्' पद में शिवशक्ति दोनों समरस होकर रहते हैं । इस अहन्ता में सम्पूर्ण विश्व वटबीज में निहित वृक्ष की भाँति अव्यक्त रहता है। अहन्तामय योगी विश्वात्मा होकर भासित होता है । अङ्गालेप का अर्थ है वह रूप जो देशकाल आदि से अवच्छिन्न न होते हुए चिदानन्दमय होता है । जैसे धूम आदि से आकाश लिप्त नहीं होता, वैसे ही योगी भी संसार से लिप्त नहीं होता। उसके लिये विधि-निषेध आदि कुछ भी नहीं रहते । वह योगी सर्वाकार होता हुआ जीवन्मुक्त रहता है ।

स्वपराज्ञस्थल में अपने और पराये के अज्ञान की बात कही गयी है । शिवयोगी जब अपने को अप्रमेय चिदद्वैत तत्त्व में विलीन कर देता है, तो उसे स्व एवं पर का भान नहीं होता । वह विजातीय, सजातीय और स्वगत तीनों भेदों से शून्य हो जाता है । समस्त द्वन्द्वों से परे उसको स्वपराज्ञस्थल कहते हैं । इस प्रकार जो 'त्वम्' और 'अहम्' के भाव से शून्य हो जाता है, वह भावाभाव के लय का स्थल हो जाता है । 'अहं' भाव और 'स्व' के भाव से रहित वह जीवन्मुक्त जब चित्स्वरूप हो जाता है, तब उसके लिये सुख-दुःख आदि का न भाव होता है न अभाव। जैसे घी में घी, तेल में तेल, दूध में दूध डालने पर पार्थक्य नहीं रहता, उसी प्रकार शिवयोगी और परब्रह्म में विभाग नहीं रहता । स्वयं विभाग का भी अस्तित्व नहीं रहता । केवल चिदानन्द रूप उस तत्त्व में विशेषण सम्भव नहीं होता । कार्य-कारण, शेष-शेषी आदि समस्त सम्बन्ध शून्यता को प्राप्त हो जाते हैं । ऐसा व्यक्ति ज्ञानशून्यस्थल कहा जाता है।

भगवान् शिव ने भगवती पार्वती को जिस अद्वैत आनन्द शिव धर्म का उपदेश दिया था, गणेश्वर रेणुकाचार्य ने महर्षि अगस्त्य को यह उपदेश सुनाकर मौन धारण कर लिया । तत्पश्चात् मुनि अगस्त्य ने कहा—हे शिवज्ञान के महासागर! आचार्य! आपके मुख से यह निर्मल शास्त्र अवतीर्ण हुआ । इसे सुनकर मेरा चित्त अतीव प्रसन्न हो गया । मैं शिवज्योति का साक्षात्कार कर रहा हूँ । तपस्या के प्रभाव एवं शङ्कर की कृपा के विना कौन इसको सुनने का अधिकारी हो सकता है । आप मुझे कृतकृत्य करने के लिये यहाँ आये, अतः मेरा जन्म सफल हो गया। मैं पाशबन्धन से मुक्त हो गया । मेरी तपस्यायें फलीभूत हो गयीं । अगस्त्य के वचन को सुनकर रेणुकाचार्य ने कहा—हे मुनिशार्दूल! आपके

अतिरिक्त दूसरा कौन इस शिवशास्त्र को जानने का अधिकारी हो सकता है । इस तन्त्र के आप एकमात्र अधिकारी हैं । शिवप्रबोध का ऐसा साधन अन्यत्र कहीं नहीं है । सर्वानुग्रह शिव ने लोकमङ्गल के लिये इसका प्रवचन किया । इसे आप शिष्यों की परीक्षा करने के बाद ही उन्हें दें । अपरीक्षित अयोग्य को कभी मत दीजिये। इस शास्त्र का आप भूतल पर प्रचार-प्रसार करिये ।

उपर्युक्त प्रवचन कर अगस्त्य के देखते-देखते गणेश्वर रेणुक शिव का मन में ध्यान करते हुए अन्तर्हित हो गये । तत्पश्चात् स्वेच्छा से शरीर धारण करने वाले गणेश्वर रेणुक लङ्का में पहुँच गये । सर्वागमवेत्ता उन गणेश्वर को आया हुआ देखकर विभीषण उनको अपने महल में ले गये एवं भद्र आसन पर बैठाकर पाद्य, अर्घ्य आदि समस्त उच्च उपचारों से उनकी पूजा की । फिर विभीषण स्वयं उनके आसन के पास बैठ गये । विभीषण ने हाथ जोड़कर कहा—हे गणनायक! आप शिव की आज्ञा से इस पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए, ऐसा मैंने सुना था । मेरे सौभाग्य से साक्षात् महेश्वररूप आप मेरे घर स्वयं पधारे । इस कारण मेरी नगरी लङ्का और मैं स्वयं कृतार्थ हो गये । ऐसा सुनकर गणेश्वर ने विभीषण से कहा—हे राक्षसेन्द्र! लोग आपको समस्त शास्त्र के तत्त्वज्ञ तथा परम धर्मपरायण कहते हैं । इसीलिये कैलास जाते समय मैं आपके पास आ गया । आप मुझसे मनोवाञ्छित वर माँगिये । विभीषण ने कहा— हे भगवन्! सुकृत जब परिपक्व हो जाता है, तब वह स्वयं फल देता है फिर भी मुझे एक वर दीजिये । मेरे भाई रावण ने युद्ध में रामशर से आविद्ध होने पर मुझे बुलाया और कहा—हे विभीषण! मैने इस लङ्का में नव करोड़ शिवलिङ्गों की स्थापना का सङ्कल्प किया था । छ करोड़ की तो मैने स्थापना कर दी । शेष तीन करोड़ की स्थापना तुम करना । हे गणेश्वर! एक साथ इतने शिवलिङ्गों की स्थापना का विधान असम्भव जान कर मैं यहाँ चिन्ताग्रस्त था । आप मेरी इच्छा पूरी कीजिये। भगवान् रेणुक ने विभीषण की प्रार्थना के अनुसार तीन करोड़ शरीर धारण कर उसी क्षण तीन कोटि शिवलिङ्गों की स्थापना कर दी । विभीषण उन गणेश्वर का ऐसा माहात्म्य देखकर विस्मित हो उनके चरणों में नत मस्तक हो गये और रेणुकाचार्य उनको अनुगृहीत कर अन्तर्हित हो गये ।

पृथ्वीमण्डल पर इधर-उधर घूमते हुए तथा लोगों का कल्याण करते हुए रेणुक कोल्लिपाक्य नामक अपने पुर में आ गये । वहाँ लोगों के द्वारा पूजित होकर वे सोमेश्वर मन्दिर में आये और भक्तिपूर्वक शिव की स्तुति की । स्तुति से प्रसन्न होकर भगवान् ने अपने उसी लिङ्ग से शब्द उच्चरित किये—'हे वत्स! आओ । मैं तुम पर प्रसन्न हूँ ।' ऐसा सुनकर गणेश्वर रेणुक ज्योति:स्वरूप होकर सोमेश्वर लिङ्ग में समाविष्ट हो गये ।



श्रीसिद्धान्तशिखामणिः

विषयानुक्रमणी

॥ श्रीः ॥

श्रीशिवयोगिशिवाचार्यविरचितः

श्रीसिद्धान्तशिखामणिः

श्रीमरितोण्डदार्यरचिततत्त्वप्रदीपिकाख्यया संस्कृतटीकया
आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदिकृत 'ज्ञानवती' हिन्दीव्याख्यया च संवलितः

प्रथमः परिच्छेदः

श्रीनाथः सोममूर्तिर्जयति परशिवस्त्र्यम्बकस्ताररूपः
स्वच्छश्रीब्रह्मरन्ध्रस्थितसितजलप्रोद्यदब्जत्रिकोणे ।
इच्छाज्ञानक्रियाख्ये त्रिविधलिपिमये हक्षलार्णाग्रपार्श्वे
कृत्स्नार्णौन्मुख्यबिन्दौ चिदचिदुदयकृद्दृक्क्रियाङ्घ्रिद्वयाढ्यः ॥

अनेकविधसिद्धान्तशिखामणिमनामयम् ।
श्रीवीरशैवसिद्धान्तमेकोत्तरशतस्थलम् ॥
रेणुकागस्त्यसंवादं निगमागमविश्रुतम् ।
प्रदीपयति गुप्तार्थमुद्धृत्य शिवयोगिराट् ॥

शिवस्तुतिः

अत्र कलिकालप्रवेशानन्तरं लोकहितार्थं रेणुकगणेश्वर इति प्रसिद्धो रेवणसिद्धेश्वरः कुम्भसम्भवाय वीरशैवशास्त्रमुपदिष्टवान् । तदनन्तरं रेवण-सिद्धेश्वरदृष्टिगर्भसम्भूतसिद्धरामेश्वरसम्प्रदायप्रसिद्धः सकलनिगमागमपरागः शिवयोगीश्वर इत्यभिधानवान् कश्चिन्माहेश्वरः तद्रेणुकागस्त्यसंवादं निर्विघ्नेन स्वशिष्यान् बोधयितुं स्वमनसि कृतसकलसिद्धान्तश्रेष्ठनिगमागमैक्य-गर्भीकारलक्षणस्वेष्टदेवतानमस्काररूपमङ्गलं शिष्यशिक्षार्थं सप्तभिः श्लोकैर्निबध्नाति—

त्रैलोक्यसम्पदालेख्यसमुल्लेखनभित्तये ।
सच्चिदानन्दरूपाय शिवाय ब्रह्मणे नमः ॥ १ ॥

जगद्रूपमायिकसम्पच्चित्रसमुल्लेखनाधारभित्तिरूपाय सच्चिदानन्दस्वरूपाय जीवविलक्षणाय ब्रह्मणे वेदान्तप्रतिपाद्याय शिवाय शिवसिद्धान्तप्रसिद्ध-परमशिवाय नम इत्यर्थः ॥ १ ॥

ज्ञानवती—त्रैलोक्यरूपी सम्पत्ति के लेख के चित्रण के आधार, सच्चिदानन्दरूप व्यापक शिव को नमस्कार है ॥ १ ॥

ब्रह्मेति व्यपदेशस्य विषयं यं प्रचक्षते ।
वेदान्तिनो जगन्मूलं तं नमामि परं शिवम् ॥ २ ॥

ब्रह्मेति व्यपदेशस्य परब्रह्मेति शब्दस्य वेदान्तिनो यं परमात्मानं विषयमर्थं प्रचक्षते, तं जगत्कारणं परशिवं शिवसिद्धान्तप्रसिद्धपरमशिवं नमामीत्यर्थः ॥ २ ॥

वेदान्ती लोग जिसको 'ब्रह्म' व्यवहार का विषय बतलाते हैं, संसार के मूल उस परमशिव को मैं प्रणाम करता हूँ ॥ २ ॥

यस्योर्मिबुद्बुदाभासः षट्त्रिंशत्तत्त्वसञ्चयः ।
निर्मलं शिवनामानं तं वन्दे चिन्महोदधिम् ॥ ३ ॥

शिवादिक्षित्यन्तषट्त्रिंशत्तत्त्वसमूहो यस्य परशिवाख्यचित्समुद्रस्य ऊर्मिबुद्-बुदाभासो घृतकाठिन्यन्यानेनैकदेशे तरङ्गादिवदाभाति, निर्मलं मलत्रयरहितं शिवनामानं तं चिन्महोदधिं वन्दे नमस्करोमीत्यर्थः ॥ ३ ॥

छत्तीस तत्त्वों का समूह जिसकी लहर बुदबुद तथा आभास है शिव नामक उस निर्मल चित्‌सिन्धु की मैं वन्दना करता हूँ ॥ ३ ॥

यद्भासा भासते विश्वं यत्सुखेनानुमोदते ।
नमस्तस्मै गुणातीतविभवाय परात्मने ॥ ४ ॥

'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'[1] इति श्रुतेर्विश्वं यस्य परब्रह्मणः प्रकाशेन प्रकाशते, 'अस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति'[2] इति श्रुतेः यत्पर-ब्रह्मसुखेनानुमोदते, तस्मै मायिकसत्त्वरजस्तमोगुणातीतविभवाय परमात्मने शिवाय नम इत्यर्थः ॥ ४ ॥

जिसके प्रकाश से विश्व प्रकाशित होता है, जिसके आनन्द से यह आनन्दित

---

१. कठोपनिषद् २।५।१५।   २. बृ०उ० ४।३।३२।

होता है, गुणों से परे तथा वैभव सम्पन्न उस परमात्मा को नमस्कार है ॥ ४ ॥

सदाशिवमुखाशेषतत्त्वोन्मेषविधायिने ।
निष्कलङ्कस्वभावाय नमः शान्ताय शम्भवे ॥ ५ ॥

मयूराण्डरसन्यायेन[1] स्वविमर्शशक्तिसामरस्यापन्नसदाशिवादिभूम्यन्तषट्त्रिंशत्तत्त्वविकासकारिणे विश्वदोषरहितस्वरूपाय सुखभोक्त्रे सुखधात्रे शम्भवे नम इत्यर्थः ॥ ५ ॥

सदाशिव से लेकर पृथिवी पर्यन्त समस्त तत्त्वों के उन्मेषकर्त्ता, निष्कलङ्क स्वभाव वाले शान्त शम्भु को नमस्कार है ॥ ५ ॥

स्वेच्छाविग्रहयुक्ताय स्वेच्छावर्तनवर्तिने ।
स्वेच्छाकृतत्रिलोकाय नमः साम्बाय शम्भवे ॥ ६ ॥

'स्थिरेभिरङ्गैः पुरुरूप उग्रः' इति श्रुतेर्भक्तानुग्रहार्थं स्वेच्छाकल्पितदिव्यमङ्गलविग्रहयुक्ताय स्वच्छन्दचारिणे स्वेच्छाशक्तिनिर्मितलोकत्रयाय पार्वतीपतये परशिवाय नम इत्यर्थः ॥ ६ ॥

अपनी इच्छा से शरीर धारण करने वाले, अपनी इच्छा से ही व्यवहार करने वाले तथा अपनी ही इच्छाशक्ति से त्रैलोक्य की रचना करने वाले मातासहित शिव को नमस्कार है ॥ ६ ॥

यत्र विश्राम्यतीशत्वं स्वाभाविकमनुत्तमम् ।
नमस्तस्मै महेशाय महादेवाय शूलिने ॥ ७ ॥

यत्र वेदागमप्रसिद्धपरब्रह्माख्यपरशिवे, अनुत्तमं विश्वतः श्रेष्ठं स्वाभाविकममायीयमीशत्वमुमामहेश्वरत्वं विश्राम्यति,

घृतकाठिन्यवन्मूर्त्तिः सच्चिदानन्दलक्षणा ।
शिवाभिधेन सैवास्ति शिव एव हि सा सदा ॥

इति सूतगीतोक्तेस्तादात्म्यं भजते, तस्मै महेश्वराय 'तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्' इति श्रुतेर्ब्रह्मादिकारणेश्वराय महादेवाय अपरिमितप्रकाशरूपाय शूलिने इच्छाज्ञानक्रियाशक्तिमयत्रिशूलिने परमशिवाय नम इत्यर्थः । अनेनायं सिद्धान्तो निर्विशेषब्रह्माद्वैतलक्षण इत्यनुसन्धेयः । एवंविधश्लोकसप्तक-

---

१. यथा मयूरनाम्नः पक्षिणोऽस्य रसे नानाविधरागवद्वर्हमयंशरीरं प्रच्छन्नं भवति कालक्रमेण बहिराविर्भवति तथैव शिवस्य विश्वोत्तीर्णतादशायां सर्वं वैचित्र्यमयं जगत् परमशिवे प्रच्छन्नं सत् तिष्ठति कालक्रमेण चाविर्भवति ।

प्रतिपादितं वस्तु तत्परं ब्रह्म स एकः 'स एको रुद्रः स ईशानः स भगवान् स महेश्वरः स महादेवः'[१] इत्यथर्वशिरउपनिषदुक्तप्रकारेणैकमेवेति शिवाद्वैतशास्त्रप्रवीणैरवगन्तव्यम् ॥ ७ ॥

जिसमें ऐश्वर्य की पराकाष्ठा है, जो स्वभावत: सर्वोत्तम है त्रिशूलधारी उस महादेव महेश को नमस्कार है ॥ ७ ॥

शक्तिस्तुतिः

एवं वेदागमसम्मत्या सप्तभिः श्लोकैः शिवं नमस्कृत्य तथैव वेदागमादिप्रसिद्धनित्यसमवेतशिवशक्तिं पञ्चभिः श्लोकैः प्रस्तौति—

यामाहुः सर्वलोकानां प्रकृतिंशास्त्रपारगाः ।
तां धर्मचारिणीं शम्भोः प्रणमामि परां शिवाम् ॥ ८ ॥

वेदागमादिशास्त्रपारङ्गताः शिवज्ञानिनो यां परशिवसमवेतशक्तिं सर्वलोकानां प्रकृतिं मूलकारणीभूतज्ञानक्रियासामरस्यात्मिकामाहुः, तां शम्भोर्धर्मचारिणीं धर्मस्वरूपां परां सर्वोत्कृष्टां शिवां भवानीं प्रणमामीत्यर्थः ॥ ८ ॥

शास्त्रों के पारङ्गत विद्वान् जिसको समस्त लोकों का मूल कारण मानते हैं शिव की धर्मपत्नी उस परा शिवा को मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ८ ॥

यया महेश्वरः शम्भुर्नामरूपादिसंयुतः ।
तस्यै मायास्वरूपायै नमः परमशक्तये ॥ ९ ॥

यया स्वसमवेतशक्त्या महेश्वरो ब्रह्मादिसर्वकारणेश्वरः शम्भुः शिवः 'शक्तो यया शम्भुर्भुक्तौ मुक्तौ च पशुगणस्यास्य' इति तत्त्वप्रकाशवाक्यानुसारेण नामरूपप्रक्रियाविशिष्टो[२] जीवानां भुक्तिमुक्तिप्रदः स्यात्, तस्यै मायास्वरूपायै 'मायां तु प्रकृतिं विन्द्यान्मायिनं तु महेश्वरम्'[३] इति श्रुतेः प्रतिस्फुरणगत्या जगदुपादानकारणीभूतसत्त्वरजस्तमोगुणात्ममायाख्यमूलप्रकृत्यै परमशक्त्यै परमशिवसमवेतनित्यशक्त्यै नम इत्यर्थः ॥ ९ ॥

जिसके कारण महेश्वर नाम रूप आदि (= गुण संख्या परिमाण आदि) से युक्त होकर शम्भु बतलाये जाते हैं अथवा जिसके कारण नाम रूप आदि से

---

१. अथ०उ० २।३।

२. अस्ति भाति प्रियं नाम रूपं चेत्यंशपञ्चकम् ।
आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपमथ द्वयम् ॥ (पञ्चदशी)

३. श्वे०उ० ४।१०

युक्त शम्भु महेश्वर बतलाये जाते हैं । मायास्वरूपा उस परम शक्ति को नमस्कार है ॥ ९ ॥

शिवाद्यादिसमुत्पन्नशान्त्यतीतपरोत्तराम् ।
मातरं तां समस्तानां वन्दे शिवकरीं शिवाम् ॥ १० ॥

शिवात् परशिवादाद्यादिपटगतशुक्लत्ववत् पूर्वं समुत्पन्ननिवृत्तिप्रतिष्ठाविद्या शान्तिशान्त्यतीतकलापरकुण्डलिनीशक्त्यपेक्षया उत्तरां श्रेष्ठां समस्तानां मातरं शिवकरीं मङ्गलकरीं तां शिवां सर्वमङ्गलां नमामीत्यर्थः ॥ १० ॥

जो शिव से सर्वप्रथम उत्पन्न हुई तथा शान्त्यतीता कला से भी परा तथा उत्तर है समस्त कलाओं अथवा समस्त सृष्टि की माता मङ्गलकारिणी उस शिवा की मैं वन्दना करता हूँ ॥ १० ॥

इच्छाज्ञानादिरूपेण या शम्भोर्विश्वभाविनी ।
वन्दे तां परमानन्दप्रबोधलहरीं शिवाम् ॥ ११ ॥

शम्भोः परमेश्वरस्य या समवेतशक्तिः, इच्छाज्ञानादिरूपेण

परास्य शक्तिर्विमला वितर्का स्वाभाविकी रुद्रसमानधर्मिणी ।
ज्ञानक्रियेच्छादिसहस्ररूपा तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥[1]

इति श्रुतेरिच्छादिरूपेण विश्वभाविनी विश्वप्रकाशिनी, तां परमानन्दप्रबोधलहरीं चिदानन्दोल्बणां शिवां वन्दे इत्यर्थः ॥ ११ ॥

जो शिव की इच्छा ज्ञान आदि (= क्रिया) रूप से विश्व की प्रकाशिका है परमानन्द प्रबोध की लहररूपा उस शिवा की मैं वन्दना करता हूँ ॥ ११ ॥

अमृतार्थं प्रपन्नानां या सुविद्याप्रदायिनी ।
अहर्निशमहं वन्दे तामीशानमनोरमाम् ॥ १२ ॥

अमृतार्थं मुक्त्यर्थं प्रपन्नानां शरणागतानां या शिवसमवेतशक्तिः सुविद्याप्रदायिनी 'वेदान्तवाक्यजा विद्या' इति सूतसंहितोक्तेस्तत्त्वमस्यादिवेदान्तमहावाक्यप्रकाशितशिवजीवैक्यविद्याप्रदायिनी, तां शिवप्राणकान्तामहर्निशं वन्दे नमस्करोमीत्यर्थः । 'अनन्या स्याच्छिवा सैव वस्तुतो मूर्तिरैश्वरी' इति पौष्करवचनादेतत्पञ्चसूत्रप्रतिपादितां शक्तिं शिवाभेदेनैव परामृशेदिति ॥ १२ ॥

अमरत्व के लिये शरण में आये हुऐ भक्त जनों को जो सद्विद्या देने

१. शि०सं०

वाली बतलायी गयी है ईशान की मनोरमा उस शिवानी की मैं रात दिन वन्दना करता हूँ ॥ १२ ॥

ग्रन्थकारवंशवर्णनम्

एवं संग्रहेण पार्वतीपरमेश्वरौ नमस्कृत्वाऽनन्तरमष्टभिः श्लोकैः शिवयोगिवंशानुगताचार्यान् प्रकटयति—

कश्चिदाचारसिद्धानामग्रणीः शिवयोगिनाम् ।
शिवयोगीति विख्यातः शिवज्ञानमहोदधिः ॥ १३ ॥

शिवयोगिनां मध्ये अग्रणीः श्रेष्ठः, शिवज्ञानमहोदधिः शिवज्ञानस्य समुद्रः, कश्चिद्रेवणसिद्धेश्वरदृष्टिगर्भसम्भूतसिद्धरामेश्वरः, आचारसिद्धानां सदाचारसम्पन्नानां वंशे शिवयोगीति विख्यातः, आसीदित्यर्थः ॥ १३ ॥

आचारसिद्धों शिवयोगियों में अग्रणी शिव ज्ञान के सागर कोई शिवयोगी प्रसिद्ध थे ॥ १३ ॥

शिवभक्तिसुधासिन्धुजृम्भणामलचन्द्रिका ।
भारती यस्य विदधे प्रायः कुवलयोत्सवम् ॥ १४ ॥

यस्य शिवयोगीति प्रसिद्धस्य सिद्धरामेश्वरस्य भारती वाक् शिवभक्ति-सुधासमुद्रवर्धनस्यामलचन्द्रिकाप्राया आधिक्येन कुवलयोत्सवं भूमण्डलाख्य-नीलोत्पलस्योत्सवं विदधे कृतवतीत्यर्थ ॥ १४ ॥

जिनकी शिवभक्तिरूपी सुधा के समुद्र के जृम्भण अर्थात् आनन्दोच्छलन के लिये चन्द्रिका के समान वाणी प्रायः कुवलयोत्सव (= कु = पृथिवी के वलय का उत्सव अथवा कुवलय अर्थात् कमल का उत्सव) करती थी ॥ १४ ॥

तदेव विवृणोति—

तस्य वंशे समुत्पन्नो मुक्तामणिरिवामलः ।
मुद्ददेवाभिधाचार्यो मूर्धन्यः शिवयोगिनाम् ॥ १५ ॥

तस्य सिद्धरामेश्वरस्य वंशे शिववेदिनां शिवज्ञानिनां मध्ये मूर्धन्यः श्रेष्ठो मुद्ददेवाख्याचार्यो निर्मलमुक्तामणिरिव समुत्पन्नः, उद्भूतवानित्यर्थः ॥ १५ ॥

उनके वंश में निर्मल मुक्तामणि के समान मुद्ददेव नामक आचार्य उत्पन्न हुए जो शिवयोगियों में मूर्धन्य थे ॥ १५ ॥

मुद्दानात् सर्वजन्तूनां प्रणतानां प्रबोधतः ।
मुद्ददेवेति विख्याता समाख्या यस्य विश्रुता ॥ १६ ॥

सर्वप्राणिनां सन्तोषदानात् प्रणतानां प्रबोधनाद् मुद्ददेवेति यस्यान्वर्थरूढिभ्यां विख्याता समाख्या विश्रुता लोकप्रसिद्धेत्यर्थः ॥ १६ ॥

शरणागत समस्त जीवों को आनन्द देने तथा प्रणत जनों को प्रबुद्ध करने के कारण उनका मुद्ददेव नाम प्रसिद्ध हुआ ॥ १६ ॥

तस्यासीन्नन्दनः शान्तः सिद्धनाथाभिधः शुचिः ।
शिवसिद्धान्तनिर्णेता शिवाचार्यः शिवात्मकः ॥ १७ ॥

तस्य मुद्ददेवस्य, शुचिः पवित्रः, शान्तः रागद्वेषरहितः, शिवात्मकः शिवस्वरूपः, शिवसिद्धान्तनिर्णेता त्रिपदार्थचतुष्पादयुक्तशिवागमार्थनिर्णायकः, शिवाचार्यः शिवसमयस्थापनाचार्यः, सिद्धनाथाभिधः सिद्धरामेश्वराभिधासंयुक्तः सिद्धनाथाचार्याख्यो नन्दनः कुमार आसीदभवदित्यर्थः ॥ १७ ॥

उनके सिद्धनाथ नामक पुत्र हुए जो शिवात्मक एवं शिवसिद्धान्त के निर्णायक शिवाचार्य थे ॥ १७ ॥

वीरशैवशिखारत्नं विशिष्टाचारसम्पदम् ।
शिवज्ञानमहासिन्धुं यं प्रशंसन्ति देशिकाः ॥ १८ ॥

विशिष्टाचारसम्पदं सदाचारसम्पन्नं शिवज्ञानमहासिन्धुं यं सिद्धनाथाचार्यं देशिका आचार्या वीरशैवशिखारत्नं वीरशैवानां शिरोमणिं श्रेष्ठं सन्तं प्रशंसन्ति कथयन्तीत्यर्थः ॥ १८ ॥

आचार्यगण जिनकी प्रशंसा वीरशैवचूडामणि, विशिष्ट आचार से सम्पन्न तथा शिवज्ञान महासिन्धु के रूप में किया करते थे ॥ १८ ॥

यस्याचार्यकुलाज्जाता सतामाचारमातृका ।
शिवभक्तिः स्थिरा यस्मिन् जज्ञे विगतविप्लवा ॥ १९ ॥

सतां सत्पुरुषाणां आचारमातृका यस्य सिद्धनाथाचार्यस्य आचार्यकुलाद् आचार्यवंशाद् जाता । विगतविप्लवा विगतदोषा शिवभक्तिरष्टविधा यस्मिन् स्थिरा जज्ञे जातेत्यर्थः ॥ १९ ॥

जिसके आचार्यकुल में उत्पन्न तथा सज्जनों के आचार की जननी शिवभक्ति उपद्रवरहित होकर जिसमें स्थित हो गयी ॥ १९ ॥

तस्य वीरशिवाचार्यशिखारत्नस्य नन्दनः ।
अभवच्छिवयोगीति सिन्धोरिव सुधाकरः ॥ २० ॥

वीरशैवशिखामणेस्तस्य सिद्धनाथाचार्यस्य नन्दनः कुमारः, सिन्धोः

समुद्रस्य सुधाकर इव शिवयोगीति आसीत् प्रसिद्धो जात इत्यर्थः ॥ २० ॥

वीर शैवशिवाचार्यों के मुकुटमणि के रूप विद्यमान उस सिद्धनाथ को समुद्र से चन्द्रमा की भाँति शिवयोगी नामक पुत्र हुये ॥ २० ॥

अथैतच्छास्त्रसंग्रहकर्ताऽयं शिवयोगी द्वादशसूत्रैः स्वनामप्रशंसापूर्वकं शास्त्रावतारक्रमं निरूपयति—

चिदानन्दपराकाशशिवानुभवयोगतः ।
शिवयोगीति नामोक्तिर्यस्य याथार्थ्ययोगिनी ॥ २१ ॥

यस्य आचार्यस्य 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म',[1] 'आकाशशरीरं ब्रह्म'[2] इत्यादिश्रुतेश्चिदानन्दपराकाशरूपशिवानुभवयोगात् शिवयोगीति नामोक्तिर्याथार्थ्ययोगिनी यथार्थेन संयुक्ता भवतीत्यर्थः ॥ २१ ॥

चिदानन्दसंवलित पराकाशरूपी शिवतत्त्व के अनुभव से युक्त होने के कारण जिसका 'शिवयोगी' नामक उनके अर्थ के अनुरूप ही था ॥ २१ ॥

शिवागमपरिज्ञानपरिपाकसुगन्धिना ।
यदीयकीर्तिपुष्पेण वासितं हरितां मुखम् ॥ २२ ॥

उक्तलक्षणशिवागमपरिज्ञानपरिपाकसुगन्धिना यदीयकीर्तिपुष्पेण यस्याचार्यस्य कीर्तिकुसुमेन हरितां दिशां मुखं वासितं पोषितमित्यर्थः ॥ २२ ॥

शैवागम के परिपूर्ण ज्ञान के परिपूर्ण पाक से सुगंन्धयुक्त जिसकी कीर्त्तिरूपी पुष्प से सभी दिशाओं का मुख सदा वासित (= सुगन्धित) होता रहता था ॥ २२ ॥

येन रक्षावती जाता शिवभक्तिः सनातनी ।
बुद्धादिप्रतिसिद्धान्तमहाध्वान्तांशुमालिना ॥ २३ ॥

बौद्धादिशिवसमयप्रतिकूलसिद्धान्तान्धकारचण्डकिरणेन येनाचार्येण सनातनी शिवभक्ती रक्षावती जाता रक्षिताऽभूदित्यर्थः ॥ २३ ॥

बौद्धों आदि के प्रतिकूल सिद्धान्त रूपी महा अन्धकार के लिये सूर्य के समान जिसके द्वारा सनातनी शिवभक्ति की रक्षा हुई ॥ २३ ॥

स महावीरशैवानां धर्ममार्गप्रवर्तकः ।
शिवतत्त्वपरिज्ञानचन्द्रिकावृतचन्द्रमाः ॥ २४ ॥

---

१. तै०उ० २।१।१ २. तै०उ० १।६।२

शिवतत्त्वज्ञानरूपचन्द्रिकावृतचन्द्रमाः स शिवयोगी महावीरशैवानां धर्ममार्गप्रवर्तकः, तदीयाचारमार्ग एव वर्तनवानित्यर्थः ॥ २४ ॥

शिवतत्त्व के परिपूर्ण ज्ञानरूपी चन्द्रिका से आवृत वे शिवयोगी महावीर शैवों के धर्ममार्ग के प्रवर्त्तक हुए ॥ २४ ॥

आलोक्य शैवतन्त्राणि कामिकाद्यानि सादरम् ।
वातुलान्तानि शैवानि पुराणान्यखिलानि तु ॥ २५ ॥

कामिकादिवातुलान्तशैवतन्त्राणि शैवान्यखिलानि पुराणानि च प्रीतियुक्तं यथा भवति तथा आलोक्य ॥ २५ ॥

उन्होंने कामिक से लेकर वातुलान्त शैवतन्त्रों समस्त शैवपुराणों का आदर के साथ अध्ययन कर वीरशैव महातन्त्र की रचना की ॥ २५ ॥

वेदमार्गाविरोधेन विशिष्टाचारसिद्धये ।
असन्मार्गनिरासाय प्रमोदाय विवेकिनाम् ॥ २६ ॥

वैदिकमार्गाविरोधेन सदाचारसिद्धये दुर्जनजैनबौद्धादिशास्त्रमार्गनिरासाय वेदागमविवेकिनां सन्तोषाय ॥ २६ ॥

यह रचना वैदिक मार्ग का विरोध न करती हुई विशिष्ट आचार की सिद्धि, असत् मार्ग को दूर करने तथा ज्ञानी जनों के प्रमोद, के लिये की गयी ॥ २६ ॥

सर्वस्वं वीरशैवानां सकलार्थप्रकाशनम् ।
अस्पृष्टमखिलैर्दोषैरादृतं शुद्धमानसैः ॥ २७ ॥

वीरशैवानां सर्वस्वं समस्तार्थप्रकाशकं समस्तदोषैरसंस्पृष्टं शुद्धमानसैर्निगमागमज्ञानिभिरादृतं सन्तोषितम् ॥ २७ ॥

वीर शैवों के सर्वस्व, समस्त तत्त्वों के प्रकाशक तथा सम्पूर्ण दोषों से रहित इस ग्रन्थ का शुद्ध अन्तःकरण वाले विद्वानों ने आदर किया ॥ २७ ॥

तेष्वागमेषु सर्वेषु पुराणेष्वखिलेषु च ।
पुरा देवेन कथितं देव्यैतन्नन्दनाय च ॥ २८ ॥

पूर्वोक्तागमपुराणेषु शिवेन देव्यै तन्नन्दनाय षण्मुखायानुगृह्य कथितम् ॥ २८ ॥

प्राचीन काल में समस्त आगमों तथा सम्पूर्ण पुराणों में वर्णित इस सिद्धान्त को भगवान् शिव ने देवी पार्वती और उनके पुत्र (= कार्त्तिकेय) को

बतलाया ॥ २८ ॥

तत्सम्प्रदायसिद्धेन रेणुकेन महात्मना ।
गणेश्वरेण कथितमगस्त्याय पुनः क्षितौ ॥ २९ ॥

तत्सम्प्रदायसिद्धेन महात्मना रेणुकगणाधीश्वरेण पुनः क्षितावगस्त्याय कथितम् ॥ २९ ॥

उस शिव सम्प्रदाय में प्रसिद्ध महिमाशाली गणेश्वर रेणुक ने इस शास्त्र को पृथिवी पर महर्षि अगस्त्य को बतलाया ॥ २९ ॥

वीरशैवमहातन्त्रमेकोत्तरशतस्थलम् ।
अनुग्रहाय लोकानामभ्यधात् सुधियां वरः ॥ ३० ॥

एकोत्तरशतस्थलं पिण्डादिज्ञानशून्यान्तैरेकोत्तरशतस्थलं वीरशैवसिद्धान्तं लोकानामनुग्रहाय निर्मलज्ञानिनां मध्ये श्रेष्ठः शिवयोगिनाम्ना प्रख्याताचार्यः, अभ्यधात् संग्रहेण प्रकटितवानित्यर्थः ॥ ३० ॥

मनीषियों में श्रेष्ठ शिवयोगी ने शिवाचार्य एक सौ एक स्थल (= विषय) वाले वीरशैव महातन्त्र का मनुष्यों के ऊपर अनुग्रह करने के लिये वर्णन किया ॥ ३० ॥

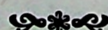
सर्वेषां शैवतन्त्राणामुत्तरत्वान्निरुत्तरम् ।
नाम्ना प्रतीयते लोके यत्सिद्धान्तशिखामणिः ॥ ३१ ॥

यद्वीरशैवतन्त्रं सर्वेषां शैवतन्त्राणामुत्तरत्वाद् निरुत्तरं स्वस्मादुत्तरहितं सत् सिद्धान्तशिखामणिरिति नाम्ना लोके प्रतीयते प्रतिभातीत्यर्थः ॥ ३१ ॥

समस्त शैव तन्त्रों का उत्तर अर्थात् अन्तिम होने के कारण निरुत्तर यह ग्रन्थ लोक में सिद्धान्तशिखामणि के नाम से प्रसिद्ध है । शिखा के ऊपर कोई अङ्ग नहीं होता और उसमें निबद्ध मणि सर्वोपरि होती है उसी प्रकार यह ग्रन्थ वीरशैव सिद्धान्त की चर्चा करने वाला सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है ॥ ३१ ॥

अनुगतसकलार्थे शैवतन्त्रैः समस्तैः
प्रकटितशिवबोधाद्वैतभावप्रसादे ।
विदधतु मतिमस्मिन् वीरशैवा विशिष्टाः
पशुपतिमतसारे पण्डितश्लाघनीये ॥ ३२ ॥

॥ इति श्रीसिद्धान्तशिखामणौ प्रथम परिच्छेदः ॥ १ ॥



समस्तैर्वीरशैवतन्त्रैरनुगतसमस्तरहस्यार्थे प्रकटितशिवाद्वैतज्ञानसमरसभाव-प्रसन्नतायुक्ते शिवसिद्धान्तसारे विद्वद्भिः स्तूयमानेऽस्मिन् सिद्धान्त-शिखामणौ विशिष्टाः श्रेष्ठा वीरशैवा वीरशैवाचार्या मतिं विदधतु कुर्वन्त्वित्यर्थः ॥ ३२ ॥

इति श्रीमत्पदवाक्यप्रमाणपारावारधुरीणश्रीमरितोण्टदार्येण विरचितायां तत्त्वप्रदीपिकाख्यायां सिद्धान्तशिखामणिव्याख्यायां अनुक्रमवर्णन अनुक्रमवर्णन नामकः प्रथमः परिच्छेदः ॥ १ ॥

...

हे विशिष्ट वीरशैव लोग! समस्त शैवतन्त्रों के तत्त्व को अपने में समाहित रखने वाले शिव ज्ञान के अद्वैत भाव के आनन्द को प्रकट करने वाले पाशुपत मत के सारभूत तथा पण्डितों के द्वारा श्लाघनीय इस ग्रन्थ के अध्ययन के विषय में अपना मन लगाइये ॥ ३२ ॥

इस प्रकार श्रीसिद्धान्तशिखामणि के अनुक्रमवर्णन नामक प्रथम परिच्छेद की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदिकृत 'ज्ञानवती' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ १ ॥

द्वितीयः परिच्छेदः

अथ शिवयोगिनामाचार्यः सूत्रद्वयेन निगमागमसम्मत्या पार्वतीपरमेश्वरौ प्रणमति—

सच्चिदानन्दरूपाय सदसद्व्यक्तिहेतवे ।
नमः शिवाय साम्बाय सगणाय स्वयम्भुवे ॥ १ ॥

सदसद्व्यक्तिहेतवे भावाभावमण्डलप्रपञ्चाविर्भावकारणाय भवानीपतये प्रमथगणसहिताय स्वयम्भुवे अयोनिजाय सच्चिदानन्दरूपाय शिवाय नम इत्यर्थः ॥ १ ॥

सच्चिदानन्दरूप सत् अर्थात् भाव अर्थात् पारमेश्वर स्वरूप तथा असत् अर्थात् अभाव अर्थात् जाग्रत स्वाप्न प्रपञ्च अथवा प्रतिभासिक एवं व्यावहारिक प्रपञ्च की अभिव्यक्ति का कारण, स्वयंम्भू गणों के सहित, साम्ब शिव को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ १ ॥

सदाशिवमुखाशेषतत्त्वमौक्तिकशुक्तिकाम् ।
वन्दे माहेश्वरीं शक्तिं महामायादिरूपिणीम् ॥ २ ॥

सदाशिवादिभूम्यन्तषट्त्रिंशत्तत्त्वमौक्तिकोत्पत्तिशुक्तिरूपां शुद्धविद्याख्य-महामायाप्रकृतिरूपिणीं शिवसमवेतशक्तिं भवानीं वन्दे नौमीत्यर्थः ॥ २ ॥

सदाशिव तत्त्व से पृथिवी तक समस्त तत्त्वरूपी मोतियों की शुक्तिस्वरूप महामाया आदि रूप महेश्वर की शक्ति की मैं वन्दना करता हूँ ॥ २ ॥

अथ विश्वसृष्टिक्रममुपपादयितुं चतुर्भिः सूत्रैर्वस्तुनिर्देशं करोति—

अस्ति सच्चित्सुखाकारमलक्षणपदास्पदम् ।
निर्विकल्पं निराकारं निरस्ताशेषविप्लवम् ॥ ३ ॥

सच्चिदानन्दस्वरूपं चिह्नशून्यपदास्पदं भेदरहितम् आकारशून्यं निवारितसकलोपप्लवम् ॥ ३ ॥

(पर ब्रह्म) सत् चित् आनन्द रूप, लक्षणरहित, निर्विकल्प, निराकार और समस्त उपद्रव को निरस्त करने वाला परशिव ब्रह्म है ॥ ३ ॥

परिच्छेदकथाशून्यं प्रपञ्चातीतवैभवम् ।
प्रत्यक्षादिप्रमाणानामगोचरपदे स्थितम् ॥ ४ ॥

विच्छिन्नप्रसङ्गरहितमप्राकृतवैभवरूपरसाद्यभावेन प्रत्यक्षप्रमाणागम्यम् अत एवानुमानाद्यगम्यम्, तेषामपि प्रत्यक्षमूलत्वात् परिच्छिन्नत्वाच्च ॥ ४ ॥

वह ब्रह्म परिसीमन की वार्त्ता से रहित, प्रपञ्च से परे, वैभव वाला तथा प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाणों का अविषय है? क्योंकि अनुमान आदि प्रमाण भी प्रत्यक्षमूलक एवं परिच्छिन्न होते हैं ॥ ४ ॥

स्वप्रकाशं विराजन्तमनामयमनौपमम् ।
सर्वज्ञं सर्वगं शान्तं सर्वशक्ति निरङ्कुशम् ॥ ५ ॥

स्वप्रकाशेनैव[1] प्रकाशमानं जननमरणादिदोषरहितम्, उपमातीतं सर्वज्ञं सर्वानुस्यूतं रागद्वेषरहितं सर्वसामर्थ्यम् अनर्गलं निरोधरहितमिति यावत् ॥ ५ ॥

वह स्वप्रकाश, विशेष रूप से दीप्यमान, निर्मल, निरुपमेय, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, शान्त, सर्वशक्ति सम्पन्न तथा स्वतन्त्र है ॥ ५ ॥

शिवरुद्रमहादेवभवादिपदसंज्ञितम् ।
अद्वितीयमनिर्देश्यं परंब्रह्म सनातनम् ॥ ६ ॥

शिवरुद्राद्यनेकपदसंज्ञितं द्वितीयशून्यमवाच्यं नित्यं परं ब्रह्म अस्ति, अस्तीत्यङ्गीकरणीयम्, अन्यथा जगदान्ध्यप्रसङ्गात्,

असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेत् ।
अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेन ततो विदुः ॥[2]

इति श्रुतेः ॥ ६ ॥

वह पर ब्रह्म शिव, रुद्र, महादेव, भव आदि पदों से ज्ञेय अद्वितीय अनिर्देश्य और सनातन है ॥ ६ ॥

अथैकविधक्रियाशक्तिमतः परब्रह्मणः सकाशात् 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्'[3] इति श्रुतेर्बीजाङ्कुरन्यायेन विश्वसृष्टिप्रकारं दर्शयति—

तत्र लीनमभूत् पूर्वं चेतनाचेतनं जगत् ।
स्वात्मलीनं जगत्कार्यं स्वप्रकाश्यं तदद्भुतम् ॥ ७ ॥

---

१. स्वप्रकाशत्वं नाम स्वस्य प्रकाशकत्वे सति परप्रकाशकत्वम् ।

२. तै०उ० २।६।१

३. छा०उ० ६।२।१

तत्र तस्मिन्नुक्तलक्षणे परब्रह्मणि चराचरमयं विश्वं पूर्वं सृष्टेः प्राग् लीनम् अनुभयेन्द्रियगोचरत्वेन तादात्म्येन स्थितं तदद्भुतमाश्चर्यम् । अनन्तरमिति शेषः, स्वात्मलीनं स्वात्मशक्तिलीनं जगद् योग्योपादानान्तरराहित्येन स्वप्रकाश्यं द्वितीयस्याभावात् स्वेनैव प्रकाश्यं सत् कार्यमुभयेन्द्रियगोचरत्वेन[1] कर्तुं योग्यमभूदित्यर्थः ॥ ७ ॥

सृष्टि के पहले यह जड़ चेतन जगत् उसमें लीन था । यह जगत्रूपी अदभुत कार्य स्वात्म अर्थात् परब्रह्म में लीन होता हुआ स्वप्रकाश्य अर्थात् स्वयं परब्रह्म के द्वारा प्रकाश्य है ॥ ७ ॥

अथ घृतकाठिन्यन्यायेन विश्वसृष्ट्युन्मुखीभूतशिवशक्तिस्वरूपं सूत्रषट्केन प्रदर्शयति—

शिवाभिधं परंब्रह्म जगन्निर्मातुमिच्छया ।
स्वरूपमादधे किञ्चित् सुखास्फूर्तिविजृम्भितम् ॥ ८ ॥

शिवाख्यं परं ब्रह्म विश्वसृष्ट्यर्थं स्वेच्छया सुखबाहुल्योच्छूनं किञ्चित् स्वरूपमङ्गीचकारेत्यर्थः ॥ ८ ॥

शिव नामक यह परब्रह्म जगत् रचना की इच्छा से किञ्चित् आनन्दमिश्रित उल्लास से युक्त स्वरूप के धारणं किया ॥ ८ ॥

तत्स्वरूपं कुलके[2](विशेषके)नाह—

निरस्तदोषसम्बन्धं निरुपाधिकमव्ययम् ।
दिव्यमप्राकृतं नित्यं नीलकण्ठं त्रिलोचनम् ॥ ९ ॥

निरस्तजरामरणादिसकलदोषसम्बन्धं स्वातिरिक्ताविद्याद्युपाधिशून्यं नाशरहितमत एव नित्यं कालत्रयाबाध्यमित्यर्थः । अप्राकृतं प्रकृतिसम्बन्धरहितं नीलकण्ठं त्रिलोचनम् ॥ ९ ॥

वह स्वरूप दोषों से असम्बद्ध उपाधिरहित, नाशरहित अर्थात् नित्य दिव्य अप्राकृत नीलकण्ठ और त्रिलोचन था ॥ ९ ॥

---

१. उभयेन्द्रियगोचरता का तात्पर्य—मन एवं एक ज्ञानेन्द्रिय दोनों के द्वारा बाह्य विषयों का ज्ञान होता है । सुख दुःख आदि आन्तरविषय केवल मन से जाने जाते हैं ।

२. द्वाभ्यां तु युग्मकं ज्ञेयं त्रिभिर्ज्ञेयं विशेषकम् ।
कपालकं चतुर्भिः स्यात्तदूर्ध्वं कुलकं स्मृतम् ॥ (स्तु०कु०टी०)

चन्द्रार्धशेखरं शुद्धं शुद्धस्फटिकसन्निभम् ।
शुद्धमुक्ताफलाभासमुपास्यं गुणमूर्तिभिः ॥ १० ॥

चन्द्रखण्डशेखरं शुद्धं पवित्रं शुद्धस्फटिकसङ्काशं निर्मलमुक्तामणिप्रभं गुणमूर्तिभिर्ब्रह्मादिभिरुपास्यम् ॥ १० ॥

मस्तक पर अर्धचन्द्र वाला, शुद्ध, शुद्ध स्फटिक के समान स्वच्छ एवं देदीप्यमान, शुद्ध मोती जैसा तथा गुणमूर्त्तियों अर्थात् तीन मूर्त्तियों (= ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र) के द्वारा उपास्य था ॥ १० ॥

विशुद्धज्ञानकरणंविषयं सर्वयोगिनाम् ।
कोटिसूर्यप्रतीकाशं चन्द्रकोटिसमप्रभम् ॥ ११ ॥
अप्राकृतगुणाधारमनन्तमहिमास्पदम् ।

दिव्यं स्तुत्यं निर्मलज्ञानमयचक्षुरादिकरणप्रपञ्चं योगिनां प्रत्यक्षं कोटिसूर्यप्रकाशं चन्द्रकोटिसमाभासमप्राकृतानन्तकल्याणगुणाश्रयमतिदुर्घट-कारिताद्यनेकमहिमाधारं किञ्चित् स्वरूपमादध इति पूर्वेण सम्बन्धः ॥ ११ ॥

विशुद्ध ज्ञान का असाधारण कारण, समस्त योगियों के ध्यान का विषय, करोड़ों सूर्य के समान देदीप्यमान, करोड़ों चन्द्रमा के समान कान्ति वाला, प्राकृतिक गुणों से भिन्न, सर्वज्ञता तृप्ति अनादि बोध[1] आदि गुणों का अधार तथा अनन्त महिमा वाला था ॥ ११ ॥

अथ शिवस्य शक्तिस्वरूपं प्रकटयति—

तदीया परमा शक्तिः सच्चिदानन्दलक्षणा ॥ १२ ॥
समस्तलोकनिर्माणसमवायस्वरूपिणी ।

तदीया परशिवसम्बन्धिनी परमा शक्तिः परारूपा विमर्शशक्तिः सच्चिदानन्दलक्षणा, अस्तीति शेषः ॥ १२ ॥

तदिच्छयाऽभवत् साक्षात्तत्स्वरूपानुसारिणी ॥ १३ ॥

'अहमस्मि' इति श्रुतेः अस्मिन् प्रकाशे नन्दामीत्यनुत्पन्नमलोल्लासा-कर्मकाक्रमोत्तमस्फूर्तिरूपापि समस्तलोकनिर्माणे पूर्वोक्तप्रकारेण 'नासतो विद्यते भावः'[2] इति भगवदुक्तेः स्वात्मन्यण्डरसन्यायेनाहमित्यविभाग-

---

१. सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः।
अनन्तशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञा आहुः षडङ्गानि महेश्वरस्य ॥ (वायु पु०)

२. भ०गी० २।१६

परामर्शात्मनानुभयेन्द्रियगोचरत्वेन स्थितस्य विश्वस्येदन्तालक्षणविभागपरामर्शमयसृष्टिलीलायां स्वस्वातन्त्र्यमहिम्ना भेदाभेदं प्रतिपाद्य वृक्षगतफलपुष्पादिन्यायेन विकारराहित्येन समवायस्वरूपिणी उपादानकारणीभूता भवति(न्ती) पुनः स्वान्तराकर्षणलक्षणसंहारलीलाया तदिच्छया कूर्मभङ्गिन्यायेन स्वकिरणायमानज्ञानक्रियाशक्तिद्वारा सर्वं स्वात्मन्याकृष्य साक्षादपरोक्षेणाहमिति तत्स्वरूपानुकारिणी शिवाभिन्नस्वरूपिणी अभवत्, भवतीत्यर्थः । न च भेदाभेदयोर्विरोध इति वाच्यम्, तद्भेदस्य स्वातन्त्र्यपरिकल्पिततत्वात्, स्वाभाविकभेदाभेदयोरेव विरोधात्, समानसत्ताकयोरिति यावत्, भगवतः शक्तेरघटनघटनापटीयस्त्वात् । तदेतदग्रे तत्र तत्र स्फुटीभविष्यतीति नैष (नात्र) विस्तरः । देवः क्रीडाशील इत्यर्थः ॥ १३ ॥

उसकी सत् चित् आनन्द लक्षणों वाली परमा शक्ति जो कि समस्त लोक निर्माण की समवायरूपा है, उसकी इच्छा से उसके स्वरूप जैसी हो गयी ॥ १२-१३ ॥

विमर्श—परमेश्वर की शक्ति अपने मूल रूप में क्रम रहित होती हुई सर्वप्रथम मयूराण्डररसन्यायेन संसार को अपने अन्दर अपने से अभिन्न रूप में धारण करती है । तत्पश्चात् जिस प्रकार पत्र पुष्प फल शाखा आदि के पृथक् पृथक् होने पर भी 'अयमेको वृक्षः' यह स्थिति होती है उसी प्रकार वह इस विश्व को अनेक विध होते हुए भी एक रूप में प्रकाशित करती है । इसके बाद स्वेच्छा से ही कछुये के द्वारा अपने अङ्गों की भाँति इस संसार का अपने अन्दर संहरण कर लेती है । यह सब परमेश्वर अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति से करते हैं । उनकी शक्ति लौकिक दृष्टि से असम्भव को भी सम्भव बनाने वाली है ।

एवं शिवशक्तिस्वरूपं निरूप्याथ 'स ऐक्षत लोकानसृजत'[1] 'यथापूर्वमकल्पयत्'[2] इत्यादिश्रुत्युक्तप्रकारेण सृष्टिक्रमं निरूपयति—

जगत्सिसृक्षुः प्रथमं ब्रह्माणं सर्वदेहिनाम् ।
कर्तारं सर्वलोकानां विदधे विश्वनायकः ॥ १४ ॥

लोकानां चतुर्दशभुवनानां देहिनां तत्तल्लोकमाश्रित्य विद्यमानानां प्राणिनामित्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् । अस्मिन्नर्थे—'विश्वाधिको रुद्रो महर्षिः । हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वम्' इति याजुषश्रुतेः ॥ १४ ॥

---

१. ऐ०उ० १।१-२   २. ऋ०सं० १०।१९०।३

विश्वनायक भगवान् सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् वे शम्भु संसार की रचना करने की इच्छा से युक्त होकर सबसे पहले समस्त लोकों के समस्त जीवों के कर्त्ता ब्रह्मा की रचना की ॥ १४ ॥

अथ—'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै'[१] इति श्वेताश्वतरश्रुत्यर्थं प्रकटयति—

तस्मै प्रथमपुत्राय शङ्करः शक्तिमान् विभुः ।
सर्वज्ञः सकला विद्याःसानुग्रहमुपादिशत् ॥ १५ ॥

शक्तिमान् समवेतशक्तिमानित्यर्थः । अनुग्रहेण सहितं यथा भवति तथा वेदादिसकलशास्त्रमुपदिष्टवानित्यर्थः ॥ १५ ॥

सर्वज्ञ शक्तिमान् तथा व्यापक भगवान् शङ्कर ने अपने उस प्रथम पुत्र को समस्त विद्याओं का अनुग्रहपूर्वक उपदेश किया ॥ १५ ॥

समस्तलोकान्निर्मातुं समुद्यमपरोऽभवत् ।
कृतोद्योगोऽपि निर्माणेजगतां शङ्कराज्ञया ।
अज्ञातोपायसम्पत्तेरभवन्माययावृतः ॥ १६ ॥

स्पष्टम् ॥ १६ ॥

विश्वनियामक महादेव से विद्या प्राप्त करने वाले ब्रह्मा समस्त लोकों की रचना करने में लग गये । शङ्कर की आज्ञा से संसार के निर्माण में प्रयत्न करने पर भी उपायों को न जानने के कारण वे माया से आवृत अर्थात् किङ्कर्त्तव्यविमूढ हो गये ॥ १६ ॥

विधातुमखिलान् लोकानुपाय प्राप्तुमिच्छया ।
पुनस्तं प्रार्थयामास देवदेवं त्रियम्बकम् ॥ १७ ॥

समस्त लोकों की रचना के लिये उपाय प्राप्त करने की इच्छा से ब्रह्मा ने पुनः उस देवाधिदेव त्रिलोचन से प्रार्थना की ॥ १७ ॥

अथ तत्प्रार्थनप्रकारं दर्शयति—

नमस्ते देवदेवेश नमस्ते करुणाकर ।
अस्मदादिजगत्सर्वनिर्माणनविधिक्षम ॥ १८ ॥
उपायं वद मे शम्भोजगत्स्रष्टः! जगत्पते ।

---

१. श्वे०उ० ६।१८

सर्वज्ञः सर्वशक्तिस्त्वं सर्वकर्ता सनातनः ॥ १९ ॥

अत्रोपायकथने सर्वज्ञ इत्यादिकं हेतुगर्भविशेषणम् ॥ १९ ॥

अब उनके द्वारा की गयी प्रार्थना का प्रकार बतलाते हैं—हे देवदेवेश! आपको नमस्कार है । हे करुणाकर! हमसे लेकर समस्त जगत् की सृष्टि में सक्षम आपको नमस्कार है ॥ १८ ॥

हे शम्भो! हे संसार के स्वामी! मुझे उपाय बतलाइये, क्योंकि आप सर्वज्ञाता सर्वशक्तिमान् सर्वकर्त्ता और सनातन है ॥ १९ ॥

'सर्वज्ञ' इत्यादि जो विशेषण है वह यहाँ उपाय के कथन में कारण है ।

इति सम्प्रार्थितः शम्भुर्ब्रह्मणा विश्वनायकः ।
उपायमवदत् तस्मै लोकसृष्टिप्रवर्तनम् ॥ २० ॥
उपायमीश्वरेणोक्तं लब्ध्वाऽपि चतुराननः ।
न समर्थोऽभवत् कर्तुं नानारूपमिदं जगत् ॥ २१ ॥

विश्वनिर्माणे शिवेन लब्धोपायवानपि ब्रह्मा न समर्थोऽभवत् । कुत इत्यत्र हेतुगर्भविशेषणम्—नानारूपमिति । जगतो नानारूपत्वादिति भावः ॥ २१ ॥

इस प्रकार ब्रह्मा से प्रार्थना किये गये विश्वनायक शिव ने उनको लोकसृष्टि प्रवर्त्तक उपाय बतलाया ॥ २० ॥

ईश्वर के द्वारा बतलाये गये उपाय को प्राप्त कर भी चतुरानन ब्रह्मा नाना रूप वाले इस संसार की रचना करने में समर्थ नहीं हुए ॥ २१ ॥

अथ तत्प्रकारं वर्णयति—

पुनस्त प्रार्थयामास ब्रह्मा विह्वलमानसः ।
देवदेव महादेव जगत्प्रथमकारण ॥ २२ ॥

अतो विह्वलमानसो भययुक्तमानसः सन् पुनः शिवं प्रार्थयामासेत्यर्थः ॥ २२ ॥

नमस्ते सच्चिदानन्द स्वेच्छाविग्रहराजित ।
भव शर्व महेशान सर्वकारणकारण ॥ २३ ॥
भवदुक्तो ह्युपायो मे न किञ्चिज्ज्ञायतेऽधुना ।

भव सर्वलोकोत्पादक, शर्व सर्वसंहारक, सर्वकारणकारण बिन्दुमायादिसर्वकारणकारणेत्यर्थः ॥ २३ ॥

अब उसके प्रकार को बतलाते है—

इसके पश्चात् व्याकुल चित्त वाले ब्रह्मा ने पुनः उन शिव से प्रार्थना की— हे देवाधिदेव महादेव! संसार के प्रथम कारण आपको नमस्कार है ॥ २२ ॥

हे सच्चिदानन्द! स्वेच्छा से शरीर धारण करने वाले, भव शर्व महेश्वर सब कारणों के कारण आपके द्वारा बतलाया गया उपाय मेरी समझ में कुछ नहीं आता ॥ २३-२४ ॥

तर्हि किं कर्तव्यमित्यत्राह—

सृष्टिं विधेहि भगवन् प्रथमं परमेश्वर ।
ज्ञातोपायस्ततः कुर्यां जगत्सृष्टिमुमापते ॥ २४ ॥

स्पष्टम् ॥ २४ ॥

हे परमेश्वर! हे भगवन्! पहले आप सृष्टि करिये । हे उमापते! उसके बाद उपाय जानकर मैं संसार की रचना करूँगा ॥ २४ ॥

अथ—'प्रजाः सृजेति निर्दिष्टश्चन्द्रमौलिर्विरिञ्चिना ।
ससर्ज मनसा रुद्रानात्मतुल्यान् महेश्वरान् ।
नीलकण्ठांस्त्रिनेत्रांश्च जटामुकुटमण्डितान् ।

इत्याद्यादित्यपुराणवचनानुसारेण सृष्टवानित्याह—

इत्येवं प्रार्थितः शम्भुर्ब्रह्मणा विश्वयोनिना ।
ससर्जात्मसमप्रख्यान् सर्वगान् सर्वशक्तिकान् ॥ २५ ॥

स्पष्टम् ॥ २५ ॥

प्रबोधपरमानन्दपरिवाहितमानसान् ।
प्रमथान् विश्वनिर्माणप्रलयापादनक्षमान् ॥ २६ ॥

स्पष्टम् ॥ २६ ॥

विश्व के कारणभूत ब्रह्मा के द्वारा इस प्रकार प्रार्थना किये गये भगवान् शिव ने अपने समान शोभा वाले प्रमथ गणों को उत्पन्न किया । वे सब सर्वगामी, सर्वशक्तिमान्, प्रबोधजनित, परमआनन्द से परिपूर्ण चित्त वाले तथा विश्व की रचना में समर्थ थे ॥ २५-२६ ॥

तेषु प्रमथवर्गेषु सृष्टेषु परमात्मना ।
रेणुको दारुकश्चेति द्वावभूतां शिवप्रियौः ॥ २७ ॥

स्पष्टम् ॥ २७ ॥

परमात्मा शिव के द्वारा बनाये गये उन प्रमथगणों में रेणुक और दारुक ये दोनों शिव के प्रिय हुए ॥ २७ ॥

अथ तद्गणेश्वरयोर्माहात्म्यं पञ्चभिः श्लोकैः प्रकटयति—

सर्वविद्याविशेषज्ञौ सर्वकार्यविचक्षणौ ।
मायामलविनिर्मुक्तौ महिमातिशयोज्ज्वलौ ॥ २८ ॥

स्पष्टम् ॥ २८ ॥

अब उन दोनों गणेश्वरों की महिमा का पाँच श्लोकों से वर्णन करते हैं— ये दोनों समस्त विद्याओं में पारङ्गत, सकलकार्य सम्पादन में कुशल, मायीय मल से रहित अतएव अपने महिमा से अत्यन्त ऊर्जस्वल थे ॥ २८ ॥

आत्मानन्दपरिस्फूर्तिरसास्वादनलम्पटौ ।
शिवतत्त्वपरिज्ञानतिरस्कृतभवामयौ ॥ २९ ॥

मायामलविनिर्मुक्तौ मायाशक्तिपरिकल्पिताणवादिमलत्रयसम्बन्धरहिता- वित्यर्थः ॥ २९ ॥

आत्मानन्द के परिस्फुरण से जन्य रसास्वाद वाले तथा शिवतत्त्व के परिपूर्ण ज्ञान के कारण संसार रूपी आमय अर्थात् रोग से परे थे ॥ २९ ॥

नानापथमहाशैवतन्त्रनिर्वाहतत्परौ ।
वेदान्तसारसर्वस्वविवेचनविचक्षणौ ॥ ३० ॥

स्पष्टम् ॥ ३० ॥

अनेक मार्ग वाले शिवाद्वय तन्त्र के परिपालन में तत्पर तथा वेदान्त सार के सर्वस्व की विवेचना करने में तत्पर थे ॥ ३० ॥

नित्यसिद्धौ निरातङ्कौ निरङ्कुशपराक्रमौ ।
तादृशौ तौ महाभागौ सम्वीक्ष्य परमेश्वरः ॥ ३१ ॥

नित्यसिद्धौ नित्यभूतसिद्धिमन्तौ, स्पष्टमन्यत् ॥ ३१ ॥

समर्थौ सर्वकार्येषु विश्वासपरमाश्रितौ ।
अन्तःपुरद्वारपालौ निर्ममे नियतौ विभुः ॥ ३२ ॥

नियतौ शुद्धात्मानौ एवंरूपरेणुकदारुकौ विभुः स्वतन्त्रः परमेश्वरः, अन्तःपुरद्वारपालौ निर्ममे निर्मितवानित्यर्थः ॥ ३२ ॥

नित्यसिद्ध आतङ्करहित अजेय पराक्रम वाले ऐसे भाग्यशाली इन दोनों को

देखकर परमेश्वर ने इनको समस्त कार्यों को करने में समर्थ तथा परम विश्वसनीय समझा । फलत: भगवान् शिव ने इन दोनों को अन्त:पुर का द्वारपाल नियुक्त कर दिया ॥ ३१-३२ ॥

अथा तौ रेणुकदारुकौ शिवसेवा चक्रतुरित्याह—

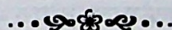
गणेश्वरौ रेणुकदारुकावुभौ
विश्वासभूतौ नवचन्द्रमौलेः ।
अन्तःपुरद्वारगतौ सदा तौ
वितेनतुर्विश्वपतेस्तु सेवाम् ॥ ३३ ॥

॥ इति श्रीसिद्धान्तशिखामणौ रेणुकदारुकावतरणं नाम द्वितीय परिच्छेदः ॥ २ ॥



स्पष्टम् ॥ ३३ ॥

इति श्रीमत्पदवाक्यप्रमाणपारावारधुरीणश्रीमरितोण्टदार्येण विरचितायां तत्त्वप्रदीपिकाख्यायां सिद्धान्तशिखामणिव्याख्यायां रेणुक-दारुकावतरणं नाम द्वितीयः परिच्छेदः ॥ २ ॥



इस प्रकार रेणुक और दारुक दोनों बालचन्द्र भासित मस्तक वाले शिव के विश्वासपात्र होकर सदा अन्त:पुर के द्वार पर खड़े होकर विश्वरक्षक भगवान् शिव की सेवा करने लगे ॥ ३३ ॥

इस प्रकार श्रीसिद्धान्तशिखामणि ग्रन्थ के रेणुकदारुकावतरण नामक द्वितीय परिच्छेद की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदिकृत 'ज्ञानवती' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ २ ॥



तृतीयः परिच्छेदः

अथात्र शिवयोगिनो रेणुकस्य भूलोकावतरणप्रसङ्गकथनार्थं प्रथममष्टभिः श्लोकैः कैलासवर्णनं करोति—

कदाचिदथ कैलासे कलधौतशिलामये ।
गन्धर्ववामनयनाक्रीडामौक्तिकदर्पणे ॥ १ ॥

अथ रेणुकावतरणानन्तरं कदाचिद् रजतमयपाषाणप्रदेशे गन्धर्ववनिताक्रीडाया मौक्तिकदर्पणे ॥ १ ॥

सात श्लोकों[1] में कैलास का वर्णन कर रहे हैं—इसके बाद एक बार चाँदी की शिलाओं वाले तथा गन्धर्वों की स्त्रियों की क्रीडा के लिये मोती के दर्पण के समान कैलास पर भगवान् बैठे थे ॥ १ ॥

मन्दारवकुलाशोकमाकन्दप्रायभूरुहे ।
मल्लीमरन्दनिष्यन्दपानपीनमधुव्रते ॥ २ ॥

मन्दारमाकन्दादिनानावृक्षवति मल्लिकाकुसुममकरन्दस्रवणपानपरिपुष्टभ्रमरे ॥ २ ॥

उस पर्वत पर कल्पवृक्ष मौलसिरी अशोक आम के वृक्ष उगे हुऐ थे । मोङ्गरा के मकरन्द के रसपान से वहाँ भौंरे वृहद् आकार वाले थे ॥ २ ॥

कुङ्कुमस्तबकामोदकूलङ्कषहरिन्मुखे ।
कलकण्ठकुलालापकन्दलद्रागबन्धुरे ॥ ३ ॥

कुङ्कुमकुसुमगुच्छामोदभरितकूलस्पृशन्नदीपप्रवाहवति कोकिलसमूहरवबाहुल्योद्भवपञ्चमस्वरमनोहरे ॥ ३ ॥

दिशायें रक्तपुष्प के गुच्छों के आमोद से पूर्ण नदियों से भरी हुई थीं ।

---

१. एक पदार्थ का पाँच या उससे अधिक श्लोकों में वर्णन 'कुलक' कहलाता है ।

वह पर्वत कोकिलवृन्द की मधुर ध्वनि से मनोहर था ॥ ३ ॥

किन्नरीगीतमाधुर्यपरिवाहितगह्वरे　　।
सानन्दवरयोगीन्द्रवृन्दालङ्कृतकन्दरे　　॥ ४ ॥

किन्नरस्त्रीगीतमाधुर्यप्रवाहितगुहाप्रदेशे सानन्दगणेशमुख्यशिवयोगिसमूहालङ्कृतप्रदेशभागवति ॥ ४ ॥

उसकी गुफायें किन्नरस्त्रियों के गीतमाधुर्य से व्याप्त थीं । कन्दरायें ब्रह्मानन्दानुभव वाले श्रेष्ठ योगिसमूह से अलङ्कृत थीं ॥ ४ ॥

हेमारविन्दकलिकासुगन्धिरसमानसे　　।
शातकुम्भमयस्तम्भशतोत्तुङ्गविराजिते　　॥ ५ ॥

हेमारविन्दकलिकामोदरसभरितमानसरोवरे स्वर्णमयस्तम्भशतौन्नत्यप्रकाशमाने ॥ ५ ॥

मानसरोवर स्वर्ण कमल की कलिकाओं के सुगन्धि रस से युक्त था । सोने से निर्मित सैकड़ों ऊँचे-ऊँचे खम्भे वहाँ विराजमान थे ॥ ५ ॥

माणिक्यदीपकलिकामरीचिद्योतितान्तरे　　।
द्वारतोरणसंरूढशङ्खपद्मनिधिद्वये　　॥ ६ ॥

मणिप्रदीपकलिकाकारशिखामयूखप्रकाशितान्तःपुरे द्वारतोरणस्तम्भसंलग्नशङ्खपद्मनिधिद्वये ॥ ६ ॥

उस पर्वत का भीतरी भाग माणिक्य दीपों की कलिका की किरणों से प्रकाशमान था तथा उसके द्वार के तोरण पर शङ्ख और पद्म दो निधियाँ संलग्न थीं ॥ ६ ॥

मुक्तातारकितोदारवितानाम्बरमण्डिते　　।
स्पर्शलक्षितवैडूर्यमयभित्तिपरम्परे　　॥ ७ ॥

मुक्तामणिरचितनक्षत्रवन्महावितानपटालङ्कृते स्पर्शवेद्युपलक्षितवैडूर्यरत्नमयभित्तिश्रेणिमति ॥ ७ ॥

वह पर्वत मोतियों से ताराङ्कित (= जटित) विशाल वस्त्रों के तम्बू से सुशोभित था। वहाँ पर दीवारों पर स्पर्श से प्रतीत होने वाली वैडूर्य[1] मणियाँ जड़ी हुई थीं अर्थात् दीवारों पर जड़ी वैदूर्य मणियों को स्पर्श से ही जाना जा सकता था, देखने से नहीं ॥ ७ ॥

---

१. वैडूर्य या वैदूर्य नीलम का नाम है ।

सञ्चरत्प्रमथश्रेणीपदवाचालनूपुरे ।
प्रवालवलभीशृङ्गशृङ्गारमणिमण्डपे ॥ ८ ॥

सञ्चरत्प्रमथपादप्रदेशकूजत्कटके प्रवालवलभीमुख्यशृङ्गारमणिमण्डपे ॥ ८ ॥

वहाँ पर सञ्चरण करने वाले प्रमथगणों के पैरों में बँधे घुँघरू बजते रहते थे। प्रवालों से बनी हुई बलभी (= छाजन) तथा शृङ्ग (= चोटी) से अलङ्कृत मणियों से निर्मित मण्डप वहाँ शोभायमान थे ॥ ८ ॥

सिंहासनमध्यस्थितं परमेश्वरं पञ्चदशभिः श्लोकैर्वर्णयति—

वन्दारुदेवमुकुटमन्दाररसवासितम् ।
रत्नसिंहासनं दिव्यमध्यस्तं परमेश्वरम् ॥ ९ ॥

नमनशीलत्रयस्त्रिंशत्कोटिदेवतामुकुटकल्पप्रसूनरसमनोहरं नवरत्नमयसिंहासनं तन्मण्टपमध्ये भाति ॥ ९ ॥

वन्दना में लगे हुए देवताओं के मुकुट में जटित कल्पवृक्ष के फूलों के पराग से वासित दिव्य रत्नसिंहासन पर बैठे परमेश्वर की उनके परिवार के लोग सेवा कर रहे थे ॥ ९ ॥

तमास्थानगतं देवं सर्वलोकमहेश्वरम् ।
त्रय्यन्त[1]कमलारण्यविहारकलहंसकम् ॥ १० ॥

तत्र विद्यमानः परमेश्वरः कीदृश इत्यत्राह—देवमित्यादिना । क्रीडाशीलः सर्वलोकेशो वेदान्तमयकमलसमूहविहारराजहंसः ॥ १० ॥

अब परमेश्वर के स्वरूप एवं वैभव का वर्णन करते हैं—देवों से युक्त स्थान पर विराजमान समस्त देवों के स्वामी वे देव वेदान्त अर्थात् उपनिषद्रूपी कमल के समूह में विहार करने वाले राजहंस के समान थे ॥ १० ॥

उदारगुणमोंकारशुक्तिकापुटमौक्तिकम् ।
सर्वमङ्गलसौभाग्यसमुदायनिकेतनम् ॥ ११ ॥

त्यागशील ॐकारशुक्तिकापुटमौक्तिकः सर्वमङ्गलसौभाग्यसमूहस्थानभूतः ॥ ११ ॥

---

१. विद्वान् लोग ऋग्यजुःसाम नामक तीनों वेदों को त्रयी कहते हैं । यतो हि उनका अन्त अर्थात् अन्तिम भाग उपनिषदें हैं । अतः उन्हें वेदान्त कहा जाता है ।

वे उदारता आदि गुणों से युक्त, ओंकार रूपी शुक्ति के मोती तथा सम्पूर्ण मङ्गलकारी सौभाग्यसमुदाय के भण्डार थे ॥ ११ ॥

संसारविषमूर्च्छालुजीवसञ्जीवनौषधम् ।
नित्यप्रकाशनैर्मल्यकैवल्यसुरपादपम् ॥ १२ ॥

संसारविषमूर्च्छितजीवसञ्जीवनौषधः स्वप्रकाशेनैव निर्मलः परमुक्तिप्रदानकल्पद्रुमः ॥ १२ ॥

वे भगवान् शिव संसाररूपी विष से मूर्च्छित जीवों के लिये सञ्जीवनी अर्थात् अमृत औषध तथा नित्यप्रकाश एवं निर्मलता से युक्त कैवल्य के कल्पवृक्ष थे ॥ १२ ॥

अनन्तपरमानन्दमकरन्दमधुव्रतम् ।
आत्मशक्तिलतापुष्यत्त्रिलोकीपुष्पकोरकम् ॥ १३ ॥

अपारपरमानन्दरसास्वादनमधुव्रतः स्वसमवेतशक्तिकल्पलतापुष्यल्लोकत्रयकुसुमकोरकः ॥ १३ ॥

वे परमेश्वर अनन्त परमानन्द मकरन्द का सेवन करने वाले मधुप तथा अपनी शक्तिरूपी लता से पुष्टि करने वाले त्रिभुवन रूपी पुष्प की कली के समान शोभायमान थे ॥ १३ ॥

ब्रह्माण्डकुण्डिकाषण्डपिण्डीकरणपण्डितम् ।
समस्तदेवताचक्रचक्रवर्तिपदे स्थितम् ॥ १४ ॥

ब्रह्माण्डसमूहलोलीकरणप्रवीणो नारायणादिसकलदेवतासमूहचक्रवर्ती ॥ १४ ॥

ब्रह्माण्ड रूपी कुण्डिका के टुकड़ों को जोड़ने में पण्डित तथा समस्त देवतामण्डल के चक्रवर्त्ती प्रतीत हो रहे थे ॥ १४ ॥

चन्द्रबिम्बायुतच्छायादायादद्युतिविग्रहम् ।
माणिक्यमुकुटज्योतिर्मञ्जरीपिञ्जराम्बरम् ॥ १५ ॥

चन्द्रायुतप्रभास्पर्धमानतेजा मुकुटगतनवरत्नज्योतिर्मञ्जरीविचित्राम्बरः ॥ १५ ॥

वे भगवान् शङ्कर हजारों चन्द्रमा की छाया के दायाद (= सम्बन्धी) द्युति से युक्त शरीर वाले तथा माणिक्यजटित मुकुट की ज्योति की किरणों से व्याप्त वस्त्रों वाले थे ॥ १५ ॥

चूडालं सोमकलया सुकुमारबिसाभया ।
कल्याणपुष्पकलिकाकर्णपूरमनोहरम् ॥ १६ ॥

कोमलकन्दाभसोमकलाशिरोभूषणः परममङ्गलसुमकुड्मलकर्णाभरण-मनोहरः ॥ १६ ॥

वे कोमल बिसतन्तु के समान चन्द्रकला को चूड़ा पर धारण किये हुए तथा कल्याण रूपी पुष्पकलिका के कर्णपूर से मनोहर थे ॥ १६ ॥

मुक्तावलयसम्बद्धमुण्डमालाविराजितम् ।
पर्याप्तचन्द्रसौन्दर्यपरिपन्थिमुखश्रियम् ॥ १७ ॥

मुक्ताप्रकरवलितमुण्डमालाविराजितः पूर्णचन्द्रसौन्दर्यपरिपन्थिमुखश्रीः ॥ १७ ॥

वे मोतियों की माला से गुम्फित, मुण्डमाला से सुशोभित तथा प्रचुर चन्द्रसौन्दर्य के प्रतिस्पर्धी मुखशोभा वाले थे ॥ १७ ॥

प्रातःसंफुल्लकमलपरियायत्रिलोचनम् ।
मन्दस्मितमितालापमधुराधरपल्लवम् ॥ १८ ॥

प्रातःप्रफुल्लकमलपर्यायत्रिलोचनः, मन्दस्मितपरिमितवचोविलासमनोहरा-धरपल्लवः ॥ १८ ॥

उनके तीनों नेत्र प्रातःकाल में खिले कमल जैसे थे तथा अधरोष्ठ पल्लव मन्द मुस्कान तथा मित भाषण से मधुर थे ॥ १८ ॥

गण्डमण्डलपर्यन्तक्रीडन्मकरकुण्डलम् ।
कालिम्ना कालकूटस्य कण्ठनाले कलङ्कितम् ॥ १९ ॥

कपोलाभोगपर्यन्तचलनमकरकुण्डलः कालकूटकालिम्ना कलङ्कित-कण्ठनालः ॥ १९ ॥

मकर की आकृति वाला कर्णाभरण उनके कपोल तक लटक रहा था तथा कण्ठ की नलिका कालकूट की कालिमा से कलङ्कित अर्थात् नीली हो गयी थी ॥ १९ ॥

मणिकङ्कणकेयूरमरीचिकरपल्लवैः ।
चतुर्भिः संविराजन्तं बाहुमन्दारशाखिभिः ॥ २० ॥

मणिमयकङ्कणकेयूरप्रकाशमानकरपल्लवचतुष्कः, बाहुकल्पद्रुम-भासमानः ॥ २० ॥

कल्पवृक्ष की शाखा के समान सुडौल तथा मणिजटित कङ्कण धारण किये हुए कर पल्लवों वाली चार भुजाओं से वे परम शोभायमान थे ॥ २० ॥

गौरीपयोधराश्लेषकृतार्थभुजमध्यमम् ।
सुवर्णब्रह्मसूत्राङ्कं सूक्ष्मकौशेयवाससम् ॥ २१ ॥

उमापयोधरालिङ्गनकृतार्थवक्षःस्थलः, कनकमयब्रह्मसूत्राङ्कितः, अतिसूक्ष्मदुकूलाम्बरः ॥ २१ ॥

उनकी भुजाओं का मध्य अर्थात् वक्ष:स्थल गौरी के स्तन से संश्लिष्ट था तथा वे सुवर्ण का जनेऊ एवं सूक्ष्म रेशमी वस्त्र पहने हुए थे ॥ २१ ॥

नाभिस्थानावलम्बिन्या नवमौक्तिकमालया ।
गङ्गयेव कृताश्लेषं मौलिभागावतीर्णया ॥ २२ ॥

नाभिपर्यन्तगतनवमौक्तिकमालया मस्तकावतीर्णया गङ्गयेव कृतालिङ्गिनः ॥ २२ ॥

नाभिस्थान तक लटकती हुई मोतीमाला ऐसी लगती थी मानो शिर से उतरकर गङ्गा उनका आलिङ्गन कर रही हो ॥ २२ ॥

पदेन मणिमञ्जीरप्रभापल्लवितश्रिया ।
चन्द्रवत्स्फाटिकं पीठं समावृत्य स्थित पुरः ॥ २३ ॥

मणिमयनूपुरप्रकाशपल्लवितश्रिया पादेन सिंहासनस्य पुरतश्चन्द्रकान्तमयफलकमावृत्य वर्तमान इत्यर्थः ॥ २३ ॥

मणिजटित मञ्जीर की कान्ति से पल्लव जैसी शोभा वाले पैर को चन्द्र के समान स्फटिक से निर्मित पीठ पर रखकर वे बैठे थे ॥ २३ ॥

एवं महेश्वरं वर्णयित्वाऽथ तद्वामाङ्कसंस्थितां भवानीं त्रयोदश[1]-सूत्रैर्वर्णयति—

वामपार्श्वनिवासिन्या मङ्गलप्रियवेषया ।
समस्तलोकनिर्माणसमवायस्वरूपया ॥ २४ ॥

तद्वामपार्श्ववर्तिनी माङ्गल्येनासेचनकरूपवती सकललोकसृष्टावुपादान-कारणीभूता ॥ २४ ॥

अब पारमेश्वरी शक्ति उमा का वर्णन करते हैं—

परमेश्वर के वाम पार्श्व में उमा विराजमान थीं । वे मङ्गल और प्रिय वेशभूषा वाली तथा समस्त लोक की रचना की समवायिकारणरूपा थीं ॥ २४ ॥

इच्छाज्ञानक्रियारूपबहुशक्तिविलासया ।
विद्यातत्त्वप्रकाशिन्या विनाभावविहीनया ॥ २५ ॥

इच्छाज्ञानक्रियादिबहुशक्तिविलासवती आत्मविद्याप्रकाशिनी शिवेनाविनाभूता[१] ॥ २५ ॥

वह भवानी इच्छा ज्ञान क्रिया रूप अनेक शक्तियों से सुशोभित, शुद्ध विद्या तत्त्व की प्रकाशिका तथा शिव के साथ अविनाभाव सम्बन्ध वाली थीं ॥ २५ ॥

संसारविषकान्तारदाहदावाग्निलेखया ।
धम्मिल्लमल्लिकामोदझङ्कुर्वद्भृङ्गमालया ॥ २६ ॥

संसारविषविपिनदाहदावाग्निराजि:, धम्मिल्लमल्लिकामोदझङ्कुर्वदलिमालिका ॥ २६ ॥

वे संसार रूपी विषजङ्गल को जलाने के लिये दावाग्नि की ज्वाला के समान शोभायमान थी। उनके वेणी में गुँथी जूही की सुगन्ध से भृङ्गमाला झङ्कार करती रहती थी ॥ २६ ॥

सम्पूर्णचन्द्रसौभाग्यसंवादिमुखपद्मया ।
नासामौक्तिकलावण्यनाशीरस्मितशोभया ॥ २७ ॥

पूर्णचन्द्रकान्तिविवदन्मुखपङ्कजा नासामौक्तिकलावण्यबाहुल्यच्छुरितमन्दस्मितकान्तिमती ॥ २७ ॥

उनका मुखकमल पूर्णचन्द्र के सौन्दर्य को तिरस्कृत करने वाला था । नाक में लगे मोती के सौन्दर्य से उनका नासाछिद्र मानो मन्दहास कर रहा था ॥ २७ ॥

मणिताटङ्करङ्गान्तर्वलितापाङ्गलीलया ।
नेत्रद्वितयसौन्दर्यनिन्दितेन्दीवरत्विषा ॥ २८ ॥

रत्नखचितताटङ्करङ्गमण्टपमध्यलास्यमानापाङ्गलीला नयनद्वयसौन्दर्यनिन्दितेन्दीवरश्री: ॥ २८ ॥

वह उमा मणिजटित ताटङ्क (= कर्णाभरण) रूपी रङ्गमञ्च पर मानो अपाङ्गलीला (= कटाक्षविक्षेपण) कर रही हों । दो नेत्रों के सौन्दर्य से वे

---

१. 'अविनाभाव' शब्द प्राय: बौद्धनैयायिकों के द्वारा व्याप्ति के अर्थ में प्रयुक्त होता है ।

नीलकमल की कान्ति को भी तिरस्कृत कर रही थीं ॥ २८ ॥

कुसुमायुधकोदण्डकुटिलभ्रूविलासया ।
बन्धूककुसुमच्छायाबन्धुभूताऽधरश्रिया ॥ २९ ॥

मारकार्मुककुटिलभ्रूलताविलासवती बन्धूककुसुमकान्तिबन्धुराधरश्रीः ॥ २९ ॥

उनका भ्रूविलास (= भौंह को टेढ़ी करना) काम के धनुष के समान वक्र था तथा ओष्ठ की शोभा बन्धूकपुष्प की छाया जैसी थी ॥ २९ ॥

कण्ठनालजितानङ्गकम्बुबिब्बोकसम्पदा ।
बाहुद्वितयसौभाग्यवञ्चितोत्पलमालया ॥ ३० ॥

कण्ठनालजितानङ्गजयशङ्खनिनादवती बाहुद्वितयसौभाग्यन्यक्कृतोत्पलमालिका ॥ ३० ॥

वह उमा कण्ठनाल से निर्गत शब्द के द्वारा कामदेव की शङ्ख की ध्वनि-सम्पदा को जीतने वाली तथा दोनों भुजाओं के सौन्दर्य से नीलकमल को तिरस्कृत करने वाली थी ॥ ३० ॥

स्थिरयौवनलावण्यशृङ्गारितशरीरया ।
अत्यन्तकठिनोत्तुङ्गपीवरस्तनभारया ॥ ३१ ॥

स्थिरयौवनलावण्यालङ्कृतकलेवरा अत्यन्तकठिनोत्तुङ्गस्तनभारवती ॥ ३१ ॥

उनका शरीर स्थिर यौवन के लावण्य से शृङ्गारयुक्त प्रतीत हो रहा था । वे अत्यन्त कठिन ऊँचे तथा चौड़े स्तनों के भार से युक्त अत एव नम्र थीं ॥ ३१ ॥

मृणालवल्लरीतन्तुबन्धुभूतावलग्नया ।
शृङ्गारतटिनीतुङ्गपुलिनश्रोणिभारया ॥ ३२ ॥

कमलनालतन्तुनिभातिसूक्ष्ममध्यप्रदेशा शृङ्गारतरङ्गिणीतुङ्गपुलिनश्रोणिभारविराजिता ॥ ३२ ॥

उनका अवलग्न अर्थात् कटि प्रदेश कमलनाल के तन्तु के समान क्षीण था । वे शृङ्गाररूपी नदी के ऊँचे किनारों जैसे नितम्ब के भार से अलसगमना थीं ॥ ३२ ॥

कुसुम्भकुसुमच्छायाकोमलाम्बरशोभया ।

शृङ्गारोद्यानसंरम्भरम्भास्तम्भोरुकाण्डया ॥ ३३ ॥

कुसुम्भकुसुमकान्तिमत्कोमलाम्बरशोभमाना शृङ्गारोद्यानसम्भ्रमरम्भास्तम्भायमानोरुकाण्डा ॥ ३३ ॥

कुसुम्भ फूलों के रङ्ग वाले कोमल वस्त्र से वह शोभायमान थीं। उनकी जाँघें शृङ्गार उद्यान के शोभायुक्त केले के खम्भे जैसी थीं ॥ ३३ ॥

चूतप्रवालसुषमासुकुमारपदाब्जया ।
स्थिरमङ्गलशृङ्गारभूषणालङ्कृताङ्गया ॥ ३४ ॥

चूतपल्लवमनोहरसुकुमारपदाब्जा स्थिरमाङ्गल्यभूषणालङ्कृताङ्गी ॥ ३४ ॥

उनके पैर आम के कोमल नवीन पल्लवों के समान सुन्दर और सुकुमार थे। उनके अङ्ग स्थायी मङ्गलमय शृङ्गार वाले आभूषणों से अलङ्कृत थे ॥ ३४ ॥

हारनूपुरकेयूरचमत्कृतशरीरया ।
चक्षुरानन्दलतया सौभाग्यकुलविद्यया ॥ ३५ ॥

मुक्ताहारमञ्जीरकेयूरचमत्कृतशरीरिणी नयनानन्दलतिका सौभाग्यस्य कुलविद्यारूपिणी ॥ ३५ ॥

उनका शरीर हार (= गले का आभरण) नूपुर (= पैर का अलङ्करण) और केयूर (= भुजाओं का आभूषण) से चमक रहा था। आँखें आनन्द की लता के समान थीं। फलतः वे सौभाग्यकुलविद्या स्वरूपा थीं ॥ ३५ ॥

उमया सममासीनं लोकजालकुटुम्बया ।
अपूर्वरूपमभजन् परिवाराः समन्ततः ॥ ३६ ॥

लोकसमूहकुटुम्बिनी एवंरूपयोमया दिव्यकन्यकया सह दिव्यसिंहासने समासीनमपूर्वरूपं परमेश्वरं समन्तान्नारायणादित्रयस्त्रिंशत्कोटिदेवता अभजन्नित्यर्थः ॥ ३६ ॥

लोकसमूह के कुटुम्ब वाली उस उमा के साथ भगवान् शिव बैठे हुए थे। ऐसे अपूर्व रूप वाले भगवान् उमानाथ की उनके परिवार के लोग सब ओर से सेवा कर रहे थे ॥ ३६ ॥

एवं पार्वतीपरमेश्वरौ वर्णयित्वाग्रे विंशतिसूत्रैस्ताभिर्देवताभिर्विधीयमानां सेवां वर्णयति—

पुण्डरीकाकृतिं स्वच्छं पूर्णचन्द्रसहोदरम् ।
दधौ तस्य महालक्ष्मीः सितमातपवारणम् ॥ ३७ ॥

श्वेतकमलवन्निर्मलं पूर्णचन्द्रसहोदरं श्वेतच्छत्रं महालक्ष्मीस्तस्य परमेश्वरस्य धृतवतीत्यर्थः ॥ ३७ ॥

महालक्ष्मी उनका छत्र धारण की थीं जो कि कमल के आकार वाला उज्ज्वल पूर्णचन्द्रसदृश तथा श्वेत वर्ण का था ॥ ३७ ॥

तन्त्रीझङ्कारशालिन्या सङ्गीतामृतविद्यया ।
उपतस्थे महादेवमुपान्ते च सरस्वती ॥ ३८ ॥

कूजन्नवरत्नमयकङ्कणसमूहयुक्तहस्तेनोपनिषद्भास्वरमण्डलतन्त्रीझङ्कारशोभमान-सङ्गीतरसविद्यया सरस्वती समीपे महादेवं सेवितवतीत्यर्थः ॥ ३८ ॥

पास में सरस्वती वीणा की झङ्कार से युक्त सङ्गीतरूपी अमृत विद्या से महादेव की उपासना कर रही थीं ॥ ३८ ॥

झणत्कङ्कणजातेन हस्तेनोपनिषद्वधूः ।
ओंकारतालवृन्तेन वीजयामास शङ्करम् ॥ ३९ ॥

कूजन्नवरत्नमयकङ्कणसमूहयुक्तहस्तेनोपनिषद्वधूः ॐकारव्यजनेन शिवं वीजयामासेत्यर्थः ॥ ३९ ॥

उपनिषद् रूपी बहू झनकते हुए कङ्गनों वाले हाथों से ओंकार रूपी पङ्खे के द्वारा शङ्कर को पङ्खा झल रही थी ॥ ३९ ॥

चलच्चामरिकाहस्ता झङ्कुर्वन्मणिकङ्कणाः ।
आसेवन्त तमीशानमभितो दिव्यकन्यकाः ॥ ४० ॥

दिव्यकन्यका इन्द्राणीप्रभृतिदेवस्त्रिय इत्यर्थः । स्पष्टमन्यत् ॥ ४० ॥

जिनके हाथ में चामर चल रहे थे तथा मणिजटित कङ्गन झङ्कार कर रहे थे, ऐसी इन्द्राणी आदि दिव्य कन्यायें उन परमेश्वर की सब ओर से सेवा कर रही थीं ॥ ४० ॥

चामराणां विलोलानां मध्ये तन्मुखमण्डलम्।
रराज राजहंसानां भ्रमतामिव पङ्कजम् ॥ ४१ ॥

विलोलानां चामराणां मध्ये शिवस्य मुखमण्डलं भ्रमतां राजहंसानां मध्ये कमलमिव रराजेत्यर्थः ॥ ४१ ॥

हिलते डुलते चामरों के मध्य उन शङ्कर का मुख ऐसा लग रहा था मानो

घूमते हुए राजहंसों के बीच कमल स्थित हो ॥ ४१ ॥

मन्त्रेण तमसेवन्त वेदाः साङ्गविभूतयः ।
भक्त्या चूडामणिं कान्तं वहन्त इव मौलिभिः ॥ ४२ ॥

साङ्गविभूतयः शिक्षाद्यङ्गविशिष्टा ऋगादिवेदपुरुषा उपनिषद्भागरूपमस्तकैस्तं परमेश्वरं कान्तं चूडारत्नमिव वहन्तः सन्तः प्रणवमन्त्रेण भक्त्या असेवन्तेत्यर्थः ॥ ४२ ॥

अङ्गरूपी[1] विभूतियों के सहित वेदपुरुष अपने उपनिषद्रूपी शिरों पर मनोहर चूड़ामणि धारण किये हुए भक्ति के साथ मन्त्रों के द्वारा उन शङ्कर की सेवा कर रहे थे ॥ ४२ ॥

तदीयायुधधारिण्यस्तत्समानविभूषणाः ।
अङ्गभूताः स्त्रियः काश्चिदासेवन्त तमीश्वरम् ॥ ४३ ॥

वेदपुरुषायुधधारिण्यस्तत्समानविभूषणा अङ्गदेवतास्तं शिवमासेवन्तेत्यर्थः ॥ ४३ ॥

उन वेदों की अङ्गभूत कोई अर्थात् दिव्य स्त्रियाँ उनके अस्त्र शस्त्रों को धारण कर उनके समान आभूषणों से अलङ्कृत होकर उन ईश्वर की सेवा कर रही थीं ॥ ४३ ॥

आप्ताधिकारिणः केचिदनन्तप्रमुखा अपि ।
अष्टौ विद्येश्वरा देवमभजन्त समन्ततः ॥ ४४ ॥

परमाप्ताधिकारिणः केचिदनन्तसूक्ष्मशिवोत्तमैकनेत्रैकरुद्रत्रिमूर्तिश्रीकण्ठशिखण्डिसंज्ञका अष्टविद्येश्वराः परमेश्वरमभितोऽसेवन्त इत्यर्थः ॥ ४४ ॥

अधिकार प्राप्त अनन्त आदि कोई अर्थात् उत्तम कोटि के आठ विद्येश्वर[2] भी चारो ओर से उनकी सेवा कर रहे थे ॥ ४४ ॥

ततो नन्दी महाकालश्चण्डो भृङ्गी रिटिस्ततः ।
घण्टाकर्णः पुष्पदन्तः कपाली वीरभद्रकः ॥ ४५ ॥
एवमाद्या महाभागा महाबलपराक्रमाः ।

---

१. शिक्षा कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष वेद के ये छह अङ्ग माने गये हैं।

२. अनन्त, सूक्ष्म, शिवोत्तम, एकनेत्र, एकरुद्र, त्रिमूर्त्ति, श्रीकण्ठ और शिखण्डी—ये आठ विद्येश्वर हैं ।

निरङ्कुशमहासत्त्वा भेजिरे तं महेश्वरम् ॥ ४६ ॥

स्पष्टम् ॥ ४५-४६ ॥

इसके बाद नन्दी महाकाल चण्ड भृङ्गी रिटि घण्टाकर्ण पुष्पदन्त कपाली वीरभद्र आदि प्रमथगण जो कि महाबली महापराक्रमी स्वतन्त्र तथा महासत्त्ववान् हैं, उन महेश्वर की सेवा कर रहे थे ॥ ४५-४६ ॥

अथ प्रमथगणान् पञ्चभिः सूत्रैर्वर्णयति—

अणिमादिकमैश्वर्यं येषां सिद्धेरपोहनम् ।
ब्रह्मादयः सुरा येषामाज्ञालङ्घनभीरवः ॥ ४७ ॥

अणिमाद्यष्टैश्वर्यं येषां प्रमथगणानां सिद्धेः सकाशात्तुच्छम्, ब्रह्मादयः सुरा येषां आज्ञालङ्घने भयशीला इत्यर्थः ॥ ४७ ॥

अब उन प्रमथगणों की विशेषता बतलाते हैं—उन प्रमथगणों की सिद्धि के समक्ष अणिमा[1] आदि सिद्धियाँ तुच्छ थीं । ब्रह्मा आदि देवता उनकी आज्ञा का उल्लङ्घन करने में डरते थे ॥ ४७ ॥

मोक्षलक्ष्मीपरिष्वङ्गमुदिता येऽन्तरात्मना ।
येषामीषत्करं विश्वसर्गसंहारकल्पनम् ॥ ४८ ॥

अन्तर्मुखीभूतबुद्ध्या मोक्षलक्ष्म्यालिङ्गने मुदिताः येषां विश्वसृष्ट्यादिकल्पनमीषत्करं तुच्छमित्यर्थः ॥ ४८ ॥

वे लोग अपनी अन्तरात्मा में मोक्षलक्ष्मी के आलिङ्गन से आनन्दमय थे । अतः उनके लिये विश्व की सृष्टि एवं संहार अत्यन्त सरल कार्य था अथवा व्यर्थ था ॥ ४८ ॥

ज्ञानशक्तिः परा येषां सर्ववस्तुप्रकाशिनी ।[2]
आनन्दकणिका येषां हरिब्रह्मादिसम्पदः ॥ ४९ ॥

येषां ज्ञानशक्तिः सर्ववस्तुप्रकाशिनी वरा श्रेष्ठा, ब्रह्मादीनां सम्पदो येषाम् आनन्दकणिकाः, लेशा इत्यर्थः ॥ ४९ ॥

उनकी परा ज्ञान शक्ति समस्त वस्तु को प्रकाशित करने वाली थी तथा

---

१. अणिमा महिमा लघिमा गरिमा प्राप्ति प्राकाम्य ईशित्व और वशित्व (अथवा यत्रकामावसायित्व) ये आठ सिद्धियाँ हैं ।

२. ज्ञानशक्तिर्महेशस्य तपत्यादित्यविग्रहा । (स्व०तं०)

विष्णु, ब्रह्मा आदि की सम्पत्तियाँ उनके पास स्थित आनन्द की कणिकायें मात्र थीं ॥ ४९ ॥

आकाङ्क्षन्ते पदं येषां योगिनो योगतत्पराः ।
काङ्क्षणीयफलो येषां सङ्कल्पः कल्पपादपः ॥ ५० ॥

शिवयोगतत्परा योगिनो येषां पदं काङ्क्षन्ते अपेक्षन्ते, येषां सङ्कल्पः कामितार्थफलयुतकल्पपादप इत्यर्थः ॥ ५० ॥

योग में तत्पर योगी लोग उनके पदों के अभिलाषी रहते हैं । उनका सङ्कल्प ही मनोवाञ्छित फल देने वाला कल्पवृक्ष है ॥ ५० ॥

कर्मकालादिकार्पण्यचिन्ता येषां न विद्यते ।
येषां विक्रमसन्नाहा मृत्योरपि च मृत्यवः ॥ ५१ ॥
ते सारूप्यपदं प्राप्ताः प्रमथा भेजिरे शिवम् ॥

सञ्चितादि[1]कर्मभूतादिकालकामप्रभृत्युद्भूतकार्पण्यचिन्ता येषां न विद्यते, येषां पराक्रमप्रसङ्गा मृत्योरपि मृत्यवः, सारूप्यपदं प्राप्तास्ते प्रमथा हरं भेजिरे । 'भज' सेवायामिति धातुः ॥ ५१ ॥

जिनको कर्म एवं काल आदि से जन्य दुःख की चिन्ता महीं होती । उनके पराक्रमपूर्ण कार्य मृत्यु के भी मृत्यु होते हैं । भगवान् शिव के सारूप्य पद (= सारूप्य मोक्ष) को प्राप्त वे प्रमथगण शिव की सेवा में निरत थे ॥ ५१ ॥

ब्रह्मोपेन्द्रमहेन्द्राद्या विश्वतन्त्राधिकारिणम् ।
आयुधालङ्कृतप्रान्ताः परितस्तं सिषेविरे ॥ ५२ ॥

ब्रह्मविष्णुरुद्रेन्द्रप्रभृतित्रयस्त्रिंशत्कोटिदेवाः स्वकीयायुधालङ्कृतश्रेणियुग्माः, विश्वसृष्टावधिकारवन्तं तं शिवं परितः सिषेविर इत्यर्थः ॥ ५२ ॥

ब्रह्मा विष्णु देवराज इन्द्र आदि अपने-अपने शस्त्रों से सुसज्जित होकर विश्वविस्तार के अधिकारी उन भगवान् शिव की सार्वभौम सेवा करते थे ॥ ५२ ॥

आदित्या वसवो रुद्रा यक्षगन्धर्वकिन्नराः ।
दानवा राक्षसा दैत्याः सिद्धा विद्याधरोरगाः ।
अभजन्त महादेवमपरिच्छिन्नसैनिकाः ॥ ५३ ॥

---

१. कर्म तीन प्रकार के होते हैं—सञ्चित, क्रियमाण और प्रारब्ध । वर्त्तमान शरीर प्रारब्ध कर्मों का फल होता है । सञ्चित कर्म भावी जन्मों के हेतु बनते हैं ।

आदित्या द्वादशादित्याः, अष्टौ वसवः, एकादश रुद्राः, कुबेरप्रभृति-यक्षाः, हाहाप्रभृतिगन्धर्वाः, अश्वमुखादिकिन्नराः, बाणादिदानवाः, रावणादि-राक्षसाः, तारकादिदैत्याः, आदिनाथादिसिद्धाः, मणिभद्रादिविद्याधराः, शेषाद्युरगाः, अविच्छिन्नसैनिकाः सन्तो महादेवमभजन्त इत्यर्थः ॥ ५३ ॥

द्वादश सूर्य, आठ वसु, ग्यारह रुद्र, कुबेर आदि यक्ष, हाहा हूहू आदि गन्धर्व, अश्वमुख आदि किन्नर, बाण आदि दानव, रावण आदि राक्षस, तारक आदि दैत्य, आदिनाथ आदि सिद्ध, मणिभद्र आदि विद्याधर, शेषनाग आदि सर्प, असंख्य सैन्यबल से युक्त होकर महादेव की सेवा कर रहे थे ॥ ५३ ॥

वसिष्ठो वामदेवश्च पुलस्त्यागस्त्यशौनकाः ।
दधीचिर्गौतमश्चैव सानन्दशुकनारदाः ॥ ५४ ॥
उपमन्युभृगुव्यासपाराशरमरीचयः ।
इत्याद्या मुनयः सर्वे नीलकण्ठं सिषेविरे ॥ ५५ ॥

वशिष्ठ, वामदेव, पुलस्त्य, अगस्त्य, शौनक, दधीचि, गौतम, सानन्द, शुकदेव, नारद, उपमन्यु, भृगु, व्यास, पराशर, मरीचि इत्यादि समस्त मुनि नीलकण्ठ की सेवा कर रहे थे ॥ ५४-५५ ॥

पार्श्वस्थपरिवाराणां विमलाङ्गेषु बिम्बितः ।
सर्वान्तर्गतमात्मानं स रेजे दर्शयन्निव ॥ ५६ ॥

पास में स्थित परिवारों के निर्मल अङ्गों में प्रतिबिम्बित वे भगवान् शिव अपने को सबके अन्दर विराजमान दिखलाते हुए शोभायमान थे ॥ ५६ ॥

अथ परमेश्वरस्य राजव्यापारं दशभिः सूत्रैः प्रदर्शयति—

क्षणं स शम्भुर्देवानां कार्यभागं निरूपयन् ।
क्षणं गन्धर्वराजानां[1] गानविद्यां विभावयन् ॥ ५७ ॥

भगवान् शम्भु एक क्षण के लिये कभी देवताओं के कार्यों को बतलाते तो कभी गन्धर्वों की गानविद्या को सुनते थे ॥ ५७ ॥

ब्रह्मविष्ण्वादिभिर्देवैः क्षणमालापमाचरन् ।
क्षणं देवमृगाक्षीणां लालयन्नृत्यविभ्रमम् ॥ ५८ ॥

कभी क्षण भर ब्रह्मा विष्णु आदि देवताओं के साथ बातें करते तो कभी देवताओं की स्त्रियों के नृत्य की प्रशंसा करते ॥ ५८ ॥

---

१. 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' इति सूत्रेण समासान्ताद्राजन् शब्दात् 'टच्' प्रत्ययः ।

व्यासादीनां क्षणं कुर्वन् वेदोच्चारेषु गौरवम् ।
विदधानः क्षणं देव्या मुखे बिम्बाधरे दृशः[१] ॥ ५९ ॥

स्पष्टम् ॥ ५९ ॥

एक क्षण में वेदोच्चारण के विषय में व्यास आदि की प्रशंसा करते तो दूसरे क्षण में देवी उमा के बिम्बसमान अधर वाले मुख को देखते ॥ ५९ ॥

हास्यनृत्यं क्षणं पश्यन् भृङ्गिणा परिकल्पितम् ।
नन्दिना वेत्रहस्तेन सर्वतन्त्राधिकारिणा ॥ ६० ॥
अमुञ्चता सदा पार्श्वमात्माभिप्रायवेदिना ।
चोदितां वासयन् कांश्चिद्विसृजन् भ्रूविलासतः ।
सम्भावयंस्तथा चान्यानन्यानपि नियामयन् ॥ ६१ ॥

भ्रूसंज्ञया कांश्चिद्विसृजन् प्रेषयंस्तथान्यान् सम्भावयन्, प्रियोक्तिं वदन्नन्यान्नियामयन् शिक्षयन् । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ६०-६१ ॥

कभी भृङ्गियों के द्वारा विहित हास्य नृत्य को देखते, तो कभी सर्व-कार्याधिकारी वेत्रहस्त सदा पास में खड़े एवं आत्माभिप्राय को जानने वाले नन्दी के द्वारा बुलाये गये लोगों को ले आते तथा भौंह के सङ्केत से अन्यों को भेजते तथा किन्हीं को प्रिय वाक्यों से सन्तुष्ट करते और किन्ही को शासित करते थे ॥ ६०-६१ ॥

समस्तभुवनाधीशमौलिलालितशासनः ।
अकुण्ठशक्तिरव्याजलावण्यललिताकृतिः ॥ ६२ ॥

समस्तभुवनाधीशः, ब्रह्मस्तकस्थापितसमस्तज्ञानशक्तिमानप्रतिहतशक्तिः, निजलावण्यमनोहराकृतिरित्यर्थः ॥ ६२ ॥

उनका आदेश समस्त भुवनों के स्वामी लोगों के लिये शिरोधार्य था । उनकी आकृति स्वाभाविक सौन्दर्य से सुन्दर थी तथा शक्ति कुण्ठारहित अर्थात् अव्याहत थी ॥ ६२ ॥

स्थिरयौवनसौरभ्यशृङ्गारितकलेवरः ।
आत्मशक्त्यमृतास्वादरसोल्लासितमानसः ॥ ६३ ॥

वृद्धिक्षयरहितयौवनोद्रेकशृङ्गारितकलेवरः, स्वसमवेतशक्तिलक्षण-

---

१. तुलनीय—उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि ।
(कु०सं०)

परमानन्दरसास्वादनोज्जृम्भितान्तरङ्गः ॥ ६३ ॥

उनका शरीर स्थिर यौवन क़ी सुरभि से सुसज्जित तथा मन आत्मशक्ति रूपी अमृत के रसास्वाद के कारण उल्लासयुक्त था ॥ ६३ ॥

स्वाभाविकमहैश्वर्यविश्रामपरमावधिः ।
निष्कलङ्कमहासत्त्वनिर्मितानेकविग्रहः ॥ ६४ ॥

स्वाभाविकेति । अनौपाधिकसर्वज्ञता[1]दिमहैश्वर्यविश्रान्तिपर्यन्तभूमिः, अकलङ्कमहाशक्तिनिर्मितानेकदिव्यमङ्गलमूर्तिमान् ॥ ६४ ॥

स्वाभाविक महा ऐश्वर्य के विश्राम की अन्तिम सीमा तथा स्वरूप के कलङ्करहित महासत्त्व के द्वारा अनेक शरीर धारण करने वाले हैं ॥ ६४ ॥

अखण्डारातिदोर्दण्डकण्डूखण्डनपण्डितः ।
चिन्तामणिः प्रपन्नानां श्रीकण्ठः परमेश्वरः ॥ ६५ ॥

अपरिमितसज्जनारातिबाहुदण्डकण्डूखण्डनविचक्षणः, अत एव निर्मलान्तःकरणानामिष्टार्थप्रदः श्रीकण्ठः परमेश्वरोऽराजत इति शेषः ॥ ६५ ॥

वे परमेश्वर श्री कण्ठ समस्त शत्रुओं की भुजाओं की खुजली को दूर करने में पण्डित, शरणागतों के लिये चिन्तामणि के समान शोभायमान थे ॥ ६५ ॥

एवं शिवस्य वैभवं वर्णयित्वाग्रे सूत्रैकादशकेन रेणुकगणेशस्य शिवभक्तिमहत्त्वं सूचयति—

सभान्तरगतं तन्त्रं रेणुकं गणनायकम् ।
प्रसादं सुलभं दातुं ताम्बूलं स तमाह्वयत् ॥ ६६ ॥

स शिवः सभामध्यगतं तन्त्रं मुख्यम् अथवा प्रसिद्धं तं रेणुकं प्रति सुलभं ताम्बूलप्रसादं दातुं शिरसा आह्वयत्, आकारितवानित्यर्थः ॥ ६६ ॥

ऐसे भगवान् शिव ने सभा के अन्दर बैठे हुऐ मुख्य गणनायक रेणुक को प्रसादसुलभ ताम्बूल देने के लिये बुलाया ॥ ६६ ॥

शम्भोराह्वानसन्तोषसम्भ्रमेणैव दारुकम् ।
उल्लङ्घ्य पार्श्वमगमल्लोकनाथस्य रेणुकः ॥ ६७ ॥

---

१. सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः ।
अनन्तशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञा आहुः षडङ्गानि महेश्वरस्य ॥ (वायु पु०)

पार्श्वं वामभागमित्यर्थः ॥ ६७ ॥

वह रेणुक शङ्कर के आवाहन को शीघ्र सन्तुष्ट करने के लिये दारुक को लाँघकर लोकनाथ के पास अर्थात् वामभाग में पहुँच गया ॥ ६७ ॥

तमालोक्य विभुस्तत्र समुल्लङ्घितदारुकम् ।
माहात्म्यं निजभक्तानां द्योतयन्निदमब्रबीत् ॥ ६८ ॥

विभुः स्वतन्त्र इत्यर्थः । स्पष्टमन्यत् ॥ ६८ ॥

सर्वव्यापी परमेश्वर ने अपने भक्तों का माहात्म्य दिखलाने के लिये दारुक का उल्लङ्घन करने वाले उस रेणुक से कहा ॥ ६८ ॥

रे रे रेणुक दुर्बुद्धे कथमेष त्वयाऽधुना ।
उल्लङ्घितः सभामध्ये मम भक्तो हि दारुकः ॥ ६९ ॥

रे दुर्बुद्धि रेणुक! तुमने सभा के बीच मेरे भक्त इस दारुण का उल्लङ्घन क्यों किया? ॥ ६९ ॥

लङ्घनं मम भक्तानां परमानर्थकारणम् ।
आयुः श्रियं कुलं कीर्त्तिं निहन्ति हि शरीरिणाम् ॥ ७० ॥

हि प्रसिद्धमित्यर्थः ॥ ७० ॥

मेरे भक्तों का लाँघना महा अनर्थ का कारण बनता है वह मनुष्यों की आयु लक्ष्मी कुल और कीर्त्ति को नष्ट कर देता है ॥ ७० ॥

मम भक्तमवज्ञाय मार्कण्डेयं[१] पुरा यमः ।
मत्पादताडनादासीत् स्मरणीयकलेवरः ॥ ७१ ॥

विनष्टकलेवरत्वात् स्मरणीयकलेवर आसीदित्यर्थः । स्पष्टमन्यत् ॥ ७१ ॥

प्राचीन काल में यमराज मेरे भक्त मार्कण्डेय की अवज्ञा कर मेरे पैर के आघात से नष्ट हो गये ॥ ७१ ॥

भृगोश्च शङ्कुकर्णस्य मम भक्तिमतोस्तयोः ।
कृत्वानिष्टमभूद् विष्णुर्विकेशा दशयोनिभाक् ॥ ७२ ॥

विकेशः शिरःपूर्वभागोत्पादितकेशवानित्यर्थः ॥ ७२ ॥

---

१. मार्कण्डेय मृकण्डु ऋषि के पुत्र थे । उनको पाँच वर्ष की अल्पायु प्राप्त थी । सप्तर्षियों के आशीर्वाद से उनको ब्रह्मा के आयुः प्रमाण से पाँच वर्ष का जीवन मिला ।

मेरे भक्त भृगु और शङ्कुकर्ण का अनिष्ट कर विष्णु विशिष्ट केश वाले हो गये अर्थात् उनके मस्तक पर बाल उग आये तथा दश बार जन्म लिये ॥ ७२ ॥

मद्भक्तेन दधीचेन कृत्वा युद्धं जनार्दनः ।
भग्नचक्रायुधः पूर्वं पराभवमुपागमत् ॥ ७३ ॥

प्राचीन काल में मेरे भक्तं दधीचि के साथ युद्ध कर जनार्दन (= विष्णु) चक्र और धनुष टूट जाने पर पराजय को प्राप्त हुए ॥ ७३ ॥

कृताश्वमेधो दक्षोऽपि मद्भक्तांश्च गणेश्वरान् ।
अवमत्य सभामध्ये मेषवक्त्रोऽभवत् पुरा ॥ ७४ ॥

अवमत्य उदास्येत्यर्थः ॥ ७४ ॥

अश्वमेध करने वाले दक्ष ने भी सभा के बीच मेरे भक्त गणेश्वरों का अपमान कर भेंड़ का मुख प्राप्त किया ॥ ७४ ॥

श्वेतस्य मम भक्तस्य दुरतिक्रमतेजसः ।
औदासीन्येन कालोऽपि मया दग्धः पुराऽभवत् ॥ ७५ ॥

दुरतिक्रमतेजसः अनिन्दिततेजस इत्यर्थः ॥ ७५ ॥

प्राचीन काल में अनतिक्रमणीय तेज वाले मेरे भक्त श्वेत के उदासीन होने से मैने काल को भी जला दिया ॥ ७५ ॥

एवमन्येऽपि बहवो मद्भक्तानामतिक्रमात् ।
परिभूता हताश्चासन् भक्ता मे दुरतिक्रमाः ॥ ७६ ॥

इसी प्रकार अन्य बहुत से लोग मेरे भक्तों के अतिक्रमण के कारण पराभव को प्राप्त हुए और मारे गये । अतः मेरे भक्त अनुल्लङ्घनीय होते हैं ॥ ७६ ॥

एवं भक्तमाहात्म्यं वर्णयित्वा तदुल्लङ्घनदोषस्य फलं निर्दिशति—

अविचारेण मद्भक्तो लङ्घितो दारुकस्त्वया ।
एष त्वं रेणुकानेन जन्मवान् भव भूतले ॥ ७७ ॥

एष दारुक इति सम्बन्धः ॥ ७७ ॥

हे रेणुक! तुमने बिना विचार किये मेरे भक्त दारुक का लङ्घन किया इस कारण तुम पृथिवी पर जन्म लो ॥ ७७ ॥

अथ रेणुको जन्मनि भीतः सन् पञ्चभिः सूत्रैः शिवं विज्ञापयति—

इत्युक्तः परमेशेन भक्तमाहात्म्यशंसिना ।
प्रार्थयामास देवेशं प्रणिपत्य स रेणुकः ॥ ७८ ॥

इत्युक्तो लोकहितार्थमित्युक्तो भवदाह्वानसम्भ्रान्त्या मया अज्ञानादयं लङ्घितः, मां पाहीति प्रार्थयामासेत्यर्थः ॥ ७८ ॥

भक्तों का माहात्म्य बतलाने वाले परमेश्वर के द्वारा इस प्रकार कहा गया वह रेणुक पैरों पर गिरकर देवेश भगवान् शिव से प्रार्थना किया ॥ ७८ ॥

मानुषीं योनिमासाद्य महादुःखविवर्धिनीम् ।
[१]जात्यायुर्भोगवैषम्यहेतुकर्मोपपादिनीम् ॥ ७९ ॥
समस्तदेवकैंकर्यकार्पण्यप्रसवस्थलीम् ।
महातापत्रयोपेतां वर्णाश्रमनियन्त्रिताम् ॥
विहाय त्वत्पदाम्भोजसेवां किं वा वसाम्यहम् ॥ ८० ॥

त्वत्पदाम्बुजसेवां विहाय, एवंरूपमानुषीं योनिमासाद्य स्थातुं योग्यः किमहमित्यर्थः ॥ ७९-८० ॥

यथा मे मानुषो भावो न भवेत् क्षितिमण्डले ।
तथा प्रसादं देवेश विधेहि करुणानिधे ॥ ८१ ॥

हे देवेश! महादुःख को बढाने वाली, जन्म आयु और भोग के वैषम्य के कारणभूत कर्मों को कराने वाली, समस्त देवताओं के सेवकत्वरूपी दीनता की जन्मस्थली, दैहिक, दैविक, भौतिक तीन तापों से युक्त एवं वर्णाश्रम धर्म से नियन्त्रित मनुष्य योनि को प्राप्त कर आपके चरणकमल की सेवा से रहित मैं वहाँ कैसे रह सकूँगा? हे करुणानिधे! पृथिवीमण्डल पर मेरा मनुष्य भाव जिस प्रकार न रहे वैसी कृपा कीजिये ॥ ७९-८१ ॥

एवं प्रार्थितवन्तं रेणुकं स्वात्मत्वेन निश्चित्याभयं दत्वा षड्भिः सूत्रैः प्रयोजनं दर्शयति—

इति सम्प्रार्थितो देवो रेणुकेन महेश्वरः ।
मा भैषीर्मम भक्तानां कुतो भीतिरिहेष्यति ॥ ८२ ॥

रेणुक के द्वारा इस प्रकार प्रार्थना किये गये महेश्वर ने कहा—डरो मत । मेरे भक्तों को इस जगत् में भय कहाँ ॥ ८२ ॥

---

१. तुलनीय—सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः । (पा०यो०सू०)

श्रीशैलस्योत्तरे भागे त्रिलिङ्गविषये शुभे ।
कोल्लिपाक्यभिधानोऽस्ति कोऽपि ग्रामो महत्तरः ॥ ८३ ॥

त्रिलिङ्गविषये आन्ध्रदेशे कोल्लिपाक्याख्यमहाग्रामोऽस्ति ॥ ८३ ॥

श्रीशैल के उत्तर भाग में स्थित तैलङ्गाना देश में कौल्लिपाकी नाम वाला कोई बड़ा सा गाँव है ॥ ८३ ॥

सोमेश्वराभिधानस्य तत्र वासवतो मम ।
अस्पृशन् मानुषं भावं लिङ्गात् प्रादुर्भविष्यसि ॥ ८४ ॥

तत्र वासवतः सोमेश्वराभिधानस्य मम लिङ्गाद् मानुषं भावमस्पृशन् प्रादुर्भविष्यसीत्यर्थः ॥ ८४ ॥

वहाँ सोमेश्वर नाम से बसने वाले अर्थात् स्थित मेरे लिङ्ग (= सोमेश्वर महोदव) से तुम मानुषभाव का स्पर्श न करते हुए उत्पन्न होगें अर्थात् मनुष्य देह से तुम्हारी उत्पत्ति नहीं होगी ॥ ८४ ॥

मदीयलिङ्गसम्भूतं मद्भक्तपरिपालकम् ।
विस्मिता मानुषाःसर्वे त्वां भजन्तु मदाज्ञया ॥ ८५ ॥

सब लोग आश्चर्ययुक्त होकर मेरी आज्ञा से मेरे शिवलिङ्ग से उत्पन्न मेरे भक्तों के परिपालक स्वरूप तुम्हारी सेवा करेंगे ॥ ८५ ॥

मदद्वैतपरं शास्त्रं वेदवेदान्तसम्मतम् ।
स्थापयिष्यसि भूर्लोके सर्वेषां हितकारकम्॥ ८६ ॥

तुम पृथ्वीलोक पर वेदवेदान्तसम्मत तथा सबके लिये हितकारक शिवाद्वैत शास्त्र (वीरशैव सिद्धान्त) की स्थापना करोगे ॥ ८६ ॥

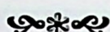
मम प्रतापमतुलं मद्भक्तानां विशेषतः ।
प्रकाशय महीभागे वेदमार्गानुसारतः ॥ ८७ ॥

हे रेणुक! तुम वेदमार्ग का अनुसरण करते हुए पृथ्वीतल पर मेरे अतुल प्रताप को विशेष रूप से मेरे भक्तों को बतलाओ ॥ ८७ ॥

अथ संग्रहकर्तुः शिवयोगिनो वाक्यम्—

इत्युक्त्वा परमेश्वरः स भगवान् भद्रासनादुत्थितो
ब्रह्मोपेन्द्रमुखान् विसृज्य विबुधान् भ्रूसंज्ञया केवलम् ।
पार्वत्या सहितो गणैरभिमतैः प्राप स्वमन्तःपुरं
क्षोणीभागमवातरत् पशुपतेराज्ञावशाद् रेणुकः ॥ ८८ ॥

इति श्रीसिद्धान्तशिखामणौ रेणुकस्य भूर्लोकावगतिर्नाम तृतीयः परिच्छेदः ॥ ३ ॥



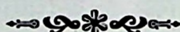
अभिमतैः अत्याप्तैः नन्द्यादिभिः । स्वकमन्तःपुरं भगवान् प्राप । अथ रेणुको ब्रह्माधिपतेः शिवस्य आज्ञावशाद् भूभागं प्राप्तवानित्यर्थः ॥ ८८ ॥

इति श्रीमत्पदवाक्यप्रमाणपारावारधुरीणश्रीमरितोण्टदार्येण विरचितायां तत्त्वप्रदीपिकाख्यायां सिद्धान्तशिखामणिव्याख्यायां रेणुकस्य भूर्लोकावतरणंनाम तृतीयः परिच्छेदः ॥ ३ ॥



ऐसा कहकर वे भगवान् परमेश्वर अपने भद्रासन से उठ खड़े हुए । केवल भौंह के इशारे से ब्रह्मा उपेन्द्र आदि देवों को विदा कर अभिमत गणों तथा पार्वती के साथ अपने अन्तःपुर को चले गये । पशुपति की आज्ञा से रेणुक भी पृथ्वी तल पर अवतीर्ण हुए ॥ ८८ ॥

इस प्रकार श्रीसिद्धान्तशिखामणि के रेणुक भूर्लोकावतारण नामक तृतीय परिच्छेद की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदिकृत 'ज्ञानवती' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ३ ॥



चतुर्थः परिच्छेदः

अथाष्टभिः सूत्रैः शिवयोगिरेणुकगणेश्वरस्य स्वरूपं वर्णयति—

अथ त्रिलिङ्गविषये कोल्लिपाक्यभिधे पुरे ।
सोमेश्वरमहालिङ्गात् प्रादुरासीत् स रेणुकः ॥ १ ॥

रेणुक का अवतार एवं उनके स्वरूप का वर्णन—

इसके बाद रेणुक तैलङ्गाना देश के कोल्लिपाकी नामक नगर में सोमेश्वर महादेव नामक महालिङ्ग से प्रगट हुये ॥ १ ॥

प्रादुर्भूतं तमालोक्य शिवलिङ्गात् त्रिलिङ्गजाः ।
विस्मिताः प्राणिनः सर्वे बभूवुरतितेजसम् ॥ २ ॥

तैलङ्गाना देश के समस्त प्राणी अत्यन्त तेजस्वी उनको शिवलिङ्ग से प्रगट हुआ देखकर विस्मय से भर गये ॥ २ ॥

भस्मोद्धूलितसर्वाङ्गं साररुद्राक्षभूषणम् ।
जटामुकुटसंयुक्तं त्रिपुण्ड्राङ्कितमस्तकम् ॥ ३ ॥

सारशब्देन बाहुल्यमुच्यते ॥ ३ ॥

उस रेणुक का समस्त शरीर भस्म से उद्धूलित था । रुद्राक्षमाला से विभूषित जटामुकुट से संयुक्त उनका मस्तक त्रिपुण्ड्र से चिह्नित था ॥ ३ ॥

कटीतटीपटीभूतकन्थापटलबन्धुरम् ।
दधानं योगदण्डं च भस्माधारं कमण्डलुम् ॥ ४ ॥

वे कटिप्रदेश में वस्त्र के रूप में कन्था बाँधे, योगदण्ड धारण किये हुए भस्म पात्र तथा कमण्डलु लिये हुए थे ॥ ४ ॥

शिवाद्वैतपरिज्ञानपरमानन्दमोदितम् ।
निर्धूतसर्वसंसारवासनादोषपञ्जरम् ॥ ५ ॥

शिवाद्वैत के परिपूर्ण ज्ञान से जन्य परम आनन्द. से मुदित वे समस्त

संसार समस्त वासनादोष रूपी पिंजड़े को नष्ट किये हुए थे ॥ ५ ॥

शिवागमसुधासिन्धुसमुन्मेषसुधाकरम् ।
चित्तारविन्दसङ्गूढशिवपादाम्बुजद्वयम् ॥ ६ ॥

वे शैवागमरूपी सुधासिन्धु की वृद्धि के लिये चन्द्रमा के समान थे तथा अपने हृदयकमल में शिव के दोनों चरणकमलों को छिपाये हुए थे ॥ ६ ॥

यमादियोगतन्त्रज्ञं स्वतन्त्रं सर्वकर्मसु ।
समस्तसिद्धसन्तानसमुदायशिखामणिम् ॥ ७ ॥

वे यम आदि[1] योगसाधनों के ज्ञाता, समस्त कार्य करने में स्वतन्त्र तथा समस्त सिद्धपरम्परा समूह के शिखामणि थे ॥ ७ ॥

वीरसिद्धान्तनिर्वाहकृतपट्टनिबन्धनम् ।
आलोकमात्रनिर्भिन्नसमस्तप्राणिपातकम् ॥ ८ ॥

वीरसिद्धान्तशब्देन वीरशैवसिद्धान्त उच्यते । स्पष्टमन्यत् ॥ ८ ॥

वे रेणुकाचार्य वीर शैवसिद्धान्त का निर्वाह करने के लिये कटिबद्ध तथा दर्शनमात्र से समस्त प्राणियों के पापों को दूर करने वाले थे ॥ ८ ॥

अथ मर्त्यं प्राप्त एष रेणुको जनैः पृष्टः सन्नुत्तरं दत्वा मलयाद्रिमगमदित्याह तमपृच्छन्नित्यादिश्लोकपञ्चकेन—

तमपृच्छन् जनाः सर्वे नमन्तः को भवानिति ।
इति पृष्टो महायोगी जनैर्विस्मितमानसैः ॥ ९ ॥
प्रत्युवाच शिवाद्वैतमहानन्दपरायणः ।
पिनाकिनः पार्श्ववर्ती रेणुकाख्यगणेश्वरः ॥ १० ॥

सब लोगों ने उनको प्रणाम कर उनसे पूछा—'आप कौन हैं?' विस्मययुक्त चित्त वाले लोगों के द्वारा पूछे गये वे महायोगी बोले—'मै शिवाद्वैत महानन्द में लीन शङ्कर का पार्श्ववर्त्ती रेणुक नामक गणेश्वर हूँ' ॥ ९-१० ॥

केनचित् कारणेनाहं शिवलिङ्गादिहाभवम् ।
नाम्ना रेणुकसिद्धोऽहं सिद्धसन्ताननायकः ॥ ११ ॥

किसी कारण से मैं इस संसार में यहाँ शिवलिङ्ग से उत्पन्न हुआ हूँ । मेरा नाम रेणुकसिद्ध है । मैं सिद्धपरम्परा का नायक हूँ ॥ ११ ॥

---

१. यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि—योग के ये आठ अङ्ग है । (पा०यो०सू०)

स्वच्छन्दचारी लोकेऽस्मिन् शिवसिद्धान्तपालक: ।
खण्डयन् जैनचार्वाकबौद्धादीनां दुरागमान् ॥ १२ ॥

मैं इस लोक में स्वच्छन्द विचरण करने वाला, जैन चार्वाक बौद्ध आदि दुष्ट (= नास्तिक) आगमों का खण्डन करता हुआ शिवसिद्धान्त का परिपालक हूँ ॥ १२ ॥

इत्युक्त्वा पश्यतां तेषां विषयस्थिरचक्षुषाम्।
उत्थाय व्योममार्गेण मलयाद्रिमुपागमत् ॥ १३ ॥

ऐसा कहकर एक टक उनको देखते हुए लोगों के सामने वे रेणुक उड़कर आकाश मार्ग से मलय पर्वत पर चले गये ॥ १३ ॥

अथ सूत्रत्रयेण मलयाद्रिं वर्णयति—

नवचन्दनकान्तारकन्दलन्मन्दमारुतम् ।
अभङ्गुरभुजङ्गस्त्रीसङ्गीतरससङ्कुलम् ॥ १४ ॥

मलय पर्वत का वर्णन—वह मलय पर्वत नये चन्दन के घने जङ्गल से भरा था । उसमें मन्द वायु चल रही थी । अत्यन्त सटी हुई सर्पिणियों के सङ्गीतरस से वह याप्त था ॥ १४ ॥

नूतनश्रीचन्दनभेदनक्षममन्दमारुत:, अतिनिबिडभुजङ्गस्त्रीसङ्गीतरस व्याप्त: ॥ १४ ॥

करिपोतकराकृष्टस्फुरदेलातिवासितम् ।
वराहदंष्ट्रिकाध्वस्तमुस्तासुरभिकन्दरम् ॥ १५ ॥

करिकलभकराकर्षणविकीर्णैलाफलसुगन्धवासितो वराहदंष्ट्रोत्खातभद्रमुस्तासुरभिसानुप्रदेश: ॥ १५ ॥

हाथी के बच्चों के द्वारा सूँड़ से खींची गयी इलायची से वह अत्यन्त सुगन्धयुक्त था। सूअरों के छोटे-छोटे दाँतों से ध्वस्त मुस्ता की सुगन्ध से उसकी कन्दरायें व्याप्त थीं ॥ १५ ॥

पटीरदलपर्यङ्कप्रसुप्तव्याधदम्पतिम् ।
माधवीमल्लिकाजातीमञ्जरीरेणुरञ्जितम् ॥ १६ ॥

कर्पूरकदलीपत्रपर्यङ्कनिद्रितकिरातदम्पति:, सेवन्त्यादिकुसुमगुच्छपरागरञ्जित: । एतादृशं मलयाद्रिमगमदिति पूर्वेणान्वय: ॥ १६ ॥

वहाँ व्याधदम्पती श्वेत कदलीदल से बने पलङ्ग पर सोये हुए थे । वह

पर्वत माधवी (= वासन्ती) जूही और चम्पा के पराग से रञ्जित था ॥ १६ ॥

अथाष्टभिः सूत्रैरगस्त्याश्रमं वर्णयति—

तत्र कुत्रचिदाभोगसर्वर्तुकुसुमद्रुमे ।
अपश्यदाश्रमं दिव्यमगस्त्यस्य महामुनेः ॥ १७ ॥

सम्पूर्णवसन्तादिसर्वर्तुकुसुममयवृक्षवति तत्र मलयाचले कुत्रचित् कस्मिंश्चित् प्रदेशे दिव्यं मनोहरम् अगस्त्याश्रममपश्यत्, दृष्टवानित्यर्थः ॥ १७ ॥

अगस्त्य आश्रम का वर्णन—रेणुक ने वहाँ समस्त ऋतुओं के फूलों वाले वृक्षों से भरा हुआ महामुनि अगस्त्य का दिव्य विशाल आश्रम देखा ॥ १७ ॥

मन्दारचन्दनप्रायैर्मण्डितं तरुमण्डलैः ।
शाखाशिखरसंलीनतारकागणकोरकैः ॥ १८ ॥

शाखाग्रसंविलीनतारकागणरूपकुसुमकुड्मलैः कल्पवृक्षश्रीचन्दनादितरुसमूहैर्मण्डितं शोभितमित्यर्थः ॥ १८ ॥

वह आश्रम कल्पवृक्ष चन्दन आदि के वृक्षों से भरा हुआ था । उन पेड़ों की चोटियों पर लगी कलियाँ ऐसी लगती थीं मानो वहाँ तारायें जुड़ी हुई हों ॥ १८ ॥

मुनिकन्याकरानीतकलशाम्बुविवर्धितैः ।
आलवालजलास्वादमोदमानमृगीगणैः ॥ १९ ॥

वे वृक्ष मुनिकन्याओं के हाथों द्वारा लाये गये कलशाम्बु से वर्द्धित किये गये थे। मृगियों का समूह उनके थालों में भरे पानी को पीकर प्रसन्न हुआ करता था ॥ १९ ॥

हेमारविन्दनिष्यन्दमकरन्दसुगन्धिभिः ।
मरालालापवाचालुवीचिमालामनोहरैः ॥ २० ॥

स्वर्णकमल से गिरने वाले पराग से सुगन्धयुक्त वह आश्रम हंसों की ध्वनितरङ्गों से अत्यन्त मनोहर था ॥ २० ॥

इन्दीवरवरज्योतिरन्धीकृतहरिन्मुखैः ।
लोपामुद्रापदन्यासचरितार्थतटाङ्कितैः ॥ २१ ॥

उस आश्रम की दिशायें नीलकमल की ज्योति से मानो अन्धकारमय अर्थात् नीली हो गयी थीं । तालाब के किनारे लोपामुद्रा[1] के पदचिह्नों से

१. लोपामुद्रा अगस्त्य की पत्नी थीं । लोपामुद्रा को षोडशी (= त्रिपुरसुन्दरी) की आराधनाविधि उनके पिता से प्राप्त हुई थी । इस विधि को अगस्त्य ने लोपमुद्रा से प्राप्त किया था ।

अङ्कित थे ॥ २१ ॥

हारनीहारकर्पूरहरहासामलोदकै: ।
नित्यनैमित्तिकस्नाननियमार्थैस्तपस्विनाम् ॥ २२ ॥

उस तालाब का जल हार बर्फ कपूर अथवा शिव के हास के समान स्वच्छ था । वह तपस्वियों के नित्य नैमित्तिक स्नान एवं नियमों के प्रयोजन वाला था अर्थात् तपस्वी लोग उस जल से नित्य कर्म किया करते थे ॥ २२ ॥

प्रकृष्टमणिसोपानै: परिवीतं सरोवरै: ।
विमुक्तसत्त्ववैरस्यं ब्रह्मलोकमिवापरम् ॥ २३ ॥

उत्तम मणियों से बनी सीढ़ियों से वे तालाब घिरे हुए थे । वह आश्रम प्राणियों के वैरभाव से मुक्त द्वितीय ब्रह्मलोक के समान था ॥ २३ ॥

हूयमानाज्यसन्तानधूमगन्धिमहास्थलम् ।
शुकसंसत्समारब्धश्रुतिशास्त्रोपबृंहणम् ॥ २४ ॥

शुकसंसदेत्यर्थ: । स्पष्टमन्यत् । एतादृशमगस्त्याश्रममपश्यदित्यर्थ: ॥ २४ ॥

वहाँ की भूमि हवन किये जा रहे घी के धूम से महासुगन्धयुक्त थी । वहाँ के शुक समाज के द्वारा पढ़े गये वेदों से वह आश्रम व्याप्त था ॥ २४ ॥

अथागस्त्यमुनिं नवभि: सूत्रैर्वर्णयति—

तस्य मध्ये समासीनं मूले चन्दनभूरुह: ।
सुकुमारदलच्छायादूरितादित्यतेजस: ॥ २५ ॥

अगस्त्य सौन्दर्यवर्णन—उस आश्रम के मध्य में सुकुमार पत्तों की छाया के द्वारा सूर्य के प्रकाश तथा आतप को दूर करने वाले चन्दनवृक्ष के नीचे बैठे हुए अगस्त्य को रेणुक ने देखा ॥ २५ ॥

तडित्पिङ्गजटाभारैस्त्रिपुण्ड्राङ्कितमस्तकै: ।
भस्मोद्धूलितसर्वाङ्गै: स्फुरद्रुद्राक्षभूषणै: ॥ २६ ॥
नववल्कलवासोभिर्नानानियमधारिभि: ।
परिवीतं मुनिगणै: प्रमथैरिव शङ्करम् ॥ २७ ॥

विद्युत् की भाँति पीली जटाओं वाले, त्रिपुण्ड्र से चिह्नित मस्तक व़ाले, समस्त अङ्गों में भस्म रमाये हुए, रुद्राक्ष का आभूषण पहने हुए, नवीन वल्कल का वस्त्र धारण किये हुए, अनेक नियमों का पालन करने वाले मुनिसमूहों से वे अगस्त्य ऋषि घिरे हुए थे । लगता था प्रमथगणों से घिरे हुए भगवान् शङ्कर हों ॥ २६-२७ ॥

समुज्वलजटाजालैस्तपःपादपपल्लवैः ।
स्फुरत्सौदामिनीकल्पैर्ज्वालाजालैरिवानलम् ॥ २८ ॥

शिवप्रसादभूततपोवृक्षपल्लवैः स्फुरद्विद्युल्लतासदृशैर्जटाजालैरग्निमिव समुज्वलन्तमित्यर्थः ॥ २८ ॥

तपस्यारूपी वृक्ष के पल्लव के समान चमकती हुई बिजली के सदृश उज्वल जटाओं से वे ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानो ज्वालाजाल से परिवृत अग्नि हो ॥ २८ ॥

विशुद्धभस्मकृतया त्रिपुण्ड्राङ्कितरेखया ।
त्रिस्रोतसेव सम्बद्धशिलाभागं हिमाचलम् ॥ २९ ॥

त्रिभागेन प्रवहद्गङ्गासम्बद्धशिलाभागं हिमाद्रिमिव शितत्रिपुण्ड्ररेखाङ्कित-मस्तकमित्यर्थः ॥ २९ ॥

विशुद्ध भस्म से बनी त्रिपुण्ड्र की तीन रेखाओं से वे गङ्गा के तीन स्त्रोतों से सम्बद्ध शिला वाले हिमालय के समान लग रहे थे ॥ २९ ॥

भस्मालङ्कृतसर्वाङ्गं शशाङ्कमिव भूगतम् ।
वसानं वल्कलं नव्यं बालातपसमप्रभम् ॥ ३० ॥

उनका समस्त शरीर भस्म से अलङ्कृत था । लगता था कि चन्द्रमा पृथिवी पर उतर आया हो । वे बालसूर्य की किरणों के सदृश कान्तिमान् नवीन वल्कल पहन रखे थे ॥ ३० ॥

वडवाग्निशिखाजालसमालीढमिवार्णवम् ।
सर्वासामपि विद्यानां समुदायनिकेतनम् ॥ ३१ ॥

समालीढं व्याप्तमित्यर्थः ॥ ३१ ॥

वाडवाग्नि की शिखाओं से व्याप्त समुद्र की भाँति लग रहे वे अगस्त्य समस्त विद्याओं के समुदाय के आश्रय थे ॥ ३१ ॥

न्यक्कृतप्राकृताहन्तं निरूढशिवभावनम् ।
तृणीकृतजगज्जालं सिद्धीनामुदयस्थलम् ॥ ३२ ॥

तिरस्कृतप्राकृतशरीराद्यहङ्कारवन्तमित्यर्थः । सिद्धीनामणिमादिसिद्धीना-मित्यर्थः ॥ ३२ ॥

प्राकृत (= सामान्य जनों में वर्त्तमान अथवा प्रकृति तत्त्व से उत्पन्न) अहङ्कार से रहित, शिवभावना में दृढ़ वे अगस्त्य संसार को तृणवत् समझने वाले तथा सिद्धियों के उद्गम थे ॥ ३२ ॥

मोहान्धकारतपनं मूलबोधमहीरुहम् ।
ददर्श स महायोगी मुनिं कलशसम्भवम् ॥ ३३ ॥

मूलबोधस्य स्वरूपज्ञानस्य कल्पद्रुममित्यर्थः । एवमादिविशेषणविशिष्टं कलशसम्भवगस्त्यं स रेणुकाचार्यो ददर्श दृष्टवानित्यर्थः ॥ ३३ ॥

मोहरूपी अन्धकार के लिये सूर्य के समान, बोधरूपी वृक्ष के मूलस्वरूप तथा कुम्भ से उत्पन्न उन अगस्त्य को उस महायोगी रेणुक ने देखा ॥ ३३ ॥

अथ समागतं तं रेणुकाचार्यमगस्त्यः पूजयामासेति चतुर्भिः सूत्रैः प्रतिपादयति—

तमागतं महासिद्धं समीक्ष्य कलशोद्भवः ।
गणेन्द्रं रेणुकाभिख्यं विवेद ज्ञानचक्षुषा ॥ ३४ ॥

कुम्भज ऋषि ने उन महासिद्ध को आया हुआ देख कर अपनी दिव्य दृष्टि से उनको रेणुक नामक गणेश्वर समझा ॥ ३४ ॥

तस्यानुभावं विज्ञाय सहसैव समुत्थितः ।
लोपामुद्राकरानीतैरुदकैरतिपावनैः ॥
पादौ प्रक्षालयामास स तस्य शिवयोगिनः ॥ ३५ ॥

स अगस्त्यः, तस्य रेणुकस्यानुभावं सामर्थ्यं समन्वीक्ष्य तस्मिन्नेव क्षणे समुत्थाय प्रणम्यासने उपावेशयदित्यर्थः ॥ ३५ ॥

उनके प्रभाव को जानकर वे अगस्त्य ऋषि सहसा खड़े हो गये और लोपामुद्रा के हाथों लाये गये अत्यन्त पवित्र जल से उन शिवयोगी रेणुक के पैरों का प्रक्षालन किया ॥ ३५ ॥

सम्पूज्य तं यथाशास्त्रं तन्नियोगपुरस्सरम् ।
मुनिर्विनयसम्पन्नो निषसादासनान्तरे ॥ ३६ ॥

अथेति शेषः । तं रेणुकं शास्त्रोक्तप्रकारेण भक्तियुतः सन् अगस्त्यमुनिः सम्पूज्य तदाज्ञापुरःसरं यथा तथा पीठान्तरे उपविष्ट इत्यर्थः ॥ ३६ ॥

विनयसम्पन्न मुनि अगस्त्य उनकी शास्त्रविधि के अनुसार पूजा कर उनकी आज्ञा से दूसरे आसन पर बैठ गये ॥ ३६ ॥

रेणुकागस्त्यसंवादः

समासीनं मुनिवरं सर्वतेजस्विनां विभुम् ।
उवाच शान्तया वाचा रेवणः सिद्धशेखरः ॥ ३७ ॥

रेणुक-अगस्त्य संवाद—समस्त तेजस्वियों में श्रेष्ठ ऋषिवर को बैठाकर सिद्धशेखर रेणुकाचार्य ने शान्त वाणी से कहा ॥ ३७ ॥

अथाष्टभिः सूत्रैः श्रीरेणुकोऽगस्त्यं कुशलप्रश्नपूर्वकं प्रस्तौति—

निर्विघ्नं वर्तसे किं नु नित्या ते नियमक्रिया।
अथ वाऽगस्त्य तेजस्विन् कुतः स्युस्तेऽन्तरायकाः ॥ ३८ ॥

तेजस्विन् भो अगस्त्य, अथ माङ्गल्येन निर्विघ्नं भवान् वर्तसे, किं नु ते नियमक्रिया नित्या वा विच्छेदरहिता वेत्यर्थः, ते अन्तरायका विघ्नकारिणः कुतः स्युः? न स्युरित्यर्थः ॥ ३८ ॥

हे तेजस्विन् अगस्त्य! आप निर्विघ्न रह रहे हैं क्या? आपकी नित्य क्रियायें नियमपूर्वक निर्विघ्न चल रही हैं क्या? अथवा आपको विघ्न कहाँ से आ सकता है? ॥ ३८ ॥

विन्ध्यो निरुद्धो[1] भवता विश्वोल्लङ्घनविभ्रमः।
नहुषो रोषलेशात् ते सद्यः सर्पत्वमागतः[2] ॥ ३९ ॥

विश्वोल्लङ्घनविभ्रमो महामेरुप्रभृतिमहापर्वतोल्लङ्घनविलासवान् विन्ध्यः

---

१. देवताओं द्वारा सुमेरु एवं हिमालय का आदर देखकर विन्ध्याचल ने अपने को अपमानित समझा। वह इतना ऊँचा हुआ कि सूर्य का परिभ्रमण रुक गया। देवताओं ने अगस्त्य से प्रार्थना की। अगस्त्य विन्ध्याचल के पास गये। जब विन्ध्याचल ने उनको साष्टाङ्ग प्रणाम किया तब अगस्त्य ने कहा—जब तक मैं वापस न आऊँ इसी तरह रहना। यह कहकर अगस्त्य दक्षिण दिशा में चले गये और लौटकर नहीं आये। फलतः विन्ध्याचल साष्टाङ्ग प्रणाम मुद्रा में आज भी है।

२. राजा नहुष सौ अश्वमेघ यज्ञ कर इन्द्र का स्थान प्राप्त किये। उनके मन में इन्द्राणी से मिलने की इच्छा हुई। शची ने नहुष का सन्देश सुनकर कहा कि यदि नहुष ऋषियों के द्वारा ढोयी जाने वाली पालकी में बैठकर आयें तो मैं उनका स्वागत करूँगी। कामान्ध नहुष सप्तऋषियों के द्वारा ढोयी जा रही पालकी में बैठकर जा रहे थे। अत्यन्त व्यग्र होकर उन्होंने सप्तर्षियों से कहा—'सर्प सर्प' अर्थात् जल्दी चलो, जल्दी चलो। 'सर्प' शब्द सुनकर अगस्त्य ने क्रुद्ध होकर कहा—'सर्प सर्प कह रहा है जा सर्प हो जा' और नहुष सर्प हो गये।

विन्ध्याद्रिः, निरुद्धः भूमौ निपातित इत्यर्थः । भो अगस्त्य ते क्रोधलेशात् सद्य एव नहुषः सर्पतां गतः ॥ ३९ ॥

आपने विश्वोल्लङ्घन का साहस करने वाले विन्ध्याचल को रोक दिया । आपके रञ्चमात्र क्रोध से नहुष सर्प बन गये ॥ ३९ ॥

आचान्ते भवता पूर्वं पङ्कशेषाः पयोधयः[1] ।
जीर्णस्ते जाठरे वह्नौ दृप्तो वातापिदानवः[2] ॥ ४० ॥

पूर्वं भवता आचान्ते आचमने कृते सति पयोधयः समुद्राः पङ्कशेषेण अवशिष्टाः कृताः । ते जठराग्नौ दृप्तः उद्धतः वातापिदानवः वातापिनामासुरः, जीर्णो जात इत्यर्थः ॥ ४० ॥

प्राचीन काल में आपने समुद्रों को पी लिया और उनमें केवल कीचड़ शेष रह गया । भयङ्कर मदमत्त वातापी राक्षस को आपने अपनी जठराग्नि में जला दिया ॥ ४० ॥

एवंविधानां चित्राणां सर्वलोकातिशायिनाम् ।
कृत्यानां तु भवान् कर्ता कस्तेऽगस्त्य समप्रभः ॥ ४१ ॥

सर्वजनातिशायिनाम् एवंविधचित्रकर्मणां त्वं कर्ता कर्माणि कुर्वाण इत्यर्थः । तस्माद् भो अगस्त्य ते समानप्रभावः कः? न कोऽपीत्यर्थः, ॥ ४१ ॥

आप इस प्रकार के लोकोत्तर कार्यों को करने वाले हैं । हे अगस्त्य! आपके समान कौन तेजस्वी है? अर्थात् कोई नहीं ॥ ४१ ॥

शिवाद्वैतपरानन्दप्रकाशनपरायणम् ।
भवन्तमेकं शंसन्ति प्रकृत्या सङ्गवर्जितम् ॥ ४२ ॥

---

१. एक बार समुद्र टिटिहरी नामक एक पक्षी के अण्डे बहा ले गया । टिटिहरी दम्पती दु:खी होकर समुद्र को जल विहीन करने के लिये एक चोंच पानी समुद्र से बाहर लाते और एक चोंच मिट्टी समुद्र में डालते । अगस्त्य को उन पक्षियों पर दया आ गयी । उन्होंने अञ्जलि भर में समुद्र का पानी पीकर अण्डों को वापस दिलवाया ।

२. अतापी, वातापी नामक दो राक्षस माया से अपने को खाद्य पदार्थ बना लेते थे और जब ऋषि लोग उस पदार्थ को खाते तो वे दोनों पेट फाड़कर बाहर आ जाते और ऋषि मर जाते । अगस्त्य इस रहस्य को जान गये । उन्होंने उनका खाद्य रूप में भक्षण किया और अपनी जठराग्नि से पेट में ही उनको जला डाला ।

अत्र लोका भवन्तमेकमेव शिवाद्वैतविज्ञानाविर्भूतपरमानन्दप्रकाशनतत्परं प्रकृतिसम्बन्धरहितं कथयन्तीत्यर्थ: ॥ ४२ ॥

लोग आपको एकमात्र शिवाद्वैत परानन्द के प्रकाशन में संलग्न और स्वभावत: आसक्तिरहित के रूप में प्रशंसा करते हैं ॥ ४२ ॥

तत्कथमित्यत्राह—

पुरा हैमवतीसूनुरवदत् ते षडानन: ।
शिवधर्मोत्तरं नाम शास्त्रमीश्वरभाषितम् ॥ ४३ ॥

हैमवतीसूनु: पार्वतीनन्दन इत्यर्थ: ॥ ४३ ॥

प्राचीन काल में पार्वतीपुत्र षडानन ने आपको शिवभाषित शिवधर्मोत्तर नामक शास्त्र का उपदेश किया ॥ ४३ ॥

भक्ति: शैवी महाघोरसंसारभयहारिणी ।
त्वया राजन्वती लोके जाताऽगस्त्य महामुने ॥ ४४ ॥

स्कन्दोपदेशमहिम्ना अतिक्रूरसंसारभयनाशिनी शिवभक्तिस्त्वया भूलोके राजन्वती सम्यक्प्रकाशमाना जातेत्यर्थ: ॥ ४४ ॥

हे महामुनि अगस्त्य! इस लोक में महाघोर संसार के भय का अपहरण करने वाली शैवी भक्ति आपके ही कारण राजन्वती (= धर्मात्मा राजाओं के द्वारा शिरोधृत अथवा सम्यक् प्रकाशमान्) है ॥ ४४ ॥

अगस्त्यमुनिवचनम्

अथ अगस्त्य: स्वस्य रेणुकाचार्यदर्शनोत्थसौभाग्यं दशभि: सूत्रैर्वर्णयति—

इति तस्य वच:श्रुत्वा सिद्धस्य मुनिपुङ्गव: ।
गम्भीरगुणया वाचा बभाषे भक्तिपूर्वकम् ॥ ४५ ॥

अगस्त्यवचन—मुनिश्रेष्ठ अगस्त्य उन रेणुकाचार्य की यह बात सुनकर भक्ति के साथ गम्भीर वाणी में बोले ॥ ४५ ॥

अहमेव मुनीन्द्राणां लालनीयोऽस्मि सर्वदा ।
भवदागमसम्पत्तिर्मां विना कस्य सम्भवेत्? ॥ ४६ ॥

अहमेव सदा मुनीन्द्रै: लालनीय: श्लाघनीय:, तत्र हेतुर्भवदागम:, त्वदागमनसम्पत्तिर्मां विना न कस्यापीत्यहमेव सर्वै: श्लाघनीयोऽस्मीति भाव: ॥ ४६ ॥

(हे आचार्यवर!) आपके आगमन रूपी सम्पत्ति मेरे अतिरिक्त और किसके पास सम्भव है । इस कारण मैं सर्वदा मुनियों के बीच आदर का पात्र रहता हूँ ॥ ४६ ॥

स्थिरमद्य शिवज्ञानं स्थिरा मे तापसक्रिया ।
भवद्दर्शनपुण्येन स्थिरा मे मुनिराजता ॥ ४७ ॥

आपके दर्शनजन्य पुण्य से आज मेरा शिवज्ञान स्थिर हो गया है । मेरी तपस्या भी स्थिर है और मुनियों के बीच मेरी राजतुल्यता भी स्थिर हो गयी है अर्थात् मैं सदा के लिये ऋषिश्रेष्ठ हो गया ॥ ४७ ॥

संसारसर्पदष्टानां मूर्च्छितानां शरीरिणाम् ।
कटाक्षस्तव कल्याणं समुज्जीवनभेषजम् ॥ ४८ ॥

तापत्रयात्मसर्पदष्टानामत एव मूर्च्छितानां प्राणिनां ते कटाक्षः कल्याणं मङ्गलात्मकं समुज्जीवनभेषजं सञ्जीवनौषधमित्यर्थः ॥ ४८ ॥

(हे आचार्यप्रवर!) संसाररूपी सर्पों से दष्ट (= काटे गये अत एव) मूर्च्छा को प्राप्त मनुष्यों के लिये आपकी कृपादृष्टि कल्याणकारिणी तथा सञ्जीवनी औषधि है ॥ ४८ ॥

समस्तलोकसंदाहतापत्रयमहानलः ।
त्वत्पदाम्बुकणास्वादादुपशाम्यति देहिनाम् ॥ ४९ ॥

समस्त लोकों को जलाने वाला तथा जीवों के लिये तापत्रयरूपी महा अनल आपके चरणोदक की एक बूँद पीने से शान्त हो जाता है ॥ ४९ ॥

तर्हि कोऽहमित्याकाङ्क्षायामाह—

रेणुकं त्वां विजानामि गणनाथं शिवप्रियम् ।
अवतीर्णमिमां भूमिं मदनुग्रहकाङ्क्षया ॥ ५० ॥

(मैं) आपको गणों के स्वामी शिव के प्रिय रेणुक के रूप में जानता हूँ । आप मेरे ऊपर कृपा करने की इच्छा से इस धरती पर अवतार लिये हैं ॥ ५० ॥

भवादृशानां सिद्धानां प्रबोधध्वस्तजन्मनाम् ।
प्रवृत्तिरीदृशी लोके परानुग्रहकारिणी ॥ ५१ ॥

प्रवृत्तिः सञ्चार इत्यर्थः, ईदृशी एव परानुग्रहरूपिणीत्यर्थः ॥ ५१ ॥

(शिव) बोध के द्वारा ध्वस्त जन्म वाले आप जैसे सिद्धों की लोगों के विषय में प्रवृत्ति ही इस प्रकार की परानुग्रहकारिणी होती है ॥ ५१ ॥

त्वन्मुखाच्छ्रोतुमिच्छामि सिद्धान्तश्रुतिसम्मतम्।
सर्वज्ञ वद मे साक्षाच्छैवं सर्वार्थसाधकम् ॥ ५२ ॥
सद्यः सिद्धिकरं पुंसां सर्वयोगीन्द्रसेवितम् ।
दुराचारैरनाघ्रातं स्वीकृतं वेदवेदिभिः ॥
शिवात्मैक्यमहाबोधसम्प्रदायप्रवर्तकम् ॥ ५३ ॥

दुराचारैर्जैनबौद्धादिभिरनाघ्रातम् अस्वीकृतमित्यर्थः । साक्षाच्छिवात्म्यैक्येति—सकललोकप्रत्यक्षभूतशिवजीवैक्यज्ञानसम्प्रदायप्राप्तमित्यर्थः । एवमादिविशेषणविशिष्टं शैवसिद्धान्तं त्वन्मुखाच्छ्रोतुमिच्छामि, भो सर्वज्ञ! मे मह्यं वद कृपयेत्यर्थः ॥ ५२-५३ ॥

(मैं) आपके मुख से वेदसम्मत शिवाद्वैत सिद्धान्त को सुनना चाहता हूँ। हे सर्वज्ञ! आप मुझे साक्षात् सर्वार्थसाधक, मनुष्यों के लिये सद्यः सिद्धिप्रद, समस्त योगीन्द्रों के द्वारा सेवित, दुराचारियों (जैन बौद्ध आदि) से अस्पृष्ट, वेदवेत्ताओं के द्वारा स्वीकृत तथा शिवजीवैक्य महाज्ञान वाले सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक शिवाद्वैत सिद्धान्त को बतलाइये ॥ ५२-५३ ॥

उक्त्वा भवान् सकललोकमहोपकारं
सिद्धान्तसंग्रहमनादृतबाह्यतन्त्रम् ।
सद्यः कृतार्थयितुमर्हति दिव्ययोगिन्
नानागमश्रवणवर्तितसंशयं माम् ॥ ५४ ॥

इति श्रीसिद्धान्तशिखामणौ रेणुकागस्त्यदर्शनप्रसङ्गो नाम चतुर्थः परिच्छेदः ॥ ४ ॥

दिव्ययोगिन् मनोहरशिवयोगयुक्त रेवणसिद्धेश्वर, अनादृतबाह्यतन्त्रं खण्डितजैनबौद्धादितन्त्रं सकललोकमहोपकारकं सकलप्राण्यनुग्राहकं सिद्धान्तसंग्रहं वेदसम्मतसिद्धान्तसारमुक्त्वा उपदिश्य नानागमश्रवणवर्तितसंशयं कामिकादिवातुलान्तानेकागमश्रवणप्राप्तसंशयं मां भवान् सद्यः कृतार्थयितुमर्हति योग्योऽसीत्यर्थः ॥ ५४ ॥

इति श्रीमत्पदवाक्यप्रमाणपारावारधुरीणश्रीमरितोण्टदार्येण विरचितायां तत्त्वप्रदीपिकाख्यायां सिद्धान्तशिखामणिव्याख्यायां

रेणुकागस्त्यदर्शननामा चतुर्थः परिच्छेदः ॥ ४ ॥

...

हे दिव्ययोगिन्! आप सकल लोक के महान् उपकारक (वेद)-बाह्य तन्त्रों[1] का अनादर करने वाले सिद्धान्तसंग्रह को बतलाकर विभिन्न आगमों के श्रवण के कारण संशयग्रस्त[2] मुझे सद्यः कृतकृत्य कीजिये ॥ ५४ ॥

इस प्रकार श्रीसिद्धान्तशिखामणि के रेणुकागस्त्यदर्शन नामक चतुर्थ परिच्छेद की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदिकृत 'ज्ञानवती' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ४ ॥

---

१. वेदबाह्य तन्त्र बौद्ध जैन चार्वाक आदि ।

२. कामिक से लेकर वातुल पर्यन्त समस्त आगम संशय उत्पन्न करने वाले हैं ।

पञ्चमः परिच्छेदः

एवमगस्त्यविज्ञापनावाक्यश्रवणानन्तरं तच्छास्त्रप्रचारार्थमेव भूलोकमधिगतः शिवगणाधीशः श्रीरेणुकाचार्यः क्षणमचञ्चलमना दयया प्रारम्भणीयशिवशास्त्रपरिसमाप्तिप्रतिबन्धकीभूतविघ्नदेवतासङ्घसमाधान-शक्तशिवध्यानरूपमङ्गलं मनसि विधाय तस्योत्तरमाहेति शिवयोगी निरूपयति, इत्यवतारिकयैव अस्यार्थस्य स्फुटत्वेऽपि योजनाद्वारेण ईषद्विशेषः सूच्यते—

अथागस्त्यवचः श्रुत्वा रेणुको गणनायकः ।
ध्यात्वा क्षणं महादेवं [1]साम्बमाह समाहितः ॥ १ ॥

अगस्त्यवचः श्रुत्वाऽथ गणनायको रेणुकः क्षणमेकाग्रचित्तः सन् साम्बमम्बया जगज्जनन्या शक्तिप्रणवरूपमुख्यस्वसमवेतचित्क्रियासामरस्य-लक्षणचिदम्बरशक्त्या सह वर्तमानं महादेवं क्रीडाविजिगीषाद्यनेकगुणरत्नाकरं परब्रह्म तेजोलिङ्गं ध्यात्वा तस्योत्तरवचनं निरूपयतीत्यर्थः ॥ १ ॥

रेणुकाचार्य द्वारा अगस्त्य ऋषि को तत्त्वोपदेश—इसके बाद गणाधिपति रेणुकाचार्य अगस्त्य ऋषि के वचन को सुनकर शान्तचित हो माता पार्वती सहित महादेव का एक क्षण ध्यान कर बोले ॥ १ ॥

अगस्त्य मुनिशार्दूल समस्तागमपारग ।
शिवज्ञानकरं वक्ष्ये सिद्धान्तं शृणु सादरम् ॥ २ ॥

समस्तागमपारग सकलनिगमागमपारङ्गत शिवशास्त्रप्रभुत्वान्मुनिशार्दूल मुनिश्रेष्ठ भो अगस्त्य, शिवज्ञानकरं स्वतन्त्रशिवाद्वैतज्ञानप्रकाशकं सिद्धान्तं सिद्धान्तशास्त्रं वक्ष्ये सादरः प्रीतियुक्तःसन् त्वं शृण्वित्यर्थः ॥ २ ॥

---

१. अम्बा के सहित ध्यान का तात्पर्य यह है कि विना शक्ति के महादेव की क्रीड़ा विजिगीषा द्युति आदि कोई भी क्रिया सम्भव नहीं है । शिव का स्पन्दन भी शक्तिहेतुक है ।

हे समस्त आगमों के पारगामी मुनिश्रेष्ठ अगस्त्य! मैं आपको शिवज्ञानदायक सिद्धान्त बतलाऊँगा । आदर के साथ सुनिये ॥ २ ॥

अथ तस्य सिद्धान्तस्याधिक्यं प्रतिपादयितुं सिद्धान्ता बहवः सन्तीत्याह—

अगस्त्य खलु सिद्धान्ता विख्याता रुचिभेदतः ।
भिन्नाचारसमायुक्ता भिन्नार्थप्रतिपादकाः ॥ ३ ॥

भो अगस्त्य रुचिभेदतः कपिलपतञ्जल्यादिऋषिप्रीतिवैचित्र्याद् भिन्नाचारस्य भिन्नप्रमेयस्य प्रतिपादकाः सिद्धान्ता बहव इति शेषः, विख्याताः खलु प्रसिद्धाः सन्तीत्यर्थः ॥ ३ ॥

हे अगस्त्य! रुचि भेद के अनुसार भिन्न आचार वाले तथा भिन्न विषयों के प्रतिपादक (अनेक) सिद्धान्त (संसार में) विख्यात हैं ॥ ३ ॥

ते क इत्याकाङ्क्षायामाह—

सांख्यं योगः पाञ्चरात्रं वेदाःपाशुपतं तथा ।
एतानि मानभूतानि नोपहन्यानि युक्तिभिः ॥ ४ ॥

सांख्यं कापिलं प्रकृतिपुरुषलक्षणपदार्थद्वयप्रतिपादकम्, तत्रानीश्वराङ्गीकारः । योगो योगशास्त्रं पतञ्जलिप्रणीतम्, तत्रेश्वराङ्गीकारः, कष्टकरयमनियमाद्यष्टाङ्गप्रतिपादकम् । पाञ्चरात्रं वासुदेवप्रणीतं वैष्णवं विष्णुदीक्षाङ्गभूततप्तमुद्राधारणादिप्रतिपादनद्वारा चिदचिदीश्वरलक्षणत्रिपदार्थप्रतिपादकम् । पाशुपतं शिवप्रणीतं पशुपाशपतिलक्षणत्रिपदार्थप्रतिपादकम् । वेदाः 'यस्य निश्वसिता (तं) वेदाः' इति शिवस्याप्रयत्नसिद्धनिश्वासरूपाः, अत एव अकृत्रिमा ऋग्यजुःसामरूपाः, तत्पूर्वकाण्डानुसारेण जैमिनिप्रोक्तपूर्वमीमांसाख्यं यागादिकर्मप्राधान्यप्रतिपादकं निरीश्वरम्, एतानि शास्त्राणि मानभूतानि प्रमाणभूतानि युक्तिभिर्नोपहन्यानि तर्कयुक्तिभिर्न खण्डनीयानि, 'त्रयी सांख्यं योगः (पशुपतिमतं) वैष्णवमिति' इति महिम्नस्तोत्रप्रसिद्धत्वादित्यर्थः ॥ ४ ॥

सांख्य योग पाञ्चरात्र वेद पाशुपत ये सब प्रामाणिक दर्शन हैं । तर्क के द्वारा इनका खण्डन नहीं करना चाहिये ॥ ४ ॥

विशेष—सांख्य दर्शन कपिल मुनि प्रवर्तित है । द्वैतवादी यह दर्शन सृष्टि के मूल में प्रकृति और पुरुष दो तत्त्वों को मानता है । दोनों नित्य हैं । यह अनीश्वर सांख्य है । योग को सेश्वर सांख्य कहा जाता है । इसके प्रवर्त्तक वैसे तो हिरण्यगर्भ हैं किन्तु दर्शन के रूप में पतञ्जलि को इसका प्रवर्त्तक माना

गया है । पाञ्चरात्र श्रीकृष्ण द्वारा प्रवर्त्तित वैष्णव दर्शन है । यह चित् अचित् और ईश्वर तीन पदार्थों को मुख्य मानता है । पाशुपत मत शिवप्रणीत है । इसमें पशु, पति और पाश तीन मुख्य विषयों की चर्चा है । वेद नारायण के स्वाभाविक निःश्वास हैं । इसका पूर्वकाण्ड जैमिनिद्वारा प्रवर्त्तित मीमांसा शास्त्र है जो याग आदि कर्म से उत्पन्न अदृष्ट को ही संसार का कारण मानता है । ईश्वर की सत्ता इसको स्वीकार्य नहीं है । ये सब प्रामाणिक शास्त्र हैं क्योंकि पुष्पदन्ताचार्य ने शिवमहिम्नस्तोत्र में 'त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति' कहकर इनके प्रामाण्य का समर्थन किया है ।

ननु कथमेषां प्रामाण्यमित्यत्राह—

वेदः प्रधानं सर्वेषां सांख्यादीनां महामुने ।
वेदानुसरणादेषां प्रामाण्यमिति निश्चितम् ॥ ५ ॥

उक्तलक्षणानां सर्वेषां सांख्यादीनां मध्ये वेदः प्रधानं मुख्यप्रमाणम्, अपौरुषेयत्वात् । एषां सांख्यादिसिद्धान्तानां वेदानुसरणाद् वेदमूलकत्वात् प्रामाण्यमिति शास्त्रज्ञैर्निश्चितमित्यर्थः ॥ ५ ॥

हे महामुने! वेद सांख्य आदि समस्त शास्त्रों में प्रधान है । वेद का अनुसरण करने के कारण इन सांख्य आदि का प्रामाण्य निश्चित किया गया है ॥ ५ ॥

ननु सांख्यादिशास्त्राणामपि वेदमूलत्वादेभ्यः शैवशास्त्रस्य को विशेष इत्यत्राह—

पाञ्चरात्रस्य सांख्यस्य योगस्य च तथा मुने।
वेदैकदेशवर्त्तित्वं शैवं वेदमयं मतम् ॥ ६ ॥

अत्र चकारादविशिष्टद्वयं सङ्गृहीतम् । एवं चोक्तलक्षणपाञ्चरात्रादि-पञ्चसिद्धान्तानां वेदैकदेशनिष्ठत्वम्, शैवं शिवशास्त्रं वेदमयं वेदस्वरूपमिति मतं निगमागमज्ञैरङ्गीकृतमित्यर्थः ॥ ६ ॥

हे मुने! पाञ्चरात्र सांख्य और योग ये वेद के एक भाग को मानते हैं अतः वे अंशतः वैदिक या अर्धवैदिक हैं किन्तु शैवसिद्धान्त पूर्णतया वेदमय अर्थात् पूर्णवैदिक है ॥ ६ ॥

एवं स्थिते सर्ववेदमयत्वात् शैवतन्त्रं सांख्यादिभ्यः श्रेष्ठमित्याह—

वेदैकदेशवर्तिभ्यः सांख्यादिभ्यो महामुने।
सर्ववेदानुसारित्वाच्छैवतन्त्रं विशिष्यते ॥ ७ ॥

अत्र तन्त्रशब्देन शास्त्रमुच्यते । स्पष्टमन्यत् ॥ ७ ॥

हे महामुने! वेद के एक भाग को मानने वाले सांख्य आदि की अपेक्षा सम्पूर्ण वेद का अनुसरण करने वाला होने के कारण शैवतन्त्र अर्थात् शैवशास्त्र विशिष्ट है ॥ ७ ॥

ननु तर्हि शैवतन्त्रं केनचित् कल्पितमिति प्रतीयमानत्वात् कथमस्य प्रामाण्यमित्यत्राह—

शैवतन्त्रमिति प्रोक्तं सिद्धान्ताख्यं शिवोदितम् ।
सर्ववेदार्थरूपत्वात् प्रामाण्यं वेदवत् सदा ॥ ८ ॥

शैवतन्त्रं शिवोक्तं सर्वज्ञशिवप्रोक्तं तत्सिद्धान्ताख्यमिति प्रोक्तम्, सर्ववेदार्थरूपत्वात्, सकलोपनिषदर्थस्वरूपत्वात् सदा कालभेदराहित्येन वेदवत् प्रमाणमित्यर्थः ॥ ८ ॥

शिव के द्वारा उपदिष्ट सिद्धान्त नामक तन्त्र ही शैवतन्त्र कहा गया है । सम्पूर्ण वेदों का तात्पर्यरूप होने के कारण इसका प्रामाण्य सदा वेद के समान है ॥ ८ ॥

आगमा बहुधा प्रोक्ताः शिवेन परमात्मना ।
शैवं पाशुपतं सोमं लाकुलं चेति भेदतः ॥ ९ ॥

परमात्मना शिवेन शैवमिति पाशुपतमिति सोममिति लाकुलमिति च भेदाद् आगमा बहवः प्रोक्ताः ॥ ९ ॥

परमात्मा शिव ने शैव पाशुपत सोम लाकुल भेद से अनेक प्रकार के आगमों का उपदेश किया है ॥ ९ ॥

ननु शिवोक्ततन्त्राणां बाहुल्यात् तानि सर्वाणि वेदवत् प्रमाणानि किमित्यत्राह—

तेषु शैवं चतुर्भेदं तन्त्रं सर्वविनिश्चितम् ।
वामं च दक्षिणं चैव मिश्रं सिद्धान्तसंज्ञकम्॥ १० ॥

तेषु शैवतन्त्रं चतुर्भेदवदिति सर्वैरागमज्ञैर्निश्चितम् । ते के भेदा इत्यत्राह— वामं च दक्षिणं चैव मिश्रं सिद्धान्तसंज्ञकमिति ॥ १० ॥

उनमें से शैवतन्त्र वाम दक्षिण मिश्र और सिद्धान्त नाम से चार प्रकार का है—ऐसा सबका निश्चय है ॥ १० ॥

अथ तत्स्वरूपं प्रकटयति शक्तीत्यादिना—

शक्तिप्रधानं वामाख्यं दक्षिणं भैरवात्मकम् ।
सप्तमातृपरं मिश्रं सिद्धान्तं वेदसम्मतम् ॥ ११ ॥

वामाख्यतन्त्रं शक्तिपरम्, दक्षिणतन्त्रं भैरवपरम्, मिश्रतन्त्रं ब्राह्म्यादिसप्तमातृकापरम्, सिद्धान्तं वेदसम्मतं सिद्धान्ताख्यं शैवतन्त्रं वेदसम्मतम् । अनेन सिद्धान्ताख्यशैवतन्त्रमेव वेदसम्मतत्वाद्वेदवत् प्रमाणम् । शिष्टमवेदसम्मतत्वात् तद्वन्न भवतीति सूचितम् ॥ ११ ॥

वाम नामक तन्त्र शक्ति को प्रधानता देता है । दक्षिण तन्त्र भैरवप्रधान है । मिश्र तन्त्र सप्तमातृकाप्रधान है और सिद्धान्त तन्त्र वेदसम्मत है ॥ ११ ॥

ननु सिद्धान्ताख्यशैवतन्त्रं कथं वेदसम्मतमित्यत्राह—

वेदधर्माभिधायित्वात् सिद्धान्ताख्यः शिवागमः ।
वेदबाह्यविरोधित्वाद् वेदसम्मत उच्यते ॥ १२ ॥

वेदोक्तभस्मलिङ्गधारणादिधर्मप्रतिपादकत्वाद् वेदबाह्यजैनचार्वाकादिमत-निरासकत्वात् सिद्धान्ताख्यः शिवागमो वेदसम्मत इत्युच्यत इत्यर्थः ॥ १२ ॥

सिद्धान्त नामक शिवागम वेदोक्त धर्म का प्रतिपादक तथा वेदबाह्य का विरोधी होने के कारण वेदसम्मत कहा जाता है ॥ १२ ॥

एवं वेदसम्मतत्वात् सिद्धान्तो वेदवत् प्रमाणमित्याह—

वेदसिद्धान्तयोरैक्यमेकार्थप्रतिपादनात् ।
प्रामाण्यं सदृशं ज्ञेयं पण्डितैरेतयोः सदा ॥ १३ ॥

'सर्ववेदेषु यद् दृष्टं तत्सर्वं तु शिवागमे' इति वीरागमोक्तेर्वेदसिद्धान्त-योरेकार्थकत्वाद् वेदवत् सिद्धान्तोऽपि प्रमाणमिति भावः ॥ १३ ॥

एक अर्थ अर्थात् समान विषय का प्रतिपादन करने के कारण पण्डित लोगों को वेद और शैवसिद्धान्त इन दोनों का प्रामाण्य एक समान समझना चाहिये ॥ १३ ॥

अथैवंविधसिद्धान्ताख्यशिवागमे किं प्रतिपाद्यत इत्यत्राह—

सिद्धान्ताख्ये महातन्त्रे कामिकाद्ये शिवोदिते ।
निर्दिष्टमुत्तरे भागे वीरशैवमतं परम् ॥ १४ ॥

शिवोक्ते सिद्धान्ताख्ये कामिकादिवातुलान्ते महातन्त्रे उत्तरभागे परं सर्वोत्कृष्टं वीरशैवमतं निर्दिष्टमुपदिष्टम् । अनेन पूर्वभागे शैवमुपदिष्टमिति सूचितम् ॥ १४ ॥

शिव के द्वारा उपदिष्ट कामिक से लेकर (वातुल तक के) सिद्धान्त नामक महातन्त्र के उत्तर भाग में उत्कृष्ट वीर शैव मत का प्रतिपादन किया गया है (और पूर्वभाग शैवमत का प्रतिपादक है) ॥ १४ ॥

अथ वेदशिरस्यपि वीरशैवशब्दं दर्शयति—

विद्यायां शिवरूपायां विशेषाद् रमणं यतः ।
तस्मादेते महाभागा वीरशैवा इति स्मृताः ॥ १५ ॥

शिवरूपायां ब्रह्मस्वरूपायां विद्यायां 'वेदान्तवाक्यजा विद्या' इति सूतगीतोक्तेर्वेदान्तवेद्यायां विद्यायां विशेषाद् यतः कारणाद् रमणं रतिरस्ति, तस्माद् एते तत्र रतिमन्तो महाभागाः परमश्रेष्ठा वीरशैवा इति स्मृता इत्यर्थः ॥ १५ ॥

चूँकि शिवरूपा विद्या में विशेष रमण होता है इसलिये ये (वि = विशेष, र = रमण अर्थात् विशेष रमण करने वाले) महाभाग्यशाली लोग वीरशैव कहे जाते हैं ॥ १५ ॥

अथ वेदागममस्तकयोरपि वीरशैवशब्दनिर्वचनं दर्शयति—

वीशब्देनोच्यते विद्या शिवजीवैक्यबोधिका ।
तस्यां रमन्ते ये शैवा वीरशैवास्तु ते मताः ॥ १६ ॥

शिवजीवैक्यबोधिका लिङ्गाङ्गरूपशिवजीवैक्यप्रकाशिका विद्या 'वी' शब्देन उच्यते पण्डितैः कथ्यत इत्यर्थः, 'वी गतिव्याप्तिप्रजननकान्त्यसनखादनेषु' इति धातोस्तस्यां विद्यायां ये शैवाः शिवभक्ता रमन्ते, ते तु वीरशैवा इति मताः संमता इत्यर्थः ॥ १६ ॥

(अथवा) 'वी' शब्द से शिवजीव की ऐक्यरूपा विद्या कही जाती है । जो शैव उसमें 'र' अर्थात् रमण करते हैं वे वीर शैव माने गये हैं ॥ १६ ॥

अथ वीरमाहेश्वरशब्दनिर्वचनं करोति—

विद्यायां रमते यस्मान्मायां हेयां श्ववद् रहेत् ।
अनेनैव निरुक्तेन वीरमाहेश्वरः स्मृतः ॥ १७ ॥

यस्माद् लिङ्गाङ्गसम्बन्धकरणार्थं शिवजीवैक्यप्रकाशिकायां विद्यायां रमते, मायां जगद्रूपां हेयां त्यजनीयां श्ववत् शुनकवद् रहेत् निवारयेत्, अनेनैव निरुक्तेन एकद्वित्र्यादिपदगताद्यक्षरप्रवचनेनैव वीरमाहेश्वर इत्यन्वर्थनाम्ना स्मृत इत्यर्थः ॥ १७ ॥

चूँकि विद्या में रमण करता है और माया का कुत्ते की तरह त्याग करता है इस निरुक्ति से (वह वीर शैव) वीर माहेश्वर[1] कहा जाता है ॥ १७ ॥

एवं वेदान्तसिद्धवीरशब्दसिद्धान्तप्रसिद्धशैवशब्दमहेश्वरशब्दांश्च विविच्यानन्तरं वेदागमशिरःसिद्धवीरशैववीरमाहेश्वरस्वरूपं षड्भिः सूत्रैर्विशदयति । तत्र प्रथमं वीरशब्दः कथं वेदान्तप्रसिद्ध इत्यत्राह—

वेदान्तजन्यं यज्ज्ञानं विद्येति परिकीर्त्यते ।
विद्यायां रमते तस्यां वीर इत्यभिधीयते ॥ १८ ॥

'वेदान्तवाक्यजा विद्या' इति सूतगीतोक्तेर्वेदान्तवाक्यप्रकाश्यं यज्ज्ञानं विद्या, तस्यां यो रमते स वीर इत्यर्थः ॥ १८ ॥

(अथवा) जो ज्ञान वेदान्त से उत्पन्न होता है वह विद्या कहा जाता है । उस विद्या में जो साधक रमण करता है वह 'वीर' कहलाता है ॥ १८ ॥

एवं वेदान्तप्रसिद्धवीरशब्दपूर्वकत्वेन सिद्धान्तप्रसिद्धशिवतत्त्वज्ञाननिष्ठान् शैवान् माहेश्वरतत्त्वकर्मनिष्ठान् माहेश्वरांश्च सार्धसूत्रेण स्फुटयति—

शैवैर्माहेश्वरैश्चैव कार्यमन्तर्बहिःक्रमात् ।
शिवो महेश्वरश्चेति नात्यन्तमिह भिद्यते ॥ १९ ॥

शैवैर्वीरशब्दपूर्वकशैवैः, वीरशैवैरित्यर्थः । माहेश्वरैर्वीरमाहेश्वरैश्च अन्तर्बहिःक्रमात्, शिवालिङ्गार्चनमिति शेषः, कार्यं कर्तुं योग्यम् । एवं स्थिते शिवो निष्कलः शिवो महेश्वरः, सकलः सदाशिवश्चेति स्थितौ । इह 'शिवः शूली महेश्वरः' इत्यभिधानगुणपाठे यथाऽत्यन्तं न भिद्यते, तयोरात्यन्तिकभेदो नास्ति ॥ १९ ॥

अथ शैवमाहेश्वरयोरन्तर्बाह्यरूपलिङ्गार्चनं यदुक्तं तत्कीदृशमित्यत्राह—

यथा तथा न भिद्यन्ते शैवा माहेश्वरा अपि ।
शिवाश्रितेषु ते शैवा ज्ञानयज्ञरता नराः ॥ २० ॥

तथा शैवाः शिवसम्बन्धिनो वीरशैवा माहेश्वरा अपि महेश्वरसम्बन्धिनो वीरमाहेश्वराश्च न भिद्यन्ते भिन्ना न भवन्ति । अत्र सदाशिवस्य सोपाधिकत्वेऽपि तदुपाधेर्वक्ष्यमाणरीत्या सत्त्वगुणप्रधानत्वेन नापरत्वात् तयोरात्यन्तिकभेदो नास्तीति भावः । शिवाश्रितेषु ये नराः पुरुषा ज्ञानयज्ञरता

---

१. वी = विद्या, र = रमण, मा = माया, हे = त्याग ('ओहाक् त्यागे), श्व = कुत्ता, र = देना = त्यागना ।

हृत्कमलस्थचिल्लिङ्गपूजायां प्रीतियुक्तास्ते शैवा वीरशैवा इत्यर्थः ॥ २० ॥

शैव और माहेश्वर दोनों के द्वारा लिङ्गार्चन क्रमशः (हृदय के) अन्दर और बाहर करना चाहिये । जिस प्रकार शिव और माहेश्वर में आत्यन्तिक भेद नहीं है । उसी प्रकार शैवों और माहेश्वरों में भी (ऐकान्तिक) भेद नहीं है ॥ २० ॥

माहेश्वराः समाख्याताः कर्मयज्ञरता भुवि ।
तस्मादभ्यन्तरे कुर्युः शैवा माहेश्वरा बहिः ॥ २१ ॥

कर्मयज्ञरताः करकमलस्थक्रियालिङ्गपूजायां प्रीतियुक्ता माहेश्वरा वीरमाहेश्वरा इति भुवि समाख्याताः प्रख्याता इत्यर्थः । तस्मात् शैवा वीरशैवा अभ्यन्तरे हृत्कमले कुर्युः, ज्ञानकाण्डप्रतिपादितप्राणलिङ्गिशरण-शिवैक्यस्थलोक्तधर्माचरणं कुर्युरित्यर्थः । माहेश्वरा वीरमाहेश्वरा बहिः कर्मकाण्डस्थभक्तमाहेश्वरप्रसादिस्थलोक्तधर्माचरणं कुर्युरित्यनुषङ्गः ।

ज्ञानं प्रधानं न तु कर्महीनं कर्म प्रधानं न तु चिद्विहीनम् ।
तस्माद् द्वयोरेव भवेत् प्रसिद्धिर्न ह्येकपक्षो विहगः प्रयाति ॥
न क्रियारहितं ज्ञानं न ज्ञानरहिता क्रिया ।
अपश्यन्नन्धको दग्धः पश्यन् पङ्गुश्च दह्यते ॥

इत्यादिवचनात् शैवमाहेश्वरयोर्ज्ञानं क्रिया च समानैवेत्यनुसन्धेयम्, किन्तु बांह्यान्तरपूजाप्रीतिमात्रं विशिष्यत इति ॥ २१ ॥

शिवाश्रितों में जो लोग ज्ञानयज्ञ में लगे रहते हैं वे शैव (कहे जाते) हैं । जो पृथ्वी पर कर्मयज्ञ में संलग्न रहते हैं वे माहेश्वर कहे जाते हैं । इस कारण शैव लोग आभ्यन्तर अर्थात् ज्ञानयज्ञ करें तथा माहेश्वर साधक बाह्य अर्थात् कर्मयज्ञ करें ॥ २१ ॥

विशेष—जिस प्रकार पक्षी आकाश में एक पङ्ख से नहीं उड़ सकता उसी प्रकार शिवत्वलाभ केवल ज्ञान या केवल क्रिया से नहीं हो सकता । अज्ञानी पुरुष अन्धे के समान और क्रियारहित पुरुष पङ्गुवत् होता है । संसाराग्नि में दोनों जल जाते हैं ।

वीरशैवास्तु षड्भेदाः स्थलधर्मविभेदतः ।
भक्तादिव्यवहारेण प्रोच्यन्ते शास्त्रपारगैः ॥ २२ ॥

अथ वीरमाहेश्वरा इति प्रसिद्धवीरशैवास्तु भक्तादिशिवैक्यान्तव्यवहारेण स्थलधर्मविभेदतः पिण्डादिवृत्तिज्ञानशून्यान्तःस्थलाचारभेदतः षड्भेदाः षड्विधभेदवन्त इति शास्त्रपारगैः प्रोच्यन्त इत्यर्थः ॥ २२ ॥

वीरशैव-भेद-निरूपण—षट्स्थल और उनके आचार के भेद के कारण भक्त (माहेश्वर) आदि के व्यवहार से शास्त्रपण्डितों ने वीरशैव के छह भेद बतलाये हैं ॥ २२ ॥

अथ तच्छास्त्रभेदं दर्शयति—

शास्त्रं तु वीरशैवानां षड्विधं स्थलभेदतः ।
धर्मभेदसमायोगादधिकारिविभेदतः ॥ २३ ॥

वीरशैवानां शास्त्रं तु विशेषद्योतकम्, स्थलभेदतः स्थलभेदात्, धर्मभेदसमायोगात्, स्थलोक्तसदाचारभेदसम्बन्धात्, अधिकारिविभेदतः स्थलनिष्ठभक्ताद्यधिकारिभेदतश्च षड्विधः षट्प्रकारवदित्यर्थः । अस्य शास्त्रस्य वीरशैवधर्मनिष्ठः सन् मुमुक्षुर्भक्तोऽधिकारी, शिवभक्तिलभ्य-शिवैक्यरूपपरमुक्तिः प्रयोजनम्, एकोत्तरशतस्थलज्ञानं विषयः, अस्य ज्ञानस्य शास्त्रेण प्रकाश्यप्रकाशकभाव एव सम्बन्धः । एवमनुबन्धचतुष्टय[1]-वदेतच्छास्त्रम् ॥ २३ ॥

स्थल भेद तथा धर्म भेद सहित अधिकारी के भेद से वीर शैवों का शास्त्र छह प्रकार का है ॥ २३ ॥

अथ स्थलक्रमं निरूपयति—

आदौ भक्तस्थलं प्रोक्तंततो माहेश्वरस्थलम् ।
प्रसादिस्थलमन्यत्तु प्राणलिङ्गस्थलं ततः ॥ २४ ॥

स्पष्टम् ॥ २४ ॥

पहला भक्तस्थल इसके बाद माहेश्वरस्थल फिर प्रसादिस्थल तत्पश्चात् प्राणिलिङ्गिस्थल, शरणस्थल और छठवाँ ऐक्यस्थल माना गया है ॥ २४ ॥

भक्तस्थलम्

भक्तस्थलं प्रवक्ष्यामि प्रथमं कलशोद्भव ।
तदवान्तरभेदांश्च समाहितमनाः शृणु ॥ २५ ॥

---

१. प्रत्येक शास्त्र का अनुबन्धचतुष्टय होता है । १. अधिकारी, २. विषय, ३. सम्बन्ध और ४. प्रयोजन । यहाँ मुमुक्षु भक्त अधिकारी, एक सौ एक स्थल (= विषय) का ज्ञान विषय, प्रकाश्य-प्रकाशक भाव सम्बध और शिवैक्यलाभ प्रयोजन है ।

अथैवमुद्दिष्टस्थलेषु क्रमप्राप्तभक्तस्थलं तदवान्तरभेदांश्च वक्ष्यामि, शृण्वित्यन्वयः ॥ २५ ॥

भक्तस्थल-वर्णन—हे कुम्भज! (मैं) पहले भक्तस्थल और उसके अवान्तर भेदों को बतलाऊँगा । स्थिरचित्त होकर सुनो ॥ २५ ॥

अथ भक्तस्थलं लक्षयति—

शैवी भक्तिः समुत्पन्ना यस्यासौ भक्त उच्यते ।
तस्यानुष्ठेयधर्माणां मुक्तिर्भक्तस्थलं मतम् ॥ २६ ॥

यस्य शिवसम्बन्धिनी भक्तिरुत्पन्ना, सोऽसौ भक्त इत्युच्यते । तस्य भक्तस्यानुष्ठेयधर्माणामाचरणीयवीरशैवधर्माणाम्, उक्तिः—

सदाचारः शिवे भक्तिर्लिङ्गे जङ्गम एकधीः ।
लाञ्छने शरणे भक्तिर्भक्तस्थलमनुत्तमम् ।

इत्याद्युपदेशनं भक्तस्थलमिति मतम्, सम्मतमित्यर्थः ॥ २६ ॥

जिसके अन्दर शिव के प्रति भक्ति उत्पन्न होती है वह भक्त कहा जाता है । उनके अनुष्ठेय धर्मों का प्रतिपादन करने वाला स्थल भक्तस्थल माना गया है ॥ २६ ॥

अथ पिण्डादिभक्तस्थलावान्तरस्थलानि पञ्चदशेत्युक्त्वा तान्युद्दिशति—

अवान्तरस्थलान्यत्र प्राहुः पञ्चदशोत्तमाः ।
पिण्डता पिण्डविज्ञानं संसारगुणहेयता ॥ २७ ॥
दीक्षा लिङ्गधृतिश्चैव विभूतेरपि धारणम् ।
रुद्राक्षधारणं पश्चात् पञ्चाक्षरजपस्तथा ॥ २८ ॥
भक्तमार्गक्रिया चैव गुरोर्लिङ्गस्य चार्चनम् ।
जङ्गमस्य तथा ह्येषां प्रसादस्वीकृतिस्तथा ॥ २९ ॥
अत्र दानत्रयं प्रोक्तं सोपाधिनिरुपाधिकम् ।
सहजं चेति निर्दिष्टं समस्तागमपारगैः ॥ ३० ॥
एतानि शिवभक्तस्य कर्तव्यानि प्रयत्नतः ।

अत्र भक्तस्थले, उत्तमा आर्याः, अवान्तरस्थलानि पञ्चदशेत्याहुः । तानि कानीत्यत्र—पिण्डतेत्यादि । पिण्डस्थलम्, पिण्डज्ञानस्थलम्, संसारहेयस्थलम्, दीक्षालक्षणगुरुकारुण्यस्थलम्, लिङ्गधारणस्थलम्, विभूतिधारणस्थलम्, रुद्राक्षधारणस्थलम्, पञ्चाक्षरीजपस्थलम्, भक्तमार्गस्थलम्, गुरुलिङ्गार्चन-

रूपोभयस्थलम्, जङ्गमार्चनलक्षणत्रिविधसम्पत्तिस्थलम्, एतत्त्रयप्रसाद-स्वीकारलक्षणचतुर्विधसारायस्थलम् । अत्र भक्तस्थले प्रोक्तदानत्रयमेव उपाधिमाटम्, निरुपाधिमाटम्, सहजमाटं चेति स्थलत्रयमेतान्येवान्तररूप-पञ्चदशस्थलानि शिवभक्तस्य विधेयानीत्यर्थः ॥ ३० ॥

विद्वान् लोग इस भक्तस्थल के पन्द्रह अवान्तर स्थल (भेद) बतलाये हैं । वे हैं—(१) पिण्ड स्थल, (२) पिण्डज्ञान स्थल, (३) संसारहेय स्थल, (४) दीक्षाप्राप्तिरूप गुरुकारुण्य स्थल, (५) लिङ्गधारण स्थल, (६) विभूतिधारण स्थल, (७) रुद्राक्षधारण स्थल, (८) पञ्चाक्षरजप स्थल, (९) भक्तमार्गक्रिया स्थल, (१०) उभयस्थल अर्थात् गुरु और शिवलिङ्ग की पूजा रूप उभयस्थल (११) त्रिविध सम्पत्ति का स्थल (१२) चतुर्विधसाराय स्थल इनकी प्रसाद स्वीकृति । तीन प्रकार के दान कहे गये हैं । वे हैं—(१३) सोपाधिदान स्थल, (१४) निरुपाधिदान स्थल और (१५) सहजदान स्थल । ऐसे पन्द्रह अवान्तर स्थल समस्त आगमिक विद्वानों द्वारा निर्दिष्ट किये गये हैं । शिव भक्त को चाहिये कि वह प्रयत्नपूर्वक इनका अभ्यास करे ॥ २७-३० ॥

पिण्डस्थलम्

समस्तवेदागमशिरःसिद्धाङ्गषट्स्थललिङ्गषट्स्थलान्तर्गतत्वेन समाचरणीय-पिण्डतादिवृत्तिज्ञानशून्यतान्तैकोत्तरशतस्थलानां मुख्यं पिण्डस्थलं निरूपयति—

बहुजन्मकृतैः पुण्यैः प्रक्षीणे पापपञ्जरे ॥ ३१ ॥
शुद्धान्तःकरणो देही पिण्डशब्देन गीयते ।

अनेकजन्मकृतधर्मैर्मनोवाक्कायकर्मकृतपापसमूहे नष्टे सति निर्मलान्तःकरणवानात्मा पिण्डशब्देन कथ्यत इत्यर्थः, 'पुनर्जन्मान्तर-कर्मयोगात् स एव जीवः' इति श्रुतेः । उक्तप्रकारेण शुद्धान्तःकरणः स एव जीवः पिण्डाभिधान इति यावत् । अत्र पिण्डस्थलं साधनम्, वक्ष्यमाणपिण्डज्ञानादिशतस्थलानि साध्यानि । नेत्रे द्वे अपि यथा दर्शनमेकम्, पादौ द्वावपि यथा गमनमेकम् तथा 'आत्मलाभान्न परं विद्यते', 'नात्मनः परदेवता' इति श्रुत्यागमप्रतिपाद्यपिण्डस्थलं गुरूपदेशस्वानुभावाभ्यामेकं सद्विज्ञेयमिति भावः ॥ ३१ ॥

पिण्डस्थल वर्णन—अनेक जन्मों में अर्जित पुण्यों के द्वारा जब पापपञ्जर नष्ट हो जाता है तब शुद्ध अन्तःकरण से संलग्न जीव पिण्ड कहलाता है ॥ ३१ ॥

विशेष—जिस प्रकार एक गमन क्रिया दो पैरों से, एक दर्शन क्रिया दो आँखों से होती है उसी प्रकार एक आत्मलाभ गुरूपदेश और स्वानुभव दोनों के द्वारा सम्पादित होती है ।

नन्वयं पिण्डशब्दवाच्यः किं लोकसाधारणो वा तद्विशिष्टो वेत्यत्राह—

शिवशक्तिसमुत्पन्ने प्रपञ्चेऽस्मिन् विकल्प्यते ॥ ३२ ॥
पुण्याधिकः क्षीणपापः शुद्धात्मा पिण्डनामकः ।

शिवशक्तिसमुत्पन्ने 'लिङ्गाङ्कितं पश्य जगद्भगाङ्कम्' इति व्यासवचनात् शिवशक्तिभ्यामुत्पन्नेऽस्मिन् प्रपञ्चे पुण्याधिक्यात् पापक्षयात् शुद्धात्मा निर्मलान्तःकरणः पिण्डाभिधानः पुरुषः, विशिष्यत इतरजनापेक्षया श्रेष्ठो भवतीत्यर्थः ॥ ३२ ॥

ननु तर्ह्ययं पिण्डनामकः शिवो वा तदन्यो वा इत्यत्राह—

एक एव शिवःसाक्षाच्चिदानन्दमयो विभुः ॥ ३३ ॥
निर्विकल्पो निराकारो निर्गुणो निष्प्रपञ्चकः ।
अनाद्यविद्यासम्बन्धात् तदंशो जीवनामकः ॥ ३४ ॥

चिदानन्दमयः स्वतन्त्रप्रकाशः, अत एव साक्षाद् अहमिति देशकालाद्यचुम्बितत्वेन सर्वलोकप्रत्यक्षः, 'उतैनं गोपा अदृशन्'[1] इत्यादिश्रुतेः । विभुः पूर्णः, निर्विकल्पो भेदरहितः, अत एव निष्प्रपञ्चको मायिकप्रपञ्चशून्यः, निराकारो नीलपीताद्याकाररहितः, निर्गुणो मायिकसत्त्वरजस्तमोगुणरहितः शिवः अकुण्ठितेच्छाद्यनेककल्याणपूर्णः परमात्मा एक एव, 'एकमेवाद्वितीयम्'[2] इति श्रुतेः शिवातिरेकेण पदार्थान्तरं नास्तीत्यर्थः । तथाप्यनाद्यविद्यासम्बन्धाद् जीवब्रह्मविभागवद्वक्ष्यमाणस्वविमर्श-शक्त्यनादिपरिकल्पितमायासम्बन्धात् तदंशो ज्ञानक्रियासामरस्यात्मनः शिवस्य अंशश्चित्क्रियालक्षणो जीवनामको जीव इत्यभिधानवानित्यर्थः, 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः'[3] इति भगवदुक्तेः, 'अंशो नानाव्यपदेशात्'[4] इति ब्रह्मसूत्रस्थितेश्च ॥ ३३-३४ ॥

अथ कथं शिवस्तदन्तरङ्गे तिष्ठतीत्यत्राह—

देवतिर्यङ्मनुष्यादिजातिभेदे व्यवस्थितः ।

---

१. वा०सं० १६।७	२. छा०उ० ६।२।१
३. भ०गी० १५।७	४. ब्र०सू० २।३।४३।१७

मायी महेश्वरस्तेषां प्रेरको हृदि संस्थितः ॥ ३५ ॥

स जीवो देवतिर्यङ्मनुष्यादिजातिभेदेऽप्यवस्थितः

देवाः षोडशलक्षाणि नवलक्षाणि मानुषाः ।
दशभिर्दशभिस्तद्वज्जलजा विहगा मृगाः ॥
सरीसृपास्तु लक्षाणि एकादश चरेतराः ।
अष्टौ च दशलक्षाणि सप्तजन्मान्यमूनि वै ॥

अत्र सरीसृपाः सर्पाः । स्पष्टमन्यत् । इति स्कान्दवचनात् सुरनरोरगादिनानाजातिभेदे तिष्ठतीत्यर्थः । महेश्वर उक्तलक्षणः परशिवः, 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्'[1] **इति श्रुतेः । उक्तलक्षण-मायाशक्तिसहितः सन् तेषामुक्तविधजीवानां प्रेरको धर्माधर्मगोचर-बुद्धिवृत्तिप्रेरकः सन् हृदि तदन्तरङ्गे संस्थितः, तिष्ठतीत्यर्थः ॥ ३५ ॥**

शिव और शक्ति से उत्पन्न इस प्रपञ्च (= संसार) में पापरहित तथा अधिक पुण्य वाला पिण्ड नामक शुद्ध आत्मा सबसे विलक्षण होता है ॥ ३२-३३ ॥

शिव एक ही है । वह साक्षात् चित् आनन्दमय व्यापक निर्विकल्प निराकार निर्गुण तथा प्रपञ्चरहित है । अनादि अविद्या के सम्बन्ध के कारण जीव नामक उसका अंश देव तिर्यक् मनुष्य आदि जातिभेद के रूप में स्थित है । उन (जीवों) का प्रेरक महेश्वर अर्थात् मायाशाली ईश्वर उनके हृदय में स्थित है ॥ ३४-३५ ॥

विशेष—यह कथन 'एकमेवाद्वितीयम्' वेदवाक्य की छाया है । 'एकम्' 'एव' और 'अद्वितीयम्' ये तीन पद ब्रह्म में विजातीय सजातीय और स्वगत भेद का निराकरण करते हैं । गाय का भैंस से विजातीय भेद, एक गाय का दूसरी गाय से सजातीय भेद तथा एक ही गाय में हाथ पैर आदि स्वगत भेद होता है । शिव इन तीनों प्रकार के भेदों से रहित है । जीव उसी का अंश है । इस विषय में उक्त श्रुति तथा 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः गीता' (१५।७) तथा 'अंशो नानाव्यपदेशात (२।३।४३)' ब्रह्मसूत्र प्रमाण है ।

एवंरूपायां स्थितौ जीवेश्वरौ न ब्रह्मातिरिक्तौः, किन्तु ब्रह्मणि जीवत्वमीश्वरत्वं च कल्पितमाह—

---

१. श्वे०उ० ४।१०

चन्द्रकान्ते यथा तोयं सूर्यकान्ते यथाऽनलः ।
बीजे यथाङ्कुरः सिद्धस्तथात्मनि शिवः स्थितः ॥ ३६ ॥

जीवे शिवस्तादात्म्यसम्बन्धेन तिष्ठतीत्यर्थः ॥ ३६ ॥

जिस प्रकार चन्द्रकान्त मणि में जल, सूर्यकान्त में अग्नि तथा बीज में अङ्कुर पहले से स्थित रहता है उसी प्रकार आत्मा में शिव स्थित रहते हैं ॥ ३६ ॥

ननु प्रतिबिम्बस्य दर्पणाद्युपाधिकृतत्वेन प्रतिबिम्बत्वं तन्निरूपितबिम्बत्वं च सूर्ये कल्पितमिति वक्तुं युक्तम्, ब्रह्मणि तद्व्यतिरिक्तोपाधिर्नास्तीति तदयुक्तमिति दृष्टान्तोऽयं विषम इत्यत्राह—

आत्मत्वमीश्वरत्वं च ब्रह्मण्येकत्रकल्पितम्[1] ।
बिम्बत्वं प्रतिबिम्बत्वं यथा पूषणि कल्पितम् ॥ ३७ ॥

एकत्र एकस्मिन्नित्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ३७ ॥

जिस प्रकार एक ही पूषा अर्थात् सूर्य में बिम्बत्व और प्रतिम्बिबवत्व दोनों स्थित रहते हैं उसी प्रकार एक ही ब्रह्म में आत्मत्व और ईश्वरत्व दोनों कल्पित हैं (माया में प्रतिबिम्बित ब्रह्म ईश्वर तथा अविद्या में प्रतिबिम्बित ब्रह्म जीव कहलाता है ।) ॥ ३७ ॥

गुणत्रयविभेदेन परतत्त्वे चिदात्मनि ।
भोक्तृत्वं चैव भोज्यत्वं प्रेरकत्वं च कल्पितम् ॥ ३८ ॥

सात्त्विकादिगुणत्रयभेदेन परतत्त्वे चिदात्मनि शुद्धचैतन्ये भोक्तृत्वं भोज्यत्वं प्रेरकत्वं च कल्पितमित्यर्थः ॥ ३८ ॥

(सत्त्व रजस् और तमस् इन) तीन गुणों के भेद से चित्स्वरूप परतत्त्व में भोक्तृत्व भोज्यत्व और प्रेरकत्व कल्पित है वास्तविक नहीं ॥ ३८ ॥

ननु शुद्धचिद्रूपे परमशिवे सात्त्विकादिगुणत्रयसम्बन्धो नास्तीत्युक्तत्वात् कथमुक्तार्थसिद्धिरित्यत्राह—

गुणत्रयात्मिका शक्तिर्ब्रह्मनिष्ठा सनातनी ।
तद्वैषम्यात् समुत्पन्ना तस्मिन् वस्तुत्रयाभिधा ॥ ३९ ॥

ब्रह्मनिष्ठा संयोगस्य क्रियापूर्वत्वादन्यतरोभयकर्मजश्च संयोगस्तावद्भिन्न-

---

१. तुलनीय—अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥
(क०उ० २।५।९)

देशस्थितयोरेवोपपद्यत इति ब्रह्मबाह्यदेशाभावेन संयोगस्यासम्भवाद् अक्रियापूर्वसंयोगस्याप्रसिद्धत्वाद्विष्णोरविचिछन्नप्रसरत्वेन विच्छेदशून्यतया सन्धिबन्धानवकाशश्च, 'रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभाऽस्मि शशिसूर्ययोः'[१] इति भगवदुक्तेः

औष्ण्यं हुताश इव शीतलिमानमिन्दौ
शय्यासु मार्दवमिवाश्मसु कर्कशत्वम् ।
बाह्येषु मोह इव योगिषु च प्रबोधः
स्वातन्त्र्यमस्ति हि नियन्त्रयितुर्महन्मे ।

इत्यभियुक्तोक्तेश्च सामरस्याभेदलक्षणतादात्म्य[२]सम्बन्धेन वर्तमाना, नातो भेदाभेदयोर्विरोधः सार्वत्रिकः । सनातनी नित्या शक्तिः ज्ञानक्रिया-सामरस्यात्मिका स्वाभाविकी विमर्शशक्तिः, अस्तीति शेषः । अन्यथा प्रकाशरूपत्वेऽपि ब्रह्मणः प्रतिबिम्बनक्षमत्वादिस्वरूपपरामर्शशून्यत्वाच्च स्फटिकमणिमुकुरादिप्रकाशवत् सच्चिदानन्दात्मकस्वरूपपरामर्शशून्यत्वेन जडतापत्तिरनिवार्यैवेति सा 'पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबल-क्रिया च'[३] इति श्रुतेश्चिदानन्देच्छाज्ञानक्रियादिनानारूपिणी, चकारस्यानुक्तार्थ-प्रकाशकत्वात् । तत्र चिदानन्दयोरखण्डत्वेन विक्षोभाभावादिच्छादिशक्तीनां सविषयत्वेन विक्षोभसम्भवाद् भेदाभेदस्फुरणमयी मयूराण्डसगतपादपक्षवर्ण-वैचित्र्यन्यायेन स्वतादात्म्यक्रोडीकृतचराचरविश्वमयी । एवंरूपिणी विमर्श-शक्तिरविभागपरामर्शदशायां स्वस्था विभागपरामर्शदशायां गुणत्रयात्मिका भवति । कथमिति चेत्, उच्यते—

तद्विमर्शशक्तेरंशमात्रे घृतकाठिन्यन्यायेन क्रियांशस्य ज्ञातृतावियोगाद् ज्ञानांशस्य कर्तृतावियोगाद् उत्तमकर्तृताविनिर्मुक्तज्ञानांशात् सत्त्वगुणात्मिका विद्याशक्तिरुत्पन्ना भवति, तादृशज्ञातृताविनिर्मुक्तक्रियांशात् किञ्चित्सत्त्व-तमोमिश्ररजोगुणशक्तिराविर्भवति । जानामीति व्यवहारे ज्ञानस्य क्रिया-भिन्नत्वात् करोमीत्यत्र कर्तृताया अपि स्फुरद्रूपत्त्वाज्ज्ञानक्रिययोर्वस्तुत ऐक्येऽपि विभागपरामर्शमहिम्ना ज्ञानं क्रिया न भवति, क्रिया ज्ञानं न भवतीत्यन्योन्याभावबुद्धिरेव तमोगुणशक्तिरित्येवं गुणत्रयात्मिका सती

---

१. भ०गी० ७।८।४

२. तद्भिन्नत्वे सति तदभेदेन प्रतीयमानत्वं तादात्म्यम् ।

३. श्वे०उ० ६।८

तद्वैषम्याद् गुणत्रयतारतम्यात्तस्मिन् शुद्धचिद्रूपे परमशिवे वस्तुत्रयाभिधाभोज्यभोक्तृप्रेरकलक्षणनामरूपक्रियावती सती समुत्पन्ना प्रतिस्फुरणगत्या मायाख्ययाविर्भूतेत्युक्तार्थसिद्धिरिति भाव: । अनेन सर्वं विश्वमण्डरसन्यायेन विभागपरामर्शरूपेणास्तीति सूचितमिति न परिणामवादकृतशङ्कावकाश:,

चिदात्मैव हि देवोऽन्त:स्थितमिच्छावशाद्बहि: ।
योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत् ॥[1]

इति श्रीमदीश्वरप्रत्यभिज्ञोक्तेश्च असदुत्पत्त्यसम्भवादतिप्रसङ्गात् 'नासतो विद्यते भाव:'[2] **इति गीतत्वाच्च । नन्वेवं चेद्विश्वस्य सत्यतापत्त्या बन्धनिवृत्तिर्न स्यात्,** 'नाभावो विद्यते सत:'[3] **इति गीतत्वादिति चेन्न, आद्यन्तकोट्योश्चिदेकरूपत्वेनाकार्यकारित्वादिच्छाभूमिप्रविष्टघटादिवन्मुक्तस्यापि न पुनर्बन्ध: । ईश्वरेच्छायास्तत्र नियामकत्वादिति ।**

नन्वनाद्यविद्यासम्बन्धादिति पूर्वमुपक्रान्तत्वेनानिर्वचनीयसम्बन्धेन ब्रह्मनिष्ठा सनातनी ब्रह्मसमानसत्ताका गुणत्रयमयी शक्तिरध्यासरूपिण्यनाद्यविद्याशक्तिरस्ति, तद्वैषम्यात्तद्गुणवैषम्यात्तस्मिन् ब्रह्मणि वस्तुत्रयाभिधा वस्तुत्रयमित्यभिधा समुत्पन्नेति व्याख्यातुं शक्यत्वत् किमित्येतावान् प्रयास इति चेन्न,

तदीया परमा शक्ति: सच्चिदानन्दलक्षणा ।
समस्तलोकनिर्माणसमवायस्वरूपिणी ।
तदच्छियाऽभवत्साक्षात्तत्स्वरूपानुकारिणी ॥

इति ततोऽपि पूर्वोपक्रान्तवचनविरोधात्,

ब्रह्माण्डशतकोटीनां सर्गस्थितिलयान् प्रति ।
स्थानभूतो विमर्शो यस्तद्भाण्डस्थलमुच्यते ॥
पराहन्तासमावेशपरिपूर्णविमर्शवान् ।
सर्वज्ञ: सर्वग: साक्षी सर्वकर्ता महेश्वर: ॥
विश्वाधारं महासंवित्प्रकाशपरिपूरितम् ।
पराहन्तामयं प्राहुर्विमर्शं परमात्मन: ॥
यथा चन्द्रे स्थिरा ज्योत्स्ना विश्ववस्तुप्रकाशिनी ।
तथा शक्तिर्विमर्शात्मा प्रकारे ब्रह्मणि स्थिता ॥

इति वक्ष्यमाणभाण्डभाजनस्थलवचनविरोधाच्च । अत्र शक्ते:

---

१. ई०प्र० १।७ २-३. भ०गी० २।१६

शिवाभिन्नत्वेन निरवयवत्वात् कथं सांशप्रपञ्चोपादानकारणत्वं सम्भवतीति नाशङ्कनीयम्, यथा परमाणूनां निरवयवत्वेऽपि तत्कार्यरूपद्व्यणुकादेः सावयवताप्राप्त्या विश्वोपादानत्वमङ्गीक्रियते, तथा तत्स्वातन्त्र्यपरिकल्पिताया मायाशक्तेः सावयवत्वसम्भवाद्विश्वोपादानत्वं सम्भवतीति शक्तेरघटनघटना-पटीयस्त्वात् । अथ भवदङ्गीकृताविद्याङ्गीकारोऽपि न सम्भवति, तस्या दोषरूपत्वेन ब्रह्मणस्तदाश्रयत्वे दोषित्वप्रसङ्गात् । ननु शुक्तिकाशकल-भासमानरजतस्य यथा तत्सम्पर्को न विद्यते, तथा ब्रह्मणि भासमानाविद्याया अपि तत्सम्पर्काभावान्नोक्तदोष इति चेत्, तर्हि जीवेश्वरविवेक एव न स्यात्, अविद्यासम्पर्काभावात् । न च प्रतिबिम्बद्वारा तद्विवेकः सम्भवतीति वाच्यम्, मुखादिबिम्बबाह्यदर्पणादिवद् बिम्बरूपब्रह्मबाह्यदेशे दर्पणस्थानापन्नाविद्या-स्थित्यङ्गीकारासम्भवाद् ब्रह्मबाह्यदेशाभावाज्जलप्रविष्टमुखवद् दर्पणरेखावच्च तत्रैव मग्नस्य तत्रैव प्रतिफलनासम्भवाद् ब्रह्मापेक्षया अविद्याया अस्वच्छत्वाच्च। तथापि दर्पणप्रतिबिम्बितमह्यादिवत् प्रतिबिम्बितपदार्थस्यार्थ-क्रियाशून्यत्वेन भोक्तृत्वादेर्निराश्रयत्वप्रसङ्ग । न च दर्पणप्रतिबिम्बितादित्यस्य नेत्रचञ्चुत्ववत् सम्भवतीति वाच्यम्, तद्वद् बिम्बरूपे ब्रह्मणि भोक्तृत्वादेरभावात्। न च हरिद्राचूर्णयोगेनानुभयनिष्ठलौहित्यभासनमिव सम्भवतीति वाच्यम्, तद्वदविद्याप्रतिबिम्बयोः साक्षाद्वस्तुत्वाभावात् संयोजकान्तरशून्यत्वाच्च मुख्यप्रकाशस्यासङ्गत्वादनेनैव लोहमणिदृष्टान्तस्यापि दूरीकृतत्वात्, तथापि प्रतिबिम्बस्य दर्पणाद्युपाधिनिबन्धनत्वेन निश्चिततया मायाकार्यत्वेन मिथ्यात्वात् प्रत्यगैक्यं न सम्भवतीति तत्त्वमसीत्युपदेशो निरर्थक एव स्यात् । नन्वविद्यानिवृत्तिद्वारा तस्यापि निवृत्तिर्जायत इतीदमेव प्रत्यगैक्यमिति चेत्, आत्महानिरपुरुषार्थ इति कस्यापि भवदभिमतमुक्तौ प्रवृत्तिरेव न स्यादिति संक्षेपः ।

अथ तद्विशिष्टत्वमपि न सम्भवति, दोषित्वप्रसक्त्या ब्रह्मणस्तत्सम्पर्का-भावादित्युक्तत्वात्, तथाप्यंशे वा साकल्ये वा? नाद्यः, ब्रह्मणो निरंशत्वेनोर्ध्वाधस्तिर्यग्भागभेदशून्यत्वात् । कल्पितांशभेदोऽपि न सम्भवति, कुत्र स्थित्वा कल्पयत्यविद्येति विज्ञातुमशक्यत्वद् ब्रह्मबाह्यदेशाभावात् । न च निरंशेऽप्याकाशे नक्षत्रादिस्थितिरिव सम्भवतीति वाच्यम्, तस्या वाय्वाधारत्वादाकाशस्यापि जन्यद्रव्यत्वेन सांशत्वाङ्गीकारेण तद् दृष्टान्तस्यानुभयवादिसिद्धत्वाच्च । नन्वघटनापटीयसी सेति चेत्, सत्यम्, तद्भावस्य चैतन्याश्रयबलाधीनत्वेनोक्तरीत्या तदसम्भवादन्यथा चैतन्यं खण्डितमेव भवेत्, सांख्यमतप्रवेशापत्तिश्च । नापि द्वितीयः, शुद्धाशुद्धविभागा-

सम्भवात् । ननु संसारावस्थायामशुद्धत्वं मुक्त्यवस्थायां शुद्धत्वमिति चेन्न,

जीव ईशो विशुद्धा चित् तथा जीवेशयोर्भिदा ।
अविद्यातच्चितोर्योगः षडस्माकमनादयः ॥[१]

इति संसारावस्थायामेव शुद्धाशुद्धविभागस्याङ्गीकृतत्वात् । नन्वेवं निर्वक्तुमशक्यत्वेऽपि 'तम आसीत्'[२] इत्यादिश्रुत्यादिप्रमाणबलादविद्याऽङ्गीकरणीयैवेति चेत्तेषां श्रुत्यादिप्रमाणानां सत्यत्वप्रसङ्गः, प्रमाणप्रमेययोर्घटं प्रति चक्षुरादिरिव तद्विजातीयताया अङ्गीकरणीयत्वात् । न च व्यवसायं प्रत्यनुव्यवसायस्य प्रामाण्याङ्गीकारान्नायं नियम इति वाच्यम्, ज्ञानस्य ज्ञातृविश्रान्तत्वेन कदापीदमिति प्रमेयपदनिष्ठत्वाभावेनानुव्यवसायस्य व्यवसायभूतघटहृदयङ्गमीकरणप्रवीणत्वात्, अन्यथा व्यवस्थाहानिरनवस्थापत्तिः घटोऽपि घटान्तरविषयः स्यादित्यतिप्रसङ्गश्चेति तद्दृष्टान्तस्यानुभयवादिसिद्धत्वात् । अविद्यायाश्च सत्यत्वप्रसङ्गः, अनादिभावत्वेनाङ्गीकृतत्वात्, न चाप्रयोजकोऽयं हेतुः, यदि सत्यत्वं न स्यात्तर्ह्यनादिभावत्वं च न स्याद् घटवदिति व्यतिरेकिदृष्टान्तस्यापि विद्यमानत्वात्, ब्रह्मातिरिक्तत्वेनाङ्गीकृतत्वादसत्कल्पतापत्तिश्च । तद्भिन्नस्य तद्बाह्यतानियमो नास्तीत्यत्र मानाभावात् सकलप्रमाणशेषिमहाप्रकाशबाह्यत्वात् । न च घटगतरूपादिदृष्टान्तः, तद्वदसमवेतत्वात् । नापि घटाकाशदृष्टान्तः, 'आत्मन आकाशः सम्भूतः'[३] इत्यादिश्रुतेः पवनादीनां साक्षात्परम्परया तत्कार्यत्वेन तदन्तर्गतत्वसम्भवात् । नेह तथा, चैतन्यस्यासङ्गत्वात्, सद्वत्सजातीयत्वाभावाच्च । यथाकथञ्चिदङ्गीकारेऽपि तस्याः प्रमेयत्वात् प्रमेयस्य प्रमाद्वारा प्रमातृविश्रान्तिरङ्गीकरणीयेति विद्यैव भवेद् अविद्येति वार्तैव न स्यात्, अन्यथा नष्टघटविषयिणी स्मृतिर्न स्यात् । न च संस्कारात् सम्भवतीति वाच्यम्, तस्यापि सविषयत्वेनैवात्मसमवेतत्वात् । एवं भवदभिमताविद्यायां मानाभावात्, अङ्गीकारेऽपि निर्वाहाभावाद् बाधकाविर्भावाच्चानुपपन्नत्वेन ब्रह्मणो जडतानिवृत्त्यर्थं बलात्तत्स्वभावभूतविमर्शशक्तेरङ्गीकरणीयत्वेन तस्या विश्वोपादानकारणीभूतमायारूपत्वमुपपादयितुं प्रयासोऽयं सार्थक इति ।

नन्वेवं चेद ब्रह्मणि किं प्रमाणम् स्वातिरिक्तमानान्तराभावात्, अन्यथा ब्रह्म सदेव भवेदिति चेन्न, तस्य स्वप्रकाशत्वेनाहंपरामर्शमयस्वानुभूतिप्रमाणस्य

---

१. पञ्चदशी

२. ऋ०वे० १०।१२९।३　　　　३. तै०उ० २।१

जागरूकत्वात्, विमर्शशक्तेः प्रकाशाभिन्नत्वेऽप्यघटनघटनापटीयस्त्वात् स्वस्वातन्त्र्यपरिकल्पितसामरस्याभेदसद्भावात् प्रमेयप्रमाणव्यवहारः सम्भवतीति न काचिदनुपपत्तिः । स्वातिरिक्तमानान्तरगम्यत्वे घटवज्जडत्वापत्तिः श्रुत्यादि-प्रमाणान् 'चत्वारि वाक्परिमिता पदानि'[१] इति श्रुतेरारम्भविवक्षाध्यव-सायोक्तिरूपे विमर्शमयत्वेन विभागपरामर्शदशायां तन्माहात्म्यप्रकाशनपरत्वात् श्रुत्यादिप्रसिद्धाविद्यादिशब्दानां स्वातन्त्र्यपरिकल्पितमायापरत्वसम्भवात् सर्वं समञ्जसम् ॥ ३९ ॥

ब्रह्म में रहने वाली त्रिगुणात्मिका शक्ति सनातनी अर्थात् नित्य है । उन गुणों के वैषम्य से उस (= ब्रह्म) में तीन प्रकार के पदार्थ उत्पन्न होते हैं ॥ ३९ ॥

विशेष—श्लोक में 'ब्रह्मनिष्ठा' शक्ति का विशेषण है । उसका अर्थ है—ब्रह्म में स्थित । यह स्थिति ब्रह्म और शक्ति का संयोग रूप नहीं है क्योंकि संयोग दो पदार्थों या किसी एक पदार्थ के अन्दर होने वाली क्रिया से उत्पन्न होता है । इसके अतिरिक्त संयोग सम्बन्ध वस्तुद्वय के एक अंश में होता है । ब्रह्म न तो क्रियावान् है न सावयव । इसलिये यह स्थिति सामरस्यमयी है । ब्रह्म और शक्ति का सम्बन्ध अग्नि और उसकी उष्णता, चन्द्र और उसकी शीतलता के समान है । यह शक्ति ब्रह्म या शिव का स्वभाव है । इस विषय में भगवद्गीता का 'रसोऽहमप्सु कौन्तेय'[२] इत्यादि वाक्य प्रमाण हैं ।

परमेश्वर की शक्ति नित्य सनातनी ज्ञानक्रियासामरस्यस्वरूपा है । यह उसका स्वभाव या स्वातन्त्र्य है । परमेश्वर प्रकाशस्वरूप है । उसकी शक्ति इस प्रकाश का विमर्श है । श्वेताश्वतर उपनिषद् में इसके स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा गया—'इसकी परा शक्ति अनेक प्रकार से सुनी जाती है । ज्ञान बल क्रिया उसमें स्वभावत: रहते हैं ।' प्रश्न यह है कि यदि वह शक्ति नित्य है तो उसमें संसार रचना कैसे होती है? उत्तर में कहा जा सकता है कि जैसे घी में काठिन्य आकस्मिक रूप से उत्पन्न होता है वैसे ही उसमें संसार की अभिव्यक्ति भी आकस्मिक होती है । उसके ज्ञानांश से सत्त्वगुणात्मिका विद्याशक्ति उत्पन्न होती है । शुद्ध क्रियांश से किञ्चित् सत्त्व और किञ्चित् तमस् से मिश्रित क्रियाशक्ति उत्पन होती है । क्रिया ज्ञान नहीं होती, ज्ञान क्रिया नहीं होता । इस प्रकार अन्योऽन्याभावबुद्धि उस परमेश्वर की तमोगुण शक्ति है। ये तीनों शक्तियाँ उसमें मयूराण्डरसन्यायेन प्रच्छन्न या सुप्त रहती हैं ।

---

१. ऋ०वे० १।१६४।४५ २. भ०गी० ६।८

अतः सांख्य के परिणामवाद का यहाँ अवकाश नहीं है ।

प्रश्न है कि निरंश परमेश्वर की शक्ति भी निरंश है । फिर उससे अवयव वाली सृष्टि कैसे होती है? उत्तर है जिस प्रकाश निरंश परमाणु में संयोग सम्बन्ध बनने से द्व्यणुक त्रसरेणु आदि बनते हैं । उसी प्रकार यहाँ भी निरवयव से सावयव सृष्टि होती है । इसके अतिरिक्त परमेश्वर की शक्ति अघटित घटना पटीयसी है । वह असम्भव को भी सम्भव बनाती है और यही परमेश्वर का स्वातन्त्र्य है । प्रश्न है कि तब तो उसमें अविद्या भी नहीं रहेगी क्योंकि वह निरञ्जन और निरवद्य है? उत्तर है कि ऐसा मानने पर जीव और ईश्वर का भेद नहीं होगा । यदि कहिये कि यह विवेक प्रतिबिम्ब द्वारा होगा तो ऐसा सम्भव नहीं क्योंकि मुख और दर्पण दो की सत्ता होने पर ही बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव होता है, परमेश्वर तो एक है? उत्तर है कि एक पदार्थ में भी बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव परमेश्वर के सामर्थ्यातिशय के कारण उसी प्रकार सम्भव है जैसे स्वच्छ आकाश में मलिनता आदि दृष्ट होती है । यह संसार उसकी इच्छा से अभिव्यक्त होता है । इसकी स्थिति तक ही शुद्धाशुद्धत्व की स्थिति रहती है। इसी स्थिति को ध्यान में रखकर कहा गया है—

जीव ईशो विशुद्धा चित् तथा जीवेशयोर्भिदा ।
अविद्या तच्चितोर्योगः षडस्माकमनादयः ॥

अन्तिम स्थिति में केवल परमेश्वर ही रहता है । जीव अविद्या आदि कुछ भी नहीं रहते । जब तक ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय यह त्रिपुटी बुद्धि रहता है तब तक सारे व्यवहार चलते रहते हैं । जब ज्ञेय का ज्ञान में और ज्ञान का ज्ञाता में लय हो जाता है तब ज्ञातृत्व भी नहीं रहता क्योंकि ज्ञातृत्व भी ज्ञेय-ज्ञान सापेक्ष है । इसलिये शुद्ध चित्स्वरूप परमतत्त्व ही शेष रह जाता है । इसलिये ब्रह्म या शिव के विषय में बाह्य प्रमाण समर्थ नहीं होते, स्वानुभव ही प्रमाण होता है । 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र०सू० १।१।२) 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' (तै०उ०) इत्यादि वाक्य मनुष्य को उसकी सांसारिक दशा में ब्रह्म के अस्तित्व का ज्ञान कराते हैं उसके स्वरूप का बोध उसकी विमर्शशक्ति रूपी कृपा की सहायता से होता है ।

अथ केन गुणेन किं वस्तु जातमित्यत्राह—

किञ्चित्सत्त्वरजोरूपं भोक्तृसंज्ञकमुच्यते ।
अत्यन्ततामसोपाधिर्भोज्यमित्यभिधीयते ।
परतत्त्वमयोपाधिर्ब्रह्मचैतन्यमीश्वरः ॥ ४० ॥

रजोगुणस्य किञ्चित्सत्त्वतमोमिश्रत्वात्, 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः'[१] **इति भगवदुक्तेः, तादृग्रजोगुणमिश्रचैतन्यं भोक्तृजीवचैतन्यमित्यर्थः । अत्यन्ततामसोपाधिविशिष्टचैतन्यं भोज्यरसादिरूपं परतत्त्वमयोपाधिः आभ्यामुत्कृष्टत्वेन परतत्त्वरूपसत्त्वगुणोपाधिविशिष्टचैतन्यप्रेरकीभूतमहेश्वर इत्यर्थः ॥ ४० ॥**

अथोक्तमर्थं दृढयति—

भोक्ता भोज्यं प्रेरयिता वस्तुत्रयमिदं स्मृतम् ।
अखण्डे ब्रह्मचैतन्ये कल्पितं गुणभेदतः ॥ ४१ ॥

स्पष्टम् ॥ ४१ ॥

किञ्चित् सत्त्व और किञ्चित् रजोगुण के मिश्रण से उपहित चैतन्य भोक्ता कहा जाता है । अत्यन्त तमस् उपाधि वाला ब्रह्म भोज्य कहा जाता है । परतत्त्वरूप सत्त्व की उपाधि से युक्त चैतन्य ईश्वर (= प्रेरक) है । इस प्रकार भोक्ता भोज्य और प्रेरक ये तीन पदार्थ माने गये हैं । (ये पदार्थ) अखण्ड ब्रह्म चैतन्य में गुणभेद से कल्पित हैं ॥ ४०-४१ ॥

अत्र प्रेरयिता शम्भुः शुद्धोपाधिर्महेश्वरः ।
समिश्रोपाधयः सर्वे भोक्तारः पशवः स्मृताः॥ ४२ ॥

अथ तेषां गुणनामान्तराण्याह—

भोज्यमव्यक्तमित्युक्तं शुद्धतामसरूपकम् ।
सर्वज्ञः प्रेरकः शम्भुः किञ्चिज्ज्ञो जीव उच्यते ।
अत्यन्तगूढचैतन्यं जडमव्यक्तमुच्यते ॥ ४३ ॥

अधिकसत्त्वोपाधिकत्वान्महेश्वरः सर्वज्ञः सुखभोक्ता शम्भुः किञ्चित्तमोमिश्रत्वात् संहारकृत्यप्रवीणः क्रोधयुक्तः । जीवास्तु किञ्चित्सत्त्वतमोमिश्ररजोपाधिकत्वात् किञ्चिज्ज्ञा ज्ञानाज्ञानसम्मिलिताः, अत एव सुखदुःखभोक्तारः । शुद्धतामसोपाधिकं भोज्यमव्यक्तं प्रकृतिरित्यर्थः । किमिदमव्यक्तमित्यत्राह— अत्यन्तेति । वृक्षादीनामिन्द्रियप्राणादिशून्य(प्राय)त्वेन केवलजड(प्राय)त्वेऽपि पिपासाया विद्यमानत्वात्, सस्यादीनां शिलादीनां वृद्धिदर्शनाद् अव्यक्तचैतन्यमिति व्यवहारः । अव्यक्तं प्रकृतिर्मायेति पर्यायाः ॥ ४३ ॥

इन तीनों में शुद्ध सत्त्वोपाधि वाले महेश्वर अर्थात् शम्भु प्रेरयिता हैं । किञ्चित्सत्व एवं तमोगुण से मश्रित रजस् उपाधि वाले समस्त भोक्ता पशु माने गये

१. भ०गी० ४।१३

हैं । शुद्ध तामस रूप अव्यक्त अर्थात् गूढ चैतन्य भोज्य कहा गया है ॥ ४२ ॥

प्रेरक शिव सर्वज्ञ हैं । जीव अल्पज्ञ है । अत्यन्त गूढ चैतन्य जड अव्यक्त कहा जाता है । वृक्ष आदि में केवल पिपासा रहती है, हरी फसल और पत्थर आदि में वृद्धि देखी जाती है इसलिये यह मानना पड़ता है कि उनमे चैतन्य अत्यन्त गूढ़ है ॥ ४३ ॥

एवं मायागुणभेदरूपोपाधित्रयं प्रदर्श्यानन्तरं लिङ्गाङ्गरूपशिवजीवस्वरूपं सुलक्षयितुं पूर्वोक्तमायोपाधिं द्विधा विभज्य दर्शयति—

उपाधिः पुनराख्यातः शुद्धाशुद्धविभेदतः ।
शुद्धोपाधिः परा माया स्वाश्रया(ऽ)मोहकारिणी ॥ ४४ ॥

उपाधिः पूर्वोक्तमायोपाधिः पुनः शुद्धाशुद्धभेदेन द्विधा भवति, तत्र शुद्धोपाधिः परा माया स्वाश्रया मोहकारिणीत्यूर्ध्वमायेत्यर्थः ॥ ४४ ॥

उपाधि शुद्ध और अशुद्ध भेद से (दो प्रकार की) कही गयी है । शुद्ध उपाधि माया है जो अपने में ही आश्रित रहती है । वह (ईश्वर को) मोह में नहीं डाल सकती और न डालती है[1] ॥ ४४ ॥

अशुद्धोपाधिरप्येवमविद्याश्रयमोहिनी ।
अविद्याशक्तिभेदेन जीवा बहुविधाः स्मृताः ॥ ४५ ॥

अशुद्धोपाधिरविद्या, आश्रयमोहिनीत्यधोमायेत्यर्थः । अविद्याशक्तिभेदेन अंशभेदेनत्यर्थः, जीवा बहुविधाः स्मृताः ॥ ४५ ॥

अशुद्ध उपाधि अविद्या है वह अपने आश्रय (जीव) को मोह में डालती है । अविद्या की शक्ति के भेद से जीव अनेक प्रकार के माने गये हैं ॥ ४५ ॥

मायाशक्तिवशादीशो नानामूर्तिधरः प्रभुः ।
सर्वज्ञः सर्वकर्ता च नित्यमुक्तो महेश्वरः ॥ ४६ ॥

ईशः शुद्धोपाधिमहेश्वरः, मायाशक्तिवशाद् महामायाशक्तिवशात् सद्योजातादिनानामूर्तिधरो जीवानां बुद्धिप्रेरकः प्रभुः कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थः, सर्वज्ञः सदसत्सकलपदार्थविषयकानादिज्ञानशक्तिमान्, सर्वकर्ता च सकलप्रपञ्चनिर्माणनिमित्तकारणीभूतः, नित्यमुक्त आणवाद्यनादिमलसम्बन्धरहितः, सर्वज्ञः सर्वकर्ता च, 'सर्वज्ञः पञ्चकृत्यसम्पन्नः सर्वेश्वर ईशते' इति वृद्धजाबालश्रुतेः ॥ ४६ ॥

---

१. ईश्वर यदि स्वेच्छया मोह में पड़ता है तो यह ईश्वर का ऐश्वर्य है ।

भगवान् शिव माया नामक शक्ति के कारण अनेक रूप धारण करते हैं। वे परमेश्वर सर्वज्ञ सर्वकर्त्ता और नित्य मुक्त हैं ॥ ४६ ॥

विशेष—निरुपाधि परमेश्वर जब शुद्धमायोपाधि से सम्बलित होता है तब वह सद्योजात वामदेव अघोर तत्पुरुष और ईशान के रूप में अपने को आभासित करता है। तन्त्र शास्त्र में ये पाँच सदाशिव के पाँच मुख कहे गये हैं।

किञ्चित्कर्ता च किञ्चिज्ज्ञो बद्धोऽनादिशरीरवान्।
अविद्यामोहिता जीवा ब्रह्मैक्यज्ञानवर्जिताः ॥ ४७ ॥

अथ जीवस्वरूपमाह—किञ्चित्कर्तेति। किञ्चित्कर्ता किञ्चिज्ज्ञो बद्ध आणवाद्यनादिमलपाशबद्ध ईशप्रेरितः स जीवोऽनादिशरीरवान् अनादितः प्राप्तशरीराभिमानवान्,

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावजो ह्येको भोक्तृभोगार्थयुक्तः।
अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावाद् ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः'[१]।

इति श्वेताश्वतरश्रुतेः,

अनादिमलसम्बन्धात्किञ्चिज्ज्ञोऽणुर्ययोदितः।
अनादिमलमुक्तत्वात् सर्वज्ञोऽसौ शिवः स्मृतः।'

इति किरणागमोक्तेश्च। एवंरूपा जीवा अविद्यामोहिताः सन्तो ब्रह्मैकज्ञानवर्जिता अहं ब्रह्मास्मीति तादात्म्यज्ञानशून्याः सन्तः ॥ ४७ ॥

अनादिशरीरवान् परमेश्वर जब बद्ध हो जाते हैं तब वे किञ्चित्कर्त्ता तथा अल्पज्ञ अर्थात् जीव हो जाते हैं ॥ ४७ ॥

परिभ्रमन्ति संसारे निजकर्मानुसारतः।
देवतिर्यङ्मनुष्यादिनानायोनिविभेदतः ॥ ४८ ॥

निजकर्मानुसारतो देवतिर्यङ्मनुष्यादिनानायोनिभेदमधिगम्य संसारे परिभ्रमन्तीत्यर्थः। अत्र सृष्टेः प्राक् कर्माभावात् कथमिति नाशङ्कनीयम्, सद्वादमर्यादया सर्वं विश्वमण्डरसन्यायेन परब्रह्मण्यविभागपरामर्शात्मनाऽस्तीत्यङ्गीकृतत्वात् ॥ ४८ ॥

अविद्या के कारण मोहयुक्त जीव स्वात्मब्रह्मैक्यज्ञान से रहित होकर अपने कर्मों के अनुसार देव तिर्यक् मनुष्य आदि अनेक योनि के भेद से संसार में परिभ्रमण करते रहते हैं ॥ ४८ ॥

---

१. श्वे०उ० १।९

अथ कथं भ्रमन्तीत्यत्राह—

चक्रनेमिक्रमेणैव भ्रमन्ति हि शरीरिणः ।
जात्यायुर्भोगवैषम्यकारणं[1] कर्म केवलम् ॥ ४९ ॥

रथाङ्गमस्तकगतलोहवलयवद् भ्रमन्तीत्यर्थः ॥ ४९ ॥

शरीरधारी अर्थात् जीव चक्र के मस्तक पर स्थित गोले के समान क्रम से (संसार में) भ्रमण करते रहते हैं । जन्म आयु और भोग की विषमता का कारण केवल कर्म है ॥ ४९ ॥

ननु जीवाः कर्मानुसारेण परिभ्रमन्ति, तेषां जात्यायुर्भोगवैषम्यकारणं केवलं कर्मैवेत्युक्तत्वादीश्वरः किमर्थमङ्गीकरणीय इत्यत्राह—

एतेषां देहिनां साक्षी प्रेरकः परमेश्वरः ।
एतेषां भ्रमतां नित्यं कर्मयन्त्रनियन्त्रणे ॥ ५० ॥

कर्मसूत्रबद्धे संसारचक्रे सदा परिभ्रमतामेतेषां विचित्रदेहिनाम्, एतेषां कर्मणामिति शेषः, परमेश्वरः प्रेरकः, कर्मणां जडत्वेन प्रेरकत्वासम्भवात्, प्रेरकत्वेन साक्षित्वेनेश्वरोऽङ्गीकरणीय इत्यर्थः ॥ ५० ॥

नित्य भ्रमण करने वाले इन जीवों का कर्मरूपी यन्त्र के नियन्त्रण में प्रेरणा देने वाला परमेश्वर ही इनका साक्षी है ॥ ५० ॥

अथवाऽस्य नैतावन्मात्रम्, विशेषोऽप्यस्तीत्याह—

देहिनां प्रेरकः शम्भुर्हितमार्गोपदेशकः ।
पुनरावृत्तिरहितमोक्षमार्गोपदेशकः ॥ ५१ ॥

स्पष्टम् ॥ ५१ ॥

शिव ही देहीवर्ग के प्रेरक तथा हितकारी मार्ग के उपदेशक हैं । वे ही पुनर्जन्मरहित अर्थात् ऐकान्तिक और आत्यन्तिक मोक्ष के उपदेष्टा हैं ॥ ५१ ॥

कथमित्यत्राह—

स्वकर्मपरिपाकेन प्रक्षीणमलवासनः ।
शिवप्रसादाज्जीवोऽयं जायते शुद्धमानसः ॥ ५२ ॥

अयं जीवः स्वकर्मपरिपाकेन 'विज्ञानयोगसंन्यासैर्भोगाद्वा कर्मणः क्षयः' इति शिवागमोक्तेः स्वस्वकर्मपरिपाकेन विनष्टमलवासनः सन् शिवप्रसादात्

---

१. सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः (पा०यो०सू० २।१३)

शुद्धान्तःकरणो जायते ॥ ५२ ॥

अपने कर्मों का पूर्णपाक होने से (जीव की) मल और वासना क्षीण हो जाती है । तब शिव के अनुग्रह से यह जीव शुद्ध चित्त वाला हो जाता है ॥ ५२ ॥

शुद्धान्तःकरणे जीवे शुद्धकर्मविपाकतः ।
जायते शिवकारुण्यात् प्रस्फुटा भक्तिरैश्वरी ॥ ५३ ॥

तस्मिन् शुद्धकर्मविपाकतः श्रुत्यागमोक्तशुद्धकर्मपरिपाकवशात् शिवस्य कृपा भवति, शिवविषयिणी भक्तिः प्रस्फुटा भवति, तद्द्वारा मोक्षमार्गोपदेश इत्यर्थः ॥ ५३ ॥

शुद्ध अन्तःकरण वाले जीव के अन्दर शुद्ध कर्म के परिपाक से शिव की करुणावश शिव के प्रति स्पष्ट भक्ति उत्पन्न होती है ॥ ५३ ॥

एवमुत्पन्नशिवभक्तिमान् चरमदेही पिण्डशब्दाभिधेय इति पिण्डस्थलं समापयति—

जन्तुरन्त्यशरीरोऽसौ पिण्डशब्दाभिधेयकः ॥ ५४ ॥

असौ जन्तुः एवमुत्पन्नशिवभक्तिमान् जीवः, अन्त्यशरीरः 'तदस्य तृतीयं जन्म' इति श्रुतेश्चरमशरीरवान् सन् पिण्डशब्दाभिधेयकः पिण्डशब्दाभिधानवानित्यर्थः ॥ ५४ ॥

अन्तिम शरीर वाला यह जीव पिण्ड शब्द का वाच्य होता है ॥ ५४ ॥

अथ पिण्डज्ञानस्थलम्

ननु शरीरात्मविवेकः किमित्यपेक्षित इत्यत्राह—

शरीरात्मविवेकेन[1] पिण्डज्ञानी स कथ्यते ।
शरीरमेव चार्वाकैरात्मेति परिकीर्त्यते ॥ ५५ ॥

शरीरात्मविवेकेन शरीरशरीरिणोर्विवेकेन पिण्डज्ञानीति शास्त्रज्ञैः कथ्यत इत्यर्थः । एवंविधवादिभिरात्मतत्त्वस्य संदिग्धत्वात् संदिग्धेऽर्थे न्यायः प्रवर्तत इति शास्त्रकृद्भिरङ्गीकृतत्वात् शरीरात्मत्वे विवेक आवश्यक इत्यर्थः ॥ ५५ ॥

पिण्डज्ञान स्थल वर्णन—जो शरीर और आत्मा का भेद जानता है वह पिण्डज्ञानी कहलाता है । चार्वाक लोग शरीर को ही आत्मा मानते हैं ॥ ५५ ॥

---

१. विवेको भेदज्ञानम्, अयमस्मात् पृथक् इत्याकारकम् ।

इन्द्रियाणां तथात्मत्वपरैः परिभाष्यते ।
बुद्धितत्त्वगतैर्बौद्धैर्बुद्धिरात्मेति गीयते ॥ ५६ ॥

उसी प्रकार अन्य (चार्वाक) इन्द्रियों को आत्मा कहते हैं । बुद्धि तत्त्व को मूल मानने वाले बौद्ध बुद्धि (= विज्ञान) को आत्मा कहते हैं ॥ ५६ ॥

कथं तद्विवेक इत्यत्राह—

नेन्द्रियाणां न देहस्य न बुद्धेरात्मता भवेत् ।
अहंप्रत्ययवेद्यत्वादनुभूतस्मृतेरपि ॥ ५७ ॥
शरीरेन्द्रियबुद्धिभ्यो व्यतिरिक्तः सनातनः ।
आत्मस्थितिविवेकी यः पिण्डज्ञानी स कथ्यते ॥ ५८ ॥

अयं भावः—गृहक्षेत्रादिनाशे सति दुःखदर्शनात् तदभिवृद्धौ सुखातिशयाद् गृहक्षेत्रादिकमेवात्मेति विषयात्मवादिनो लौकिका मन्यन्ते । ततोऽपि समधिकविवेकभाजो गृहक्षेत्रादीनां मृगपक्षिसरिद्गिरिग्रामादिविवेका-भावाच्छरीरस्य तादृग्विवेकसद्भावाच्छरीरमेवात्मेति चार्वाका मन्यन्ते । शरीरे प्राणवायुपरिस्पन्दाभावे ज्ञानानुदयान्न शरीरं (किन्तु) प्राण एवात्मेति केचिद्वदन्ति, सुप्तिकाले प्राणस्पन्दस्य विद्यमानत्वेऽपीन्द्रियव्यापाराभावेन ज्ञानशून्यत्वादिन्द्रियमात्मेत्यपरे । अत्र इन्द्रियाणां बाहुल्याद् इन्द्रियसमूह आत्मेत्युच्यते वा व्यष्टिरूपस्यात्मत्वमुच्यते वेति विकल्पः । नाद्यः, तत्रैकस्य द्वयोर्वा नाशे समुदायनाशेन ज्ञानानुदयप्रसङ्गात् । न द्वितीयः, जलमिदं स्वच्छं मधुरमिति प्रतीतिर्न स्यादिति, एकैकार्थप्रकाशकत्वाद् व्यष्टेः । एवं शरीरादेर्ज्ञानशून्यत्वेन जडत्वाद् आत्मत्वं न सम्भवतीति बुद्धिरेवात्मा । अत्र बुद्धेश्चक्षुरादिकरणसाध्यत्वात् करणानां कुठारादिवत्कर्त्रधीनत्वाद् बुद्ध्युत्तीर्णः कश्चित् कर्ताऽङ्गीकरणीय इति नाशङ्कनीयम्, करणजन्यस्य जडत्वनियमेन बुद्धेर्जडतापत्त्यार्थग्रहणापटुत्वान्नेष्टापत्तिः, जडबुद्धेरात्मनोऽपि जडतापत्तेरनिवार्य-त्वाल्लोकव्यवहारो विलुप्येतेति भवदभिमतात्मवद् बुद्धिः स्वतः सिद्धैवेत्यङ्गीकरणीयतया प्रथमं घटानुभवः, ततो घटविकल्पः, तदनन्तरं तज्जनितसंस्काराद्भाविकोटिनिष्ठा स्मृतिः, स्मृत्या लोकव्यवहार इति भिन्नकालभिन्नाकारभिन्नविषयिणी क्षणिकज्ञानसन्ततिरेवात्मेति बुद्धिप्राधान्य-वादिनो बौद्धा वदन्ति ।

अत्रोत्तरम्—अहंप्रत्ययवेद्यत्वादनुभूतस्मृतेरपि शरीरेन्द्रियबुद्धिभ्यो व्यतिरिक्तः सनातन आत्माऽस्तीति मम शरीरं ममेन्द्रियं मम बुद्धिर्मम स्मृतिः शरीर्यहं स्फुटेन्द्रियोऽहं जानामि स्मरामीति शरीरेन्द्रियबुद्ध्युत्तीऽर्णोहं-

प्रत्यक्षाधीनतया स्मृत्यादीनामपि भासमानत्वात्तद्व्यतिरिक्तः कश्चिदात्मास्तीत्यङ्गीकरणीयमित्यर्थः । नन्वहंप्रत्ययस्यास्माभिर्निर्विकल्पकसविकल्पकलक्षणज्ञानद्वयान्तर्गतत्वेनाङ्गीकृतत्वान्न तद्व्यतिरिक्तः, न च तर्ह्ययमात्मव्यतिरिक्तं न किञ्चिद्विकल्पयतीत्यात्मा सिद्ध इति वाच्यम्, स्थूलोऽहं कृशोऽहं सुख्यहं दुःख्यहमिति रूपवेदनासन्तानसंस्पर्शित्वेन शरीरादीन् विकल्पयतीति तस्मान्नास्मदङ्गीकृतरूपविवेदनसंज्ञानविज्ञानसंस्कारलक्षणपञ्चसन्तानोत्तीर्णः शरीरादिसन्तानमूर्धन्योऽप्यहंप्रत्ययो नात्मा भवितुमर्हति, रूपवेदनासन्तानसंस्पर्शित्वेनानित्यवात्, सुप्तिमूर्छादावभावाच्च । न च घटमहं जानामीत्यत्र वेद्यरूपकर्मप्रकाशाद् वेदनारूपज्ञानप्रकाशाच्चोत्तीर्णत्वेन भासमानत्वादहंप्रत्यय आत्मानमेव विकल्पयतीति वाच्यम्, तस्याहंप्रत्ययव्यतिरेकेणादृश्यत्वात्, अहंप्रत्ययस्यानित्यत्वात् । यदि प्रत्ययस्य सविषयताऽन्यथाऽनुपपत्त्या तद्व्यतिरिक्त आत्माऽनुमीयते, तर्हि कोऽयमनुमाता? अहंप्रत्ययो वा तद्व्यतिरिक्तो वा? नाद्यः, अनित्येऽहंप्रत्ययस्यानुमातृताङ्गीकारेणास्मन्मतप्रवेशापत्तेः, तद्व्यतिरिक्तस्यानुमातुरदृश्यत्वात् । यदि दृश्यस्तर्हि तस्य बुद्धितुल्यत्वप्रसङ्गाद् बुद्धिरेवात्मेति चेत्, मैवम्, बुद्धेः क्षणिकत्वेन भिन्नकालभिन्नविषयभिन्नाकारत्वेनाङ्गीकृतत्वात्, नीलं पीताद्भिन्नम्, पीतं नीलाद्भिन्नम्, नीलमहं जानामि, पीतमहं जानामि, योऽहं बाल्ये पितरावन्वभूवं स एवाहमिदानीं (यौवने वार्द्धक्येवा) पुत्रदाराननुभवामीत्येकसंविल्लग्नतया बाह्याभ्यन्तरानुसन्धानासम्भवात्, क्षणद्वयावगाहि संविदन्तरानङ्गीकारात्, रूपसंस्कारेण रसस्मृत्यनुदयात्, स्मृतेः स्वसमानविषयताव्यवस्थापकत्वेन संस्कारस्य कृतार्थत्वात्, स्मृतिजनकं न किञ्चित्पश्याम इति स्मृतेर्गगनकुसुमायमानत्वेन तन्मूलकस्य सर्वस्यापि लोकव्यवहारस्योच्छित्तिप्रसङ्गाच्च । तस्मान्नित्यः कश्चिदात्मानुसंधाता ज्ञानस्मृत्यपोहनशक्तिमानङ्गीकरणीयः, 'मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च' इत्येतदभिप्रायेणैव भगवताऽपि गीतत्वात् । स चाहंप्रत्ययस्वरूप एव, तद्भिन्नस्यादृश्यत्वादिति सूक्तत्वात्, तस्य सुप्तिमूर्छादावभावान्नानित्यत्वमाशङ्कनीयम्, तदा तस्य शून्यस्थाननिमग्नत्वेन तदीयस्वप्रकाशस्य तिरोहितत्वात्, अन्यथोत्थितस्य सुखमहमस्वाप्समिति सुखस्मृत्यनुदयप्रसङ्गः, स्मृतेरनुभवमूलकत्वात्, स्वतन्त्रांशीभूतप्राणवायुपरिस्पन्दस्य विद्यमानत्वेन तस्या (स्मृतेः) हानादानादिरूपतया कर्तृनिरूपितत्वात्, कर्तृज्ञानपुरःसरत्वादिति संक्षेपः । नन्वेतावता शरीरी कश्चिज्जीवात्मा सिद्धो न तत्प्रेरक ईश्वर इति चेत् लोके विदारणादिक्रियाणां कुठारादिकरणसाध्यत्वात् करणानां कर्मेन्द्रियाधीनत्वात् तेषां

देशकालादिपरतन्त्रत्वात् स्वतन्त्रेण विना न सम्भवतीति व्यवहारान्यथानुपपत्त्यैव सोऽपि सिद्ध इति वदन्तो वैयासिकाश्च प्रत्युक्ता इति मन्तव्यम् ॥ ५६-५८ ॥

न इन्द्रिय न देह और न बुद्धि ही आत्मा है क्योंकि (आत्मा) 'अहं अहम्' करके जो ज्ञान होता है उसका विषय है तथा अनुभूत विषय का स्मरण इन्द्रिय आदि को नहीं होता ॥ ५७ ॥

इसलिये जो शरीर इन्द्रिय बुद्धि से भिन्न तथा सनातन अर्थात् नित्य है वही आत्मा है । इस प्रकार की आत्मस्थिति का विवेक रखने वाला पिण्डज्ञानी कहा जाता है ॥ ५८ ॥

विशेष—धन पुत्र आदि बाह्य विषयों के नाश से दु:ख उनकी वृद्धि से सुख होने से बाह्य विषय ही आत्मा है ऐसा सामान्य लोग मानते हैं । उन विषयों से भिन्न शरीर ही दु:ख सुख का अनुभविता है अत: शरीर ही आत्मा है ऐसा चार्वाक मानते हैं । दूसरे चार्वाक इन्द्रियों को ही आत्मा मानते हैं । यह मान्यता भी सम्भव नहीं है क्योंकि यदि इन्द्रियसमूह को आत्मा माना जाय तो एक-दो इन्द्रिय के नष्ट होने पर सब मर जायेंगे और यदि एक-एक इन्द्रिय आत्मा है तो जल मधुर भी है और स्वच्छ भी ऐसा दो इन्द्रियों से एक साथ होने वाला ज्ञान सम्भव नहीं होगा इसलिये इन्द्रियाँ आत्मा नहीं किन्तु बुद्धि आत्मा है ऐसा कुछ लोग मानते हैं ऐसा मानने पर चूँकि बुद्धि जड़ है अत: आत्मा को भी जड़ मानना पड़ेगा किन्तु आत्मा चेतन है क्योंकि वह अनुभव और स्मृति दोनों से युक्त होती है अत: क्षणिक विज्ञानसन्तान आत्मा है ऐसा विज्ञानवादी बौद्ध मानते हैं ।

इस विषय में ग्रन्थकार का कथन है कि यह मेरा शरीर है, यह मेरी बुद्धि है, यह मैं स्मरण कर रहा हूँ, मेरी इन्द्रियाँ नष्ट हो गयी हैं तो भी जान रहा हूँ—इत्यादि अनुभव से सिद्ध होता है कि उपर्युक्त इन्द्रिय आदि से भिन्न कोई आत्मा नामक अतिरिक्त तत्त्व है । रूप संज्ञा संस्कार विज्ञान और वेदना नामक पाँच स्कन्धों वाला पदार्थ भी आत्मा नहीं हो सकता क्योंकि यदि रूपादिवान् ही आत्मा है तो वह अनित्य हो जायेगा तथा सुषुप्ति और मूर्च्छा की दशा में आत्मा का अस्तित्व ही नहीं रहेगा । यदि 'मैं जानता हूँ' इत्यादि अनुभव के आधार पर अहं प्रत्यय को ही आत्मा मानेंगे तो अहं प्रत्यय के अनित्य मानने पर आत्मा भी अनित्य होने लगेगा । यदि अहं प्रत्यय को नित्य मानते हैं तब तो हमारे ही मत की पुष्टि होती है । आत्मा क्षणिक विज्ञान रूप भी नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर रूप ज्ञान के नष्ट होने पर

रस की स्मृति तो होगी नहीं और रूप स्मृति का कोई जनक नहीं रहेगा। इस प्रकार सम्पूर्ण लोक-व्यवहार उच्छिन्न हो जायेगा। अतः कोई ऐसा तत्त्व है जो नित्य, अपना अनुसन्धान करने वाला तथा ज्ञान स्मृति अपोहन शक्ति वाला है। वही आत्मा है भगवान् कृष्ण ने भी गीता में कहा है—

'मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।' (१५।१५)

यह आत्मा 'अहं अहम्' करके जो ज्ञान होता है तत्स्वरूप ही है। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि वेदान्त अहं को ज्ञान का विषय मानता है क्योंकि ज्ञान वृत्तिसापेक्ष होता है। वेदान्त के अनुसार आत्मा अपने शुद्ध रूप में चित् स्वरूप है। किन्तु टीकाकार उसे अहंप्रत्यय स्वरूप कह रहे हैं क्योंकि इससे भिन्न कुछ भी दृष्ट नहीं होता। यह शङ्का नहीं करनी चाहिये कि सुषुप्ति अथवा मूर्च्छा काल में उसका अनुभव न होने से वह अनित्य है क्योंकि उक्त अवस्थाओं में वह शून्य स्थान[1] में निमग्न रहता है इस कारण उसका प्रकाश तिरोहित रहता है। यदि आत्मा सुषुप्त्यवस्था में नहीं रहता तो जागने पर 'मैं सुख पूर्वक सोया' ऐसी सुखस्मृति नहीं होगी, किन्तु होती है। अतः आत्मा नित्य है। स्वतन्त्र अंशीभूत प्राणवायु के परिस्पन्द के कारण वह त्याग और ग्रहण का कर्त्ता समझा जाता है।

प्रश्न है कि उपर्युक्त विवरण से किसी शरीरधारी जीवात्मा की सिद्धि तो होती है किन्तु ईश्वर की नहीं अतः जिस प्रकार लोक में काष्ठ छेदन आदि क्रिया कर्मेन्द्रियों के अधीन होती है और उनका कोई न कोई कर्त्ता होता है जो स्वतन्त्र होता है उसी प्रकार संसार के समस्त कार्यों का परमकर्त्ता ईश्वर है ऐसा कहने वाले योगदर्शन के अनुयायी लोगों का भी मत खण्डित हो जाता है क्योंकि आत्मतत्त्व ही ईश्वर है न कि 'क्लेशकर्मविपाकाशवैरपरामृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः' (पा०यो०सू० १।२४) में निर्दिष्ट पुरुष विशेष।

नश्वराणि शरीराणि नानारूपाणि कर्मणा ।
आश्रितो नित्य एवासाविति जन्तोर्विवेकिता॥ ५९ ॥

कर्मवशात् प्राप्तानि नानारूपाणि शरीराणि नश्वराणीति जीवस्य विवेकिता पिण्डविवेकः, तादृक्पिण्डाश्रितो जीवो नित्य इति विवेकिता पिण्डज्ञविवेकः ॥ ५९ ॥

ये शरीर नश्वर हैं तथा कर्म के अनुसार अनेक रूप वाले हैं। यह

---

१. वह शून्य स्थान क्या है? इस पर विद्वान् विचार करें।

आत्मा (शरीर में) आश्रित रहने वाला तथा नित्य है (जबकि शरीर अनित्य है)। यही जीव का विवेक है ॥ ५९ ॥

नन्वयं विवेकः सांख्यमतसदृशो जात इत्यत्राह—

शरीरात् पृथगात्मानमात्मभ्यः पृथगीश्वरम् ।
प्रेरकं यो विजानाति पिण्डज्ञानीति कथ्यते ॥ ६० ॥

स्पष्टम् । अयमेव नित्यानित्यलक्षणक्षेत्रक्षेत्रज्ञविवेकः, क्षेत्रज्ञे जीवे प्रेरकत्वेनेश्वरस्य 'चन्द्रकान्ते यथा तोयम्' इत्याद्युक्तदृष्टान्तेन तादात्म्येन विद्यमानत्वात् । उक्तं च गीतायाम्—

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेद तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ।
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ॥[1]

इति ।

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो
यं पश्यन्ति यतयः क्षीणपापाः ॥[2]

इति मुण्डकश्रुतेः ।

अशरीरं यदात्मानं पश्यति ज्ञानचक्षुषा ।
तदा भवति शान्तात्मा सर्वतो विगतस्पृहः ॥

इति देवीकालोत्तरवचनाच्च देहदेहिस्वरूपं अङ्गाङ्गिनोर्जीवेश्वरयोः स्वरूपं च विज्ञेयम् ॥ ६० ॥

आत्मा शरीर से पृथक् है और उनका प्रेरक ईश्वर आत्माओं से भिन्न है। ऐसा जो जानता है वह पिण्डज्ञानी कहा जाता है ॥ ६० ॥

अथ संसारहेयस्थलम्

अथैवंरूपपिण्डज्ञानिन उत्पद्यमानसंसारहेयस्थलं निरूपयति—

---

१. भ०गी० १३।१-२ २. मुं० उ० ३।२।५

निरस्तहृत्कलङ्कस्य नित्यानित्यविवेकिनः ।
संसारहेयताबुद्धिर्जायते वासनाबलात् ॥ ६१ ॥

उक्तप्रकारेणानेकजन्मार्जितसुकृतवशात् प्रक्षीणपापत्वेन शुद्धान्तःकरणस्य नित्यानित्यविवेकिनः पुण्याधिक्येन सत्संस्कारबलात् संसारे त्यागबुद्धिरुत्पद्यत इत्यर्थः ॥ ६१ ॥

संसार हेयस्थल वर्णन—जिसके हृदय का कलङ्क अर्थात् मलिनवासना हट चुकी है जो नित्य और अनित्य का भेद जानता है, वासना के बल से उनके अन्दर यह संसार हेय अर्थात् त्याज्य है—ऐसी बुद्धि उत्पन्न होती है ॥ ६१ ॥

कुत इत्यत्राह—

ऐहिके क्षणिके सौख्ये पुत्रदारादिसम्भवे ।
क्षयित्वादियुते स्वर्गे कस्य वाञ्छा विवेकिनः ॥ ६२ ॥

पुत्रदारादिजायमानसुखस्य नश्वरत्वं प्रत्यक्षेणानुभूयते । ज्योतिष्टोमादि-यागजन्यस्वर्गसुखस्यापि—

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति[1] ।

इति भगवदुक्तेर्नश्वरताऽवगम्यते । एवंरूपैहिकामुष्मिकसुखयोर्नित्यानित्य-विवेकिनः कस्य वाञ्छा भवेत्? न कस्यापीत्यर्थः । नश्वरत्वाद् हेयबुद्धिरेव भवेदिति भावः ॥ ६२ ॥

पुत्र स्त्री आदि से उत्पन्न इस लोक का क्षणिक सुख तथा क्षय (अतिशय) आदि से युक्त स्वर्ग (सुख) के लिये किस विवेकी को इच्छा हो सकती है अर्थात् किसी को भी नहीं हो सकती ॥ ६२ ॥

ननु सांसारिकसुखस्यानित्यत्वात् परित्यागो युक्तः, संसारः किमर्थं त्यजनीय इत्यत्र दोषानुद्भावयति—

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।[2]
जन्तुर्मरणजन्मभ्यां परिभ्रमति चक्रवत् ॥ ६३ ॥

विश्रान्त्यभावादिति भावः ॥ ६३ ॥

जो जन्म लेता है उसकी मृत्यु और जो मरता है उसका जन्म निश्चित है। मरण और जन्म के द्वारा जीव चक्र की भाँति घूमता रहता है ॥ ६३ ॥

---

१. भ०गी ९।२१।२ २. तुल० भ०गी० २।२७

अस्मिन्नर्थे कर्माधीनपुरुषदृष्टान्तमप्याह—

मत्स्यकूर्मवराहाङ्गैर्नृसिंहमनुजादिभिः ।
जातेन निधनं प्राप्तं विष्णुनापि महात्मना ॥ ६४ ॥

दुष्टदैत्यनिबर्हणार्थं भक्तानुग्रहार्थं च मत्स्यकूर्मादिशरीरैः सह जातेन अवतारं धृतवता महात्मना महापुरुषेण कर्माधीनेन विष्णुनापि नारायणेनापि निधनं मरणं प्राप्तमित्यर्थः ॥ ६४ ॥

महात्मा विष्णु भी मत्स्य[१], कच्छप[२], शूकर[३], नरसिंह[४] एवं मनुष्य[५] आदि के अङ्गों अर्थात् शरीर धारण करने पर अर्थात् उन रूपों में अवतार लेने पर मृत्यु को प्राप्त हुए ॥ ६४ ॥

एवं स्थिते पराधीनो जन्तुस्तापत्रयाद् दह्यत एवेत्याह—

भूत्वा कर्मवशाज्जन्तुर्ब्राह्मणादिषु जातिषु ।
तापत्रयमहावह्निसन्तापाद् दह्यते भृशम् ॥ ६५ ॥

दह्यते, तप्यत इत्यर्थः ॥ ६५ ॥

जीव (अपने पूर्वजन्मकृत) कर्म के कारण ब्राह्मण आदि जातियों में उत्पन्न होकर (आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक) तीन तापों की विशाल अग्नि में अतिशयेन जलता रहता है ॥ ६५ ॥

ननु तापत्रयानुवृत्तिविच्छित्तिरस्मिन् संसारे कदाप्यस्ति वा न वेत्यत्राह—

कर्ममूलेन दुःखेन पीड्यमानस्य देहिनः ।
आध्यात्मिकादिना नित्यं कुत्र विश्रान्तिरिष्यते ॥ ६६ ॥

कर्ममूलेनाध्यात्मिकादिना दुःखेन सदा बाध्यमानस्य प्राणिनः कुत्र

---

१. भगवान् विष्णु मार्कण्डेय मुनि को प्रलय स्वरूप का दर्शन कराने के लिये मत्स्यावतार लिये थे ।
२. समुद्र मन्थन के समय वे ही कच्छप रूप से मन्दारचल को सम्भाल रहे थे।
३. हिरण्याक्ष द्वारा चुरायी गयी पृथिवी लाने के लिये उन्होंने शूकर का अवतार धारण किया था ।
४. भक्त प्रहलाद की रक्षा एवं हिरण्यकशिपु का संहार करने के लिये भगवान् विष्णु ने नृसिंह अवतार धारण किया था ।
५. उनके राम, कृष्ण तथा वामन आदि अवतार मनुष्य के रूप में हुये ।

कस्मिन्नधिकरणे विश्रान्तिः विश्रमणम् इष्यते इच्छाविषयीक्रियते, न क्वापीत्यर्थः ॥ ६६ ॥

कर्म से उत्पन्न आध्यात्मिक आदि दुःख से नित्य पीड़ित होने वाले जीव को शान्ति कहाँ मिल सकती है अर्थात् कहीं नहीं ॥ ६६ ॥

अथ किं तत्तापत्रयमित्यत्राह—

आध्यात्मिकं तु प्रथमं द्वितीयं चाधिभौतिकम् ।
आधिदैविकमन्यच्च दुःखत्रयमिदं स्मृतम् ॥ ६७ ॥

पहला आध्यात्मिक[1] दूसरा आधिभौतिक[2] और तीसरा आधिदैविक[3] इस प्रकार तीन दुःख माने गये हैं ॥ ६७ ॥

अथ तत्स्वरूपं लक्षयति—

आध्यात्मिकं द्विधा प्रोक्तं बाह्याभ्यन्तरभेदतः ।
वातपित्तादिजं दुःखं बाह्यमाध्यात्मिकं मतम् ॥ ६८ ॥

स्पष्टम् ॥ ६८ ॥

बाह्य आभ्यन्तर भेद से आध्यात्मिक दुःख दो प्रकार का कहा गया है । वात पित्त श्लेष्मा आदि से उत्पन्न दुःख बाह्य आध्यात्मिक दुःखं माना गया है ॥ ६८ ॥

रागद्वेषादिसम्पन्नमान्तरं परिकीर्त्यते ।
आधिभौतिकमेतद्धि दुःखं राजादिभूतजम् ॥ ६९ ॥

राग द्वेष आदि से प्राप्त दुःख आभ्यन्तर आध्यात्मिक दुःख कहा जाता है । जो दुःख राजा आदि के कारण उत्पन्न हो वह आधिभौतिक है ॥ ६९ ॥

आधिदैविकमाख्यातं ग्रहयक्षादिसम्भवम् ।
दुःखैरेतैरुपेतस्य कर्मबद्धस्य देहिनः ।
स्वर्गे वा यदि वा भूमौ सुखलेशो न विद्यते ॥ ७० ॥

ग्रह यक्ष आदि से उत्पन्न दुःख आधिदैविक है । इन दुःखों से युक्त तथा कर्म से बद्ध जीव के लिये स्वर्ग में या पृथिवी पर लेशमात्र सुख नहीं है ॥ ७० ॥

अथ राज्यादिसम्पत्तिः सुखं नास्ति वेत्यत्र नास्तीति दृष्टान्तपूर्वकमाह—

---

१. यह दो प्रकार का होता है—शारीरिक और मानसिक ।
२. राजा शत्रु आदि के द्वारा प्रदत्त दुःख ।
३. सूखा, बाढ़, बिजली का गिरना, भूकम्प आदि से उत्पन्न दुःख ।

तटि(डि)त्सु वीचिमालासु प्रदीपस्य प्रभासु च ।
सम्पत्सु कर्ममूलासु कस्य वा स्थिरतामतिः ॥ ७१ ॥

विद्युत्सु तरङ्गमालासु दीपशिखासु यथा स्थिरताबुद्धिर्नास्ति, तथा कर्ममूलासु सम्पत्स्वपि स्थिरताबुद्धिर्विवेकिनो नास्तीत्यर्थः ॥ ७१ ॥

आकाशीय विद्युत् लहर प्रदीप की प्रभा तथा कर्म से अर्जित सम्पत्ति को कौन स्थिर समझता है (अर्थात् कोई नहीं) ॥ ७१ ॥

ननु विद्युदादिविलक्षणत्वात् सुखसाधनत्वाच्छरीरं वाञ्छाविषय-मस्त्वित्यत्र—'भगवन्नस्थिचर्मस्नायुमज्जामांसशुक्रशोणितश्लेष्माश्रुदूषिते विण्मूत्रवात-पित्तकफसङ्घाते दुर्गन्धे निःसारे (शरीरे) किं कामोपभोगैः'[1] **इति मैत्रेयश्रुत्यनुसारेणाह**—

मलकोशे शरीरेऽस्मिन् महादुःखविवर्धने ।
तडिदङ्कुर[2]सङ्काशे को वा रुच्येत पण्डितः ॥ ७२ ॥

मलकोशे मलमूत्राद्याधारभूते क्षणिकेऽस्मिन् शरीरे को वा पापपिण्डे विवेकी प्रीतिं कुर्यात्, न कोऽपि कुर्यादित्यर्थः ॥ ७२ ॥

मल के भण्डार महादुःख को बढ़ाने वाले विद्युत् के अङ्कुर के समान इस शरीर के विषय में कौन बुद्धिमान् प्रीति करेगा ॥ ७२ ॥

ननु शरीरस्यैव परमप्रेमास्पदत्वात् तत्र रुचिरस्त्वित्यत्राह—

नित्यानन्दचिदाकारमात्मतत्त्वं विहाय कः ।
विवेकी रमते देहे नश्वरे दुःखभाजने ॥ ७३ ॥

नित्यानन्दस्वरूपस्यात्मतत्त्वस्य विद्यमानत्वात् तस्यैव परमप्रेमास्पदत्वात् तद्विहाय नश्वरे दुःखपात्रे शरीरे को विवेकी रमते, न कोऽपि रमत इत्यर्थः ॥ ७३ ॥

नित्य आनन्द एवं चित्स्वरूप आत्मतत्त्व को छोड़कर कौन विवेकी नश्वर एवं दुःख के पात्रभूत इस देह में रमण करेगा ॥ ७३ ॥

अथ विवेकिनो नश्वरे शरीरमात्र एव विरक्तिरिति न, तत्सम्बन्धिषु

---

१. मैत्रा०उ० १।२

२. विद्युदङ्कुरे दोषद्वयं तिष्ठति—१. क्षणिकत्वम्, २. स्पर्शे सति स्पृष्टस्य शरीरदाहः । तद्वत् शरीरमपि आपातरमणीयं दृश्यते, उपभोगे च इष्टलक्ष्यात् परिच्युतिकारणं भवति ।

सर्वेष्वपि विरक्तिरित्याह—

विवेकी शुद्धहृदयो निश्चितात्मसुखोदयः ।
दुःखहेतौ शरीरेऽस्मिन् कलत्रे च सुतेषु च ॥ ७४ ॥

शुद्धहृदयो निर्मलान्तःकरणः, अत एव निश्चितात्मसुखोदयः श्रुतिगुरुस्वानुभवै[1]र्निश्चितनित्यानित्यसुखस्फूर्तिमान् विवेकी नित्यानित्यवस्तुविवेकी दुःखहेतौ उक्तलक्षणसकलदुःखकारणेऽस्मिन् शरीरे, कलत्रे स्त्रीषु, सुतेषु (वैराग्यं परमश्नुते इति परेणान्वयः) ॥ ७४ ॥

सुहृत्सु बन्धुवर्गेषु धनेषु कुलपद्धतौ ।
अनित्यबुद्ध्या[2] सर्वत्र वैराग्यं परमश्नुते ॥ ७५ ॥

सुहृत्सु मित्रेषु बान्धवसमूहेषु कुलपद्धतौ कुलक्रमे धनेषु गोधनादिधनेषु सर्वत्र एतद्व्यतिरिक्तसकलवस्तुष्वपि अनित्यबुद्ध्या परं वैराग्यम् अश्नुते आश्रयतीत्यर्थः ॥ ७५ ॥

विवेकवान् शुद्ध हृदय वाला तथा आत्मसुख के निश्चय वाला मनुष्य दुःख के कारणभूत इस शरीर, पत्नी, पुत्रों, मित्रों, बन्धुवर्गों, धन एवं कुलपरम्परा में अनित्य बुद्धि के कारण सर्वत्र परमवैराग्य का अनुभव करता रहता है ॥ ७४-७५ ॥

अथैवमाद्यनित्यवस्तुविरक्तस्य नित्यवस्तुरागिणः संसारदुःखविच्छेदहेतौ बुद्धिरुत्पद्यत इत्याह—

विवेकिनो विरक्तस्यविषयेष्वात्मरागिणः ।
संसारदुःखविच्छेदहेतौ बुद्धिः प्रवर्तते ॥ ७६ ॥

स्पष्टम् ॥ ७६ ॥

विवेकी विषयों के प्रति विरक्त आत्मा में अनुरक्त मनुष्य की बुद्धि संसारदुःख को नष्ट करने के लिये प्रवृत्त होती है ॥ ७६ ॥

अथ कोऽयं संसारदुःखच्छेदहेतुरित्यत्र पिण्डपिण्डज्ञानस्थलार्थं गर्भीकृत्य वृत्तेनाह—

नित्यानित्यविवेकिनः सुकृतिनः शुद्धाशयस्यात्मनो

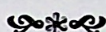
---

१. तुलनीय—शास्त्रतः गुरुतः स्वतः । (तन्त्रालोक)

२. वेदान्ते ब्रह्मानन्दहेतुभूतब्रह्मजिज्ञासार्थं अनुबन्धचतुष्टयमुक्तम्—
१. नित्यानित्यवस्तुविवेकः । २. इहामुत्रार्थफलभोगविरागः ।
३. शमदामादिसाधनप्राप्तिः । ४. मुमुक्षुत्वम् ।

ब्रह्मोपेन्द्रमहेन्द्रमुख्यविभवेष्वस्थायितां पश्यतः ।
नित्यानन्दपदे निराकृतजगत्संसारदुःखोदये
साम्बे चन्द्रशिरोमणौ समुदयेद्भक्तिर्भवध्वंसिनी ॥ ७७ ॥

इति श्रीवीरशैवधर्मनिर्णये सिद्धान्तशिखामणौ भक्तस्थले पिण्डज्ञानसंसारहेयस्थलप्रसङ्गो नाम पञ्चमः परिच्छेदः ॥ ५ ॥



सुकृतिनः निगमागमोक्तसत्कर्मिणः शुद्धाशयस्य निर्मलान्तःकरणस्य आत्मनः पिण्डशब्दवाच्यस्य नित्यानित्यविवेकिनः क्षेत्रज्ञाक्षेत्रज्ञविवेकिनः पिण्डज्ञानिनो ब्रह्मोपेन्द्रमहेन्द्रमुख्यसमस्तदेवसम्पत्सु अस्थायितां क्षणिकत्वं पश्यतो जानतः, अत एव संसारहेयबुद्धिमतो नित्यानन्दपदे नित्यपरिपूर्णसच्चिदानन्दाश्रये निराकृतजगत्संसारदुःखोदये साम्बे उमासमेते चन्द्रशिरोमणौ 'चन्द्रललाटाय कृत्तिवाससे नमो नमः' इत्यथर्वणश्रुतेश्चन्द्रधरादिनानालीलाविग्रहकारणीभूतमहालिङ्गे भक्तिः, अष्टविधा भवध्वंसिनी सती समुदयेत् प्रकाशत इत्यर्थः । अत्र शुद्धान्तःकरणस्य नित्यानित्यवस्तुविवेकिन ऐहिकामुष्मिकफलभोगविरागद्वारा रागद्वेषादिशब्दाद्यन्तर्बाह्येन्द्रियविषयवैमुख्येन शमदमादिसम्पत्त्या मुमुक्षुत्वेन संसारदुःखनिवृत्त्युपायभूते महालिङ्गे भक्तिरुत्पद्यत इत्युक्तं भवति ॥ ७७ ॥

इति श्रीमत्पदवाक्यप्रमाणपारावारधुरीणश्रीमरितोण्टदार्येण विरचितायां तत्त्वप्रदीपिकाख्यायां सिद्धान्तशिखामणिव्याख्यायां भक्तस्थले पिण्डज्ञानसंसारहेयस्थलप्रसङ्गो नाम पञ्चमः परिच्छेदः ॥ ५ ॥



नित्यानित्य के विवेक से युक्त, पुण्यवान्, पवित्र हृदय वाले, ब्रह्मा विष्णु इन्द्र आदि के वैभव को अस्थायी समझने वाले मनुष्य की नित्यानन्द के स्थानभूत, जङ्गम एवं संसरणशील मृत्युलोक के दुःख को दूर करने वाले, अम्बासहित चन्द्रमौलि के प्रति संसार को दूर करने वाली भक्ति उत्पन्न होती है (अथवा उत्पन्न होनी चाहिये) ॥ ७७ ॥

इस प्रकार श्रीसिद्धान्तशिखामणि के पिण्डज्ञानसंसारहेयस्थलप्रसङ्ग नामक पञ्चम परिच्छेद की आचार्य राधेश्याम चतुर्वेदिकृत 'ज्ञानवती' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ५ ॥



षष्ठः परिच्छेदः

अथ 'तद्विज्ञानार्थं सद्गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्'[१] इति मुण्डकश्रुतेः पूर्वोक्तपिण्डपिण्डज्ञानसंसारहेयस्थलसम्पन्नः संसारनाशकरं महालिङ्गं जिज्ञासुः श्रीगुरुमुपैतीति कुम्भजं प्रति दीक्षालक्षणगुरुकारुण्यस्थलं निरूपयति श्रीरेणुकः—

ततो विवेकसम्पन्नो विरागी शुद्धमानसः ।
जिज्ञासुः सर्वसंसारदोषध्वंसकरं शिवम् ॥ १ ॥
उपैति लोकविख्यातं लोभमोहविवर्जितम् ।
आत्मतत्त्वविचारज्ञं विमुक्तविषयभ्रमम् ॥ २ ॥
शिवसिद्धान्ततत्त्वज्ञं छिन्नसन्देहविभ्रमम् ।
सर्वतन्त्रप्रयोगज्ञं धार्मिकं सत्यवादिनम् ॥ ३ ॥
कुलक्रमागताचारं कुमार्गाचारवर्जितम् ।
शिवध्यानपरं शान्तं शिवतत्त्वविवेकिनम् ॥ ४ ॥
भस्मोद्धूलननिष्णातं भस्मतत्त्वविवेकिनम् ।
त्रिपुण्ड्रधारणोत्कण्ठं धृतरुद्राक्षमालिकम् ॥ ५ ॥
लिङ्गधारणसंयुक्तं लिङ्गपूजापरायणम् ।
लिङ्गाङ्गयोगतत्त्वज्ञं निरूढाद्वैतवासनम् ॥ ६ ॥
लिङ्गाङ्गस्थलभेदज्ञं श्रीगुरुं शिववादिनम् ।

दीक्षालक्षण-गुरुकारुण्यस्थल-वर्णन—इसके बाद विवेकसम्पन्न विरागी शुद्ध चित्त वाला जिज्ञासु शिष्य गुरु के पास जाता है । गुरु का वैशिष्ट्य निम्नलिखित है—

वह गुरु समस्त संसार के दोष (= दुख) का नाश करने वाला, कल्याणकारी, लोकप्रसिद्ध, लोभ मोह से रहित, आत्मतत्त्व का विचारक,

१. मु०उ० २।१२

विषय के भ्रम से मुक्त, शिवाद्वैत सिद्धान्त के तत्त्व को जानने वाला, सन्देहरहित, सम्पूर्ण तन्त्र के प्रयोगों का ज्ञाता, धार्मिक, सत्यवादी, कुलक्रम अर्थात् गुरुवंशपरम्परा से प्राप्त आचार का पालन करने वाला, कुमार्ग का अनुसरण न करने वाला, शिव ध्यान में लगा हुआ, शान्त, शिवतत्त्वविवेक वाला, भस्म लगाने में निष्णात, भस्मतत्त्व का ज्ञाता, त्रिपुण्ड्र धारण के लिये उत्सुक, रुद्राक्ष माला का धारण करने वाला, लिङ्गधारण से युक्त, लिङ्गपूजापरायण, लिङ्गाङ्गयोग के तत्त्व का ज्ञाता, दृढ अद्वैत भावना वाला, लिङ्गाङ्गस्थल के भेद का ज्ञाता और शिववादी होता है ॥ १-६ ॥

अत्र ततः संसारहेयबुद्ध्युत्पत्त्यनन्तरं शुद्धमानसो निर्मलान्तःकरणत्वेन पिण्डशब्दवाच्यः, विवेकसम्पन्नः शरीरात्मविवेकेन पिण्डज्ञानवान्, विरागी अनित्यसुखवैमुख्येन संसारहेयबुद्धिमान् साधकः सर्वसंसारदोषध्वंसकरणम्, दोषः दुःखमित्यर्थः, सांसारिकसकलदुःखनिवारकं शिवम्, परब्रह्मापरपर्याय-परशिवमहालिङ्गं जिज्ञासुः सन्, शिववादिनं महालिङ्गस्वरूपमुपदेष्टारं श्रीगुरुमुपैतीति योजना । स कीदृश इत्यत्राह—लोकविख्यात इत्यादिना । सर्वलोकप्रसिद्धः, लोभमोहविवर्जितः, मोहः अज्ञानमित्यर्थः, आत्मतत्त्व-विचारज्ञः देहेन्द्रियादिवैलक्षण्येनात्मयाथार्थ्यस्वरूपज्ञः, विमुक्तविषयभ्रमः

यस्य यस्य पदार्थस्य या या शक्तिरुदीरिता ।
सा सा सर्वेश्वरी देवी स स सर्वो महेश्वरः ॥[1]

इति सर्वमङ्गलागमस्थितेः ।

शब्दजातमशेषं तु धत्ते शर्वस्य वल्लभा ।
अर्थजातमशेषं तु धत्ते मुग्धेन्दुशेखर ॥[2]

इति वायुसंहितोक्तेश्च सर्वस्यापि विश्वस्य शिवशक्तिमयत्वात् तयोरभेदाद् विगलितविषयगतभेदभ्रान्तिरित्यर्थः । अत एव निरूढाद्वैतवासनः दृढीभूताद्वैतसंस्कारविशिष्टः, शिवसिद्धान्ततत्त्वज्ञः शिवागमसिद्धान्ताभिज्ञः, छिन्नसन्देहविभ्रमः निराकृतसंशयविपर्ययवानित्यर्थः । सर्वतन्त्रप्रयोगज्ञः चतुः-षष्टितन्त्रप्रयोगज्ञः, धार्मिकः शिवधर्मनिष्ठः, सत्यवादी, कुलक्रमगताचारः गुरुवंशक्रमानुगताचारवान्, कुमार्गाचारवर्जितः कुलप्राप्तसमयाचारवर्जितः, शिवध्यानपरः शिवलिङ्गचिन्तानिष्ठः, शान्तः रागद्वेषरहितः, शिवतत्त्वविवेकी शिवपरशिवस्वरूपज्ञः, भस्मोद्धूलननिष्णातः, तत्र कुशलीत्यर्थः । भस्मतत्त्व-विवेकी भस्मस्वरूपविवेकवान्, त्रिपुण्ड्रधारणोत्कण्ठः, तत्रोत्सुक इत्यर्थः ।

---

१. स०म०   २. वा०सं०

धृतरुद्राक्षमालिकः, लिङ्गधारणसंयुक्तः बाह्यान्तर्लिङ्गधारणवन्, लिङ्गपूजा-परायणः बाह्यान्तर्लिङ्गपूजानिष्ठः, लिङ्गाङ्गयोगतत्त्वज्ञः शिवबीजसम्बन्ध-तत्त्वज्ञः, लिङ्गाङ्गस्थलभेदज्ञः, लिङ्गाङ्गस्थलगतैकोत्तरशतस्थलभेदज्ञानवा-नित्यर्थः । शिववादी माङ्गल्यवचनप्रयोक्ता, एवंविधसल्लक्षणसम्पन्नं श्रीमन्तं सद्गुरुस्वामिनं संसारहेयबुद्धिमान् पक्वशिष्यः, मुमुक्षुरिति यावत्, उपैति उपायनपाणिः सन् अधिगच्छेदित्यर्थः ॥ १-७ ॥

एवं सद्गुरुमधिगम्य तत्सेवा कर्तव्येत्याह—

सेवेत परमाचार्यं शिष्यो भक्तिभयान्वितः ॥ ७ ॥
षण्मासान् वत्सरं वापि यावदेष प्रसीदति ।

आप्तस्थानाङ्गसद्भावैः सेवेदित्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ।

भक्ति और भय[1] से युक्त शिष्य, परमाचार्य की छह महीने अथवा एक वर्ष तक जब तक गुरु प्रसन्न नहीं होते, सेवा करे ॥ ७-८ ॥

अथ तद्विज्ञापनप्रकारं सूत्रद्वयेन वर्णयति—

प्रसन्नं परमाचार्यं भक्त्या मुक्तिप्रदर्शकम् ॥ ८ ॥
प्रार्थयेदग्रतः शिष्यः प्राञ्जलिर्विनयान्वितः ।
भो कल्याण महाभाग शिवज्ञानमहोदधे ॥ ९ ॥
आचार्यवर्य सम्प्राप्तं रक्ष मां भवरोगिणम् ।

भक्त्या सेवया प्रसन्नमनुग्रहोन्मुखं मुक्तिप्रदर्शकं परापरमोक्षप्रदर्शकं परमाचार्यं महागुरुं विनयान्वितः भयभक्तिसमन्वितः शिष्यः प्राञ्जलिः मुकुलितकरः सन् अग्रतः पुरतः प्रार्थयेत् । किमित्यत्र भो कल्याण मङ्गलात्मक महाभाग अतिश्रेष्ठ शिवज्ञानस्य समुद्र आचार्यवर्य गुरूत्तम भवरोगिणं संसारार्तं सम्प्राप्तं समागतं मां रक्ष पाहीति ॥ ८-९ ॥

प्रसन्न तथा मोक्ष के प्रदर्शक परमाचार्य के आगे खड़ा होकर शिष्य भक्ति के साथ हाथ जोड़कर नम्रतापूर्वक प्रार्थना करे—हे कल्याणकारी महाभाग शिवज्ञान के समुद्र आचार्यश्रेष्ठ आपके पास आये हुए मुझ भवरोगी की रक्षा कीजिये ॥ ८-१० ॥

एवं प्रार्थितवन्तं शिष्यं गुरुरुपदेशाङ्गभूतदीक्षया योजयेदित्याह—

इति शुद्धेन शिष्येण प्रार्थितः परमो गुरुः ॥ १० ॥

---

१. भक्तिः गुरुं प्रति भयं च संसारात् । अत एवोभाभ्यां युक्तः ।

शक्तिपातं समालोक्य दीक्षया योजयेदमुम् ।

इति एवंप्रकारेण शुद्धेन शुद्धान्त:करणेन शिष्येण प्रार्थितो विज्ञापित: परमो गुरु: महागुरु:, तस्येति शेष: । शक्तिपातं तीव्रतरशक्तिपातं समालोक्य सम्यगवलोक्य अमुम् अग्रत: स्थितं शिष्यं दीक्षया योजयेत् सम्बन्धयेदित्यर्थ: ॥ १० ॥

शुद्ध शिष्य के द्वारा इस प्रकार प्रार्थना किये गये परमगुरु शक्तिपात के चिह्नों की परीक्षा कर इस शिष्य को दीक्षा से युक्त करे ॥ १०-११ ॥

का नाम दीक्षेत्यत्राह—

दीयते च शिवज्ञानं क्षीयते पाशबन्धनम् ॥ ११ ॥
यस्मादत: समाख्याता दीक्षेतीयं विचक्षणै: ।

यस्मात् 'दा दाने' इति धातुगत्या शिवज्ञानं परब्रह्मपरशिवाख्यमहालिङ्गज्ञानं दीयते स्वात्माभेदेन प्रदास्यते, पाशबन्धनं मलमायाकर्मबन्धनं 'क्षि क्षये' इति धातुगत्या क्षीयते, अत इयं ज्ञानक्रियात्मिका शक्तिरेव दीक्षेति विचक्षणै: शास्त्रज्ञै: सम्यगाख्यातेत्यर्थ: ॥ ११ ॥

जिस कारण इसके द्वारा शिव का ज्ञान दिया जाता है तथा पाशबन्धन का नाश होता है इसलिये विद्वान् लोग इस (संस्कारात्मक प्रक्रिया) को दीक्षा कहते हैं ॥ ११-१२ ॥

अथेयं दीक्षा त्रिविधेत्याह—

सा दीक्षा त्रिविधा प्रोक्ता शिवागमविशारदै: ॥ १२ ॥
वेधारूपा क्रियारूपा मन्त्ररूपा च तापस ।

हे तपस्वी अगस्त्य! शैवागम के विद्वान् लोग इस दीक्षा को तीन प्रकार की बतलाते हैं—वेधारूपा, क्रियारूपा तथा मन्त्ररूपा ॥ १२-१३ ॥

अथ तद्दीक्षात्रयलक्षणमाह—

गुरोरालोकमात्रेण हस्तमस्तकयोगत: ॥ १३ ॥
य: शिवत्वसमावेशो वेधा दीक्षेति सा मता।

श्रीगुरोर्निरीक्षणमात्रेण हस्तमस्तकसम्बन्धाद् यो ज्ञानक्रियात्मकशिवतत्त्वसमावेशोऽस्ति, सा वेधा दीक्षेति, स्मृतेत्यर्थ: । गुरोर्दृष्टिगर्भे स्थित्वा करकमले समुत्पन्नस्यात्मनश्चिन्मयस्वरूपोपदेशो वेधादीक्षेति तात्पर्यम् ॥ १३ ॥

मान्त्री दीक्षेति सा प्रोक्ता मन्त्रमात्रोपदेशिनी ॥ १४ ॥

मन्त्रमात्रोपदेशिनी सोऽहमिति प्रणवमन्त्रस्वरूपस्य प्राणिनः पञ्चाक्षरीमन्त्रमात्रोपदेशो[1] योऽस्ति, सा मननत्राणधर्मिणी मान्त्री दीक्षेति कथितेत्यर्थः ॥ १४ ॥

गुरु शिष्य को देखते हुए अपना हाथ उसके मस्तक पर रखता है। इस प्रकार (शिष्य के अन्दर) जो शिवत्व का समावेश होता है वह वेधा दीक्षा मानी गयी है। मन्त्र का केवल उपदेश देना मान्त्री दीक्षा कही गयी है ॥ १३-१४ ॥

कुण्डमण्डलिकोपेता क्रियादीक्षा क्रियोत्तरा ।

कलशबन्धस्वस्तिकमण्डलसंयुक्ता क्रियापरा लिङ्गधारणक्रियासमेता क्रिया दीक्षेत्यर्थः ।

कुण्ड और मण्डल से युक्त क्रियाप्रधान दीक्षा क्रिया दीक्षा होती है।

अथ तत्प्रकारं पञ्चभिः श्लोकैः प्रदर्शयति—

शुभमासे शुभतिथौ शुभकाले शुभेऽहनि ॥ १५ ॥
विभूतिं शिवभक्तेभ्यो दत्त्वा ताम्बूलपूर्वकम् ।
यथाविधि यथायोगं शिष्यमानीय देशिकः ॥ १६ ॥
स्नातं शुक्लाम्बरधरं दन्तधावनपूर्वकम् ।
मण्डले स्थापयेच्छिष्यं प्राङ्मुखं तमुदङ्मुखः॥ १७ ॥
शिवस्य नाम कीर्तिं च चिन्तामपि च कारयेत् ।

शुभमासे माघादिशुभमासे शुभतिथौ भद्रादि[2]शुभतिथौ शुभेऽहनि सोमशुक्रादिशुभवासरे शुभकाले अमृतयुक्तशुभमुहूर्ते विध्युक्तप्रकारेण शास्त्रोक्तक्रमेण शिवभक्तेभ्यस्ताम्बूलपूर्वकं विभूतिं दत्त्वां आचार्यो दन्तधावनपूर्वकं स्नातं शुक्लाम्बरधरं शिष्यं स्वसमीपमाहूय प्राङ्मुखं कृत्वा स्वयमुदङ्मुखः सन् स्वस्तिकमण्डले स्थापयेत् । अनन्तरम्—'अपि वा यश्चाण्डालः शिवेति वाचं वदेत्तेन सह संवसेत्तेन सह संविशेत्तेन सह भुञ्जीत' इति श्रुतेः सकलप्रायश्चित्तरूपशिवनामकीर्तनं शिवध्यानं च कारयेदित्यर्थः ॥ १५-१७ ॥

---

१. पञ्चाक्षरोपदेशः शैवानां कृते क्रियते । अन्यसम्प्रदायिनां कृते तत्तत्सम्प्रदायप्रचलितमन्त्राणामुपदेशो भवति । यथा वैष्णवेभ्यः ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' इति द्वादशाक्षरमन्त्रस्योपदेशः ।

२. नन्दा भद्रा जया रिक्ता पूर्णा च तिथयः क्रमात् ।

गुरु शुभ मास, शुभ तिथि, शुभ दिन एवं शुभ काल में ताम्बूलसहित भस्म को शिवभक्तों को निमंत्रण के निमित्त देकर शास्त्रोक्त विधि के अनुसार शिष्य को ले आये । आने के पहले शिष्य दातौन स्नान कर श्वेतवस्त्र धारण कर चुका हो । आचार्य शिष्य को मण्डप के भीतर पूर्व की ओर मुख कर बैठाये और स्वयं उत्तराभिमुख बैठे । वह शिष्य को शिव का ध्यान और शिव नाम का उच्चारण कराये ॥ १५-१८ ॥

अनन्तरम्—

विभूतिपट्टं दत्त्वाग्रे यथास्थानं यथाविधि ॥ १८ ॥
पञ्चब्रह्ममयैस्तत्र स्थापितैः कलशोदकैः ।
आचार्यः सममृत्विग्भिस्त्रिः शिष्यमभिषिञ्चयेत् ॥ १९ ॥

प्रथमं यथाविधि यथास्थानं विभूतिधारणं कृत्वा तत्र तस्मिन् मण्डले स्थापितैः पञ्चब्रह्ममयैः ईशानादिपञ्चब्रह्म[1]स्वरूपैः कलशोदकैः पञ्चाक्षरात्मककलशोदकैः ऋत्विग्भिः भुवनप्रसिद्धपञ्चाचार्यसम्प्रदायानुगैः ऋत्विग्भिः समम् आचार्यस्तत्सम्प्रदाय एवाचार्यपट्टाभिषिक्तः श्रीगुरुः शिष्यं त्रिरभिषिञ्चयेत् ॥ १८-१९ ॥

इसके बाद यथास्थान और विधान के अनुसार आगे भस्म का त्रिपुण्ड्र धारण कराये । पुनः आचार्य वहाँ स्थापित पञ्चब्रह्म[2] वाले कलशों के जल से ऋत्विजों द्वारा तीन बार शिष्य का अभिषेक करे ॥ १८-१९ ॥

अथ मांसपिण्डं मन्त्रपिण्डं विधातुं मन्त्रोपदेशं कुर्यादित्याह—

अभिषिच्य गुरुः शिष्यमासीनं परितः शुचिम् ।
ततः पञ्चाक्षरीं शैवीं संसारभयतारिणीम् ॥ २० ॥
तस्य दक्षिणकर्णे तु निगूढमपि कीर्तयेत् ।
छन्दो रूपमृषिं चास्य देवतान्यासपद्धतिम् ॥ २१ ॥

अभिषिच्य ततस्तदनन्तरं गुरुः । शुचिं समीपे स्थितं शिष्यं प्रति तस्य दक्षिणकर्णे संसारभयतारिणीं शैवीं शिवसम्बन्धिनीं पञ्चाक्षरीं नमः शिवाय चेति श्रीरुद्रप्रसिद्धां विद्यां परतत्त्वप्रकाशिनीं निगूढं परश्रुतिगोचरीभूतं यथा न

---

१. सद्योजात वामदेव अघोर तत्पुरुष और ईशान पञ्च ब्रह्म है ।

२. (मतान्तर में ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव ये पञ्चब्रह्म कहे जाते हैं ।)

भवति तथा कीर्तयेत्, उपदिशेदित्यर्थः । अस्याः पञ्चाक्षर्या रूपं स्वरूपं छन्दः ऋषिं मन्त्रद्रष्टारं महर्षिं देवतान्यासपद्धतिम् अधिदेवताप्रत्यधिदेवतारूप-पञ्चब्रह्मपञ्चसादाख्यपर्यायनामवदाचारादिपञ्चत्रिलिङ्गकराङ्गन्यासमार्गं न्यास-क्रममित्यर्थः, कीर्तयेदित्यनुषङ्गः । आज्ञाचक्रस्थितप्रणवमयमहालिङ्गं करतले स्थापयितुं प्रथममाधारादिपञ्चचक्रेषु नकारादिबीजमयाचारादिलिङ्गपञ्चकं शिवागमोक्तप्रकारेणोपदिशेदिति रहस्यम् ॥ २०-२१ ॥

गुरु वहाँ बैठे हुए सब प्रकार से शुद्ध शिष्य के दायें कान में संसारभयतारिणी पञ्चाक्षरी विद्या (= ॐ नमः शिवाय) को गुप्त रूप से कहे। (साथ ही इस विद्या के) छन्द स्वरूप ऋषि देवता न्यासपद्धति को भी बतलाये ॥ २०-२१ ॥

इति गुरुकारुण्यस्थलम्

अथ लिङ्गधारणस्थलम्

अथ 'एतत्सोमस्य सूर्यस्य सर्वलिङ्गं स्थापयति पाणिमन्त्रं पवित्रम्' **इति श्रुत्युक्तप्रकारेण श्रीगुरुविधीयमानलिङ्गधारणस्थलं निरूपयति । पाणौ मननात् त्रायत इति पाणिमन्त्र इत्यर्थः । अत्रादौ धारणीयलिङ्गस्वरूपं निर्दिशति—**

स्फाटिकं शैलजं वापि चन्द्रकान्तमयं तु वा ।
बाणं वा सूर्यकान्तं वा लिङ्गमेकं समाहरेत् ॥ २२ ॥

शैलजं श्रीशैलादिमहापर्वतशिलासम्भवमित्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् । एतेष्वेकं परीक्ष्य गृह्णीयादित्यर्थः ॥ २२ ॥

लिङ्गधारण स्थल वर्णन—(इसके बाद गुरु) स्फटिक पत्थर चन्द्रकान्त-मणि, नर्मदेश्वर अथवा सूर्यकान्तमणि से निर्मित एक लिङ्ग ले आये ॥ २२ ॥

अथ तल्लिङ्गे शिवकलामावाहयेदित्याह—

सर्वलक्षणसम्पन्ने तस्मिल्लिङ्गे विशोधिते ।
पीठस्थितेऽभिषिक्ते च गन्धपुष्पादिपूजिते ॥ २३ ॥
मन्त्रपूते कलां शैवीं योजयेद्विधिना गुरुः ।

शिल्पशास्त्रोक्तसर्वलक्षणसम्पन्ने पञ्चगव्यैः[1] परिशुद्धे पञ्चामृता[2]भिषिक्ते

---

१. गाय का दूध, दही, घी, मूत्र और गोबर ये सब मिश्रित होने पर पञ्चगव्य कहे जाते हैं ।

२. गाय का घी, दूध, दही, मधु और शक्कर का मिश्रण पञ्चामृत कहलाता है ।

सुगन्धपुष्पादिना परिपूजिते मूलपञ्चाक्षरीमन्त्रसंस्कृते करपीठस्थिते तस्मिन् लिङ्गे, गुरुः आचार्यः, शैवीं कलां शिष्यमस्तकस्थितां शिवकलां विध्युक्तप्रकारेण आवाहयेदित्यर्थः । तत्प्रकार इत्थम्—शिष्यमस्तके सुगन्धेन पञ्चारचक्रं[1] विलिख्य मध्ये प्रणवं पञ्चदलेषु पञ्चाक्षराणि विभाव्य,

नित्यानन्दां निरुपमपदां निष्कलां निर्विशेषां
निर्व्याजेनोर्ध्वमायाविरचितवपुषं विश्ववन्द्यां परां ताम् ।
आधारामादिशक्तिं गुणगणनमितां देवदेवीं शिवाख्यां
वन्दे हृत्पद्मपीठे परमशिवपदां श्रीमतीमूर्ध्वसंज्ञाम् ॥

इति सकलजगद्व्यवहारप्रवृत्तिकां चराचरचैतन्यतेजोरूपिणीं शिवकलां ध्यात्वा गन्धादिनाऽभ्यर्च्य प्रदीपाद् दीपान्तरमिव 'क्रों' इत्यङ्कुशमुद्रयाऽऽकृष्याऽऽवाह्य तदारं विचिन्त्य पुनर्गन्धाद्युपचारैः सम्पूजयेदिति ॥ २३ ॥

सर्वलक्षणसम्पन्न उस लिङ्ग को शुद्ध कर पीठ पर रखने के बाद उसका अभिषेक करे । गन्ध पुष्प आदि से उसकी पूजा करने के पश्चात् मन्त्र से पवित्रित उसमें विधिपूर्वक शैवी कला का संयोजन करे ॥ २३-२४ ॥

अथ लिङ्गप्राणसामरस्यं कृत्वा तल्लिङ्गं शिष्यहस्ते स्थापयेदित्याह—

शिष्यस्य प्राणमादाय लिङ्गे तत्र निधापयेत् ॥ २४ ॥
तल्लिङ्गं तस्य तु प्राणे स्थापयेदेकभावतः ।
एवं कृत्वा गुरुर्लिङ्गं शिष्यहस्ते निधापयेत् ॥ २५ ॥

तत्र लिङ्गे शिवकलाभरितलिङ्गे शिष्यस्य जीवकलारूपं प्राणम् आदाय आकृष्य निधापयेत् प्रतिष्ठापयेत् । तल्लिङ्गं शिवकलापूरितलिङ्गं तस्य शिष्यस्य प्राणे प्रणवरूपत्वेन जीवकलारूपे प्राणे एकभावस्तादात्म्येन स्थापयेत्, नियोजयेदित्यर्थः । एवंप्रकारेण गुरुर्लिङ्गं शिवजीवकलासामरस्यात्मकं कृत्वा शिष्यकरकमले स्थापयेदित्यर्थः ॥ २४-२५ ॥

पुनः शिष्य के प्राण को लेकर अर्थात् अङ्कुश मुद्रा के द्वारा आकृष्ट कर

१.


उस लिङ्ग में स्थापित करे उसके बाद उस लिङ्ग को शिष्य के प्राण में एकीभाव से स्थापित करे। इस प्रकार का अनुष्ठान कर गुरु लिङ्ग को शिष्य के हाथ में रख दे ॥ २४-२५ ॥

शिष्यं शिक्षयति—

प्राणवद्धारणीयं तत्प्राणलिङ्गमिदं तव ।
कदाचित्कुत्रचिद्वापि न वियोजय देहतः ॥ २६ ॥

भो शिष्य! तदिदं प्राणलिङ्गं तव त्वया प्राणवद्धारणीयम्, जातु क्वापि देहतो न वियोजय शरीराद्वियुक्तं मा कुर्वित्यर्थः ॥ २६ ॥

(इसके पश्चात् गुरु शिष्य को आज्ञा दे कि) तुम इस प्राणलिङ्ग को अपने प्राण की भाँति अपने शरीर से लगाये रखना। कहीं भी कभी भी इसको अपने शरीर से अलग मत करना ॥ २६ ॥

यदि प्रमादेन शरीराद्वियुक्तं चेत्तदा किं कर्तव्यमित्यत्राह—

यदि प्रमादात् पतिते लिङ्गे देहान्महीतले ।
प्राणान् विमुञ्च सहसा प्राप्तये मोक्षसम्पदः ॥ २७ ॥

स्पष्टं बालत्कारेण प्राणत्यागे दुर्मरणं किं न स्यादित्यत्रोक्तम्-प्राप्तये मोक्षसम्पद इति। अन्यथा नरक एवेति भावः ॥ २७ ॥

यदि असावधानीवश यह लिङ्ग शरीर से अलग होकर पृथिवी पर गिर पड़े तो मोक्ष को प्राप्त करने के लिये सहसा अपने प्राणों को त्याग देना ॥ २७ ॥

इति सम्बोधितः शिष्यो गुरुणा शास्त्रवेदिना ।
धारयेच्छाङ्करं लिङ्गं शरीरे प्राणयोगतः ॥ २८ ॥

यावत्पर्यन्तं शरीरे प्राणस्तिष्ठति, तावत्पर्यन्तं वीरशैवशास्त्रज्ञेन गुरुणा बोधितः शिष्यः शाङ्करं लिङ्गं धारयेदित्यर्थः ॥ २८ ॥

शास्त्रवेत्ता गुरु के द्वारा इस प्रकार समझाया गया शिष्य उस शिवलिङ्ग को प्राणधारण पर्यन्त शरीर से संयुक्त रखे ॥ २८ ॥

अथ किमस्य धारणेन प्रयोजनं कैरङ्गीकृतमित्यत्राह—

लिङ्गस्य धारणं पुण्यं सर्वपापप्रणाशनम् ।
आदृतं मुनिभिः सर्वैरागमार्थविशारदैः ॥ २९ ॥

वीरशैवागमाभिज्ञैर्मुनिभिः सर्वैरप्यङ्गीकृतमित्यर्थः ॥ २९ ॥

(इस प्रकार) लिङ्ग का धारण पुण्यप्रद एवं समस्त पापों का नाश करने वाला होता है । आगम तत्त्व के समस्त पण्डितों मुनियों ने इसको आदर पूर्वक स्वीकार किया है ॥ २९ ॥

अथैवं लिङ्गधारणं मोक्षकाङ्क्षिभिर्मुनिभिर्द्विधाङ्गीकृतमित्यत्राह—

लिङ्गधारणमाख्यातं द्विधा सर्वार्थसाधकैः ।
बाह्यमाभ्यन्तरं चेति मुनिभिर्मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥ ३० ॥

सर्वार्थसाधकं भोगमोक्षप्रदमित्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ३० ॥

सर्वार्थ साधक यह लिङ्गधारण मोक्षार्थी मुनियों के द्वारा बाह्य और आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार का कहा गया है ॥ ३० ॥

किमिदमान्तरमित्यत्राह—

चिद्रूपं परमं लिङ्गं शाङ्करं सर्वकारणम् ।
यत्तस्य धारणं चित्ते तदान्तरमुदाहृतम् ॥ ३१ ॥

चिद्रूपं सच्चिदानन्दात्मकं परमम् । अत एव देशकालोत्तीर्णं सर्वकारणं देशकालाकारलक्षणविश्वकारणं शाङ्करं शिवसम्बन्धि यल्लिङ्गमस्ति, तस्य महालिङ्गस्य चित्ते स्वहृत्मकमले यद्धारणं ध्यानरूपेण धारणम्, तद् आन्तरम् अन्तर्लिङ्गधारणमित्युदाहृतमित्यर्थः ॥ ३१ ॥

समस्त संसार का कारण, शङ्कर का चिद्रूप लिङ्ग श्रेष्ठ है । चित्त में उसका धारण करना आन्तर धारण कहा गया है ॥ ३१ ॥

अथैतत्स्वरूपं बहुधा प्रकाशयति—

चिद्रूपं हि परं तत्त्वं शिवाख्यं विश्वकारणम् ।
निरस्तविश्वकालुष्यं निष्कलं निर्विकल्पकम् ॥ ३२ ॥
सत्तानन्दपरिस्फूर्तिमुल्लासकलामयम् ।
अप्रमेयमनिर्देश्यं मुमुक्षुभिरुपासितम् ॥ ३३ ॥
परं ब्रह्म महालिङ्गं प्रपञ्चातीतमव्ययम् ।

जडविलक्षणत्वाच्चिद्रूपम्, जीवविलक्षणत्वात्परम्, अत एव चराचरप्रपञ्चकारणं निरस्तसमस्तदोषं निरवयवं भेदरहितं नित्यानन्दप्रकाशात्मकत्वेन व्याप्रियमाणतुर्यातीतसप्तदशकलास्वरूपं प्रत्यक्षादिप्रमाणागम्यं वक्तुमशक्यं मोक्षकाङ्क्षिभिर्भजनीयं विश्वातीतं कालत्रयाबाध्यं शिवाख्यं परं ब्रह्म महालिङ्गं हि महालिङ्गमिति प्रसिद्धमित्यर्थः ॥ ३२-३३ ॥

शिव नामक चिद्रूप परमतत्त्व विश्व का कारण है । समस्त मलिनता से रहित वह निष्कल तथा निर्विकल्प है; सत् चित् और आनन्द की स्फुरत्ता के समुल्लास वाली कला से युक्त है; अप्रमेय अनिर्देश्य तथा मोक्षार्थीजनों से उपासित है; ऐसा प्रपञ्चातीत अर्थात् संसार से परे परब्रह्म रूप लिङ्ग महालिङ्ग है ॥ ३२-३३ ॥

नन्वेतादृशस्य महालिङ्गस्य स्थानध्यानशून्यत्वात् (तत्) कथमुपासनीयं स्यादित्यत्राह—

तदेव सर्वभूतानामन्तस्त्रिस्थानगोचरम् ॥ ३४ ॥
मूलाधारे च हृदये भ्रूमध्ये सर्वदेहिनाम् ।
ज्योतिर्लिङ्गं सदा भाति यद् ब्रह्मेत्याहुरागमाः॥ ३५ ॥

तदेवं पूर्वोक्तमहालिङ्गमेव समस्तप्राणिनामन्तः त्रिस्थानगोचरं स्थानत्रयवदित्यर्थः । यत् शिवागमप्रसिद्धमहालिङ्गतत्त्वम् आगमा उपनिषदो ब्रह्मेत्याहुः, तज्ज्योतिर्लिङ्गं सर्वदेहिनां समस्तप्राणिनां पूर्वहृदये मूलाधारे, मध्यहृदये हृदये, ऊर्ध्वहृदये भ्रूमध्ये सदा भाति, गुरूपदेशाद्विज्ञेय-मित्यर्थः ॥ ३४-३५ ॥

वही समस्त प्राणियों के (शरीर के) अन्दर तीन स्थानों में रहता है । वे स्थान हैं—समस्त शरीरधारियों में स्थित मूलाधार, हृदय और भ्रूमध्य । वह ज्योतिरूपी लिङ्ग इनमें सदा प्रकाशित रहता है । आगमशास्त्र इसी को ब्रह्म कहते हैं ॥ ३४-३५ ॥

नन्वखण्डितस्य महालिङ्गस्य खण्डितत्वं कथमित्यत्राह—

अपरिच्छिन्नमव्यक्तं लिङ्गं ब्रह्म सनांतनम् ।
उपासनार्थमन्तःस्थं परिच्छिन्नं स्वमायया ॥ ३६ ॥

अखण्डितमप्रकटं नित्यं ब्रह्मशब्दाभिधेयम् अन्तःस्थं लिङ्गम् एकमपि, उपासनार्थं भक्तानां ध्यानपूजार्थं स्वमायया स्वस्वातन्त्र्यापरपर्यायमायाशक्त्या परिच्छिन्नं स्थानभेदेन लिङ्गत्रयरूपं ज्ञातमित्यर्थः ॥ ३६ ॥

अपरिच्छिन्न अव्यक्त सनातन ब्रह्मरूप लिङ्ग (प्राणियों के द्वारा) उपासना के लिये अपनी माया से (मूलाधार आदि के) अन्दर स्थित और परिच्छिन्न हो गया ॥ ३६ ॥

ननु परब्रह्म लिङ्गरूपमिति कथं व्यवह्रियत इत्यत्राह—

लयं गच्छति यत्रैव जगदेतच्चराचरम् ।
पुनः पुनः समुत्पत्तिं तल्लिङ्गं ब्रह्म शाश्वतम् ॥ ३७ ॥

यत्र ब्रह्मणि एतच्चराचरं जगद् लयं गच्छति, पुनः पुनरुत्पत्तिं गच्छतीति तच्छाश्वतं ब्रह्म लिङ्गमित्यर्थः ॥ ३७ ॥

जिसमें यह चर अचर जगत् लीन हो जाता है तथा पुनः पुनः उत्पन्न होता है वह शाश्वत (= नित्य) ब्रह्मरूपी लिङ्ग है ॥ ३७ ॥

उक्तार्थं निगमयति—

तस्माल्लिङ्गमितिख्यातं सत्तानन्दचिदात्मकम् ।
बृहत्वाद् बृंहणत्वाच्च ब्रह्मशब्दाभिधेयकम् ॥ ३८ ॥

तस्मात् सच्चिदानन्दात्मकं लिङ्गं महालिङ्गं बृहत्वान्महत्त्वाद् बृंहणत्वाद् विश्वसृष्ट्युन्मुखत्वाच्च ब्रह्मशब्दाभिधेयकमिति ख्यातं प्रख्यातमित्यर्थः । एवं परब्रह्मैव महालिङ्गं महालिङ्गमेव परब्रह्मेति भावः ॥ ३८ ॥

इस कारण वह चिद् आनन्दमयी सत्ता लिङ्ग कही जाती है । सबकी अपेक्षा बृहत् होने एवं सबका पोषक होने के कारण वही सच्चिदानन्द तत्त्व 'ब्रह्म' शब्द का वाच्य होता है इस प्रकार परब्रह्म ही महालिङ्ग और महालिङ्ग ही परब्रह्म है ॥ ३८ ॥

अथोक्तस्थानेष्वेकत्र ज्योतिर्लिङ्गानुसन्धानमान्तरलिङ्गधारणमित्याह—

आधारे हृदये वापि भ्रूमध्ये वा निरन्तरम् ।
ज्योतिर्लिङ्गानुसन्धानमान्तरं लिङ्गधारणम् ॥ ३९ ॥

स्पष्टम् ॥ ३९ ॥

मूलाधार, हृदय अथवा भ्रूमध्य में उस ज्योतिर्लिङ्ग का निरन्तर अनुसन्धान आन्तर लिङ्गधारण कहा गया है ॥ ३९ ॥

अथ केन प्रकारेणानुसन्धेयमित्यत्राह—

आधारे कनकप्रख्यं हृदये विद्रुमप्रभम् ।
भ्रूमध्ये स्फटिकच्छायं लिङ्गं योगी विभावयेत् ॥ ४० ॥

स्पष्टम् ॥ ४० ॥

योगी मूलाधार में सोने के रङ्ग वाले, हृदय में मूँगा के समान और भ्रूमध्य में स्फटिक की आभा वाले लिङ्ग का ध्यान करे ॥ ४० ॥

अथेदमन्तर्लिङ्गधारणं बाह्यलिङ्गधारणापेक्षया विशिष्टमित्याह—

निरुपाधिकमाख्यातं लिङ्गस्यान्तरधारणम् ।
विशिष्टं कोटिगुणितं बाह्यलिङ्गस्य धारणात्॥ ४१ ॥

स्पष्टम् ॥ ४१ ॥

यह निरुपाधिक लिङ्ग का आन्तर धारण बाह्य लिङ्ग धारण की अपेक्षा करोड़ों गुना श्रेष्ठ है ॥ ४१ ॥

ये धारयन्ति हृदये लिङ्गं चिद्रूपमैश्वरम् ।
न तेषां पुनरावृत्तिर्घोरसंसारमण्डले ॥ ४२ ॥

परमुक्तिरेवेत्यर्थः ॥ ४२ ॥

जो लोग अपने हृदय में चिद्रूप शिवलिङ्ग का धारण करते हैं उनका घोर संसारमण्डल में पुनर्जन्म नहीं होता ॥ ४२ ॥

तत्कथमित्यत्राह—

अन्तर्लिङ्गानुसन्धानमात्मविद्यापरिश्रमः ।
गुरूपासनशक्तिश्च कारणं मोक्षसम्पदाम् ॥ ४३ ॥

'आत्मलाभान्न परं विद्यते' इति श्रु(स्मृ)तेर्नाहमीश्वर इत्यज्ञाननिवारकीभूतात्मविद्यानैशित्य[1]गुरुभजनसामर्थ्ययोरप्यन्तर्लिङ्गानुसन्धानं मोक्षसम्पत्कारणमित्यर्थः ॥ ४३ ॥

अन्तर्लिङ्ग का ध्यान, आत्मविद्या में परिश्रम (अर्थात् आत्मज्ञान सम्बन्धी शास्त्रों का श्रवण मनन) तथा गुरु की सेवा का सामर्थ्य—ये तीन मोक्षप्राप्ति के कारण हैं ॥४३ ॥

तस्मादचञ्चलहृदयानां शिवयोगिनामन्तर्लिङ्गानुसन्धान एव रुचिर्न बाह्य इत्याह—

वैराग्यज्ञानयुक्तानां योगिनां स्थिरचेतसाम् ।
अन्तर्लिङ्गानुसन्धाने रुचिर्बाह्ये न जायते ॥ ४४ ॥

स्पष्टम् ॥ ४४ ॥

इस कारण ज्ञान और वैराग्य से युक्त स्थिरचित्त योगियों की रुचि अन्तर्लिङ्गानुसन्धान में होती है बाह्यलिङ्गानुसन्धान में नहीं ॥ ४४ ॥

---

१. नैशित्यं तीक्ष्णता तीव्रोत्कण्ठा वा ।

किमुत परिपक्वब्रह्मादयोऽपि सुज्ञानयोगेनैव ज्योतिर्लिङ्गं पश्यन्तीत्याह—

ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च वासवाद्याश्च लोकपाः।
मुनयः सिद्धगन्धर्वा दानवा मानवास्तथा ॥ ४५ ॥
सर्वे च ज्ञानयोगेन सर्वकारणकारणम् ।
पश्यन्ति हृदये लिङ्गं परमानन्दलक्षणम् ॥ ४६ ॥

अत्र 'ब्रह्मविष्णुरुद्रेन्द्रास्ते सम्प्रसूयन्ते' इति श्रुतेः कार्यकोटिप्रविष्टरुद्रो विवक्षितः, न तु त्रिमूर्तिकारणीभूतमहालिङ्गरुद्र इत्यनुसन्धेयम् ॥ ४५-४६ ॥

ब्रह्मा विष्णु रुद्र (= अवर कोटि के रुद्र) इन्द्र आदि लोकपाल मुनिगण सिद्ध गन्धर्व दानव मानव सब के सब ज्ञानयोग के द्वारा समस्त कारणों के कारण परमानन्दस्वरूप लिङ्ग का हृदय में साक्षात्कार करते हैं ॥ ४५-४६ ॥

तस्मात् सांसारिकदुःखनिवृत्त्यर्थमन्तर्लिङ्गानुसन्धामेव कुर्यादित्याह—

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन शाङ्करं लिङ्गमुत्तमम् ।
अन्तर्विभावयेद् विद्वानशेषक्लेशमुक्तये ॥ ४७ ॥

स्पष्टम् ॥ ४७ ॥

इसलिये विद्वान् समस्त क्लेश से मुक्ति के लिये सम्पूर्ण प्रयास से उत्तम शिवलिङ्ग का ध्यान अपने अन्दर करे ॥ ४७ ॥

नन्वेवं चेद् बाह्यलिङ्गधारणं किमर्थमित्याकाङ्क्षायामाह—

अन्तर्धारयितुं लिङ्गमशक्तः शक्त एव वा ।
बाह्यं च धारयेल्लिङ्गं तद्रूपमिति निश्चयात् ॥ ४८ ॥

अन्तर्लिङ्गधारणे यद्यशक्तः शक्त एव वा, स्फटिकशिलादिनिर्मित-बाह्यलिङ्गं तद्रूपमिति हृदयकमलाश्रितचिन्मयमहालिङ्गस्वरूपवदिति निश्चयात् सन्देहराहित्येन धारयेत्,

बिन्दुस्वरूपामलमूलपीठं नादस्वरूपं स्फुरदूर्ध्वपीठम् ।
कलात्मतिर्यग्गतगोमुखाढ्यं चिद्रूपलिङ्गं हृदयाब्जसंस्थम् ॥

इति शिवालोकवचनात् तद्रूपबाह्यलिङ्गमन्तर्लिङ्गस्मरणार्थं वीरशैवो धारयेदित्यर्थः ॥ ४८ ॥

अन्तर्लिङ्ग को धारण करने में समर्थ हो या असमर्थ बाह्यलिङ्ग को अन्तर्लिङ्ग का रूप समझ कर उसका धारण अवश्य करना चाहिये ॥ ४८ ॥

अथ महालिङ्गभेदं निरूपयति—

लिङ्गं तु त्रिविधं प्रोक्तं स्थूलं सूक्ष्मं परात्परम् ।
इष्टलिङ्गमिदं स्थूलं यद् बाह्ये धार्यते तनौ ॥ ४९ ॥
प्राणलिङ्गमिदं सूक्ष्मं यदन्तर्भावनामयम् ।
परात्परं तु यत्प्रोक्तं तृप्तिलिङ्गं तदुच्यते ॥ ५० ॥

लिङ्गं तु महालिङ्गमित्यर्थः, तत् स्थूलं सूक्ष्मं परात्परमिति त्रिविधम् । तत्र यद् बाह्ये तनौ धार्यते तदिदमिष्टलिङ्गं स्थूलम् । यद् यल्लिङ्गमन्तः हृदयकमले भावनामयं सन्मात्रभावनारूपं तत् प्राणलिङ्गं सूक्ष्मम्, यद् यल्लिङ्गं परात्परमिति प्रोक्तं तत् तृप्तिलिङ्गमित्युच्यत इत्यर्थः ॥ ४९-५० ॥

यह लिङ्ग स्थूल सूक्ष्म परात्पर भेद से तीन प्रकार का कहा गया है । जो बाहर शरीर में धारण किया जाता है वह इष्टलिङ्ग स्थूल है । प्राणलिङ्ग सूक्ष्म है जो कि अन्तर्भावना रूप है । जिसे परात्पर लिङ्ग कहा गया वह तृप्तिलिङ्ग कहा जाता है ॥ ४९-५० ॥

नन्विदं स्थूललिङ्गं किमर्थं धारणीयमित्यत्राह—

भावनातीतमव्यक्तं परब्रह्म शिवाभिधम् ।
इष्टलिङ्गमिदं साक्षादनिष्टपरिहारतः ॥
धारयेदवधानेन शरीरे सर्वदा बुधः ॥ ५१ ॥

अव्यक्तं रूपाद्यभावादबाह्येन्द्रियगोचरम्, समलमानसवृत्त्यगम्यत्वाद्, भावनातीतं शिवाभिधं परब्रह्म निगमागमप्रसिद्धशिवाख्यपरब्रह्मैव, अनिष्टपरिहारतः संसारपाशलक्षणानिष्टपरिहारतः, इष्टरूपपरात्परमुक्तिप्रदानतः, साक्षात् प्रत्यक्षीभूतेष्टलिङ्गमिदम्—'इष्टमूर्जं तपसानुयच्छत' इत्यथर्वशिरः सिद्धं लिङ्गं बुधो निगमागमनिपुणः, शरीरे सावधानेन सदा धारयेदित्यर्थः ॥ ५१ ॥

भावना से परे अत एव अव्यक्त शिव नामक पर ब्रह्म अनिष्ट से परिहार के कारण साक्षात् इष्टलिङ्ग है । विद्वान् को चाहिये कि वह सावधान होकर सर्वदा शरीर से इसका धारण करे ॥ ५१ ॥

अथेदमिष्टलिङ्गं शरीरे कुत्र धारणीयमित्यत्राह—

मूर्ध्नि वा कण्ठदेशे वा कक्षे वक्षःस्थलेऽपि वा ।
कुक्षौ हस्तस्थले वापि धारयेल्लिङ्गमैश्वरम् ॥ ५२ ॥

स्पष्टम् ॥ ५२ ॥

शिर पर कण्ठ में बगल में अथवा वक्ष:स्थल पर या कुक्षि अर्थात् पेट के ऊपर अथवा हथेली में शिवलिङ्ग का धारण करना चाहिये ॥ ५२ ॥

अथ निषेधस्थानमाह—

नाभेरधस्ताल्लिङ्गस्य धारणं पापकारणम् ।
जटाग्रे त्रिकभागे च मलस्थाने न धारयेत्॥ ५३ ॥

त्रिकभाग: पृष्ठभाग इत्यर्थ: । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ५३ ॥

नाभि के नीचे लिङ्ग का धारण पाप का कारण होता है । जटा के अग्रभाग में पीठ पर तथा मलस्थान में लिङ्ग का धारण नहीं करना चाहिये ॥ ५३ ॥

अथेदं लिङ्गं कुत्र पूजनीयमित्यत्राह—

लिङ्गधारी सदा शुद्धो निजलिङ्गं मनोरमम् ।
अर्चयेद् गन्धपुष्पाद्यै: करपीठे समाहित: ॥ ५४ ॥

स्पष्टम् ॥ ५४ ॥

लिङ्ग का धारण करने वाला सदा शुद्ध होता है । उसे चाहिये कि वह समाहित अर्थात् एकाग्रचित्त होकर अपने मनोरम लिङ्ग की कररूपी पीठ पर गन्ध पुष्प आदि से पूजा करे ॥ ५४ ॥

बाह्यपीठार्चनादेतत् करपीठार्चनं वरम् ।
सर्वेषां वीरशैवानां मुमुक्षूणां निरन्तरम् ॥ ५५ ॥

स्पष्टम् ॥ ५५ ॥

मोक्षार्थी समस्त वीरशैवों के लिये यह करपीठार्चन बाह्यपीठार्चन की अपेक्षा सदा श्रेष्ठ है ॥ ५५ ॥

अथेदं लिङ्गधारणं कैरङ्गीकृतमित्यत्राह—

ब्रह्मविष्ण्वादयो देवा मुनयो गौतमादय: ।
धारयन्ति सदा लिङ्गमुत्तमाङ्गे विशेषत: ॥ ५६ ॥
लक्ष्म्यादिशक्तय: सर्वा: शिवभक्तिविभाविता: ।
धारयन्त्यलिकाग्रेषु शिवलिङ्गमहर्निशम् ॥ ५७ ॥

अनेन स्त्रीपुरुषयोरपि लिङ्गधारणमुक्तं भवति ॥ ५६-५७ ॥

ब्रह्मा विष्णु आदि देवतागण, गौतम आदि मुनिवृन्द, विशेष रूप से इस लिङ्ग का उत्तमाङ्ग अर्थात् शिर पर धारण करते हैं । शिवभक्ति से परिपूर्ण

लक्ष्मी आदि समस्त शक्तियाँ इस शिवलिङ्ग को रात-दिन मस्तक पर धारण की रहती हैं ॥ ५६-५७ ॥

अथेदं लिङ्गधारणं कुत्रोक्तमित्याह—

वेदशास्त्रपुराणेषु कामिकाद्यागमेषु च ।
लिङ्गधारणमाख्यातं वीरशैवस्य निश्चयात् ॥ ५८ ॥

वेदों शास्त्रों पुराणों और कामिक आदि आगमों में वीरशैव के लिये लिङ्गधारण आवश्यक कहा गया है ॥ ५८ ॥

अथ श्रुतौ कुत्र प्रसिद्धमित्यत्राह—

ऋगित्याह पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते ।
तस्मात्पवित्रं तल्लिङ्गं धार्यं शैवमनामयम् ॥ ५९ ॥

'पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते' **इति ऋग्वेद आह । भो ब्रह्मणस्पते ते तव लिङ्गमिति शेषः । विततं शिवादिभूम्यन्तं विस्तृतम्, पवित्रं पावनम्, तस्माद् अनामयं दोषरहितं शैवं तल्लिङ्गं धारयेदित्यर्थः ॥ ५९ ॥**

ऋग्वेद ने कहा—'हे ब्रह्मणस्पते! (= ब्रह्मन्) यह शिवलिङ्ग वितत अर्थात् शिवादि धरण्यन्त छत्तीस तत्त्वों में व्याप्त है अतः तुम्हारे लिये पवित्र है । इस कारण इस अनामय शिवलिङ्ग का धारण करना चाहिये ॥ ५९ ॥

ननु किमस्य धारणेनेत्याह—

ब्रह्मेति लिङ्गमाख्यातं ब्रह्मणः पतिरीश्वरः ।
पवित्रं तद्धि विख्यातं तत्सम्पर्कात्तनुः शुचिः ॥ ६० ॥

तत्पवित्रमिति तत्सम्पर्कात् तनुः शरीरं पवित्रं भवतीत्यर्थः ॥ ६० ॥

लिङ्ग को ब्रह्म कहा गया है । ब्रह्मा के पति ईश्वर अर्थात् शिव हैं । इस प्रकार लिङ्ग पवित्र कहा गया है । उसके सम्पर्क से उसको धारण करने वाले का शरीर भी शुद्ध हो ज़ाता है ॥ ६० ॥

अथैतादृशं लिङ्गं दीक्षया रहितो न धारयेदित्याह—

अतप्ततनुरज्ञो वै आमः संस्कारवर्जितः ।
दीक्षया रहितः साक्षान्नाप्नुयाल्लिङ्गमुत्तमम् ॥ ६१ ॥

अतप्ततनुः तपोरहितदेहः, आमः अपरिपक्वः, अवैराग्यशील इत्यर्थः । संस्कारवर्जितः शिवसंस्काररहितः, अज्ञः नित्यानित्यवस्तुविवेकशून्यः, दीक्षया रहितः गुरुकारुण्यरहितः, साक्षात् प्रत्यक्षम् उत्तमं श्रेष्ठलिङ्गं

नाप्नुयाद् न धारयेत् । अस्मिन्नर्थे—'अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते'[१] **इति श्रुतिः । तद् आम इति विच्छेदः, तत् तल्लिङ्गमित्यर्थः । अनेन सुप्रसन्नेन गुरुणा दत्तं लिङ्गमेव भोगमोक्षप्रदम्, स्वेच्छया धृतं विफलमिति सूचितम् ॥ ६१ ॥**

तपस्या रहित अज्ञानी आम = कच्चा अर्थात् अपरिपक्व अन्तःकरण वाला संस्कारहीन तथा दीक्षारहित मनुष्य को उत्तम लिङ्ग को स्वतः नहीं धारण करना चाहिये स्वेच्छया लिङ्ग धारण पापास्पद होता है ॥ ६१ ॥

अथ लिङ्गधारणे याजुषी श्रुतिरप्यस्तीत्याह—

अघोरा पापकाशीति या ते रुद्रशिवा तनूः ।
यजुषा गीयते यस्मात् तस्माच्छैवोऽघवर्जितः ॥ ६२ ॥

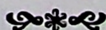
'या ते रुद्र शिवा तनूरघोरा पापकाशिनी'[२] **इति श्रीरुद्रश्रुतिः । अस्याः श्रुतेरयमर्थः—भो रुद्र, ते तव, शिवा मङ्गलस्वरूपा, या तनूः, 'लिङ्गं तु शिवयोर्देहः' इत्यागमोक्तेः शिवशक्त्या(त्मिका) लिङ्गमूर्तिः, सा अघोरा शान्ता, अपापकाशी अपापेषु भक्तेषु काशत इति अपापकाशी, इष्टलिङ्गरूपेण तत्र स्थिता, इति यजुषा यजुर्वेदेन, यस्माद् गीयते, तस्मात् शैवः शिवलिङ्गसम्बन्धी, अघवर्जितः पापरहित इत्यर्थः ॥ ६२ ॥**

यजुर्वेद कहता है—'हे रुद्र! आपका शरीर अघोर पापरहित और मङ्गलकारी है । इस कारण लिङ्ग का धारण करने वाला शिवोपासक निष्पाप होता है ॥ ६२ ॥

अथ लिङ्गधारणस्थलं समाप्य तत्सम्पन्नस्य भस्मधारणस्थलं सूचयति—

यो लिङ्गधारी नियतान्तरात्मा
नित्यं शिवाराधनबद्धचित्तः ।
स धारयेत् सर्वमलापहत्यै
भस्मामलं चारु यथाप्रयोगम् ॥ ६३ ॥

इति श्रीवीरशैवधर्मनिर्णये सिद्धान्तशिखामणौ भक्तस्थले गुरुकारुण्य-लिङ्गधारणप्रसङ्गो नाम षष्ठः परिच्छेदः ॥ ६ ॥



---

१. ऋंसं० ९।८३।१

१. या ते रुद्र शिवा तनूरघोराऽपापकासिनी ।
तया नस्तन्वा शन्तमया गिरिशन्ताभिचाकशीहि ॥ (वा०सं० १६।२)

यः पुरुषो लिङ्गधारी लिङ्गधारणसम्पन्नः, नियतान्तरात्मा निर्मलान्तः-करणः, नित्यं शिवपूजाबद्धचित्तः, स शिवलिङ्गधारकः सर्वमलापहत्यै सर्वदोषनिवृत्त्यै चारु मनोहरम् अमलं निर्मलं भस्म यथाप्रयोगं शास्त्रोक्तप्रकारेण धारयेदित्यर्थः ॥ ६३ ॥

श्रीमत्पदवाक्यप्रमाणपारावारधुरीणश्रीमरितोण्टदार्येण विरचितायां
तत्त्वप्रदीपिकाख्यायां सिद्धान्तशिखामणिव्याख्यायां भक्तस्थले
गुरुकारुण्यलिङ्गधारणप्रसङ्गो नाम षष्ठः परिच्छेदः ॥ ६ ॥



जो लिङ्गधारी संयतचित्त वाला नित्य शिवाराधन में मन को लगाये हुए है वह समस्त पापों के नाश के लिये सुन्दर एवं निर्मल भस्म को विधि-विधान के अनुसार धारण करे ॥ ६३ ॥

इस प्रकार श्रीसिद्धान्तशिखामणि के गुरुकारुण्यलिङ्गधारणप्रसङ्ग
नामक षष्ठ परिच्छेद की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदिकृत
'ज्ञानवती' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ६ ॥

सप्तमः परिच्छेदः

भस्मधारणस्थलम्

अथ 'भूत्यै न प्रमदितव्यम्'[1] इति श्रुतिप्रसिद्धभस्मधारणस्थलं निरूपयति श्रीरेणुकः । अत्रादौ निरुपाधिकभस्मधारणं सूत्रद्वयेन निरूपयति—

भस्मधारणसंयुक्तः पवित्रो नियताशयः ।
शिवाभिधानं यत्प्रोक्तं भासनाद्भसितं तथा ॥ १ ॥
महाभस्मेति सञ्चित्य महादेवं प्रभामयम् ।
वर्तन्ते ये महाभागा मुख्यास्ते भस्मधारिणः ॥ २ ॥

भस्मधारणसंयुक्तः शिवलिङ्गधारकः, नियताशयः—'भस्मध्यानात् सन्धानं भवति, भस्मध्यानात् पञ्चाक्षरीस्मरणं भवति, तस्माद् ध्यानात् स्थाणुत्वं च गच्छति । स एष भस्मज्योतिः स एष भस्मज्योतिः' इति भस्मजाबालश्रुते[2]-र्भस्मज्योतिर्लिङ्गमयमिति नियमितचित्तः सन्, पवित्रः शुद्धो यद्भस्मज्योतिर्लिङ्गं शिवाभिधानं परशिवपरब्रह्माभिधानं सत् प्रोक्तमिति प्रभामयं ज्योतिर्लिङ्ग-स्वरूपम्, तं महादेवं भासनात् प्रकाशनाद् भसितं भसितमिति तथा महाभस्मेति सञ्चित्य महाभागाः श्रेष्ठा ये केचिल्लिङ्गधारका वर्तन्ते ते मुख्या मुख्यभस्मधारिणो निरुपाधिकभस्मधारिण इत्यर्थः ॥ १-२ ॥

भस्मधारणस्थल वर्णन—भस्मधारण से युक्त मनुष्य निश्चित आशय वाला तथा पवित्र होता है । जो शिव का (पञ्चाक्षर मन्त्र रूप) नाम कहा गया (शिव का) भासन अर्थात् प्रकाशन करने से वह भसित अर्थात् महाभस्म है । ऐसे प्रभामय महादेव का जो लोग ध्यान करते हुए (मन्त्र जप आदि) अन्य कार्य करते हैं वे ही मुख्य भस्मधारी हैं ॥ १-२ ॥

---

१. तै०उ० ११।१

२. अयमुद्धृतांशो भस्मजाबालोपनिषदि न प्राप्यते ।

अथ सोपाधिकभस्मस्वरूपं निरूपयति—

शिवाग्न्यादिसमुत्पन्नं मन्त्रन्यासादियोगतः ।
तदुपाधिकमित्याहुर्भस्मतन्त्रविशारदाः ॥ ३ ॥

यद्भस्म मन्त्रन्यासादियोगतः पञ्चब्रह्ममन्त्रन्यासादिसम्बन्धात् शिवाग्न्यादिसमुत्पन्नं शिवमन्त्रसंस्कृताग्निसमुत्पन्नं भवति, तत् तद्भस्म तन्त्रविशारदाः शिवागमप्रवीणा उपाधिकं भस्म सोपाधिकं भस्मेत्याहुरित्यर्थः ॥ ३ ॥

(जो भस्म) मन्त्र न्यास आदि के योग से शिवाग्नि से उत्पन्न भस्म शास्त्र के विद्वान् उसे सोपाधिक भस्म कहते हैं ॥ ३ ॥

अथास्य भस्मनः कारणभेदेन नामपञ्चकमस्तीत्याह—

विभूतिर्भसितं भस्म क्षारं रक्षेति भस्मनः ।
एतानि पञ्चनामानि हेतुभिः पञ्चभिर्भृशम् ॥ ४ ॥

स्पष्टम् ॥ ४ ॥

भस्म के विभूति, भसित, भस्म, क्षार और रक्षा—ये पाँच नाम निश्चित रूप से पाँच कारणों से है ॥ ४ ॥

तत्कारणमन्वर्थनाम कृत्वा कथयति—

विभूतिर्भूतिहेतुत्वाद् भसितं तत्त्वभासनात् ।
पापानां भर्त्सनाद्भस्म क्षरणात् क्षारमापदाम् ॥ ५ ॥
रक्षणात् सर्वभूतेभ्यो रक्षेति परिगीयते ।

अणिमाद्यष्टैश्वर्यकारणत्वाद् विभूतिः शिवतत्त्वप्रकाशनाद्भसितम्, पापानां मनोवाक्कायजन्यानां भर्त्सनाद् भयोत्पादनाद्भस्म, आपदां तापत्रयोत्पन्नविपदां क्षारणात् क्षयीकरणात् क्षारम्, सर्वभूतेभ्यो ग्रहयक्षादिभ्यो (रक्षणात्) रक्षेति परिगीयत इत्यर्थः ॥ ५ ॥

भूति अर्थात् ऐश्वर्य का कारण होने से इसे विभूति कहा गया है । इसका भसित नाम तत्त्व का भासन करने के कारण है । पापों का भर्त्सन (= नाश) करने से यह भस्म और आपत्तियों का क्षरण करने के कारण क्षार कहलाता है । समस्त प्राणियों की रक्षा करने से यह रक्षा कहा जाता है ॥ ५-६ ॥

नन्वेकविधक्रियाभेदः किंनिबन्धन इत्यत्र गोमूलक इत्याह—

नन्दा भद्रा च सुरभिः सुशीला सुमनास्तथा ॥ ६ ॥

पञ्च गावो विभोर्जाता: सद्योजातादिवक्त्रत: ।

शिवस्य सद्योजातमुखान्नन्दा, वामदेववदनाद् भद्रा, अघोरास्यात् सुरभि:, तत्पुरुषवक्त्रात् सुशीला, ईशानाननात् सुमना: । एवं पञ्च गावो जाता: । तत्कृतोऽयं कार्यभेद इत्यर्थ: ॥ ६ ॥

नन्दा, भद्रा, सुरभि, सुशीला और सुमना—ये पाँच गायें परमेश्वर के सद्योजात आदि पाँच मुखों से उत्पन्न हुईं । (उनमें सद्योजात से नन्दा, वामदेव से भद्रा, अघोर से सुरभि, तत्पुरुष नामक मुख से सुशीला और ईशान नामक मुख से सुमना उत्पन्न हुई) ॥ ६-७ ॥

तर्हि किमासां रूपमित्यत्राह—

कपिला कृष्णा च धवला धूम्रा रक्ता तथैव च ॥ ७ ॥
नन्दादीनां गवां वर्णा: क्रमेण परिकीर्तिता: ।

तथैव क्रमेणेति सम्बन्ध: ॥ ७ ॥

उन नन्दा आदि गायों के रङ्ग क्रमश: कपिल कृष्ण श्वेत धूम्र और रक्त बतलाये गये हैं ॥ ७ ॥

अथ कया गवा कीदृशं भस्मोत्पन्नमित्यत्राह बृहज्जाबालश्रुत्यर्थमेव—

सद्योजाताद्विभूतिश्च वामाद्भसितमेव च ॥ ८ ॥
अघोराद्भस्म सजातं तत्पुरुषात्क्षारनाम च ।
रक्षा चेशानवक्त्राच्च नन्दादिद्वारतोऽभवत् ॥ ९ ॥

सद्योजातमुखोत्पन्ननन्दया विभूति:, वामदेवमुखोद्भूतभद्रया भसितम्, अघोरमुखसञ्जातसुरभिगवा भस्म, तत्पुरुषमुखाविर्भूतसुशीलया क्षारम्, ईशानमुखनिर्गतसुमनसा रक्षा, अभवदासीदित्यर्थ: ॥ ८-९ ॥

सद्योजात से 'विभूति', वामदेव से 'भसित', अघोर से 'भस्म', तत्पुरुष से 'क्षार' और ईशान वक्त्र से 'रक्षा' नामक भस्म नन्दा आदि के द्वारा उत्पन्न किये गये ॥ ८-९ ॥

अथैषां विनियोगमाह—

धारयेन्नित्यकार्येषु विभूतिं च प्रयत्नत: ।
नैमित्तिकेषु भसितं क्षारं काम्येषु सर्वदा ॥ १० ॥
प्रायश्चित्तेषु सर्वेषु भस्म नाम यथाविधि ।
रक्षा च मोक्षकार्येषु प्रयोक्तव्या सदा बुधै: ॥ ११ ॥

बुधै: वीरशैवमतप्रविष्टविद्वज्जनै: प्रयोक्तव्यं धार्यमित्यर्थ: । शिष्टं स्पष्टम् ॥ १०-११ ॥

नित्यकर्म में विभूति, नैमित्तिक में भसित, काम्यकर्म में क्षार, प्रायश्चित्त कर्म में भस्म और मोक्ष कार्यों में विद्वान् लोग रक्षा नामक भस्मों का विधिवत् धारण करें ॥ १०-११ ॥

अथैवंविधभस्मनां वर्णमाह—

नन्दादीनां तु ये वर्णा: कपिलाद्या: प्रकीर्तिता: ।
त एव वर्णा विख्याता भूत्यादीनां यथाक्रमम् ॥ १२ ॥

स्पष्टम् ॥ १२ ॥

नन्दा आदि गायों के जिन कपिल आदि रङ्गों की चर्चा पहले की गयी भूति आदि के भी क्रम से वे ही रङ्ग कहे गये हैं ॥ १२ ॥

अथैतद्भस्मोत्पत्तिश्चतुर्विधेत्याह—

भस्मोत्पादनमुद्दिष्टं चतुर्धा तन्त्रवेदिभि: ।
कल्पं चैवानुकल्पं तूपकल्पमकल्पकम् ॥ १३ ॥
एषामादिममुत्कृष्टमन्यत् सर्वमभावत: ।

कल्पानुकल्पोपकल्पाकल्पाख्यचतुर्विधभस्मस्वादिमं प्राथमिकं कल्पं भस्मोत्कृष्टम्, अन्यत् सर्वं शिष्टं त्रिविधं भस्म अभावत: कल्पभस्मालाभादङ्गीकरणीयमित्यर्थ: ॥ १३ ॥

तन्त्र शास्त्र के वेत्ताओं ने भस्म का उत्पादन चार प्रकार से बतलाया है—कल्प, अनुकल्प, उपकल्प और अकल्प । इनमें से प्रथम श्रेष्ठ हैं । उसके अभाव में शेष सब ग्राह्य हैं ॥ १३-१४ ॥

अथ तेषां स्वरूपं क्रमेण कथयति—

यथाशास्त्रोक्तविधिना गृहीत्वा गोमयं नवम् ॥ १४ ॥
सद्येन वामदेवेन कुर्यात्पिण्डमनुत्तमम् ।
शोषयेत्पुरुषेणैव दहेद् घोराच्छिवाग्निना ॥ १५ ॥
कल्पं तद्भस्म विज्ञेयमनुकल्पमथोच्यते ।
वनेषु गोमयं यच्च शुष्कं चूर्णीकृतं तथा ॥ १६ ॥
दग्धं चैवानुकल्पाख्यमापणादिगतं तु यत् ।
वस्त्रेणोत्तारितं भस्म गोमूत्राबद्धपिण्डितम् ॥ १७ ॥

दग्धं प्रागुक्तविधिना भवेद्भस्मोपकल्पकम् ।
अन्यैरापादितं भस्माप्यकल्पमिति निश्चितम् ॥ १८ ॥

शास्त्रोक्तप्रकारेण नन्दादिभिराविर्भूतनूतनगोमयं सद्येन सद्योजातमन्त्रेणान्तरे गृहीत्वा वामदेवमन्त्रेण पिण्डीकृत तत्पुरुषमन्त्रेण शोषयित्वा शिवमन्त्र-संस्कृताग्निना घोरादघोरमन्त्राद् दहेद् भस्मीकुर्यादित्यर्थः । अथैशानमन्त्रेण बिल्वादिपात्रे स्थापितं तद्भस्म कल्पमिति ज्ञातुं योग्यमित्यर्थः । अरण्येषु यच्छुष्कं गोमयं चूर्णीकृत्य पूर्ववद्दग्धं भस्मानुकल्पाख्यमित्यर्थः । अत्र मन्त्रत्रयलोपः । आपणादिगतं यद्भस्मास्ति तद्वस्त्रेण संशोधितं सत् पुनर्गोमूत्रेण पिण्डीकृतं सत् पश्चात् प्रागुक्तविधिना दग्धं चेदुपकल्पाख्यं भस्म भवेत् स्यादित्यर्थः । अन्यैः अमन्त्रज्ञैः, आपादितं सम्पादितं भस्म अकल्पमिति कल्पितं कथितमित्यर्थः ॥ १४-१८ ॥

भस्मोपादन-विधि[1]—शास्त्रोक्त विधि से सद्योजात मन्त्र का उच्चारण करते हुए गाय का ताजा गोबर लेकर तत्काल वामदेव मन्त्र का उच्चारण करते हुए उसका सुन्दर पिण्ड बनाये । तत्पुरुष मन्त्र से उसको (धूप में) सुखाये और वहीं अघोर मन्त्र का उच्चारण करते हुए उसे जलाये। इस विधि से तैयार किया गया भस्म 'कल्प' कहलाता है । इसके बाद अनुकल्प को बतलाते हैं। वन में गाय का जो सूखा और चूर्ण किया हुआ गोबर होता है उसको जलाने पर अनुकल्प नामक भस्म बनता है । जो भस्म दूकान से ले आकर कपडे से छानकर गोमूत्र से पिण्ड बनाकर पूर्वोक्त विधि से जलाया जाय वह उपकल्प भस्म होता है । अन्य (= विधान को न जानने वालों) के द्वारा तैयार किया गया भस्म अकल्प कहलाता है । (ऐसा शास्त्रों का) निश्चय है ॥ १४-१८ ॥

अथैवंविधभस्मना स्नानं कुर्यादित्याह—

एष्वेकतममादाय पात्रेषु कलशादिषु ।
त्रिसन्ध्यमाचरेत् स्नानं यथासम्भवमेव वा ॥ १९ ॥

कलशादिपात्रेषु भिन्नतया स्थापितेष्वेषु भस्मसु, एकतमं भस्मादाय, त्रिकालमेककालं वा स्नानं कुर्यादेवेत्यर्थः ॥ १९ ॥

कलश आदि पात्रों में रखे गये उपर्युक्त भस्मों में से किसी एक भस्म को लेकर तीनों संन्ध्याओं (= प्रातः मध्याह्न और सायङ्काल वाली सन्ध्याओं) में तीन बार स्नान करे अथवा यथाशक्ति एक बार स्नान करे ॥ १९ ॥

---

१. यह विधि वृहज्जाबालोपनिषद् में वर्णित है ।

कथं कर्तव्यमित्यत्राह—

स्नानकाले करौ पादौ प्रक्षाल्य विमलाम्भसा ।
वामहस्ततले भस्म क्षिप्त्वाच्छाद्यान्यपाणिना ॥ २० ॥
अष्टकृत्वाथ मूलेन मौनी भस्माभिमन्त्र्य च ।
शिर ईशानमन्त्रेण पुरुषेण मुखं तथा ॥ २१ ॥
हृत्प्रदेशाघोरेण वामदेवेन गुह्यकम् ।
पादौ सद्येन सर्वाङ्गं प्रणवेनैव सेचयेत् ॥ २२ ॥

भस्मस्नानकाले स्वच्छोदकेन हस्तौ पादौ प्रक्षाल्य वामकरतले भस्म संस्थाप्य दक्षिणपाणिनाऽऽच्छाद्य दक्षिणोरौ निवेश्य 'मौनी भस्माभिमन्त्रयेत्' इति शिवागमवचनाद् मौनी भूत्वा मूलेनाष्टवारमभिमन्त्र्य शिरोमुखहृदय-नाभिपादेषु प्रणतिपूर्वकैरीशानादिमन्त्रै[1]रभ्युक्षयेत् प्रणवेन सर्वाङ्गं प्रोक्षये-दित्यर्थः ॥ २०-२२ ॥

भस्म स्नान के समय पहले स्वच्छ जल से दोनों हाथ और दोनों पैरों को धुलकर बाँयें हाथ के तल पर भस्म को रखे । दायें हाथ से उसको ढँककर आठ बार मूल मन्त्र (= ॐ नमः शिवाय) से मौन होकर भस्म का अभिमन्त्रण करे । फिर ईशान मन्त्र से शिर, तत्पुरुष मन्त्र से मुख, अघोर मन्त्र से हृदय, वामदेव से गुह्य, सद्योजात मन्त्र से पैर तथा ओंकार से सर्वाङ्ग का अभिषेक करना चाहिये ॥ २०-२२ ॥

अथेदं जलस्नानादुत्कृष्टमित्याह—

१. ईशान आदि मन्त्र निम्नलिखित हैं—

ईशान—ईशानः सर्वविद्यानामीश्वरः सर्वभूतानाम् । ब्रह्माधिपतिर्ब्रह्मणोऽधिपति-ब्रह्मा शिवो मेऽस्तु सदाशिवोम् ।

तत्पुरुष—तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि तन्नो रुद्रः प्रचोदयात् ।

अघोर—अघोरेभ्योऽथ घोरेभ्यो घोरघोरतरेभ्यः । सर्वेभ्यः सर्वसर्वेभ्यो नमस्तेऽस्तु रुद्ररूपेभ्यः ।

वामदेव—वामदेवाय नमो ज्येष्ठाय नमः श्रेष्ठाय नमो रुद्राय नमः कालाय नमः कलविकरणाय नमो बलविकरणाय नमो बलाय नमो बलप्रमथनाय नमः सर्वभूतदमनाय नमो मनोन्मनाय नमः ।

सद्योजात—सद्योजातं प्रपद्यामि सद्योजाताय वै नमो नमः । भवे भवेनातिभवे भवस्व मां भवोद्भवाय नमः ।

भस्मना विहितं स्नानमिदमाग्नेयमुत्तमम् ।
स्नानेषु वारुणाद्येषु मुख्यमेतन्मलापहम् ॥ २३ ॥

गङ्गोदकदिव्यवायव्यादिस्नानेषु भस्मना विहितं स्नानमिदमाग्नेयमुत्तमम्, अग्नेः सर्वभस्मकत्वेनैतदाग्नेयस्नानम्, सकलमलापहमिति मुख्यमित्यर्थः ॥ २३ ॥

भस्म से किया गया यह स्नान 'आग्नेय स्नान' कहा जाता है । वारुण आदि (सात[1] प्रकार के) स्नानों में यह मुख्य तथा आभ्यन्तर-बाह्य मलों को दूर करने वाला है ॥ २३ ॥

ननु जलादिस्नानस्य सकलमलनिवर्तकत्वं नास्ति वेत्यत्राह—

भस्मस्नानवतां पुंसां यथायोगं दिने दिने ।
वारुणाद्यैरलं स्नानैर्बाह्यदोषापहारिभिः ॥ २४ ॥

यथायोगं शास्त्रोक्तप्रकारमनतिक्रम्य प्रतिदिनं भस्मस्नानवतां पुंसां बाह्याभ्यन्तरमलक्षयाद् भस्मनो ज्ञानाङ्गत्वाद् बाह्यमलमात्रनिवर्तकैर्जलादिस्नानैरलं किं प्रयोजनमित्यर्थः ॥ २४ ॥

प्रतिदिन शास्त्रानुसार भस्म स्नान करने वालों के लिये बाह्य दोषों को हटाने वाले वारुण आदि स्नानों की कोई आवश्यकता नहीं होती ॥ २४ ॥

अत एव यतिभिर्जलस्नानादाग्नेयमेव श्रेष्ठमिति भस्मस्नानमेव विधीयत इत्याह—

आग्नेयं भस्मना स्नानं यतिभिस्तु विधीयते ।
आर्द्रस्नानात् परं भस्म आर्द्रे जन्तुवधो ध्रुवम् ॥ २५ ॥

भस्मना स्नानमाग्नेयमिति यतिभिर्विधीयते, वह्नेः प्रकाशत्वेन ज्ञानप्रदत्वात् । भस्मस्नानं (यतिभिः) आर्द्रस्नानात्परं श्रेष्ठम् । आर्द्रे जलस्नाने जन्तुवध इति ध्रुवं निश्चयः, जलचरप्राणिपीडनया शैत्येन च प्राणिहिंसाकरमित्यर्थः, अत्र तादृशदोषाभावाच्च ॥ २५ ॥

यती लोग भस्म के द्वारा आग्नेय स्नान करते हैं । भस्म स्नान आर्द्र स्नान अर्थात् जल स्नान से श्रेष्ठ होता है क्योंकि जल स्नान में प्राणियों की हिंसा निश्चित होती है ॥ २५ ॥

---

१. मान्त्र, भौम, आग्नेय, वायव्य, दिव्य, वारुण और मानस ये सात प्रकार के स्नान हैं ।

अथ जलस्य दोषान्तरमुद्भावयति—

आर्द्रं तु प्रकृतिं विन्द्यात् प्रकृतिं बन्धनं विदुः ।
प्रकृतेस्तु प्रहाणार्थं भस्मना स्नानमिष्यते ॥ २६ ॥

आर्द्रं जलं प्रकृतिं गर्भवासप्रकृतिं विन्द्यात्, रक्तशुक्लयोर्जलमयत्वात्, 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः'[१] इति श्रुतेः । प्रकृतिं बन्धनं भोज्यभोजनरूपेण पुरुषस्य पाशरूपं विदुः, अभिज्ञाः जानन्ति, 'पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्'[२] इति भगवदुक्तेः पुरुषस्य प्रकृतिबद्धत्वात्, प्रकृतेस्तु प्रहाणार्थं जलस्नानोत्थदोषनिवृत्त्यर्थं भस्मना स्नानमिच्छाविषयीक्रियत इत्यर्थः ॥ २६ ॥

जल को प्रकृति समझना चाहिये । (विद्वान् लोग) प्रकृति को बन्धन मानते हैं । इस प्रकृति अर्थात् बन्धन का त्याग करने के लिये भस्म के द्वारा स्नान किया जाता है ॥ २६ ॥

अथेदं भस्मना स्नानं कैरङ्गीकृतमित्यत्राह—

ब्रह्माद्या विबुधाः सर्वे मुनयो नारदादयः ।
योगिनः सनकाद्याश्च बाणाद्या दानवा अपि॥ २७ ॥
भस्मस्नानयुताः सर्वे शिवभक्तिपरायणाः ।
निर्मुक्तदोषकलिला नित्यशुद्धा भवन्ति हि ॥ २८ ॥

कलिलाः समूहा इत्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ २७-२८ ॥

ब्रह्मा आदि देवता, नारद आदि मुनिगण, सनक आदि योगी, बाणा आदि राक्षस ये सब भस्मस्नान से युक्त और शिव भक्ति में संलग्न होकर दोषरूपी कीचड (अथवा दोषसमूह) से मुक्त हुए और नित्य शुद्ध हो गये ॥ २७-२८ ॥

अथ भस्मोद्धूलनं त्रिपुण्ड्रधारणं च कर्तव्यमित्याह—

नमश्शिवायेति भस्म कृत्वा सप्ताभिमन्त्रितम् ।
उद्धूलयेत् तेन देहं त्रिपुण्ड्रं चापि धारयेत् ॥ २९ ॥

भस्म नमश्शिवायेति मन्त्रेण सप्ताभिमन्त्रितं सप्तजन्मकृतदोषनिवृत्त्यर्थं सप्तवारमभिमन्त्रितं कृत्वा तेन भस्मना देहमुद्धूलयेत्, त्रिपुण्ड्रं चापि देहे रचयेदित्यर्थः ॥ २९ ॥

---

१. तै०उ० २।१ २. भ०गी० १३।२१

'ॐ नमः शिवाय' इस मन्त्र से भस्म को सात बार अभिमन्त्रित करे। पुनः उसका शरीर पर उद्धूलन (= उड़ाना) करे। साथ ही त्रिपुण्ड्र भी धारण करे ॥ २९ ॥

अत्रोद्धूलनापेक्षया त्रिपुण्ड्रस्याधिक्यमाह—

सर्वाङ्गोद्धूलनं चापि न समानं त्रिपुण्ड्रकैः ।
तस्मात् त्रिपुण्ड्रमेवैकं लिखेदुद्धूलनं विना ॥ ३० ॥

स्पष्टम् ॥ ३० ॥

समस्त शरीर को भस्म से उद्धूलित करना भी त्रिपुण्ड्र के बराबर नहीं होता। इस कारण (यदि इच्छा न हो तो) उद्धूलन के बिना भी केवल त्रिपुण्ड्र धारण करना चाहिये ॥ ३० ॥

अथ त्रिपुण्ड्रं कदा कथं कुत्र धारणीयमित्यत्राह—

त्रिपुण्ड्रं धारयेन्नित्यं भस्मना सलिलेन च ।
स्थानेषु पञ्चदशसु शरीरे साधकोत्तमः ॥ ३१ ॥

स्पष्टम् ॥ ३१ ॥

उत्तम कोटि के साधक को चाहिये कि वह प्रतिदिन भस्म और पानी मिलाकर शरीर में पन्द्रह स्थानों में त्रिपुण्ड्र धारण करे ॥ ३१ ॥

तानि कानीत्यत्राह—

उत्तमाङ्गे ललाटे च श्रवणद्वितये तथा ।
गले भुजद्वये चैव हृदि नाभौ च पृष्ठके ॥ ३२ ॥
बाहुयुग्मे ककुद्देशे मणिबन्धद्वये तथा ।
त्रिपुण्ड्रं भस्मना धार्यं मूलमन्त्रेण साधकैः ॥ ३३ ॥

त्रियायुषत्रियम्बकप्रणवपञ्चाक्षरमन्त्रैर्धारयेत्, 'शिरोललाटकण्ठस्कन्धवक्षःस्थलेषु त्रियायुषत्रियम्बकैस्तिस्रो रेखाः कुर्वीत । व्रतमेतच्छाम्भवम्' इति श्रुतेः ॥ ३२-३३ ॥

उत्तम साधक लोग मूलमन्त्र का उच्चारण करते हुए शिर, ललाट, दोनों कान, गला, दोनों भुजाओं, हृदय, नाभि, पीठ, दोनों बाहु, ककुद (= कन्धों का मध्य भाग), दोनों मणिबन्धों में भस्म के द्वारा त्रिपुण्ड्र धारण करें ॥ ३२-३३ ॥

अथ तदभिमन्त्रणप्रकारपूर्वकं समन्त्रकत्रिपुण्ड्रधारणस्य फलमाह—

वामहस्ततले भस्म क्षिप्त्वाच्छाद्यान्यपाणिना ।
अग्निरित्यादिमन्त्रेण स्पृशन् वाराभिमन्त्र्य च ॥ ३४ ॥
त्रिपुण्ड्रमुक्तस्थानेषु दध्यात् सजलभस्मना ।
शिवं शिव(क)रं शान्तं स प्राप्नोति न संशयः ॥ ३५ ॥

'अग्निरिति भस्म वायुरिति भस्म जलमिति भस्म स्थलमिति भस्म व्योमेति भस्म सर्वं ह वा इदं भस्म मन एतानि चक्षूंषि भस्मानि'[1] **इति मन्त्रेण स्पृशन् वारा उदकेन सप्तवारं मूलेनाभिमन्त्रयेदित्यर्थः ॥ ३४-३५ ॥**

जो भक्त इसके बाद पुनः बाँयें हाथ के तल पर भस्म रखकर दायें हाथ से उसे ढङ्ककर 'अग्निरिति भस्म.......' मन्त्र से जल द्वारा अभिमन्त्रित कर (शरीर के) उक्त स्थानों में जलसहित भस्म से त्रिपुण्ड्र का धारण करता है वह शान्त शिव शङ्कर को प्राप्त करता है इसमें सन्देह नहीं ॥ ३४-३५ ॥

अथ त्रिपुण्ड्ररचनाप्रकारमाह—

मध्याङ्गुलित्रयेणैव स्वदक्षिणकरस्य तु ।
षडङ्गुलायतं मानमपि वाऽलिकमानकम् ॥ ३६ ॥
नेत्रयुग्मप्रमाणेन भाले दध्यात् त्रिपुण्ड्रकम् ।

स्पष्टम् ॥ ३६ ॥

अपने दायें हाथ की तर्जनी मध्यमा अनामिका इन तीन अङ्गुलियों से छह अङ्गुल लम्बा अथवा मस्तक जितना लम्बा त्रिपुण्ड्र मस्तक पर लगाना चाहिये ॥ ३६ ॥

अथ प्रकारान्तरेण त्रिपुण्ड्रीकरणमाह—

मध्यमानामिकाङ्गुष्ठैरनुलोमविलोमतः ॥ ३७ ॥
धारयेद्यस्त्रिपुण्ड्राङ्कं स रुद्रो नात्र संशयः ।

मध्यमानामिकाभ्याम् अनुलोमतः प्रदक्षिणतो रेखाद्वयं तन्मध्ये अङ्गुष्ठेन विलोमतः अप्रदक्षिणतः, एकां रेखां रचयेत् । एवं धृतत्रिपुण्ड्रो रुद्र इत्युक्त्वात्, पूर्वापेक्षया विशेष इत्यर्थः ॥ ३७ ॥

जो मनुष्य मध्यमा अनामिका और अङ्गूठा से अनुलोम विलोम विधि से उल्टे सीधे त्रिपुण्ड्र का धारण करता है वह रुद्र हो जाता है । इसमें सन्देह

१. भस्मजबालोप०

नहीं ॥ ३७ ॥

अथ तल्लक्षणं कथयति—

ऋजु श्वेतमनुव्याप्तं स्निग्धं श्रोत्रप्रमाणकम् ॥ ३८ ॥
एवं सल्लक्षणोपेतं त्रिपुण्ड्रं सर्वसिद्धिदम् ।

ऋजु सरलं श्वेतं शुभ्रम् अनुव्याप्तम् अविचिछन्नम्, स्निग्धं सान्द्रं श्रोत्रप्रमाणकं श्रवणपरिमितमित्यर्थः ॥ ३८ ॥

सरल श्वेत परस्पर सटा हुआ चिकना तथा कान तक खिंचा हुआ इस प्रकार उत्तम लक्षणों से युक्त त्रिपुण्ड्र सर्वसिद्धदायक होता है ॥ ३८ ॥

अथास्य त्रिपुण्ड्रस्य महत्त्वं सूत्रद्वयेन सूचयति—

प्रातःकाले च मध्याह्ने सायाह्ने च त्रिपुण्ड्रकम् ॥ ३९ ॥
कदाचिद्भस्मना कुर्यात् स रुद्रो नात्र संशयः ।
एवंविधं विभूत्या च कुरुते यस्त्रिपुण्ड्रकम् ।
स रौद्रधर्मसंयुक्तस्त्रयीमय इति श्रुतिः ॥ ४० ॥

यो विभूत्या च भस्मना एवंविधम् ऋजुश्वेतादिसल्लक्षणोपेतं त्रिपुण्ड्रकं कुरुते, स रौद्रधर्मसंयुक्तो रुद्रसम्बन्धी यो धर्मः शिवाचारः, तेन संयुक्तः सन्, त्रयीमयो वेदत्रयस्वरूप इति श्रुतिः, 'य इदं त्रिपुण्ड्रं धरते स वेदत्रयधारी भवति स सन्ततं त्रेताग्निर्भवति स पुष्करत्रयस्नातो भवति । यस्त्रिपुण्ड्रधारी पुरुषः स रुद्रः स परमेष्ठी, य इदं त्रिपुण्ड्रं धृतवन्तं पुरुषं पश्यति स सर्वपापेभ्यो विनिर्मुक्तो भवति स सर्ववेदाध्ययनजन्यफलवान् भवति'[1] **इति वृद्धजाबालादि-बहुश्रुतिसिद्धोऽयमर्थः । तस्मात् प्रातरादिकालत्रये कदाचित् त्रिपुण्ड्रं यः कुर्यात्, स रुद्रः शिव एव न संशय इत्यर्थः ॥ ३९-४० ॥**

प्रात:काल मध्याह्न और सायङ्काल में किसी भी समय कम से कम एक बार भस्म से (स्नान करने वाला अथवा त्रिपुण्ड्र लगाने वाला पुरुष) रुद्र हो जाता है, इसमें सन्देह नहीं। इस प्रकार से जो भस्म से त्रिपुण्ड्र लगाता है वह रुद्रधर्म से युक्त तथा वेद स्वरूप हो जाता है—ऐसा श्रुति कहती है ॥ ३९-४० ॥

अथैतादृशं त्रिपुण्ड्रं कैर्धृतमित्यत्राह—

ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च देवाः शक्रपुरोगमाः ।

---

१. इदमुद्धरणं बृहज्जाबालोपनिषदि नोपलभ्यते ।

त्रिपुण्ड्रं धारयन्त्येव भस्मना परिकल्पितम् ॥ ४१ ॥
वसिष्ठाद्या महाभागा मुनयः श्रुतिकोविदाः ।
धारयन्ति सदाकालं त्रिपुण्ड्रं भस्मना कृतम्॥ ४२ ॥

स्पष्टम् ॥ ४१-४२ ॥

ब्रह्मा विष्णु रुद्र इन्द्र आदि देवतागण भस्म से बनाये गये त्रिपुण्ड्र को धारण करते ही हैं । वेदशास्त्रपारङ्गत वशिष्ठ आदि विद्वान् भस्म से बनाये गये त्रिपुण्ड्र को सदाकाल धारण करते हैं ॥ ४१-४२ ॥

अथेदं कुत्र विहितमित्यत्राह—

शैवागमेषु वेदेषु पुराणेष्वखिलेषु च ।
स्मृतीतिहासकल्पेषु विहितं भस्मपुण्ड्रकम् ॥
धारणीयं समस्तानां शैवानां च विशेषतः ॥ ४३ ॥

कल्पेषु कल्पसूत्रेष्वित्यर्थः ॥ ४३ ॥

शैवागम वेद समस्त पुराण स्मृति इतिहास तथा कल्पग्रन्थों में भस्मपुण्ड्र का विधान (वर्णित) है । इसे सब लोगों को विशेष रूप से शैवों (शिव-भक्तों) को धारण करना चाहिये ॥ ४३ ॥

अथानेन त्रिपुण्ड्रधारणेन सकलपापक्षय इत्युक्त्वा भस्मधारणस्थलं समापयति—

नास्तिको भिन्नमर्यादो दुराचारपरायणः ।
भस्मत्रिपुण्ड्रधारी चेन्मुच्यते सर्वकिल्बिषैः ॥ ४४ ॥

वेदविरुद्धाचारनिष्ठो नास्तिकः शरीरेन्द्रियबुद्धिव्यतिरेकेण कश्चिदात्मा नास्तीति वदन् चार्वाकादिः । अत एव दुराचारपरायणस्तादृशोऽपि भस्मत्रिपुण्ड्रधारी चेत्, सर्वकिल्बिषैः समस्तपापैर्मुच्यत इत्यर्थः ॥ ४४ ॥

नास्तिक, शास्त्रीय नियमों का उल्लङ्घन करने वाला, दुराचारी भी यदि भस्मत्रिपुण्ड्र का धारण करने वाला है तो समस्त पापों से मुक्त हो जाता है ॥ ४४ ॥

अथ रुद्राक्षधारणस्थलम्

अथ रुद्राक्षधारणस्थलं निरूपयति—

भस्मना विहितस्नानस्त्रिपुण्ड्राङ्कितमस्तकः ।
शिवार्चनपरो नित्यं रुद्राक्षमपि धारयेत् ॥ ४५ ॥

मस्तको ललाट इत्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ४५ ॥

रुद्राक्षधारणस्थल वर्णन—जिसने भस्म से स्नान किया हो, मस्तक पर त्रिपुण्ड्र धारण किया हो तथा प्रतिदिन शिव की पूजा करता हो उसे रुद्राक्ष भी धारण करना चाहिये ॥ ४५ ॥

किमनेन प्रयोजनमित्यत्राह—

रुद्राक्षधारणादेव मुच्यन्ते सर्वपातकैः ।
दुष्टचित्ता दुराचारा दुष्प्रज्ञा अपि मानवाः ॥ ४६ ॥

स्पष्टम् ॥ ४६ ॥

दूषित मन वाले, दुराचारी, भ्रष्टबुद्धि मनुष्य भी केवल रुद्राक्षधारण से समस्त पापों से मुक्त हो जाते हैं ॥ ४७ ॥

नन्वेते रुद्राक्षाः कथमुत्पन्नाः? कुत एतादृक् सामर्थ्यमित्यत्राह—

पुरा त्रिपुरसंहारे त्रिनेत्रो जगतां पतिः ।
उदपश्यत् पुरां योगमुन्मीलितविलोचनः ॥ ४७ ॥
निपेतुस्तस्य नेत्रेभ्यो बहवो जलबिन्दवः ।
तेभ्यो जाता हि रुद्राक्षा रुद्राक्षा इति कीर्तिताः ॥ ४८ ॥
रुद्रनेत्रसमुत्पन्ना रुद्राक्षा लोकपावनाः ।

पूर्वं त्रिपुरसंहारप्रस्तावे जगतां पतिः विश्वपतिः त्रिनेत्रः सोमसूर्याग्निनयनः शिवः उन्मीलितविलोचनः संहारकाल एव ललाटनेत्रस्योन्मेषाद् विकसित-नेत्रत्रयः सन् पुरां त्रिपुराणां योगं सम्बन्धम् उपदश्यद् ऊर्ध्वं दृष्टवान् । तस्य नेत्रेभ्यो बहवो जलबिन्दवः उदककणाः निपेतुः भूमौ पतिताः । तेभ्यो जलबिन्दुभ्यो रुद्राक्षा जाताः । हि यस्मात् कारणाद् रुद्रनेत्रसमुत्पन्नास्तस्मात् कारणाद् रुद्राक्षा इति कीर्तितास्तत एव लोकपावना इत्यर्थः । 'अत्र पुरा त्रिपुरवधायोन्मीलिताक्षोऽहं (अभवम्) तेभ्यो जलबिन्दवो भूमौ पतितास्ते रुद्राक्षा जाताः सर्वानुग्रहार्थाय । तेषां नामोच्चारणेन दशशतगोदानफलं भवति, दर्शन-स्पर्शनाभ्यां द्विगुणं त्रिगुणं फलं भवति । अत ऊर्ध्वं वक्तुं न शक्यम्'[१] **इति बृहज्जाबालादिश्रुतिः ॥ ४७-४८ ॥**

प्राचीन काल में विश्व के स्वामी भगवान् शङ्कर ने त्रिपुरसंहार के समय

---

१. वृहज्जबालोपनिषदि सप्तमब्राह्मणे अष्टमखण्डे रुद्राक्षवर्णनं श्रूयते किन्त्वानुपूर्वी भिन्नाऽस्ति ।

आँख खोलकर यौगिक दृष्टि (= शाम्भवी मुद्रा) से (चिरकाल तक) उनके योग को देखा तो उनके नेत्रों से जो अश्रु (धरती पर) गिरे वे ही रुद्राक्ष बन गये। (और रुद्र की आँखों से उत्पन्न होने के कारण ये संसार में) 'रुद्राक्ष' नाम से प्रसिद्ध हुये ॥ ४७-४८ ॥

एवं रुद्रनेत्रसमुत्पन्नत्वात् तत्कलाभेदेनाष्टत्रिंशत्प्रकारेणोत्पत्तिं भजन्त इत्याह—

अष्टत्रिंशत्प्रभेदेन भवन्त्युत्पत्तिभेदतः ॥ ४९ ॥

स्पष्टम् ॥ ४९ ॥

रुद्र के नेत्रों से उत्पन्न तथा लोकपावन ये रुद्राक्ष उत्पत्ति के भेद से अँड़तीस प्रकार के होते हैं ॥ ४९ ॥

अथ कस्मान्नेत्रात् कियन्त उत्पन्ना इत्यत्राह—

नेत्रात् सूर्यात्मनः शम्भोः कपिला द्वादशोदिताः ।
श्वेताः षोडश सञ्जाताः सोमरूपाद्विलोचनात् ॥ ५० ॥
कृष्णा दशविधा जाता वह्निरूपाद्विलोचनात् ।
एवमुत्पत्तिभेदेन रुद्राक्षा बहुधा स्मृताः[१] ॥ ५१ ॥

शिवस्य सूर्यात्मनो नेत्रात् कपिलाः कपिलवर्णा द्वादश द्वादशभेदवन्तो रुद्राक्षा उदिताः, उत्पन्ना इत्यर्थः, सूर्यनेत्रस्य तपिन्यादिद्वादशकलात्मकत्वात् । सोमरूपाद्विलोचनात् चन्द्रनयनात् श्वेताः शुभ्रवर्णाः षोडश षोडशभेदवन्तः सञ्जाता उत्पन्नाः, तन्नेत्रयस्यामृतादिषोडशकलात्मकत्वात् । वह्निरूपाद्विलोचनाद् वह्निनयनात् कृष्णाः कृष्णवर्णाः दशविधाः दशभेदवन्तः जाता उत्पन्नाः, तन्नेत्रस्य धूम्रार्चिःप्रभृतिदशकलात्मकत्वात् । एवमुत्पत्तिभेदेन रुद्राक्षा बहुधा बहुविधाः स्मृता इत्यर्थः ॥ ५०-५१ ॥

शिव के सूर्यात्मक नेत्र से बारह[२] कपिल वर्ण के (रुद्राक्ष) उत्पन्न कहे गये हैं । चन्द्ररूप नेत्र से श्वेत वर्ण के सोलह[३] रुद्राक्ष हुए । वह्निरूप नेत्र से

---

१. तुलनीय—रुद्राक्षजाबालोपनिषत् ।

२. सूर्य की तपिनी तापिनी आदि बारह कलायें हैं अतः उनसे उत्पन्न रुद्राक्षों की संख्या बारह है ।

३. चन्द्रमा की अमृता आदि सोलह कलाओं से श्वेत वर्ण वाले सोलह रुद्राक्ष उत्पन्न हुए ।

दश[1] प्रकार के कृष्ण वर्ण के रुद्राक्ष उत्पन्न हुए । इस प्रकार उत्पत्ति भेद से रुद्राक्ष अनेक (१२ + १६ + १० = ३८) प्रकार के हैं ॥ ५०-५१ ॥

अथ धार्यरुद्राक्षलक्षणमाह—

अच्छिद्रं कनकप्रख्यमनन्यधृतमुत्तमम् ।
रुद्राक्षं धारयेत् प्राज्ञः शिवपूजापरायणः ॥ ५२ ॥

अच्छिद्रमकृमिचुम्बितमित्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ५२ ॥

छिद्र रहित अर्थात् जिसे कीड़े न खाये हों ऐसा, सोने के रङ्ग वाला तथा जिसका किसी ने धारण न किया हो वह रुद्राक्ष उत्तम होता है । शिवपूजा में परायण बुद्धिमान् को ऐसे रुद्राक्ष का धारण करना चाहिये ॥ ५२ ॥

अथ कुत्र कथं कति धारणीया इत्यत्राह—

यथास्थानं यथावक्त्रं यथायोगं यथाविधि ।
रुद्राक्षधारणं वक्ष्ये रुद्रसायुज्यसिद्धये ॥ ५३ ॥

स्पष्टम् ॥ ५३ ॥

(अब मैं) शिवसायुज्य[2] के लिये स्थान मुख शास्त्र और विधान की दृष्टि से रुद्राक्षधारण को कहूँगा ॥ ५३ ॥

प्रतिज्ञाय स्थानं संख्यां चाह—

शिखायामेकमेकास्यं रुद्राक्षं धारयेद् बुधः ।
द्वित्रिद्वादशवक्त्राणि शिरसि त्रीणि धारयेत् ॥ ५४ ॥
षट्त्रिंशद्धारयेन्मूर्ध्नि नित्यमेकादशाननान् ।
दशसप्तपञ्चवक्त्रान्षट् षट् कर्णद्वये वहेत् ॥ ५५ ॥
षडष्टवदनान् कण्ठे द्वात्रिंशद्धारयेत् सदा ।
पञ्चाशद्धारयेद् विद्वान् चतुर्वक्त्राणि वक्षसि ॥ ५६ ॥

---

१. अग्नि की दश कलायें हैं । धूम्रार्चिष आदि उन कलाओं के रङ्ग काले हैं, अत: दश प्रकार के कृष्णवर्ण वाले रुद्राक्षों का जन्म हुआ ।
२. मुक्ति के चार भेद शास्त्रों में वर्णित है—सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य । इनमें सायुज्य मुक्ति सर्वोत्कृष्ट है ।

त्रयोदशमुखान् बाह्वोर्धरेत् षोडश षोडश[1] ।
प्रत्येकं द्वादश वहेन्नवास्यान् मणिबन्धयोः ॥ ५७ ॥
चतुर्दशमुखं यज्ञसूत्रमष्टोत्तरं शतम् ।
धारयेत् सार्वकालं तु रुद्राक्षं शिवपूजकः ॥ ५८ ॥

अत्र दशसप्तपञ्चवक्त्रान् षट्षट्कर्णद्वय इत्यत्र दशमुखं द्वयं पञ्चमुखं द्वयं सप्तमुखं द्वयम् एवं षट् षट् कर्णद्वये धारणीयमित्यर्थः, 'समं स्यादश्रुतत्वात्' इति न्यायात्, 'षट् षट् कर्णयोरेकमेकम्' इति रुद्राक्षजाबालश्रुतेः । एकमेकं वा कर्णद्वये धारयेत् । एवं कण्ठेऽपि षडष्टवदनान् समत्वेन धारयेदिति । शिष्टं स्पष्टम् । अयं भावः—शुद्धमिश्रसङ्कीर्णभुवनाधीशशिवाष्टविद्येश्वरशतरुद्र-संख्यातयज्ञोपवीतधारणेन भुवनाध्वशुद्धिः, वर्णसंख्यातवक्षोमालया वर्णाध्व-शुद्धिः, पदसंख्यातमणिबन्धबाहुकण्ठमालया पदाध्वशुद्धिः, षडङ्गपञ्चब्रह्म-प्रणवमन्त्रसंख्यातकर्णाभरणेन मन्त्राध्वशुद्धिः, शिवशक्त्यात्मककर्णाभरणेन वा तत्त्वसंख्यातमस्तकमालया तत्त्वाध्वशुद्धिः, अष्टत्रिंशत्कलापूर्णसोम-सूर्याग्निलक्षणशिरोरन्ध्रमालया कलाध्वशुद्धिः । एवंरूपषडध्वकारणीभूत-परशिवब्रह्ममयशिखागतैकरुद्राक्षधारणेन परशिवस्वरूप[2] एव, 'यो रुद्राक्षं धत्ते स सत्यं परमः शिवः स सत्यं परमः शिवः' इति श्रुतेः ॥ ५४-५८ ॥

विद्वान् एक एकमुखी रुद्राक्ष का शिखा में धारण करे । दो तीन और बारह मुखी इन तीन प्रकार के रुद्राक्षों का शिर पर धारण करे । एकादशमुखी छत्तीस रुद्राक्ष मस्तक पर तथा दश सात और पाँच मुखों वाले रुद्राक्षों का छह-छह की संख्या में दोनों कानों में धारण करे । षट् और अष्टमुखी रुद्राक्षों

---

१. तुलनीय—रुद्रक्षजाबालोपनिषत् ।

२. शैव दर्शन में षडध्वा के रहस्यभेदन से शिवत्वलाभ की बात कही गयी है । वे अध्वा मुख्यतः दो प्रकार के हैं—कालाध्वा और देशाध्वा। फिर उक्त दोनों के क्रमशः मन्त्र वर्ण पद तथा कला तत्त्व और भुवन नामक तीन-तीन भेद होने से कुल छह अध्वा बनते हैं । अध्वा का अर्थ है—मार्ग, अनेकत्व से एकत्व को जाने का मार्ग । भुवन का तत्त्व में, तत्त्व का कला में तथा मन्त्र का पद में, पद का वर्ण में लय होने पर वर्ण और कला शेष बचते हैं । इन दोनों का परस्पर लय होने पर नाद, नाद से बिन्दु अवशिष्ट होता है । यह बिन्दु ही शब्द ब्रह्म है । इसका भी लय होने परब्रह्म या परशिवत्व की प्राप्ति होती है ।

को बत्तीस की संख्या में कण्ठ में धारण करे । चारमुखी पचास रुद्राक्षों का विद्वान् वक्षःस्थल पर धारण करे । तेरह मुखों वाले सोलह-सोलह रुद्राक्ष दोनों भुजाओं में धारण करे । नवमुखी रुद्राक्षों का बारह-बारह दोनों मणिबन्ध (= कलाइयों) में रखे । चौदहमुखी एक सौ आठ रुद्राक्षों का शिवार्चक सब समय यज्ञोपवीत के रूप में धारण करे ॥ ५४-५८ ॥

अथैवं रुद्राक्षधारणात् सर्वपापक्षय इत्याह—

एवं रुद्राक्षधारी यः सर्वकाले तु वर्तते ।
तस्य पापकथा नास्ति मूढस्यापि न संशयः॥ ५९ ॥

एवमुक्तप्रकारेण एषु स्थानेषु सदा रुद्राक्षधारिणो मूढस्यापि पापवार्ता नास्ति, कुतः पापसम्बन्ध इत्यर्थः ॥ ५९ ॥

इस प्रकार जो सब समय रुद्राक्ष धारण करता है ऐसे मूर्ख (= शास्त्रानभिज्ञ अत एव निरङ्कुशाचारी) को भी पाप नहीं लगता ॥ ५९ ॥

ननु क्षुद्रपापसम्बन्धो नास्तीत्युच्यते वा महापातकसम्बन्धो नास्तीत्युच्यते वेत्यत्राह—

ब्रह्महा मद्यपायी च स्वर्णहृद् गुरुतल्पगः ।
मातृहा पितृहा चैव भ्रूणहा कृतघातकः ।
रुद्राक्षधारणादेव मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ६० ॥

अत्र सर्वशब्देनानुक्तपातकानि सङ्गृहीतानीति बोध्यम् ॥ ६० ॥

ब्रह्मघाती, मद्यपायी, स्वर्णचोर, गुरुपत्नी के साथ समागम करने वाला, माता-पिता का हत्यारा, भ्रूणहा, कृतघ्न भी रुद्राक्षधारण के कारण सब पापों से मुक्त हो जाता है ॥ ६० ॥

अथ विशेषमाह—

दर्शनात् स्पर्शनाच्चैव स्मरणादपि पूजनात् ।
रुद्राक्षधारणाल्लोके मुच्यन्ते पातकैर्जनाः ॥ ६१ ॥

स्पष्टम् ॥ ६१ ॥

(रुद्राक्ष के) दर्शन स्पर्श स्मरण पूजन तथा उसके धारण से लोग पापों से मुक्त हो जाते हैं ॥ ६१ ॥

अत्र 'जन'शब्देन को वा विवक्षित इत्यत्राह—

ब्राह्मणो वान्त्यजो वापि मूर्खो वा पण्डितोऽपि वा ।
रुद्राक्षधारणादेव मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ६२ ॥

अनेन रुद्राक्षधारणे सर्वेऽप्यधिकारिण इत्युक्तं भवति ॥ ६२ ॥

ब्राह्मण हो या अन्त्यज, मूर्ख हो अथवा पण्डित केवल रुद्राक्षधारण से सब पापों से मुक्त हो जाता है अर्थात् सम्पूर्ण मानव जाति रुद्राक्ष धारण की अधिकारिणी है ॥ ६२ ॥

नन्वनेन पापक्षयमात्रं वा, पुण्यमपि किञ्चिदस्ति वेत्यत्राह—

गवां कोटिप्रदानस्य यत्फलं भुवि लभ्यते ।
तत्फलं लभते मर्त्यो नित्यं रुद्राक्षधारणात् ॥ ६३ ॥

स्पष्टम् ॥ ६३ ॥

पृथ्वी पर एक करोड़ गाय देने से जो फल प्राप्त होता है मनुष्य रुद्राक्ष के नित्य धारण से उस फल को प्राप्त करता है ॥ ६३ ॥

अथास्यैतावन्मात्रमेव न, क्रियाभेदेनान्योऽपि चमत्कारोऽस्तीत्याह—

मृत्युकाले च रुद्राक्षं निष्पीड्य सह वारिणा ।
यः पिबेच्चिन्तयन् रुद्रं रुद्रलोकं स गच्छति ॥ ६४ ॥

स्पष्टम् ॥ ६४ ॥

मृत्यु के समय रुद्राक्ष को पानी में पीस कर जो रुद्र का ध्यान करता हुआ उसको पीता है वह रुद्रलोक को प्राप्त होता है ॥ ६४ ॥

एवं निश्चित्य ये भस्मरुद्राक्षधारिणः सन्ति, ते रुद्रा एवेत्याह—

भस्मोद्धूलितसर्वाङ्गा धृतरुद्राक्षमालिकाः ।
ये भवन्ति महात्मानस्ते रुद्रा नात्र संशयः ॥ ६५ ॥

स्पष्टम् ॥ ६५ ॥

जो लोग सारे शरीर में भस्म रमाये एवं रुद्राक्ष की माला धारण किये रहते हैं वे महात्मा रुद्र ही हैं इसमें संशय नहीं ॥ ६६ ॥

अथ भस्मरुद्राक्षधारणशून्येन द्विजेन विधीयमानं नित्यनैमित्तिकादिकं कर्मापि व्यर्थमित्यांह—

नित्यानि काम्यानि निमित्तजानि
कर्माणि सर्वाणि सदाऽपि कुर्वन् ।

यो भस्मरुद्राक्षधरो यदि स्याद्
द्विजो न तस्यास्ति फलोपपत्तिः ॥ ६६ ॥

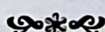
उपपत्तिः प्राप्तिरित्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ६६ ॥

नित्य काम्य और नैमित्तिक समस्त कर्मों को सदा करता हुआ भी जो द्विज भस्म तथा रुद्राक्ष धारण करने वाला होता है उसको (उसके) कर्मों का फल नहीं भोगना पड़ता (अर्थात् वह मुक्त हो जाता है) ॥ ६६ ॥

तस्माद्वर्णाश्रमाचारनिष्ठेषु भस्मरुद्राक्षधर एक एव गरीयानित्याह—

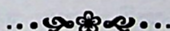
सर्वेषु वर्णाश्रमसङ्गतेषु नित्यं सदाचारपरायणेषु ।
श्रुतिस्मृतिभ्यामिह चोद्यमानो विभूतिरुद्राक्षधरः समानः॥ ६७ ॥

इति श्रीषट्स्थलब्रह्मिणा शिवयोगिनाम्ना प्रणीते वीरशैवधर्मनिर्णये सिद्धान्तशिखामणौ भक्तस्थले विभूतिरुद्राक्षधारणप्रसङ्गो नाम सप्तमः परिच्छेदः ॥ ७ ॥



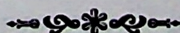
ब्राह्मणादिवर्णब्रह्मचर्याद्याश्रमसंयुतेषु सर्वेषु विषये इह लोके विभूतिरुद्राक्षधरः समानो भस्मरुद्राक्षधर एक एव श्रुतिस्मृतिभ्यां चोद्यमानः श्लाघनीयः ॥ ६७ ॥

इति श्रीमत्पदवाक्यप्रमाणपारावारधुरीणश्रीमरितोण्टदार्येण विरचितायां तत्त्वप्रदीपिकाख्यायां सिद्धान्तशिखामणिव्याख्यायां भस्मरुद्राक्षधारणस्थलनामा सप्तमः परिच्छेदः ॥ ७ ॥



समस्त वर्णाश्रम वालों तथा नित्य सदाचार में लगे हुए लोगों के मध्य भस्म एवं रुद्राक्ष धारण करने वाला श्रुति और स्मृति के द्वारा समान रूप से आदरणीय होता है ॥ ६७ ॥

इस प्रकार श्रीसिद्धान्तशिखामणि के भस्मरुद्राक्षधारणस्थल नामक सप्तम परिच्छेद की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदिकृत 'ज्ञानवती' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ७ ॥



अष्टमः परिच्छेदः

अथैवं शिवलिङ्गरुद्राक्षधारणसम्पन्नः शिवतत्त्वप्रकाशार्थं पञ्चाक्षरीं जपेदिति पञ्चाक्षरीजपस्थलमगस्त्याय निरूपयति श्रीरेणुकः—

धृतश्रीभूतिरुद्राक्षः प्रयतो लिङ्गधारकः ।
जपेत् पञ्चाक्षरीविद्यां शिवतत्त्वप्रबोधिनीम् ॥ १ ॥

धृतमाङ्गल्यभूतिरुद्राक्षपवित्रितः शिवलिङ्गधारकः शिवतत्त्वप्रबोधिनीं परशिवतत्त्वप्रकाशिनीं पञ्चाक्षरीविद्यां नमश्शिवायेति श्रीरुद्रमन्त्रप्रसिद्ध-पञ्चाक्षरीमन्त्रं जपेत्, मानसोपांशुवाचिकस्वरूपेणोच्चरेत् 'जप अव्यक्तायां वाचि' इति धातोरित्यर्थः ॥ १ ॥

पञ्चाक्षरजप स्थलवर्णन—विभूति और रुद्राक्ष धारण करने वाला, पवित्र तथा लिङ्ग का धारक मनुष्य शिवतत्त्व का ज्ञान कराने वाली पञ्चाक्षरी विद्या (= पञ्चाक्षर मन्त्र = 'ॐ नमः शिवाय') का जप करे ॥ १ ॥

ननु शिवतत्त्वप्रकाशकानां मन्त्राणां बाहुल्यात् किमित्येष पञ्चाक्षरमन्त्र एव जप्य इत्यत्राह—

शिवतत्त्वात् परं नास्ति यथा तत्त्वान्तरं महत् ।
तथा पञ्चाक्षरीमन्त्रान्नास्ति मन्त्रान्तरं महत् ॥ २ ॥

'शिव एको ध्येयः' इत्यादिश्रुतेः शिवतत्त्वात् परं व्यतिरिक्तं महद् बृहद् तत्त्वान्तरं यथा नास्ति, तथा पञ्चाक्षरीमन्त्राद् नमश्शिवायेति पञ्चाक्षरीमन्त्रात्, महद् मन्त्रान्तरं नास्तीत्यर्थः,

विद्यासु श्रुतिरुत्कृष्टा रुद्रैकादशिनी श्रुतौ ।
तत्र पञ्चाक्षरी तस्यां शिवा इत्यक्षरद्वयम् ॥

इति पौराणिकोक्तेः शिव इत्यक्षरद्वयस्य वेदसारत्वात् तत्रत्याकारस्य ऋक्सामसंग्रहरूपत्वात्, तयोरकाराद्यत्वात्, इकारस्य यजुःसंग्रहरूपत्वात्,

तस्यैकाराद्यत्वात्, शकारस्याथर्वसंग्रहरूपत्वात्, तस्य शकाराद्यत्वात्, वकारस्य व्याकरणसंग्रहरूपत्वात्, तस्य वकाराद्यत्वात्, एवं वेदवेदाङ्ग-साररूपत्वात् तादृक् शिवशब्दघटितत्वेनैष पञ्चाक्षरीमन्त्र एव सर्वमन्त्रोत्कृष्ट[1] इत्यर्थः ॥ २ ॥

जिस प्रकार शिव तत्त्व से बढ़कर कोई अन्य तत्त्व नहीं है । उसी प्रकार पञ्चाक्षर मन्त्र से बढ़कर कोई दूसरा मन्त्र नहीं है ॥ २ ॥

एवं पञ्चाक्षरीमन्त्रे शिवे च ज्ञाते सति मन्त्रान्तरैर्देवतान्तरैः किं प्रयोजनमित्यत्राह—

ज्ञाते पञ्चाक्षरीमन्त्रे किं वा मन्त्रान्तरैः फलम् ।
ज्ञाते शिवे जगन्मूले किं फलं देवतान्तरैः ॥ ३ ॥

'एको ह वै नारायण आसीत्'[2] इति श्रुतेर्विष्ण्वादिसकलविश्वमूलत्वेन परशिवे ज्ञाते सति तदीयसृष्ट्यन्तर्गतत्वेन जननमरणपरिपीडितैर्विष्ण्वादि-देवतान्तरैः किं फलम्? न किञ्चित्फलमित्यर्थः । 'नहि भिक्षुको भिक्षुकान्तरं याचयति, (ते) सत्यन्यस्मिन् अभिक्षुके दातरि' इति न्यायात् । ननु—'एको ह वै नारायण आसीत्' **इत्यत्र** 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्'[3] **इत्यादिब्रह्म-प्रतिपादकवाक्यसाम्यताश्रवणात् कथमुत्पत्तिपरत्वमिति चेन्न, 'रोहितो लोहितादासीच्छक्तेरासीत् पराशरः' इतिवदुत्पत्तिसत्तापरतोपपत्तेः । न च तद्वद् हेतुश्रवणाभावात् कथमुत्पत्तिपरत्वमिति वाच्यम्, 'ब्रह्मविष्णुरुद्रेन्द्रास्ते सम्प्रसूयन्ते' इति शिखोपनिषद्वचनाद् विष्णोरुत्पत्तेः श्रूयमाणत्वात् तदनुसारेणोत्पत्तिपरतासम्भवात् । न चात्र नारायणस्योत्पत्तिर्न श्रूयते, किन्तु विष्णोरेव, तस्य नायणांशीभूतत्वात्,** 'आदित्यानामहं विष्णुः'[4] **इति गीतत्वाद् अंशपरत्वमेवेति वाच्यम्, मुख्यब्रह्मरुद्रमध्यपठितविष्णुशब्दस्यांशपरत्वात्-सम्भवात् प्रायःपाठविरोधात्,** 'विष्णुरित्था परममस्य विद्वान् जातो बृहन्नभि पाति तृतीयम्' **इति श्रूतेर्महाविष्णोरेवोत्पत्तिश्रवणाच्च,**

अजात इत्येवं कश्चिद्भीरुः प्रपद्यते ।
रुद्र यत्ते दक्षिणं मुखं तेन मां पाहि नित्यम्[5] ॥

१. 'शिव' स्वरूप दो अक्षरों में अकार ऋक् एवं साम का, इकार यजुष का, शकार अथर्व का एवं वकार व्याकरण का संग्रह रूप होने से 'शिव' पद वेदवेदाङ्ग का सार है अतः वह सर्वोत्कृष्ट मन्त्र है ।

२. नारायणोप० २	३. छा०उ० ६।२।९

४. भ०गी० १०।२१	५. श्वे०उ० ४।२१

इति श्वेताश्वतरश्रुतेः कारणीभूतमहारुद्रस्याजातत्वश्रवणाच्चेति दिक् ॥ ३ ॥

पञ्चाक्षर मन्त्र का ज्ञान होने पर अन्य मन्त्रों से क्या लाभ? संसार के कारणभूत शिव का ज्ञान होने पर अन्य देवताओं के ज्ञान का क्या फल (अर्थात् कुछ नहीं) ॥ ३ ॥

ननु सप्तकोटिमहामन्त्रेषु कोऽप्यस्य समानमन्त्रो नास्ति वेत्यत्राह—

सप्तकोटिषु मन्त्रेषु मन्त्रः पञ्चाक्षरो महान् ।
ब्रह्मविष्ण्वादिदेवेषु यथा शम्भुर्महत्तरः ॥ ४ ॥

सर्वमन्यत् परित्यज्य हेयान् विष्ण्वादिकान् सुरान् ।
शिव एव सदा ध्येयः सर्वसंसारनाशनः ॥

इति पिप्पलादश्रुतेः, 'अजात इत्युदाहृतः' इति श्रुतेश्च मुमुक्षूपास्यत्वादजातत्वेन ब्रह्मादिषु शिवो यथा महान्, तथा सप्तकोटिमहामन्त्रेषु वेदसारत्वात् पञ्चाक्षरमन्त्रो महानित्यर्थः ॥ ४ ॥

सात करोड़ मन्त्रों में यह पञ्चाक्षर मन्त्र उसी प्रकार महान् है जैसे ब्रह्मा विष्णु आदि देवतों में शिव महान् है ॥ ४ ॥

ननु विष्ण्वादिसकलविश्वमूलत्वात् शिवः सर्वोत्तमो भवतु, पञ्चाक्षरीमन्त्रस्य कथं सर्वोत्तमत्वमित्याशङ्क्याह—

अशेषजगतां हेतुः परमात्मा महेश्वरः ।
तस्य वाचकमन्त्रोऽयं सर्वमन्त्रैककारणम् ॥ ५ ॥

शिवो यथा सकलजगत्कारणम्, तथा तद्वाचकमन्त्रोऽपि सकलमन्त्रकारणमित्यर्थः ॥ ५ ॥

सम्पूर्ण विश्व का कारण परमात्मा शिव है उनका वाचक यह मन्त्र समस्त मन्त्रों का एकमात्र हेतु है ॥ ५ ॥

तत्कथमित्यत्राह—

तस्याभिधानमन्त्रोऽयमभिधेयश्च स स्मृतः ।
अभिधानाभिधेयत्वान्मन्त्रात् सिद्धः परः शिवः ॥ ६ ॥

अयं मन्त्रस्तस्य शिवस्य अभिधानमन्त्रः, नाम्नो मन्त्र इत्यर्थः, सः शिवः अभिधेयश्च तन्मन्त्रेणाभिधातुं योग्य इति स्मृतः, अभिधानाभिधेयत्वात्, शिवाभिधानाभिधयेत्वात् । मन्त्रादस्मान्मन्त्रात् परः शिवः सिद्धः प्रकाशितः, मन्त्राणां यजनीयदेवताप्रकाशकत्वेनैतन्मन्त्राभावे शिवस्य स्फूर्तिरिव न स्यात् ।

किं तावतेति नाशङ्कनीयम्, शिवस्य सकलतत्त्वोपादानकारणत्वात् तद्वाचक-पञ्चाशद्वर्णमयत्वं च युक्तमिति तस्य सकलमन्त्रमूलत्वात् तत्प्रकाशकत्वेन सकलमन्त्रकारणत्वमिति । तत्कथमिति चेत्, उच्यते,

अथाद्यास्तिथय: सर्वा: स्वरा बिन्द्ववसानका: ।
तदन्त: कालयोगेन सोमसूर्यौ प्रकीर्तितौ ॥
पृथिव्यादीनि तत्त्वानि पुरुषान्तानि पञ्चसु ।
क्रमात् कादिषु वर्गेषु मकारान्तेषु सुव्रते ॥
वाय्वग्निसलिलेन्द्राणां धारणानां चतुष्टयम् ॥
तदूर्ध्वेशादि विख्यातं पुरस्ताद् ब्रह्मपञ्चकम् ।
आमूलात्तत्क्रमाज्ज्ञेया क्षान्ता सृष्टिरुदाहृता ॥
सर्वेषां चैव मन्त्राणां विद्यानां च यशस्विनी ।
इयं योनि: समाख्यातां सर्वतन्त्रेषु सर्वदा[1] ॥

इति श्रीपरात्रिंशिकाशास्त्रस्थित्या शिव इत्यत्र शकारस्य ब्रह्मादिपञ्चब्रह्मवाचकत्वात्, वकारस्य मायातत्त्ववाचकत्वेन तत्कार्यरूपकलादिक्षितिपर्यन्तत्रिंशत्तत्त्वात्मकत्वात्, एवं शकारवकारयोः षट्त्रिंशत्तत्त्ववाचकत्वात्, अकारस्य शिवतत्त्वकलारूपषोडशस्वरमयत्वात्, इकारस्येच्छाशक्तिवाचकत्वात्, एवं शब्दार्थमयप्रपञ्चयोरन्तर्भावात् सकलमन्त्रकारणत्वम्, मातृकादेः सकलशब्दप्रपञ्चोपादानकारणत्वात् ।

पञ्चाशन्निजदेहजाक्षरभवैर्नानाविधैर्धातुभिर्बह्वर्थैः
पदवाक्यमानजनकैरर्थाविनाभावितै: ।
साभिप्रायसदर्थकर्मफलदानन्दैरनन्तैरिदं विश्वं
व्याप्य चिदात्मनाहमहमित्युज्जृम्भसे मातृके ॥
पञ्चाशद्वर्णमालाबहुविधनिनदोच्चारणात्
तत्त्वजालव्यक्तिव्यापारसत्तानिरिशगुरुमुखाम्नायविद्यास्वरूपा: ।
धात्राद्युत्पत्तिपूर्वं श्रुतिमुखविविधानेकसिद्धान्तविद्या
नानाभाषा: क्रियाभि: प्रकटयति यत: सैव ते साङ्गवेदे ॥

इति दूर्वासभगवदुक्तेरिति ॥ ६ ॥

यह मन्त्र उनका वाचक है । वह इस (मन्त्र) के वाच्य कहे गये हैं ।

---

१. प०त्री० ५-८-

वाचक वाच्य सम्बन्ध होने से मन्त्र से परमशिव की सिद्धि होती है ॥ ६ ॥

विशेष—परात्रीशिका के अनुसार पृथिवी से लेकर पुरुष तक पचीस तत्त्व 'क' से 'म' तक के पचीस अक्षरों से उत्पन्न होते हैं । इसी प्रकार आदिक्षान्त वर्ण सृष्टि के कारण है । इस प्रकार यह सृष्टि वर्णों से उत्पन्न होती है । आचार्य का कथन है कि 'शिवाय' में शकार पञ्चब्रह्म के वकार माया तत्त्व का वाचक है । इसी प्रकार 'शिवाय' शब्द सम्पूर्ण सृष्टि का वाचक है ।

नन्वेवं चेद् द्व्यक्षरत्वमेव युक्तम्, किमिति पञ्चाक्षररूपेण सर्वश्रुतिशिरोगतः सन् मन्त्रोऽयं प्रतिभाति? अत्र नमस्कारेण जीवत्वमित्यत्राह—

नमःशब्दं वदेत् पूर्वं शिवायेति ततः परम् ।
मन्त्रः पञ्चाक्षरो ह्येष सर्वश्रुतिशिरोगतः ॥ ७ ॥

शिवजीवैक्यप्रकाशनार्थं नमःशब्दपूर्वकत्वेन चित्तत्त्वेन च पञ्चाक्षररूपेण सर्वश्रुतिशिरोगतः सन् मन्त्रोऽयं प्रतिभाति । अत्र नमस्कारेण जीवत्वम्, शिवशब्देन परब्रह्मत्वम्, आयेत्यैक्यम्, 'अय गतौ' इति धातोरिति भावः ॥ ७ ॥

पहले 'नमः' शब्द कहना चाहिये । उसके बाद 'शिव' यह पञ्चाक्षर मन्त्र है जो समस्त वेदों का शिर है ॥ ७ ॥

ननु सच्चिद्घनस्य परब्रह्मणः शिव इत्यभिधानं कथमित्यत्राह—

आदितः परिशुद्धत्वान्मलत्रयवियोगतः ।
शिव इत्युच्यते शम्भुश्चिदानन्दघनः प्रभुः ॥ ८ ॥

चिदानन्दघनः सच्चिदानन्दस्वरूपः प्रभुः स्वतन्त्रः शम्भुः सुखभोक्तृत्वात् सुखप्रदत्वाच्च परब्रह्म आदितः कदापि (= सर्वदा) मलत्रयवियोगत आणवादिमलत्रयसम्बन्धाभावेन परिशुद्धत्वाद् निर्मलत्वात् शिव इत्युच्यते, 'वश कान्तौ' इति धातोः स्वच्छप्रकाशरूपत्वादिति भावः ॥ ८ ॥

चिदानन्दघन भगवान् शिव प्रारम्भ से ही शुद्ध तथा (आणव मायीय कार्म नामक) तीन मलों से रहित होने के कारण शिव कहे जाते हैं ॥ ८ ॥

अथ सकलमङ्गलावासभूमित्वाच्च शिवशब्दाभिधेयं ब्रह्मेत्याह—

आस्पदत्वादशेषाणां मङ्गलानां विशेषतः ।
शिवशब्दाभिधेयो हि देवदेवस्त्रियम्बकः ॥ ९ ॥

अत्र त्रियम्बकशब्देन सृष्टिस्थित्यादिकारणं परब्रह्मोच्यते, सूर्यादीनां सृष्ट्यादिकारणत्वात्, 'ऋतं सत्यं परं ब्रह्म पुरुषं कृष्णपिङ्गलम् । ऊर्ध्वरेतं विरूपाक्षम्' **इति श्रुतेः**[१] **। त्रियम्बको देवदेवो ब्रह्मादीनामपि देवः परमेश्वरः, अशेषाणां समस्तानां मङ्गलानां विशेषतो विष्णवादिभ्योऽधिकत आस्पदत्वाद् आश्रयत्वात् शिवशब्दाभिधेयो हि, 'कल्याणं मङ्गलं शिवम्' इति प्रसिद्धत्वात् ॥ ९ ॥**

विशेष रूप से सब मङ्गलों का स्थान होने के कारण यह देवाधिदेव भगवान् त्र्यम्बक शिव शब्द के वाच्य हैं ॥ ९ ॥

नन्वनेकनाम्नां विद्यमानत्वात् शिवशब्देनैव किमिति परब्रह्माभिधीयते, इत्यत्राह—

शिव इत्यक्षरद्वन्द्वं परब्रह्मप्रकाशकम् ।
मुख्यवृत्त्या तदन्येषां शब्दानां गुणवृत्तयः ॥ १० ॥

शिव इत्यक्षरद्वयं मुख्यवृत्त्या परब्रह्मप्रकाशकम्, तदन्येषां शब्दानां शिवशब्दातिरिक्तभवादिशब्दानां गुणवृत्त्या सिंहो माणवक इत्यादिवद् गुणयोगेन परब्रह्मप्रकाशकत्वमित्यर्थः ॥ १० ॥

'शिव' यह दो अक्षरों का समुच्चय मुख्य वृत्ति अर्थात् अभिधा के द्वारा परब्रह्म का प्रकाशक है । उससे अन्य शब्दों का वह लक्षणा के द्वारा वाच्य होता है ॥ १० ॥

अथोक्तार्थमुपसंहरति—

तस्मान्मुख्यतरं नाम शिव इत्यक्षरद्वयम् ।
सच्चिदानन्दरूपस्य शम्भोरमिततेजसः ॥ ११ ॥
एतन्नामावलम्बेन मन्त्रः पञ्चाक्षरः स्मृतः ।

महानिति शेषः । शिव इत्यक्षरद्वयमपरिमितप्रकाशरूपस्य सच्चिदानन्दघनस्य शम्भोः परब्रह्मणो मुख्यतरमत्यन्तमुख्यं नाम । एतन्नामावलम्बेन एतन्नामघटितत्वेन पञ्चाक्षरो मन्त्रो महानिति स्मृत इत्यर्थः ॥ ११ ॥

इस कारण 'शिव' यह दो अक्षर सच्चिदानन्दरूप असीम तेजस्वी शम्भु का मुख्यतर नाम है ॥ ११ ॥

अथ किमनेन कर्तव्यं किं फलमित्यत्र दृष्टान्तपूवकमाह—

---

१. तै०आ० १०।१२।१

यस्मादतः सदा जप्योमोक्षकाङ्क्षिभिदरात् ॥ १२ ॥
यथानादिर्महादेवः सिद्धः संसारमोचकः ।
तथा पञ्चाक्षरो मन्त्रः संसारक्षयकारकः ॥ १३ ॥

यस्मात् शिवनामघटितत्वेन पञ्चाक्षरमन्त्रो महान्, अतः तस्मात् कारणाद् मोक्षकाङ्क्षिभिः पुरुषैरादरात् सदा जप्यः । अत्र दृष्टान्तः—

सर्वमन्यत् परित्यज्य हेयान् विष्ण्वादिकान् सुरान् ।
शिव एव सदा ध्येयः सर्वसंसारनाशनः ॥

इति पिप्पलादश्रुतेर् अनादिभूतः परशिवो यथा संसारपाशविमोचक इति प्रसिद्धः, तथा पञ्चाक्षरमन्त्रः संसारपाशक्षयकारक इति प्रसिद्धः,

अशेषपाशविच्छित्त्यै शिव इत्यक्षरद्वयम् ।
अलं नमस्क्रियायुक्तो मुक्तये कल्पितो मनुः ॥

इति ब्रह्मोत्तरखण्डवचनादिति ॥ १२-१३ ॥

इस नाम का अवलम्बन करने के कारण उक्त मन्त्र 'पञ्चाक्षर' कहा गया है। इसलिये मोक्षार्थी जनों के द्वारा इसका आदर के साथ जप किया जाना चाहिये । जिस प्रकार अनादि महादेव संसार के मोचक के रूप में सिद्ध (= प्रसिद्ध) हैं उसी प्रकार यह पञ्चाक्षर मन्त्र भी संसार का नाश करने वाला है ॥ १२-१३ ॥

नन्वयं मन्त्रः शिववत् संसारक्षयकारकश्चेत्, विश्वकारणत्वं (णं) तद्वदस्ति किमित्यत्राह—

पञ्चभूतानि सर्वाणि पञ्चतन्मात्रकाणि च ।
ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्चापि पञ्चकर्मेन्द्रियाणि च ॥ १४ ॥
पञ्चब्रह्माणि पञ्चापि कृत्यानि सह कारणैः ।
बोध्यानि पञ्चभिर्वर्णैः पञ्चाक्षरमहामनोः ॥ १५ ॥

पृथिव्यादिपञ्चभूतानि, गन्धादिपञ्चतन्मात्राः, ज्ञानशक्तिरूपघ्राणादिपञ्चज्ञानेन्द्रियाणि, क्रियाशक्तिरूपोपस्थादिपञ्चकर्मेन्द्रियाणि, पञ्चसादाख्यपञ्चब्रह्मपर्यायाचारादिपञ्चलिङ्गानि, भवमृडहरादिकारणेशैः सह सृष्ट्यादिपञ्चकृत्यानि पञ्चविधानि सर्वाण्यपि पञ्चाक्षरमहामन्त्रस्य पञ्चभिर्वर्णैर्बोध्यानि प्रकाश्यानीत्यर्थः ॥ १४-१५ ॥

इस पञ्चाक्षर महामन्त्र से पञ्चमहाभूत, पाँच तन्मात्रायें, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रिया, पञ्च ब्रह्म (= ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव

पञ्चसादाख्य—सद्योजात तत्पुरुष वामदेव अघोर और ईशान) तथा इन पञ्च कारणों के साथ पञ्चकृत्य (= सृष्टि, स्थिति, संहार, निग्रह और अनुग्रह) समझे जाने चाहिये ॥ १४-१५ ॥

नन्वालोकेन घटादिवत् प्रकाश्यानि वा स्वर्णकुण्डलादिवत् प्रकाश्यानि वेत्यत्राह—

पञ्चधा पञ्चधा यानि प्रसिद्धानि विशेषतः ।
तानि सर्वाणि वस्तूनि पञ्चाक्षरमयानि हि ॥ १६ ॥

पञ्चशक्तिपञ्चाङ्गुलिवचनादानादिपञ्चकर्मेन्द्रियार्थाः, मनोबुद्ध्यहङ्कारप्रकृतिपुरुषादीनि पञ्च पञ्च प्रकारेण यानि विशेषतः प्रसिद्धानि, तानि सर्वाणि स्वर्णकुण्डलन्यायेन पञ्चाक्षरमयानि पञ्चाक्षरकार्याणि तत्प्रकाश्यानि चेत्यर्थः, वर्णानां शक्तिरूपत्वादिति ॥ १६ ॥

विशेष रूप से पाँच-पाँच करके जितनी वस्तुयें प्रसिद्ध हैं वे सब पञ्चाक्षरमय हैं ॥ १६ ॥

ननु मोक्षकारणं प्रणवः, पञ्चाक्षर्यां तदभावात् कथं मोक्षप्रदत्वमित्यत्राह—

ॐकारपूर्वो मन्त्रोऽयं पञ्चाक्षरमयः परः ।
शैवागमेषु वेदेषु षडक्षर इति स्मृतः ॥ १७ ॥

पर उक्तप्रकारेण सर्वोत्कृष्टः पञ्चाक्षरमयोऽयं मन्त्रः ॐकारपूर्वः षडक्षर इति शिवागमेषु वेदेषु स्मृतः । श्रीरुद्रे—'नमस्ताराय नमः शम्भवे च' **इति, ईशानमन्त्रान्ते—**'मे अस्तु सदाशिवोम्' **इति च श्रूयमाणत्वात् । 'ॐकारत्मतया भाति शान्त्यतीतः परः शिवः'** 'शिवो वा प्रणवः प्रोक्तः प्रणवो वा शिवः स्मृतः । वाच्यवाचकयोर्भेदो नात्यन्तं विद्यते क्वचित् ॥' **इत्यागमोक्तेः, इति पौराणिकोक्तेश्च शिवप्रणवयोरभेदाद् ॐकारापूर्वत्वेन षडक्षर इत्यर्थः ॥ १७ ॥**

पाँच अक्षरों वाला यह उत्कृष्ट मन्त्र पहले ओंकार जुड़ने से शैवागमों और वेदों में षडक्षर (= छह अक्षरों वाला) कहा गया है ॥ १७ ॥

अथ—

प्रथमं तारकारूपं द्वितीयं दण्ड उच्यते ।
तृतीयं कुण्डलाकारं चतुर्थं चार्धचन्द्रकम् ॥
पञ्चमं दर्पणाकारं षष्ठं ज्योतिःस्वरूपकम् ।
नकारस्तारकारूपं मकारो दण्ड उच्यते ॥

शिकार: कुण्डलाकारो वकाश्चार्धचन्द्रक: ।
यकारो दर्पणाकार ॐकार: पञ्चवर्णराट् ॥

इति शिवागमवचनात् पञ्चाक्षरकल्पतरोर्बीजभूतस्य ॐकारस्य माहात्म्यं सूत्रत्रयेण निरूपयति—

मन्त्रन्यासादिभूतेन प्रणवेन महामनो: ।
प्रबोध्यते महादेव: केवलश्चित्सुखात्मक: ॥ १८ ॥

महामन्त्ररूपस्यास्य पञ्चाक्षरमन्त्रस्यादिभूतेन प्रणवेन सच्चिदानन्दात्मक: परशिव: प्रकाश्यत इत्यर्थ:, 'यो वै रुद्र: स भगवान्' इत्युपक्रम्य 'य ॐकार: स प्रणवो य: प्रणव स सर्वव्यापी य: सर्वव्यापी सोऽनन्तो योऽनन्तस्तत्तारं यत्तारं तत्सूक्ष्मं यत्सूक्ष्मं तच्छुक्लं यच्छुक्लं तद्वैद्युतं यद्वैद्युतं तत्परं ब्रह्म स एक: स एको रुद्र: स ईशान: स भगवान् स महेश्वर: स महादेव:'[१] इत्यथर्वशिर:श्रुत्या प्रणव एव सच्चिदानन्दात्मकं परब्रह्मेति श्रूयमाणत्वादिति ॥ १८ ॥

(इस) महामन्त्र और इसके न्यास के पहले प्रणव जोड़ने से केवल चिदानन्द महादेव का प्रबोधन होता है ॥ १८ ॥

ननु शिव: प्रणवेन विना न केनापि प्रकाश्यते (प्रकाश्यते) वेत्यत्राह—

प्रणवेनैकवर्णेन परब्रह्म प्रकाश्यते ।
अद्वितीयं परानन्दं शिवाख्यं निष्प्रपञ्चकम् ॥ १९ ॥

'शिवं परात्परं सूक्ष्मं नित्यं सर्वगमव्ययम्' **इति शिवागमोक्ते: शिवाख्यं परानन्दं सच्चिदानन्दलक्षणम् अद्वितीयम्** 'एकमेवाद्वितीयम्' **इति श्रुतेर्द्वितीय-शून्यम्, 'नेह नानास्ति किञ्चन'[२] इति श्रुतेर्निष्प्रपञ्चकम्, अत एव प्रापञ्चिक-भेदशून्यं परं ब्रह्म प्रणवेनैकवर्णेन प्रणवरूपैकवर्णेन, प्रणवेनैवेत्यर्थ:, प्रकाश्यते प्रबोध्यते, प्रणवांशीभूताकारोकारमकाराणां सच्चिदानन्द-वाचकत्वादिति । एवं च नमश्शिवायेति पञ्चाक्षराण्याचारगुरुशिवचरप्रसाद-लिङ्गबीजाक्षराणि, ॐकारो महालिङ्गबीजमिति बीजवृक्षरूपप्रणवपञ्चाक्षर एव षट्स्थलबीजमिति तात्पर्यम् ॥ १९ ॥**

एक वर्ण वाले प्रणव से अद्वितीय परानन्दस्वरूप प्रपञ्चरहित शिव नामक परब्रह्म प्रकाशित होता है ॥ १९ ॥

---

१. अथ०उ० २।३ २. बृ०उ० ४।४।१९

नन्वस्य लिङ्गाङ्गषट्स्थलयोगकारणस्य प्रणवस्य सच्चिदानन्दलक्षणब्रह्म-प्रकाशकत्वमस्तु, निष्प्रपञ्चब्रह्मप्रतिपादकत्वं कथमित्यत्राजपागायत्रीमन्त्र-योगपूर्वकं तत्स्वरूपं प्रदर्शयति—

परमात्ममनुर्ज्ञेयः सोऽहंरूपः सनातनः ।
जायते हसयोर्लोपादोमित्येकाक्षरो मनुः ॥ २० ॥

परमात्ममनुः परमात्ममन्त्रः सोऽहंरूपः प्रत्यभिज्ञानरूप इति ज्ञेयः, 'योऽसौ पुरुषः सोऽहम्' इति श्रुतिगुरूपदेशस्वानुभवैर्विज्ञातुं योग्यः, एवं प्रतिदिनं षट्शताधिकमेकविंशतिसहस्रसंख्यातं जपित्वाऽथास्य भेदघटितत्वात् केवलकुम्भकेन सकारहकारयोस्त्यागात् सनातनो नित्यः ॐमित्येकाक्षर-मनुर्जायते । ततः किमिति चेत्? उच्यते, सकारस्य चन्द्रबीजत्वेन वेद्यरूपत्वात्, हकारस्यार्कबीजत्वेन वेदनरूपत्वात् एवंरूपसकारहकार-योस्त्यागाद् वृत्तिशून्यवेदकमात्रप्रकाशकरूप ॐकार एवावशिष्यत इति निष्प्रपञ्चब्रह्मप्रतिपादकः प्रणव इत्युक्तं भवति । तेन शिवजीवैक्यलक्षण-लिङ्गाङ्गसामरस्यरूपश्रुत्यागमप्रसिद्धपरमुक्तिरिति बोध्यम् ॥ २० ॥

'सोऽहम्' को (सनातन) परमात्मा का सनातन मन्त्र जानना चाहिये । 'सोऽहम्' में से 'ह' और 'स' का लोप होने से ओऽम् बचता है । यह एक अक्षर वाला मन्त्र है ॥ २० ॥

विशेष—'सोऽहम्' में हकार सूर्यबीज होने से वेदक है तथा सकार चन्द्रबीज होने से वेद्य है । सकार और हकार अर्थात् वेद्य और वेदक के हट जाने से प्रकाशमात्र अवशिष्ट रहता है । यही ओऽम् निष्प्रपञ्च ब्रह्म का प्रतीक है ।

एवंस्थिते प्रणवेन निष्कलज्ञानं पञ्चाक्षर्या सकलज्ञानं प्रणवसहितपञ्चाक्षर्या सकलनिष्कल (ज्ञान) मिति सूत्रद्वयेन प्रतिपादयति—

प्रणवेनैव मन्त्रेण बोध्यते निष्कलः शिवः ।
पञ्चाक्षरेण मन्त्रेण पञ्चब्रह्मतनुस्तथा ॥ २१ ॥
निष्कलः संविदाकारः सकलोविश्वमूर्तितः ।
उभयात्मा शिवो मन्त्रे षडक्षरमये स्थितः ॥ २२ ॥

अत्र निष्कलशब्देन शुद्धचिद्रूपत्वमुच्यते, सकलशब्देन प्रपञ्चविशिष्टत्व - मुच्यते । एवं च प्रणवमन्त्रेणैव निष्कलः शिवः सच्चिदानन्दात्मकः परशिवः बोध्यते प्रकाश्यते । पञ्चाक्षरेण मन्त्रेण पञ्चब्रह्मतनुः पञ्चब्रह्ममयः शिवस्तथा

बोध्यते, 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'[1] **इति श्रुतेः प्रकाश्यत इत्यर्थः । उभयात्मा शिवः सकलनिष्कलरूपः परमात्मा षडक्षरमये मन्त्रे प्रणवयुक्तपञ्चाक्षर्यां स्थितः प्रकाशत इत्यर्थः । अत्र यद्यपि**—'अकारं ब्रह्माणं नाभौ, उकारं विष्णुं हृदये, मकारं रुद्रं भ्रूमध्ये, ओंकारं सर्वेश्वरं द्वादशान्ते'[2] **इति तापनीयश्रुतेः प्रणवस्यापि सप्रपञ्चब्रह्ममयत्वमेव, तथापि वेद्यसंस्कारात्मकबिन्दुघटितत्वेन सूक्ष्मप्रपञ्चमयत्वान्निष्कलत्वव्यपदेशः । स्थूलप्रपञ्चमयस्य पञ्चाक्षरमन्त्रद्रुमस्य प्रणवो बीजम्, तस्य अकारोकारमकारबिन्दुनादलक्षणपञ्चावयवसम्पन्नत्वादिति संक्षेपः ॥ २१-२२ ॥**

प्रणव मन्त्र से केवल निष्कल शिव का ज्ञान होता है । पञ्चाक्षर मन्त्र से पञ्च ब्रह्मात्मक शरीर रूपी शिव का ज्ञान होता है ॥ २१ ॥

विशेष—प्रणव को उपनिषदों में सप्रपञ्च ब्रह्म कहा गया है किन्तु वास्तविकता यह है कि इसमें जो प्रपञ्च है वह सूक्ष्मतम है । अत: इसको निष्कल भी कही जा सकता है । प्रणव बीज स्वरूप है और पञ्चाक्षरी विद्या उसका वृक्ष ।

जहाँ तक षडक्षर मन्त्र का प्रश्न है उसमें संविदाकार निष्कल तथा विश्वमूर्त्ति सकल दोनों प्रकार शिवरूप इसमें स्थित है ॥ २१ ॥

अथास्य पञ्चाक्षरमन्त्रस्य पर्यायनामानि कथयति—

मूलं विद्या शिवः शैवसूत्रं पञ्चाक्षरस्तथा ।
एतानि नामधेयानि कीर्तितानि महामनोः ॥ २३ ॥

महामनोः पञ्चाक्षरमहामन्त्रस्य मूलं विद्या शिवः शैवसूत्रं तथा पञ्चाक्षर इत्येतानि नामधेयानि वर्णसंख्यया कीर्तितानीत्यर्थः ॥ २३ ॥

इस महामन्त्र के मूल विद्या शिव शैवसूत्र और पञ्चाक्षर ये पाँच नाम कहे गये हैं ॥ २३ ॥

अथैतादृशीं पञ्चाक्षरीं प्रणवेन सह षडक्षरीं विद्यां जपेदित्याह—

पञ्चाक्षरीमिमां विद्यां प्रणवेन षडक्षरीम् ।
जपेत् समाहितो भूत्वा शिवपूजापरायणः ॥ २४ ॥

समाहित एकाग्रचितः सन्नित्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ २४ ॥

शिवपूजा में लगा हुआ मनुष्य प्रणव के साथ अर्थात् प्रणव को जोड़ कर

---

१. छा०उ० ३।१४।१ २. नृ०उ० ३।४

छह अक्षरों वाले इस पञ्चाक्षरी विद्या का जप समाहित चित्त होकर करे ॥ २४ ॥

कथं जपेदित्यत्राह—

प्राणायामत्रयं कृत्वा प्राङ्मुखोदङ्मुखोऽपि वा ।
चिन्तयन् हृदयाम्भोजे देवदेवं त्रियम्बकम् ॥ २५ ॥
सर्वालङ्कारसंयुक्तं साम्बं चन्द्रार्धशेखरम् ।
जपेदेतां महाविद्यां शिवरूपामनन्यधीः ॥ २६ ॥

शुद्धे स्थले मृगाजिनचित्रकम्बलाद्यास्तरणे सिद्धपद्माद्यासने प्राङ्मुखोदङ्मुखो वोपविश्य भस्मरुद्राक्षालङ्कृतः सन् शिवलिङ्गपूजको भूत्वा

असम्पूज्य शिवं पश्चात् फलं वक्तुं न शक्यते ।
सहस्रं वा तदर्धं वा तदर्धं वा शताष्टकम् ।
अष्टोत्तरसहस्रं वा जपं कुर्यादतन्द्रधीः ॥
पूजाकोटिसमं स्तोत्रं स्तोत्रकोटिसमो जपः ।
जपकोटिसमं ध्यानं ध्यानकोटिसमो लयः ॥

इति शिवागमवचनात् शिवपूजानन्तरं पुनः प्राणायामं कृत्वा करषडङ्गं विन्यस्य हृदयकमले त्रियम्बकं मण्डलत्रयगुणत्रयदेवत्रयादित्रिविधवस्तु-कारणीभूतं देवदेवं भवानीपतिं सर्वालङ्कारसंयुक्तं चन्द्रार्धशेखरं शिवम् अनन्यधीः परिचिन्तयन्, एकां महाविद्यामुक्तविधेष्वेकप्रकारेण गुरूपदिष्ट-मार्गेण सगर्भजपं कुर्यादित्यर्थः ॥ २५-२६ ॥

पूर्वाभिमुख या उत्तराभिमुख बैठकर तीन प्राणायाम करने के बाद साधक अपने हृदयकमल में पहले सर्वालङ्कारयुक्त पार्वतीसहित तीन नेत्र वाले भगवान् चन्द्रचूड का ध्यान करे । उसके बाद एकाग्रचित्त होकर इस शिवरूपा महाविद्या का जप करे ॥ २५-२६ ॥

अथ जपभेदं प्रदर्शयति—

जपस्तु त्रिविधः प्रोक्तो वाचिकोपांशुमानसः ।
श्रूयते यस्तु पार्श्वस्थैर्यथा वर्णसमन्वयः ॥ २७ ॥
वाचिकः स तु विज्ञेयः सर्वपापप्रभञ्जनः ।
ईषत्स्पृष्टवाधरपुटं यो मन्दमभिधीयते ॥ २८ ॥
पार्श्वस्थैरश्रुतः सोऽयमुपांशुः परिकीर्तितः ।

अस्पृष्ट्वाधरमस्पन्दि जिह्वाग्रं योऽन्तरात्मना ।
भाव्यते वर्णरूपेण स मानस इति स्मृतः ॥ २९ ॥

जपो मन्त्रोच्चारस्तु वाचिक इति, उपांशुरिति, मानस इति त्रिविधः । तत्र यस्तु मन्त्रोच्चारो यथावर्णसमन्वयं वर्णसन्तानमनतिक्रम्य पार्श्वस्थैः श्रूयते, स मन्त्रोच्चारो मनोवचनकायजन्यसर्वपापनिवारको वाचिकजप इति विज्ञातुं योग्य इत्यर्थः । यः यो मन्त्रोच्चारः किञ्चिदधरपुटं स्पृष्ट्वा पार्श्वस्थैरश्रुतः सन् मन्दमभिधीयते, सोऽयमुपांशुजप इति परिकीर्तितः । यः यो मन्त्रोच्चारः अधरमस्पृष्ट्वा अस्पन्दिजिह्वाग्रं स्पन्दनरहितजिह्वाग्रं यथा भवति तथा वर्णरूपेणान्तरात्मना मन्त्राक्षरस्वरूपवता चित्तेन भाव्यते, सः स मन्त्रोच्चारो मानस इति मानसजप इति स्मृत इत्यर्थः ॥ २७-२९ ॥

जप तीन प्रकार का बतलाया गया है—वाचिक, उपांशु और मानस । जो पास में बैठे हुए लोगों के द्वारा वर्णक्रमानुसार सुना जा सके, समस्त पापों के नाशक उस प्रकार के जप को वाचिक जप समझना चाहिये । दोनों ओठों को छूते हुए जो धीमे-धीमे कहा जाता है तथा पास के लोग जिसको नहीं सुन पाते, वह उपांशु जप कहलाता है । जिसमें दोनों होठ नहीं स्पृष्ट होते मुख के अन्दर जिह्वा भी नहीं हिलती तथा जिसकी वर्णरूप में अन्दर-अन्दर भावना की जाती है, वह मानस जप कहा गया है ॥ २७-२९ ॥

विशेष—वस्तुतः ये सभी जप वाचिक ही है । वास्तविक मानस जप मध्यमा राज्य में प्रवेश के विना सम्भव नहीं ।

अथास्य जपयज्ञस्य माहात्म्यमुद्भावयति—

यावन्तः कर्मयज्ञाद्या व्रतदानतपांसि च ।
सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥ ३० ॥

यावन्तः कर्मयज्ञाद्या ज्योतिष्टोमादयः सन्ति, व्रतदानतपांसि यावन्ति सन्ति, ते सर्वे जपयज्ञस्य षोडशीं कलां प्रति षोडशभागेष्वेकभागं च प्रति, नार्हन्ति न समाना भवन्तीत्यर्थः ॥ ३० ॥

जितने कर्मयज्ञ आदि हैं, जितने व्रत दान और तप रूप यज्ञ हैं वे सब जप यज्ञ की सोलहवीं कला के भी बराबर नहीं है ॥ ३० ॥

अथोक्तत्रिविधजपानां माहात्म्यमेकप्रकारं किमित्यत्राह—

माहात्म्यं वाचिकस्यैतज्जपयज्ञस्य कीर्तितम् ।

तस्माच्छतगुणोपांशुः सहस्रो (सहस्रं) मानसः स्मृतः ॥ ३१ ॥

वाचिकजपस्य यदेतन्माहात्म्यं कीर्तितं तस्मात् वाचिकजपाद् उपांशुजपः शतगुणः, तस्मादुपांशोर्मानसः सहस्रः सहस्रगुण इति स्मृत इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

यह माहात्म्य वाचिक जप यज्ञ का बतलाया गया है। उससे सौ गुना उत्कृष्ट उपांशु तथा हजार गुना उत्कृष्ट मानस जप माना (कहा) गया है ॥ ३१ ॥

तद्ध्येतेषु को वा जपः कर्तव्य इत्यत्र मोक्षार्थिभिर्मानस एव जपः कर्तव्य इत्याह—

वाचिकात् तदुपांशोश्च जपादस्य महामनोः ।
मानसो हि जपः श्रेष्ठो घोरसंसारनाशकः ॥ ३२ ॥

अस्य महामनोः, वाचिकाज्जपादुपांशोश्च जपात्, मानसो जपः क्रूरसंसारनाशकः सन् श्रेष्ठ इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

इस महामन्त्र के वाचिक तथा उपांशु की अपेक्षा मानस जप श्रेष्ठ है। वह भयानक संसार का नाश करने वाला है ॥ ३२ ॥

तर्हि तयोः का गरितित्यत्राह—

एतेष्वेतेन विधिना यथाभावं यथाक्रमम् ।
जपेत् पञ्चाक्षरीमेतां विद्यां पाशविमुक्तये ॥ ३३ ॥

एतेषु विषयेषु वाचिकादिजपविषयेषु, एतेन विधिना एतदुक्तप्रकारेण, यथाक्रमं क्रममनतिक्रम्य यथाभावं यथासम्भवम् एतां पञ्चाक्षरीं विद्यां पाशविमुक्तये मलमायादिपञ्चपाशविमुक्त्यर्थं जपेत्, उच्चरेदित्यर्थः ॥ ३३ ॥

इन तीनों प्रकारों में से किसी भी प्रकार से भक्ति भावना के साथ बतलाये गये क्रम से भवपाश से मुक्ति पाने के लिये इस पञ्चाक्षर मन्त्र का जप करना चाहिये ॥ ३३ ॥

अथ अनेनैव मन्त्रेण शिवलिङ्गार्चनं च कर्तव्यमित्याह—

अनेन मूलमन्त्रेण शिवलिङ्गं प्रपूजयेत् ।
नित्यं नियमसम्पन्नः प्रयतात्मा शिवात्मकः ॥ ३४ ॥

नियमसम्पन्नः यमनियमादिसम्पन्नः सन्, प्रयतात्मा शुद्धान्तःकरणवान् सन्, शिवात्मकः 'नारुद्रो रुद्रमर्चयेत्' इति श्रुतेः शिवभावसम्पन्नः, अनेन मूलमन्त्रेण एतत्प्रणवपञ्चाक्षरमन्त्रेण शिवलिङ्गं नित्यं सदा पूजयेद् विभवेन

पूजयेदित्यर्थः ॥ ३४ ॥

शिव के भक्त को चाहिये कि वह विशुद्ध चित्त वाला होकर नियमानुसार इस मूलमन्त्र से शिवलिङ्ग का नित्य पूजन करे ॥ ३४ ॥

नन्वस्य समन्त्रकशिवपूजनस्य किं फलमित्यत्राह—

भक्त्या पञ्चाक्षरेणैव यः शिवं सकृदर्चयेत् ।
सोऽपि गच्छेच्छिवस्थानं मन्त्रस्यास्यैव गौरवात् ॥ ३५ ॥

स्पष्टम् ॥ ३५ ॥

जो इस पञ्चाक्षर मन्त्र से भक्तिपूर्वक शिव की एक बार पूजा करता है वह भी इस मन्त्र की महिमा से शिवस्थान को जाता है ॥ ३५ ॥

ननु व्रतनियमादिना सद्गतिसम्भवात् पूजा किमर्थं विधेयेत्यत्राह—

अब्भक्षा वायुभक्षाश्च ये चान्ये व्रतकर्शिताः ।
तेषामेतैर्व्रतैर्नास्ति शिवलोकसमागमः ॥ ३६ ॥

अब्भक्षा जलाहारिणः, वायुभक्षाश्च वायुपर्णाहारिणः, ये चान्ये व्रतकर्शिताः कृच्छ्रचान्द्रायणादिव्रतकृशा ये सन्ति, तेषामेतैर्व्रतैः शिवलोकप्राप्तिर्नास्तीत्यर्थः ॥ ३६ ॥

जो लोग केवल जल पीकर या वायु का सेवन कर व्रत करते हैं अथवा अन्य प्रकार के व्रत करने वाले हैं उनको इन व्रतों से शिवलोक की प्राप्ति नहीं होती ॥ ३६ ॥

तस्माज्जपयज्ञादयः सर्वे लिङ्गार्चनस्य कोट्यंशेनापि नो समा इत्याह—

तस्मात्तपांसि यज्ञाश्च व्रतानि नियमास्तथा ।
पञ्चाक्षरार्चनस्यैते कोट्यंशेनापि नो समाः ॥ ३७ ॥

स्पष्टम् ॥ ३७ ॥

इस कारण तपस्या यज्ञ नियम और व्रत ये सब पञ्चाक्षर मन्त्र के (द्वारा शिव का) पूजन एवं जप के करोड़वें भाग के बराबर नहीं है ॥ ३७ ॥

ननु शिवार्चने निर्मलज्ञानादिसम्पन्नोऽधिकारीत्युक्तत्वाद् अशुद्धबुद्धीनां का गतिरित्यत्राह—

अशुद्धो वा विशुद्धो वा सकृत् पञ्चाक्षरेण यः ।
पूजयेत् पतितो वापि मुच्यते नात्र संशयः ॥ ३८ ॥

पतितो व्रतभ्रष्ट इत्यर्थः । मुच्यते सर्वपापैः प्रमुच्यत इत्यर्थः ॥ ३८ ॥

अशुद्ध हो या विशुद्ध (अर्थात् जन्म से अशुद्ध हो अथवा बाद में अशुद्ध हो गया हो) अथवा पतित हो, एक बार पञ्चाक्षर से जो (शिव) की अर्चना करता है वह मुक्त हो जाता है, इसमें सन्देह नहीं ॥ ३८ ॥

अथ पञ्चाक्षरमन्त्रस्य सकृदुच्चारणादेव सर्वेषामपि सर्वपापक्षयः स्यादित्याह—

सकृदुच्चारमात्रेण पञ्चाक्षरमहामनोः ।
सर्वेषामपि जन्तूनां सर्वपापक्षयो भवेत् ॥ ३९ ॥

स्पष्टम् ॥ ३९ ॥

पञ्चाक्षर महामन्त्र का केवल एक बार उच्चारण करने से समस्त जीवों का पापक्षय हो जाता है ॥ ३९ ॥

ननु शिवागमप्रसिद्धा मन्त्रा बहवः सन्ति, तेभ्यः कस्मादस्य वैशिष्ट्यमित्यत्राह—

अन्येऽपि बहवो मन्त्रा विद्यन्ते सकलागमे ।
भूयो भूयः समभ्यासात् पुरुषार्थप्रदायिनः ॥ ४० ॥
एष मन्त्रो महाशक्तिरीश्वरप्रतिपादकः ।
सकृदुच्चारणादेव सर्वसिद्धिप्रदायकः ॥ ४१ ॥

सकलागमे समस्तशिवागमे, एतत्पञ्चाक्षरीव्यतिरिक्तमन्त्रा बहवः सन्ति, ते पुरश्चरणबाहुल्यात् पुरुषार्थप्रदायिनः । एष पञ्चाक्षरमन्त्रो महाशक्तिः महासामर्थ्यवान्, ईश्वरस्य विश्वमयविश्वोत्तीर्णसामरस्यलक्षणमाहात्म्य-प्रतिपादकः । तस्मात् सकृदुच्चारणादेव सर्वसिद्धिप्रदायक इत्यस्य वैशिष्ट्य-मित्यर्थः ॥ ४०-४१ ॥

समस्त आगमों में अन्य भी बहुत से मन्त्र हैं, किन्तु वे बार-बार अभ्यास करने पर ही फल देते हैं । यह मन्त्र महाशक्तिसम्पन्न और ईश्वर का वाचक है । इसलिये एक बार उच्चारण से ही यह समस्त सिद्धियों को देता है ॥ ४०-४१ ॥

अथ समन्त्रकपूजाफलं प्रकाशयति—

पञ्चाक्षरीं समुच्चार्य पुष्पं लिङ्गे विनिःक्षिपेत् ।
यस्तस्य वाजपेयानां सहस्रफलमिष्यते ॥ ४२ ॥

निक्षिपेत् समर्पयेदित्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ४२ ॥

जो मनुष्य पञ्चाक्षर मन्त्र का उच्चारण करते हुए शिवलिङ्ग के ऊपर पुष्प चढ़ाता है उसे हजार वाजपेय यज्ञ का फल मिलता है ॥ ४२ ॥

अथ पञ्चाक्षरीजपफलं प्रकाशयति—

अग्निहोत्रं त्रयोवेदा यज्ञाश्च बहुदक्षिणाः ।
पञ्चाक्षरजपस्यैते कोट्यंशेनापि नो समाः ॥ ४३ ॥

अग्निहोत्रं सायंप्रातर्विधीयमानाग्निहोत्रम्, त्रयो वेदा ऋग्यजुः-सामाध्ययनम्, यज्ञा ज्योतिष्टोमाद्याः, बहुदक्षिणाः षोडशमहादानरूपाः, एते पञ्चाक्षरजपस्य कोट्यंशेनापि समाना च भवन्तीत्यर्थः ॥ ४३ ॥

अग्निहोत्र तीनों वदों (का स्वाध्याय) बहुत दक्षिणा वाले यज्ञ ये सब पञ्चाक्षर जप के करोड़वें भाग के भी बराबर नहीं है ॥ ४३ ॥

अथैतन्मन्त्रसिद्धिमतां महापुरुषाणां माहात्म्यप्रतिपादनद्वारा तस्याधिक्यं वर्णयति—

पुरा सानन्दयोगीन्द्रः शिवज्ञानपरायणः ।
पञ्चाक्षरं समुच्चार्य नारकानुदतारयत् ॥ ४४ ॥

पुरा शिवज्ञानयोगनिष्ठः सानन्दगणेशः पञ्चाक्षरमन्त्रं वाचकरूपेणोच्चार्य नारकान् अष्टाविंशतिकोटिनायकनरकस्थितान् पापिन उदतारयद् उद्धृतवानित्यर्थः ॥ ४४ ॥

प्राचीन काल में शिवज्ञानपरायण सानन्द योगीन्द्र ने पञ्चाक्षर मन्त्र का उच्चारण कर अट्ठाईस करोड़ नरक वासियों का उद्धार किया ॥ ४४ ॥

सिद्ध्या पञ्चाक्षरस्यास्य शतानन्दः पुरा मुनिः ।
नरकं स्वर्गमकरोत् सङ्गिरस्यापि पापिनः ॥ ४५ ॥

पुरा शतानन्दः पञ्चाक्षरीजपस्य सिद्ध्या पापिनः सङ्गिरस्य नरकमपि स्वर्गमकरोदित्यर्थः ॥ ४५ ॥

प्राचीन काल में शतानन्द नामक मुनि ने इस पञ्चाक्षर की सिद्धि के द्वारा सङ्गिर नामक पापी के नरक को स्वर्ग बना दिया ॥ ४५ ॥

उपमन्युः पुरा योगी मन्त्रेणानेन सिद्धिमान् ।
लब्धवान् परमेशानाच्छैवशास्त्रप्रवक्तृताम् ॥ ४६ ॥

शिवशास्त्राचार्यतां लब्धवानित्यर्थः ॥ ४६ ॥

प्राचीन काल में उपमन्यु नामक योगी इस मन्त्र से सिद्धि को प्राप्त कर परमेश्वर से शैवशास्त्र की प्रवक्तृता को प्राप्त किये ॥ ४६ ॥

वसिष्ठवामदेवाद्या मुनयो मुक्तकिल्बिषाः ।
मन्त्रेणानेन संसिद्धा महातेजस्विनोऽभवन् ॥ ४७ ॥

मुक्तकिल्बिषा विमुक्तपापकर्माणः, वसिष्ठवामदेवाद्या ऋषयः, अनेन पञ्चाक्षरमन्त्रेण, सिद्धिमन्तः सन्तः, महातेजस्विनः शापानुग्रहसमर्था अभवन्नित्यर्थः ॥ ४७ ॥

इस मन्त्र के द्वारा वशिष्ठ वामदेव आदि मुनि पापरहित होकर पूर्ण सिद्ध और महातेजस्वी हो गये ॥ ४७ ॥

अथ ब्रह्मादयोऽप्येतन्मन्त्रसामर्थ्यदिव सृष्ट्यादिकृत्याधिकारिणो जाता इत्याह—

ब्रह्मादीनां च देवानां जगत्सृष्ट्यादिकर्मणि ।
मन्त्रस्यास्यैव माहात्म्यात् सामर्थ्यमुपजायते ॥ ४८ ॥

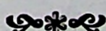
ब्रह्मविष्णुरुद्रादिदेवानां विश्वसृष्टिस्थितिसंहारादिकर्मणि सामर्थ्यमस्य मन्त्रस्य प्रभावादेवेत्यर्थः ॥ ४८ ॥

जगत् की सृष्टि आदि (= स्थिति और संहार) कार्यों में ब्रंह्मा आदि (= विष्णु रुद्र) का सामर्थ्य इसी मन्त्र की महिमा से होता है ॥ ४८ ॥

किं बहुना, अस्य प्रणवसहितषडक्षरमन्त्रस्य जपेन तत्कृतशिवलिङ्गपूजनेन च मोक्षमेवाप्नोतीत्युक्त्वा पञ्चाक्षरीजपस्थलं समापयति—

किमिह बहुभिरुक्तैर्मन्त्रमेवं महात्मा
प्रणवसहितमादौ यस्तु पञ्चाक्षराख्यम् ।
जपति परमभक्त्या पूजयन् देवदेवं
स गतदुरितबन्धो मोक्षलक्ष्मीं प्रयाति ॥ ४९ ॥

इति श्रीमत्षट्स्थलब्रह्मिणा शिवयोगिनाम्ना माहेश्वरेण विरचिते
सिद्धान्तशिखामणौ भक्तस्थले पञ्चाक्षरीजपप्रसङ्गो नाम
अष्टमः परिच्छेदः समाप्त ॥ ८ ॥



स्पष्टम् ॥ ४९ ॥

अत्र यादिसृष्टिषडक्षर्या शरीरन्यासम्, नादिप्रणवान्तसंहारपञ्चाक्षर्याऽङ्ग-न्यासम्, शिवाय नम ओमिति स्थितिपञ्चाक्षर्या करन्यासं कृत्वा गुरूपदिष्टमार्गेण प्रवणपञ्चाक्षरीं जपेत् । स्त्रीशूद्रादिजातीनां शिवाय नम इति जपविधिः ।

इति पञ्चाक्षरीजपस्थलम् ।

इति श्रीमत्पदवाक्यप्रमाणपारावारधुरीणश्रीमरितोण्टदार्येण विरचितायां तत्त्वप्रदीपिकाख्यायां सिद्धान्तशिखामणिव्याख्यायां भक्तस्थले पञ्चाक्षरीजपप्रसङ्गो नाम अष्टमः परिच्छेदः ॥ ८ ॥

...

और अधिक कहने से क्या लाभ? जो महात्मा प्रणव युक्त इस पञ्चाक्षर नामक मन्त्र का परम भक्ति के साथ देवाधिदेव भगवान् शङ्कर की पूजा करता हुआ जप करता है वह पापरूपी बन्धन का नाश कर मोक्षरूपी ऐश्वर्य को प्राप्त करता है ॥ ४९ ॥

इस प्रकार श्रीसिद्धान्तशिखामणि के पञ्चाक्षरीजपप्रसङ्ग नामक अष्टम परिच्छेद की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदिकृत 'ज्ञानवती' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ८ ॥

नवमः परिच्छेदः

अथ भक्तमार्गक्रियास्थलम्

अथ भक्तमार्गक्रियास्थलं निरूपयितुं पूर्वमुक्तमपि भक्तस्थलं विशेषतः स्मारयति श्रीरेणुकः—

भूतिरुद्राक्षसंयुक्तो लिङ्गधारी सदाशिवः ।
पञ्चाक्षरजपोद्योगी शिवभक्त इति स्मृतः ॥ १ ॥

स्पष्टम् ॥ १ ॥

भस्म और रुद्राक्ष से संयुक्त लिङ्गधारी सदाशिव पञ्चाक्षर के जप में लगे रहते हैं । इस कारण वे शिवभक्त कहे गये हैं अथवा जो व्यक्ति सदा शिवपञ्चाक्षर जप का उद्यमी है वह शिवभक्त माना गया है ॥ १ ॥

भक्तिभेदं निरूपयति—

श्रवणं कीर्तनं शम्भोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥ २ ॥
एवं नवविधा भक्तिः प्रोक्ता देवेन शम्भुना ।
दुर्लभा पापिनां लोके सुलभा पुण्यकर्मणाम् ॥ ३ ॥

शम्भोः श्रवणं शिवकथाश्रवणम्, कीर्तनं स्तोत्रम्, स्मरणं ध्यानम्, पदसेवनं पादमर्दनम्, अर्चनं पूजनम्, वन्दनं नतिः, दास्यं भृत्यत्वम्, सख्यं मित्रत्वम्, आत्मनिवेदनं स्वात्मसमर्पणम् । एवं भक्तिर्नवविधेति क्रीडाशीलेन देवेन प्रोक्ता । लोके पापिनां दुर्लभा, पुण्यकर्मणां धर्मशालिनां सुलभेत्यर्थः ॥ २-३ ॥

भगवान् शङ्कर (की कथा) का श्रवण, उनका स्मरण, उनके पैर की पूजा, अर्चना, वन्दना करना, अपने को उनका दास समझना, उनको अपना मित्र मानना तथा अपने को पूर्णतया उनके लिये समर्पित कर देना—इस प्रकार

भगवान् शम्भु ने नव प्रकार की भक्ति का वर्णन किया है । (यह भक्ति) संसार में पापियों के लिये दुर्लभ और पुण्यकर्मा लोगों के लिये सुलभ है ॥ २-३ ॥

अथैवंविधभक्तिमानेव भक्त इत्याह—

अधमे चोत्तमे वापि यत्र कुत्रचिदूर्जिता ।
वर्तते शाङ्करी भक्तिः स भक्त इति गीयते ॥ ४ ॥

स्पष्टम् ॥ ४ ॥

अधम अथवा उत्तम जिस किसी भी (व्यक्ति) में शङ्कर की भक्ति तीव्र होती है वह भक्त कहा जाता है ॥ ४ ॥

अथ भक्तिमानेव शिवप्रिय इत्याह—

भक्तिः स्थिरीकृता यस्मिन्म्लेच्छे वा द्विजसत्तमे ।
शम्भोः प्रियः सविप्रश्च न प्रियो भक्तिवर्जितः ॥ ५ ॥

स्पष्टम् ॥ ५ ॥

जिस म्लेच्छ अथवा उत्तम ब्राह्मण में भक्ति स्थिर होती है । वह म्लेच्छ अथवा ब्रह्मण शिव का प्रिय होता है, जो भक्ति से रहित है, वह प्रिय नहीं है ॥ ५ ॥

अनेन पूर्वोक्तोत्तमाधमावपि स्फुटीकृतौ । अथ सा भक्तिर्द्विविधेत्याह—

सा भक्तिर्द्विविधा ज्ञेया बाह्याभ्यन्तरभेदतः ।
बाह्या स्थूलान्तरा सूक्ष्मा वीरमाहेश्वरादृता ॥ ६ ॥

वीरमाहेश्वरप्रीतिविषयिणी भक्तिर्बाह्याभ्यन्तरलक्षणस्थूलसूक्ष्मभेदेन द्विविधेत्यर्थः ॥ ६ ॥

वह भक्ति बाह्य आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार की जाननी चाहिये । स्थूल भक्ति बाह्य कही जाती है । सूक्ष्म भक्ति आभ्यन्तर कही जाती है । (यह सूक्ष्म भक्ति) अधिक आदरणीय होती है । (अथवा वीरमाहेश्वर के द्वारा आदर को प्राप्त भक्ति बाह्य और आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार की है । बाह्य भक्ति स्थूल एवं आन्तर सूक्ष्म होती है ।) ॥ ६ ॥

अथ का नाम बाह्येत्यत्राह—

सिंहासने शुद्धदेशे सुरम्ये रत्नचित्रिते ।

शिवलिङ्गस्य पूजा या सा बाह्या भक्तिरुच्यते ॥ ७ ॥

सुरम्ये अत्यन्तमनोहरे, शुद्धदेशे षट्सम्मार्जनपरिशुद्धस्थाने, रत्नचित्रिते नवरत्नैर्विचित्रीकृते, सिंहासने सिंहविष्टरे, शिवलिङ्गस्य या पूजा, सा बाह्या भक्तिरित्युच्यत इत्यर्थः ॥ ७ ॥

शुद्ध और रमणीय स्थान में रत्नजटित सिंहासन के ऊपर शिवलिङ्ग की जो पूजा की जाती है । वह बाह्य भक्ति कही जाती है ॥ ७ ॥

एवं शिवभक्तविधीयमानां बाह्यां भक्तिमुक्त्वाऽथ शिवयोगिविधीयमानामान्तरां भक्तिमुपपादयति—

लिङ्गे प्राणं समाधाय प्राणे लिङ्गं तु शाम्भवम् ।
स्वस्थं मनस्तथा कृत्वा न किञ्चिच्चिन्तयेद् यदि ॥ ८ ॥
साभ्यन्तरा भक्तिरिति प्रोच्यते शिवयोगिभिः ।
सा यस्मिन् वर्तते तस्य जीवनं भ्रष्टबीजवत् ॥ ९ ॥

शिवलिङ्गे प्राणं समाधाय संस्थाप्य, प्राणे जीवकलारूपे प्राणे शाम्भवं लिङ्गं तु शिवकलारूपं लिङ्गं समाधाय संस्थाप्य, मनः स्वस्थं कृत्वा; यदि न किञ्चिच्चिन्तयेत्, सा लिङ्गप्राणसमरसरूपा चिन्ता, आभ्यन्तरा भक्तिरिति शिवयोगिभिः प्रोच्यते । साऽभ्यन्तरा भक्तिर्यस्मिन् वर्तते, तस्य जीवनं भ्रष्टबीजवद् भर्जितबीजवत् पुनर्न जननकारणमित्यर्थः ॥ ८-९ ॥

लिङ्ग में प्राण और प्राण में लिङ्ग को समाहित कर मन को स्वस्थ रखते हुए साधक यदि (शिव के अतिरिक्त) किसी अन्य का ध्यान नहीं करता तो शिवयोगी जन उसे आभ्यन्तरा भक्ति कहते हैं । वह भक्ति जिसके अन्दर होती है उसका जीवन भूँजे हुए बीज के समान होता है (अर्थात् जैसे भुने हुए बीज में अङ्कुरण नहीं होता उसी प्रकार उसका पुनर्जन्म नहीं होता) ॥ ८-९ ॥

एवं निर्बीजदीक्षाप्रसिद्धाभ्यन्तरभक्तिमानेव मुक्त इत्याह—

बहुनात्र किमुक्तेन गुह्याद् गुह्यतरा परा ।
शिवभक्तिर्न सन्देहस्तया युक्तो विमुच्यते ॥ १० ॥

स्पष्टम् ॥ १० ॥

इस विषय में बहुत कहने से क्या लाभ? शिवभक्ति परा तथा गुह्य से भी गुह्यतर है । उससे युक्त मनुष्य मुक्त हो जाता है, इसमें किसी तरह का सन्देह नहीं ॥ १० ॥

नन्वेतादृशी भक्तिः कस्माद् भवतीत्यत्राह—

प्रसादादेव सा भक्तिः प्रसादो भक्तिसम्भवः ।
यथैवाङ्कुरतो बीजं बीजतो वा यथाङ्कुरः ॥ ११ ॥

स्पष्टम् ॥ ११ ॥

वह भक्ति प्रसाद अर्थात् कृपा से मिलती है । प्रसाद भक्ति से उत्पन्न होता है । जिस प्रकार बीज से अङ्कुर तथा अङ्कुर से बीज पैदा होता है (उसी प्रकार का सम्बन्ध भक्ति और कृपा में है अर्थात् दोनों अनादि है) ॥ ११ ॥

अथैवंरूपा भक्तिरेकेनैव जन्मना दुर्लभेत्याह—

प्रसादपूर्विका येयं भक्तिर्मुक्तिविधायिनी ।
नैव सा शक्यते प्राप्तुं नरैरेकेन जन्मना ॥ १२ ॥

स्पष्टम् ॥ १२ ॥

जो भक्ति प्रसाद के बाद मिलती है वह मुक्ति प्रदान करती है । इस प्रकार. की भक्ति मनुष्य लोग एक जन्म में नहीं प्राप्त कर सकते ॥ १२ ॥

तर्हि कतिजन्मभिर्लभ्यत त्यत्राह—

अनेकजन्मशुद्धानां[1] श्रौतस्मार्तानुवर्तिनाम् ।
विरक्तानां प्रबुद्धानां प्रसीदति महेश्वरः ॥ १३ ॥

अनेकजन्मकृतशिवध्यानपूजादिपरिशुद्धचित्तानां श्रुतिस्मृत्युक्तनित्यनैमित्तिककर्मानुष्ठानानां काम्यकर्मनिस्पृहाणां सुज्ञानिनां शिवः प्रसन्नो भवति, तत्प्रसादात्तादृशी भक्तिर्लभ्यत इत्यर्थः । म्लेच्छादीनां श्रौतस्मार्तकर्मनिष्ठत्वाभावेऽपि पूर्वजन्मनि शिवभक्तेभ्यः कृतोपकारवशात् शिवभक्तिराविर्भवेदिति भावः ॥ १३ ॥

जो लोग अनेक जन्मों में (उत्तम कर्म करके) शुद्ध होते हैं, वेद पुराण स्मृति के द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर चलते है, विरागयुक्त तथा ज्ञानी हैं, परमेश्वर उन्हीं के ऊपर कृपा करते हैं ॥ १३ ॥

नन्वनेकजन्मलभ्यशिवभक्त्या कतिजन्मभिर्मुक्तिः, सा कीदृशी स्यादित्यत्राह—

---

१. तुलनीय—
अनेकजन्मसंसिद्धिस्ततो याति परां गतिम् । (भ०गी० ६।४५)

प्रसन्ने सति मुक्तोऽभून्मुक्तःशिवसमो भवेत् ।
अल्पभक्त्यापियो मर्त्यस्तस्य जन्मत्रयात्परम् ॥ १४ ॥

शिवे प्रसन्ने सति मुक्तो भवेत्, मुक्तः शिवसमो भवेद् यो मर्त्यस्तस्य अल्पभक्त्या जन्मत्रयात्परं मुक्तिः, पूर्णभक्तिमत एकेनैव जन्मना मुक्तिरिति भावः । अत्र शिवसमानत्वं शिवाभेद एव, 'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते'[1] इति श्रुतेः शिवसमानत्वाभावात्, शिवान्निकृष्टस्य तत्समत्वासम्भवात् । 'गगनं गगनाकारम्' इत्याद्यनन्योपमैवाभेद इति भावः, 'शिवस्वरूपो भवति शिवस्वरूपो भवति' इति वृद्धजाबालश्रुतेश्च ।

एकेन जन्मना मुक्तिर्वीराणां तु महेश्वरि ।
इतरेषां तु शैवानां मुक्तिर्जन्मत्रयात्परम् ॥

इति वीरागमवचनाद् वीरशैवानामेकेनैव जन्मना मुक्तिः, इतरेषां शैवानां जन्मत्रयात्परं मुक्तिरिति भावः ॥ १४ ॥

(शिव के) प्रसन्न होने पर मनुष्य मुक्त होता है । मुक्त होकर शिव के समान हो जाता है । जो मनुष्य थोड़ी भी भक्ति से युक्त होता है । उसको तीन जन्म के बाद पर (अर्थात् मुक्ति) की प्राप्ति हो जाती है ॥ १४ ॥

ननु का नामाल्पभक्तिः? मुक्तस्य पुनरुत्पत्तिरस्ति वा न वेत्यत्राह—

न योनियन्त्रपीडा वै भवेन्नैवात्र संशयः ।
साङ्गा न्यूना च या सेवा सा भक्तिरिति कथ्यते ॥ १५ ॥

'न स पुनरावर्तते न स पुनरावर्तते'[2] **इति श्रुतेर्योनियन्त्रपीडा पुनरुत्पत्तिर्नास्ति । उक्तनवविधाङ्गयुक्ता सेवा पूर्णभक्तिः, किञ्चिन्न्यूनाऽल्पभक्तिरित्यर्थः ॥ १५ ॥**

(ऐसे शिवभक्त को) गर्भ में वास का दुःख नहीं झेलना पड़ता । इसमें सन्देह नहीं । पूर्वोक्त नव प्रकार के अङ्गोपाङ्ग के सहित जो न्यून सेवा है वही अल्पभक्ति कही जाती है ॥ १५ ॥

अथ—'यद्धि मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति' इति श्रुतेः सा भक्तिस्त्रिविधेत्याह—

सा पुनर्भिद्यते त्रेधा मनोवाक्कायसाधनैः ।
शिवरूपादिचिन्ता या सा सेवा मानसी स्मृता ।

---

१. श्वे०उ० ६।८　　२. छा०उ० ८।१५।१

जपादि वाचिकीसेवा कर्मपूजा च कायिकी ॥ १६ ॥

सा साङ्गा भक्तिर्मनोवचनकायलक्षणकरणैस्त्रिधा भिन्ना भवति । तत्र शिवलिङ्गादिस्वरूपचिन्ता मानसी, शिवमन्त्रजपस्तुतिरूपा वाचिकी, कायेन विधीयमाना शिवलिङ्गपूजा कायिकी सेवेत्यर्थः ॥ १६ ॥

मन वाणी और शरीर रूपी तीन साधनों के आधार पर वह भक्ति पुनः (मानसिक वाचिक और दैहिक भेद से) तीन प्रकार की होती है । शिव के रूप आदि (= रङ्ग स्थान आभरण वाहन गुण लीला आदि) का चिन्तन मानसी सेवा कही जाती है । जप आदि वाचिकी सेवा तथा कर्म के द्वारा पूजा कायिकी भक्ति है ॥ १६ ॥

अथैवंविधरूपा सेवा बाह्यादिभेदेन त्रिविधेत्याह—

बाह्यमाभ्यन्तरं चैव बाह्याभ्यन्तरमेव वा ।
मनोवाक्कायभेदैश्च त्रिधा तद्भजनं विदुः ॥ १७ ॥

दीक्षात्रययुक्तमनोवाक्कायभेदवत्पूर्वोक्तभजनं बाह्यमित्याभ्यन्तरमिति बाह्याभ्यन्तरमिति त्रिधा विदुः, अभिज्ञा जानन्तीत्यर्थः ॥ १७ ॥

विद्वान् लोग मन वाणी और शरीर से तीन प्रकार की भक्ति मानते हैं । वह भक्ति बाह्य आभ्यन्तर तथा बाह्याभ्यन्तर भेद से तीन प्रकार की है ॥ १७ ॥

अथ किमेषां स्वरूपमित्यत्र मानसादिस्वरूपकथनपूर्वकमाह—

मनो महेशध्यानाढ्यं नान्यध्यानरतं मनः ।
शिवनामरता वाणी वाङ्मता चैव नेतरा ॥ १८ ॥
लिङ्गैः शिवस्य चोद्दिष्टैस्त्रिपुण्ड्रादिभिरङ्कितः ।
शिवोपचारनिरतः कायः कायो न चेतरः ॥ १९ ॥

उद्दिष्टैः शास्त्रोक्तैः, त्रिपुण्ड्रादिभिः भस्मत्रिपुण्ड्ररुद्राक्षाभरणरूपैः, शिवस्य लिङ्गैः, चिह्नैः, अङ्कितः मुद्रितः सन् शिवोपचारनिरतः शिवलिङ्ग-पूजातत्पर एव कायः, अन्यो न काय इत्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ १८-१९ ॥

मन महेश्वर के ध्यान से भरा रहे न कि किसी और के ध्यान से, वाणी शिव के ही नाम का जप कीर्तन करे अन्य नाम का नहीं, शास्त्रों में वर्णित त्रिपुण्ड्र आदि शिव के लिङ्गों से युक्त शिव की पूजा में लगा हुआ शरीर हो न कि अन्य व्यापार में आसक्त (तो यह मानसिक, वाचिक और कायिक भक्ति

होती है) ॥ १८-१९ ॥

अथ बाह्यादिकं लक्षयति—

अन्यात्मविदितं बाह्यं शम्भोरभ्यर्चनादिकम् ।
तदेव तु स्वसंवेद्यमाभ्यन्तरमुदाहृतम् ।
मनो महेशप्रवणं बाह्याभ्यन्तरमुच्यते ॥ २० ॥

शम्भोरभ्यर्चनादिकं शिवपूजादिकर्म अन्यात्मविदितं परदृष्टिगोचरीभूतं बाह्यम्, तदेव तु तदर्चनादिकं स्वसंवेद्यं परदृष्टिश्रुत्यगोचरत्वेन स्वमात्रगोचरमाभ्यन्तरम्, मनो महेशप्रवणं शिवलिङ्गासक्तं मनो बाह्याभ्यन्तरम्, काकाक्षिन्यायेनोभयत्र[1] व्याप्तमिति शास्त्रज्ञैरुच्यत इत्यर्थः ॥ २० ॥

शिव के जिस अभ्यर्चन आदि को दूसरे लोग भी जानते हों देखते हों वह बाह्य पूजा होती है । अपने मन में अपने द्वारा की गयी पूजा जिसको केवल पूजक ही जानता है, यह आभ्यन्तर पूजा कही गयी है । अपने मन को शिव में आसक्त कर देना बाह्याभ्यन्तर पूजा कही जाती है ॥ २० ॥

अथैवंरूपमानसादिबाह्यादित्रिविधभजनमेव पञ्चधा भवतीत्याह—

पञ्चधा कथ्यते सद्भिस्तदेव भजनं पुनः ।
तपः कर्म जपो ध्यानं ज्ञानं चेत्यनुपूर्वकम् ॥ २१ ॥

स्पष्टम् ॥ २१ ॥

वह भक्ति पुन: सन्तों के द्वारा पाँच प्रकार की कही जाती है वे प्रकार क्रमश: तपस्या, कर्म, जप, ध्यान और ज्ञान हैं ॥ २१ ॥

अथ किमेषां स्वरूपमित्यत्राह—

शिवार्थे देहसंशोषस्तपः कृच्छ्रादि नो मतम् ।
शिवार्चा कर्म विज्ञेयं बाह्यं यागादि नोच्यते ॥ २२ ॥
जपः पञ्चाक्षराभ्यासः प्रणवाभ्यास एव वा ।
रुद्राध्यायादिकाभ्यासो न वेदाध्ययनादिकम् ॥ २३ ॥
ध्यानं शिवस्य रूपादिचिन्ता नात्मादिचिन्तनम् ।

---

१. कौवे के शिर में आँख के गोलक दो होते हैं किन्तु पुतली एक ही होती है । उसी को वह दोनों गोलकों में क्रम से घुमाता रहता है और देखता है । उसी प्रकार एक ही पद अपने पूर्ववर्त्ती एवं परवर्त्ती पद से क्रम से सम्बद्ध होता है ।

शिवागमार्थविज्ञानं ज्ञानं नान्यार्थवेदनम् ।
इति पञ्चप्रकारोऽयं शिवयज्ञः प्रकीर्तितः ॥ २४ ॥

शिवपूजार्थं सामग्रीसम्पादने शरीरसंशोष एव तपः, कृच्छ्रादि कृच्छ्रचान्द्रायणादिना देहशोषो न तप इति सम्मतम् । शिवार्चा शिवलिङ्गपूजैव कर्मेति विज्ञेयम्, तत्फलस्य शाश्वतत्वात् । बाह्यं यागादि तद्भिन्नबहुवित्त-व्ययायाससाध्यज्योतिष्टोमयागादि कर्मेति नोच्यते, तत्फलस्य नश्वरत्वात् । वेदाध्ययनादिकं न जपः, 'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन'[1] इति भगवतैव नियमितत्वादिति, किन्तु पञ्चाक्षराभ्यासः प्रणवाभ्यास एव वा रुद्राध्यायादिकाभ्यासः । आदिशब्देन अथर्वशिरश्शिखादि, एतेषामावृत्ति-लक्षणोऽभ्यासो जप इत्यर्थः । नात्मादिचिन्तनं ध्यानं परिमितशरीरेन्द्रि-याद्युपाधिसंवलिताहमात्मचिन्तनं न ध्यानमित्यर्थः, किन्तु शिवस्य रूपादिचिन्ता शिवलिङ्गचिन्ता चन्द्रशेखरत्वादिविशिष्टमूर्तिचिन्ता च ध्यानमित्यर्थः । नान्यार्थ-वेदनं ज्ञानं सांख्याद्यन्यशास्त्रार्थज्ञानं न ज्ञानम्, किन्तु शिवागमार्थ-विज्ञानमित्यर्थः । एवंविधकायवाङ्मानसलक्षणपूजातपोजपध्याानज्ञानरूपपञ्च-प्रकारोऽयं शिवयज्ञ इति प्रकीर्तितः ॥ २२-२४ ॥

शिव के लिये देह को सुखाना तप है न कि कृच्छ्र[2] आदि[3] । शिव लिङ्ग की पूजा को कर्म समझना चाहिये । बाह्य याग आदि कर्म नहीं कहे जाते ॥ २३ ॥

पञ्चाक्षर मन्त्र अथवा प्रणव का अभ्यास जप कहा जाता है अथवा रुद्राष्टाध्यायी का पाठ भी न कि वेद का पाठ जप की कोटि में आता है। शिव के रूप आदि का चिन्तन ध्यान है न कि अपने आत्मा आदि का।

---

१. भ०गी० २।४५

२. गोमूत्र, गोबर, गोदूध, गोदधि, गोघृत एवं कुशोदक का भक्षण तथा एक रात्रि का उपवास 'कृच्छ्र' वृत होता है ।

३. 'आदि' पद से चान्द्रायण सान्तपन आदि व्रत समझना चाहिये । चान्द्रायण में पूर्णिमा के दिन पन्द्रह ग्रास फिर कृष्णपक्ष की प्रतिपदा से लेकर एक-एक ग्रास कम करते हुए भोजन करना तथा अमावस्या को उपवास । फिर शुक्ल प्रतिपदा से आगे एक-एक ग्रास बढ़ाना और पूर्णिमा को पन्द्रह ग्रास का भोजन किया जाता है ।
सान्तपन में ऊपर सूर्य और चारो ओर अग्नि जलाकर शरीर को तपाया जाता है ।

शैवागमों के अर्थ को जानना न कि अन्य सांख्य आदि विषयों को जानना, विज्ञान है । इस प्रकार यह शिवयज्ञ पाँच प्रकार का कहा गया है ॥ २३-२४ ॥

अथानेन पञ्चयज्ञेन परया भक्त्या यः शङ्करं पूजयति स भक्त इत्याह—

अनेन पञ्चयज्ञेन यः पूजयति शङ्करम् ।
भक्त्या परमया युक्तः स वै भक्त इतीरितः ॥ २५ ॥

स्पष्टम् ॥ २५ ॥

इस पञ्चयज्ञ से जो शिव की पूजा करता है परमभक्ति से युक्त वही 'भक्त कहा गया है ॥ २५ ॥

अथैवंविधशिवभक्तपूजने सद्गतिरवमाने घोरनरक इत्याह—

पूजनाच्छिवभक्तस्य पुण्या गतिरवाप्यते ।
अवमानान्महाघोरो नरको नात्र संशयः ॥ २६ ॥

स्पष्टम् ॥ २६ ॥

शिव भक्त के पूजन से उत्तम गति मिलती है । उसके अपमान से महा भयङ्कर नरक प्राप्त होता है, इसमें संशय नहीं है ॥ २६ ॥

अथ शिवभक्तस्य विधेयाविधेयमाह—

शिवभक्तो महातेजाः शिवभक्तिपराङ्मुखान् ।
न स्पृशेन्नैव वीक्षेत न तैः सह वसेत् क्वचित् ॥ २७ ॥

शिवभक्तो महातेजस्वी भवति । तस्मादशिवभक्तानां दर्शनस्पर्शनसहवासं सकृदपि न कुर्यात्, यदि कुर्यात्तेजोन्मान्द्यं भवेदिति भावः ॥ २७ ॥

महातेजस्वी शिवभक्त को चाहिये कि वह शिवभक्ति से पराङ्मुख व्यक्तियों का न स्पर्श करे, न उनको देखे और न उनके साथ कहीं निवास करे क्योंकि उनके स्पर्श आदि से शिवभक्त का तेज क्षीण हो जाता है ॥ २७ ॥

अथ विधेयमाह—

यदा दीक्षाप्रवेशःस्याल्लिङ्गधारणपूर्वकः ।
तदाप्रभृति भक्तोऽसौ पूजयेत् स्वागमस्थितान् ॥ २८ ॥

लिङ्गदीक्षानन्तरं भक्तः स्वागमस्थितान् वीरशैवागमस्थितान् प्रतिदिनं

पूजयेदित्यर्थः ॥ २८ ॥

लिङ्गधारणपूर्वक जब (शिवभक्त की) दीक्षा हो जाय तब से यह भक्त अपने (अर्थात् शैव) आगम में श्रद्धा विश्वास रखने वालों की पूजा किया करे ॥ २८ ॥

स्वमार्गाचारनिरताः सजातीया द्विजास्तु ये ।
तेषां गृहेषु भुञ्जीत नेतरेषां कदाचन ॥ २९ ॥

'शिवोक्तां जातिमर्यादां योऽतीत्य भुवि वर्तते । स चण्डाल इति ज्ञेयः' **इत्यादिवचनप्रामाण्यात् शिवदीक्षाग्निदग्धमलत्रयपूर्वकप्राप्तमन्त्रपिण्डत्वाद् द्विजन्मनां वीरशैवमतोचिताचारनिष्ठानां स्वजातिसम्भवानां भक्तमाहेश्वराणामालयेषु तेषां पङ्क्तौ च भुञ्जीयात्, नान्यत्रैति तात्पर्यम् ॥ २९ ॥**

जो ब्राह्मण अपने मार्ग और अपने आचार में निरत होने से सजातीय हैं भक्त को उन्हीं के घर में भोजन करना चाहिये, कभी भी दूसरों (शैवेतर वैष्णव आदि) के घर में नहीं ॥ २९ ॥

स्वमार्गाचारविमुखैर्भवविभिः प्राकृतात्मभिः ।
प्रेषितं सकलं द्रव्यमात्मलीनमपि त्यजेत् ॥ ३० ॥

आत्मलीनमपि स्वाधीनमपि त्यजेदित्यर्थः ॥ ३० ॥

अपने मार्ग एवं आचार से विमुख संसारी लोग के द्वारा दिया गया अन्न आदि यदि अपने अधिकार में भी हो तो भी उसका त्याग कर देना चाहिये ॥ ३० ॥

नार्चयेदन्यदेवांस्तु न स्मरेन्न च कीर्तयेत् ।
न तन्निवेद्यमाश्नीयाच्छिवभक्तो दृढव्रतः ॥ ३१ ॥

दृढव्रतो दृढतरशिवव्रती शिवभक्तः, अन्यदेवान् विष्ण्वाद्यन्यदेवान् नार्चयेद् हस्ताभ्यां न पूजयेत्, न च कीर्तयेद् न स्तुतिं कुर्यात्, न स्मरेद् मनसापि न ध्यायेत्, तदर्पितान्नादिद्रव्यं नाश्यीयान्न भुञ्जीयादित्यर्थः ॥ ३१ ॥

दृढ़व्रती शिवभक्त को अन्य देवताओं की न तो पूजा करनी चाहिये न स्मरण और न कीर्त्तन । अन्य देवताओं को निवेदित नैवेद्य भी नहीं खाना चाहिये ॥ ३१ ॥

यद्गृहेष्वन्यदेवोऽस्ति तद्गृहाणि परित्यजेत् ।
नान्यदेवार्चकान् मर्त्यान् पूजाकाले निरीक्षयेत् ॥ ३२ ॥

पूजाकाले शिवलिङ्गपूजाकाल इत्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ३२ ॥

जिस घर में अन्य देवता की स्थापना की गयी हो उस घर को छोड़ देना चाहिये । शिव पूजा के समय अन्य देवता की पूजा करने वाले मनुष्यों को नहीं देखना चाहिये ॥ ३२ ॥

सदा शिवैकनिष्ठानां वीरशैवाध्ववर्तिनाम् ।
नहि स्थावरलिङ्गानां निर्माल्याद्युपयुज्यते ॥ ३३ ॥

सदा निरन्तरम्, शिवलिङ्गैकनिष्ठानां वीरशैवमार्गवर्तनवतां देवर्षिमानवप्रतिष्ठितादिस्थावरलिङ्गनिर्माल्यप्रसादद्रव्यमयोग्यम्, हि प्रसिद्धम् ॥ ३३ ॥

जो सदाशिव के प्रति श्रद्धाविश्वासयुक्त हैं, वीरशैव मार्ग पर चलने वाले हैं उन्हीं को माला आदि पहनाना उचित है स्थावर लिङ्ग (अर्थात् पत्थर आदि से निर्मित लिङ्ग) को नहीं ॥ ३३ ॥

ननु वीरशैवानां स्थावरलिङ्गप्रसादमयोग्यं चेत्तलिङ्गस्यापाये प्राप्ते सत्यौदासीन्यं कर्तव्यं किमित्यत्राह—

यत्र स्थावरलिङ्गानामपायः परिवर्तते ।
अथवा शिवभक्तानां शिवलाञ्छनधारिणाम्॥ ३४ ॥
तत्र प्राणान् विहायापि परिहारं समाचरेत् ।
शिवार्थं मुक्तजीवश्चेच्छिवसायुज्यमाप्नुयात् ॥ ३५ ॥

यत्र स्थाने स्थावरलिङ्गानां प्रत्यूहः प्रवर्तते, अथवा गजाजिनगङ्गाकपालकालदग्धकामकालपुरभस्मनिभकन्थाकमण्डलुभिक्षापात्रदण्डभस्मघुटिकारूपशिवलाञ्छनधारिणां जङ्गमदेवानामुक्तनवविधभक्तिमतां शिवभक्तानामपायो वा यत्र प्रवर्तते, तत्र पार्वत्याचारेण प्राणान् विहायापि निवारणं कुर्यात् ॥ ३४-३५ ॥

जहाँ स्थावर लिङ्गों का अथवा शिव के चिह्न भस्म आदि धारण करने वालों का विनाश होता दिखलायी पड़े वहाँ प्राणों को छोड़कर भी उसका निराकरण करना चाहिये । जो शिव के लिये प्राणत्याग करता है वह शिव सायुज्य को प्राप्त करता है ॥ ३४-३५ ॥

ननु प्राणत्यागे दुर्मरणं किं न स्यादित्यत्राह—

शिवार्थं मुक्तजीवश्चेच्छिवसायुज्यमाप्नुयात् ।

भक्त यदि शिव के निमित्त प्राणोत्सर्ग करता है तो वह शिवसायुज्य को

प्राप्त करता है ।

अथ वीरभद्राचारबसवेश्वराचारं सूचयन् भक्ताचारभेदं प्रतिपादयति—

शिवनिन्दाकरं दृष्ट्वा घातयेदथवा शपेत् ।
स्थानं वा तत्परित्यज्य गच्छेद् यद्यक्षमो भवेत् ॥ ३६ ॥

हन्तुं शप्तुं यद्यसमर्थः, कर्णौ पिधाय तत् स्थानं परित्यज्य गच्छेदित्यर्थः ॥ ३६ ॥

शिव की निन्दा करने वाले को देखकर या तो उसे मार डाले या डाँट फट्कार लगाये और यदि इन दोनों कार्यों से समर्थ न हो तो कान बन्द कर वहाँ से चला जाय ॥ ३६ ॥

यत्र चाचारनिन्दाऽस्ति कदाचित्तत्र न व्रजेत् ।
यद्गृहे शिवनिन्दाऽस्ति तद्गृहाणि परित्यजेत् ॥ ३७ ॥

आचारनिन्दा शिवाचारनिन्देत्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ३७ ॥

जहाँ शैवाचार की निन्दा होती हो वहाँ कभी नहीं जाना चाहिये । जिन घरों में शिवनिन्दा होती है उन घरों को छोड़ देना चाहिये ॥ ३७ ॥

ननु शिवनिन्दाकरस्य प्रायश्चित्तमस्ति वा न वेत्यत्राह—

यः सर्वभूताधिपतिं विश्वेशानं विनिन्दति ।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि ॥ ३८ ॥

'ईश्वरः सर्वभूतानाम्'[१] इति श्रुतेः सकलप्राण्यधिपतिं सर्वेश्वरं यो निन्दति, तस्य वर्षशतैरपि निष्कृतिः कर्तुं शक्या न भवतीत्यर्थः ॥ ३८ ॥

जो समस्त प्राणियों के स्वामी विश्व के ईश्वर की निन्दा करता है उसका प्रायश्चित्त सौ वर्षों में भी नहीं किया जा सकता ॥ ३८ ॥

नन्वेवं शिवभक्तस्यान्यदेवतास्मरणं चायोग्यं चेत् सन्ध्यावन्दनादिपूर्वकर्मणः का गतिः? तस्य सूर्याद्युपासनारूपत्वादित्यत्राह—

शिवपूजापरो भूत्वा पूर्वकर्म विसर्जयेत् ।
अथवा पूर्वकर्म स्यात् सा पूजा निष्फला भवेत् ॥ ३९ ॥

शिवपूजापरः शिवलिङ्गदीक्षायुक्तः सन्, शिवपूजापर इत्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ३९ ॥

---

१. भ०गी० १८।६१

शिव पूजा में तत्पर होकर अन्य पूर्व कर्मों (अर्थात् अन्य प्रकार की उपासना आदि) का त्याग कर देना चाहिये । यदि (शिव पूजा के साथ) पूर्व कर्म का भी अभ्यास होता है तो वह शिवपूजा निष्फल होती है ॥ ३९ ॥

अथ नैतावन्मात्रम्, पातित्यं च स्यादित्याह—

उत्तमां गतिमाश्रित्य नीचां वृत्तिं समाश्रितः ।
आरूढपतितो ज्ञेयः सर्वकर्मबहिष्कृतः ॥ ४० ॥

स्पष्टम् ॥ ४० ॥

(शिवपूजा रूपी) उत्तम गति को प्राप्त कर भी जो नीच वृत्ति (अर्थात् निम्न कोटि के अर्चन पूजन) को अपनाता है उसे आरुढ़पतित (अर्थात् उच्च पद से गिरा हुआ) और सर्वकर्म बहिष्कृत समझना चाहिये ॥ ४० ॥

अथ तस्य प्रणवपञ्चाक्षरीजपशीलत्वाद् नरस्तुतिश्च गर्हितेत्याह—

पञ्चाक्षरोपदेशी च नरस्तुतिकरो यदि ।
सोऽलिङ्गी स दुराचारी कुकविः स तु विश्रुतः ॥ ४१ ॥

पञ्चाक्षरोपदेशी प्रणवपञ्चाक्षरोपदेशी शिवभक्तो यदि नरस्तुतिकरः स्यात्, स अलिङ्गी शिवलिङ्गरहितः, दुराचारी कुकविः कुत्सितकविः, विश्रुतो विगतशास्त्र इत्यर्थः ॥ ४१ ॥

पञ्चाक्षर का उपदेश प्राप्त करने वाला साधक यदि मनुष्यों की स्तुति करता है तो वह अलिङ्गी दुराचारी और कुकवि के रूप में विख्यात होता है ॥४१ ॥

चर्मपात्रे जलं तैलं न ग्राह्यं भक्तितत्परैः ।
गृह्यते यदि भक्तेन रौरवं नरकं व्रजेत् ॥ ४२ ॥

भक्तितत्परैः शिवभक्तितत्परैरित्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ४२ ॥

(शिव) भक्ति में लगे हुए लोगों को चाहिये कि वे चमड़े के बर्तन में जल अथवा तैल का ग्रहण न करे । यदि शिवभक्त ग्रहण करता है तो वह रौरव नरक को जाता है ॥ ४२ ॥

ननु लिङ्गिभिः पूर्वकर्म त्यजनीयमित्युक्तत्वात् तस्य जाताशौचादि कर्माचरणीयं वा न वेत्यत्राह—

न तस्य सूतकं किञ्चित्प्राणलिङ्गाङ्गसङ्गिनः ।
जन्मनोत्थं मृतोत्थं च विद्यते परमार्थतः ॥ ४३ ॥

'प्राणलिङ्गाङ्गसङ्गिनः शिवभक्तस्य जन्मनोत्थं मरणेनोत्थं किञ्चिदपि कुलोच्छिष्टसूतकं च परमार्थतो न विद्यत इत्यर्थः ॥ ४३ ॥

जो प्राणलिङ्गधारी है उसको परमार्थतः जननाशौच अथवा मरणाशौच रञ्चमात्र भी नहीं लगता ॥ ४३ ॥

तर्हि स्त्रीणां रजःसूतकमस्ति किमित्यत्राह—

लिङ्गार्चनरतायाश्च ऋतौ नार्या न सूतकम् ।
तथा प्रसूतिकायाश्च सूतकं नैव विद्यते ॥ ४४ ॥

शिवलिङ्गपूजानिष्ठायाः स्त्रियः, ऋतौ सूतकं मासिकरजोदर्शनकृत-सूतकम्, तथा प्रसूतिकायाः शिशुप्रसूतिप्रयुक्तायाश्च सूतकं च न विद्यत इत्यर्थः ॥ ४४ ॥

सदा लिङ्गार्चना करने वाली स्त्री रजस्वला होने पर भी अशुद्ध नहीं होती। बच्चा पैदा होने पर भी उसको जननसूतक नहीं लगता ॥ ४४ ॥

तर्हि गृहसूतकस्य का गतिरित्यत्राह—

गृहे यस्मिन् प्रसूता स्त्री सूतकं नात्र विद्यते ।
शिवपादाम्बुसंस्पर्शात् सर्वपापं प्रणश्यति ॥ ४५ ॥

तद्गृहे तया शिवपूजाकरणसमये शिवपादाम्बुपतनात् सर्वपापं सकलसूतकोत्थपापं नश्यतीति गृहसूतकं च नास्तीत्यर्थः ।

लिङ्गार्चनरता नारी सूतकी तु रजस्वला ।
रविरग्निर्यथा वायुस्तद्वत् कोटिशुचिर्भवेत् ॥

इति शिवागमवचनात् शिवभक्तानां न किमपि सूतकमस्तीति भावः ॥ ४५ ॥

ऐसी स्त्री जिस घर में शिशु को जन्म देती है उस घर में भी सूतक नहीं लगता। शिवपाद के जल के स्पर्श से समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं (अथवा जिस घर में शिवभक्ता स्त्री शिव की पूजा करती रहती है वह घर किसी भी प्रसूता के प्रसव से अशुद्ध नहीं होता) ॥ ४५ ॥

ननु पुरा विधीयमानशिवक्षेत्रतीर्थयात्रादिकं च परित्यजनीयं किमित्यत्राह—

शिवस्थानानि तीर्थानि विशिष्टानि शिवार्चकः ।
शिवयात्रोत्सवं नित्यं सेवेत परया मुदा ॥ ४६ ॥

शिवार्चक इष्टलिङ्गपूजक: शिवभक्तो विशिष्टानि श्रेष्ठानि शिवस्थानानि श्रीपर्वतादिस्थानानि, तीर्थानि त्रिमकुटादितीर्थानि, शिवयात्रोत्सवं च नित्यं सेवेतेत्यर्थः ॥ ४६ ॥

शिव की पूजा करने वाला भक्त शिव स्थान वाले विशिष्ट तीर्थों का तथा शिवयात्रा एवं शिव के उत्सव का परम आनन्द के साथ नित्य सेवन करे ॥ ४६ ॥

शिवक्षेत्रोत्सवमहायात्रादर्शनकाङ्क्षिणाम् ।
मार्गेऽन्नपानदानं च कुर्यान्माहेश्वरो जनः ॥ ४७ ॥

शिवक्षेत्रोत्सवोद्भूतयात्रादर्शनकाङ्क्षिणां सर्वेषां च माहेश्वरो जनः शिवभक्तजनो मार्गेऽन्नोदकदानं च कुर्यादित्यर्थः ॥ ४७ ॥

शिव भक्तजनों को चाहिये कि वे शिवक्षेत्र में होने वाले उत्सव अथवा शिव क्षेत्र में यात्रा की इच्छा वालों को रास्ते में अन्न जल आदि का दान करे ॥ ४८ ॥

ननु वस्त्रादिदानं विहाय अन्नतोयदानमेव किमित्यत्राह—

नान्नतोयसमं दानं च चाहिंसापरं तपः ।
तस्मान्माहेश्वरो नित्यमन्नतोयप्रदो भवेत् ॥ ४८ ॥

स्पष्टम् ॥ ४८ ॥

अन्न और जल के दान से बढ़कर कोई दान नहीं है । अहिंसा से बड़ा कोई तप नहीं है । इस कारण शिव के भक्त को चाहिये कि वह नित्य अन्न-जल का दान करे ॥ ४८ ॥

ननु तर्हि कन्यादानं च कस्माय(अ)पि दातुं योग्यं किमित्यत्राह—

स्वमार्गाचारवर्तिभ्यः स्वजातिभ्यः सदव्रती ।
दद्यात् तेभ्यः समादद्यात् कन्यां कुलसमुद्भवाम् ॥ ४९ ॥

सदाव्रती नित्यशिवाचारव्रती शिवभक्तः स्वमार्गाचारवर्तिभ्यो वीरशैवाचारमार्गवर्तिभ्यः स्वजातीयशिवभक्तेभ्यः कुलसमुद्भवां स्वकीय-कुलसमुत्पन्नां कन्यां दद्यात् तेभ्यः समादद्यात्, आनयेदित्यर्थः ॥ ४९ ॥

सदैव शिव का व्रत करने वाला अपने जाति तथा अपने सम्प्रदाय के आचार का पालन करने वालों के लिये अपनी कन्या का दान करे और उन्हीं के कुल में उत्पन्न कन्या से विवाह करे ॥ ४९ ॥

एवं बहुविधशिवाचारसम्पन्नो वीरव्रती शिवभक्तः श्रीगुरुं लिङ्गं च पूजयेदित्युभयस्थलं सूचयन् भक्तस्थलं समापयति—

एवमाचारसंयुक्ते वीरशैवो महाव्रती ।
पूजयेत् परयाभक्त्या गुरुं लिङ्गं च सन्ततम् ॥ ५० ॥

स्पष्टम् ॥ ५० ॥

इस प्रकार के आचार से युक्त महाव्रती वीरशैव अत्यन्त भक्ति के साथ गुरु और शिवलिङ्ग की पूजा करे ॥ ५० ॥

इतिभक्तमार्गक्रियास्थलम्

अथोभयस्थलम्

'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ'[1] **इति श्वेताश्वतरश्रुत्यनुसारेण शिवगुर्वोरभेदं सूत्रद्वयेन कथयति—**

गुरोरभ्यर्चनेनापि साक्षादभ्यर्चितः शिवः ।
तयोर्नास्ति भिदा किञ्चिदेकत्वात् तत्त्वरूपतः ॥ ५१ ॥

गुरोः पूजनेन शिवः साक्षात् प्रत्यक्षेण पूजितः, तयोः शिवगुर्वोः, तत्त्वरूपतः, परमार्थतः, एकत्वात् एकरूपत्वात्, किञ्चिदपि भिदा भेदो नास्तीत्यर्थः ॥ ५१ ॥

गुरु की पूजा करने से भी भगवान् शिव साक्षात् पूजित होते हैं । उन दोनों में रञ्चमात्र भी अन्तर नहीं है क्योंकि तात्त्विक रूप से वे दोनों एक हैं ॥ ५१ ॥

तस्मात्—

यथा देवे जगन्नाथे सर्वानुग्रहकारके ।
तथा गुरुवरे कुर्यादुपचारान् दिने दिने ॥ ५२ ॥

उपचारान् भक्त्याद्युपचारानित्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ५२ ॥

(भक्त) जिस प्रकार सबके ऊपर कृपा करने वाले विश्व के स्वामी शिव की पूजा करता है उसी प्रकार उसको प्रतिदिन श्रेष्ठ गुरु की भी पूजा करनी चाहिये ॥ ५२ ॥

---

१. श्वे०उ० ६।२३

ननु शिवगुर्वोरभेदे शिववद् गुरुरत्यप्रत्यक्षः स्यादित्यत्राह—

अप्रत्यक्षो महादेवः सर्वेषामात्ममायया ।
प्रत्यक्षो गुरुरूपेण वर्तते भक्तिसिद्धये ॥ ५३ ॥

महादेवः परमेश्वरः सर्वेषामात्ममायया शक्त्या अप्रत्यक्षोऽपि भक्तिसिद्धये ललाटनेत्रचन्द्रकलाभुजद्वयतिरोधानं कृत्वा गुरुरूपेण प्रत्यक्षः सन् वर्तत इत्यर्थः ॥ ५३ ॥

(जो) महादेव अपनी माया से सबके लिये अप्रत्यक्ष हैं (वही) भक्ति की सिद्धि के लिये गुरुरूप से प्रत्यक्ष हैं ॥ ५३ ॥

ननु शिववद् गुरोरिष्टार्थप्रदत्वादर्शनात् किमर्थं पूजनीय इत्यत्राह—

शिवज्ञानं महाघोरसंसारार्णवतारकम् ।
ध्रि(दी) यते येन स गुरुः कस्य वन्द्यो न जायते॥ ५४ ॥

येन गुरुणा महाभयङ्करसंसारसमुद्रतारकं शिवज्ञानं दीयते उपदिश्यते, स गुरुः कस्य केन वन्द्यो न भवति, जननमरणपरिपीडितैः सर्वैरपि वन्द्य इत्यर्थः ॥ ५४ ॥

जिनके द्वारा महा भयङ्कर संसाररूपी समुद्र के पार ले जाने वाला शिवज्ञान दिया जाता है वे गुरु किससे वन्दनीय नहीं है (अर्थात् सबके पूज्य हैं) ॥ ५४ ॥

ननु तादृशशिवज्ञानं कीदृशमिति तत्तन्माहात्म्यपूर्वकं प्रकाशयति—

यत्कटाक्षकलामात्रात् परमानन्दलक्षणम् ।
लभ्यते शिवरूपत्वं स गुरुः केन नार्चितः ॥ ५५ ॥

यत्कटाक्षकलामात्रादिति । अयं भावः—अत्र बन्धमोक्षदशयोरप्यहमिति धर्मिणः प्रसिद्धत्वेनान्धजात्यन्धबधिरमूकादि (दे) रपि स्वात्मनि संशय-विपर्ययाभावात् 'सर्वं ज्ञानं धर्मिण्यभ्रान्तं प्रकारे तु विपर्ययः' इति सर्वसम्मततत्वेनाण्डरसन्यायेन स्वात्मतादात्म्यापन्नस्य पुरुषस्य विभाग परामर्श-महिम्ना वह्नेर्विस्फुलिङ्गा इव विच्छिन्नत्वात्, अथैवं स्वातन्त्र्यापरपर्याय-मायाशक्तिपरिकल्पितव्यामोहवशादविज्ञातपरमानन्दलक्षणस्वात्मशिवत्वं दशम-दृष्टान्तेन[१] लभ्यते प्रकाश्यते, स गुरुः केन नार्च्यते, सर्वेणापि मुमुक्षुणाऽर्चनीय एवेत्यर्थः ॥ ५५ ॥

जिसके कृपाकटाक्ष की एक कला से परम आनन्द स्वरूप शिवभाव का

लाभ होता है उन गुरु की कौन पूजा नहीं करता? (अर्थात् सब लोग पूजा करते हैं) ॥ ५५ ॥

एवंरूपश्रीगुरोर्हितमेवाचरणीयम्, तदाज्ञोल्लङ्घनं न कर्तव्यमित्युक्त्वोभयस्थलं समापयति सूत्रद्वयेन—

हितमेव चरेन्नित्यं शरीरेण धनेन च ।
आचार्यस्योपशान्तस्य शिवज्ञानमहानिधेः ॥ ५६ ॥

उपशान्तस्य रागद्वेषरहितस्येत्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ५६ ॥

(भक्त को चाहिये कि वह) शरीर और धन के द्वारा उपशान्त (अर्थात् रागद्वेष आदि से रहित) तथा शिवज्ञान की महानिधिस्वरूप गुरु का नित्य हित करे ॥ ५६ ॥

गुरोराज्ञां न लङ्घेत सिद्धिकामी महामतिः ।
तदाज्ञालङ्घनेनापि शिवाज्ञाच्छेदको भवेत् ॥ ५७ ॥

महामतिः विवेकी सन् सिद्धिकाम मोक्षार्थी गुरोराज्ञां न लङ्घेत, यदि लङ्घेत शिवाज्ञाभङ्गकृद् भवेदित्यर्थः ॥ ५७ ॥

सिद्धि को चाहने वाला महामतिमान् (शिष्य कदापि) गुरु की आज्ञा का उल्लंघन न करे । उनकी आज्ञा के उल्लंघन से वह शिव की आज्ञा का उल्लंघनकर्त्ता हो जाता है ॥ ५८ ॥

---

१. एक बार दश आदमी कहीं जा रहे थे । रास्ते में उपस्थित नदी को पार करने के बाद उन लोगों ने सोचा की एक बार सबकी गणना कर ली जाय । उनमें से एक ने गिनना शुरू किया तो सामने स्थित नव लोगों को गिना अपने को भूल गया । उसने कहा कि नव ही लोग हैं । एक डूब गया । इस प्रकार सब लोगों ने क्रम से गणना की किन्तु नव ही मिलते थे । सबों ने रोना शुरू किया । एक अन्य आदमी वहाँ आया और रोने का कारण पूछा । लोगों ने बतलाया कि हम लोग दश चले थे, नदी पार करने के बाद नव ही बचे । एक डूब गया । आगन्तुक ने कहा—फिर से गिनो । एक ने पुनः गिनना शुरू किया । सामने स्थित नव को गिना । आगन्तुक ने कहा—दशवाँ व्यक्ति तुम हो—'दशमस्त्वमसि' । इस प्रकार उसको आत्मबोध और दश संख्या का बोध हुआ । गुरु उसी प्रकार स्वात्मविस्मृत शिष्य को उसके आत्मसत्त्व का बोध कराता है ।

इत्युभयस्थलम्

अथ त्रिविधसम्पत्तिस्थलम्

यथा गुरौ यथा लिङ्गे भक्तिमान् परिवर्तते ।
जङ्गमे च तथा नित्यंभक्तिं कुर्याद् विचक्षणः ॥ ५८ ॥

विचक्षणः प्रवीणशिवभक्त इत्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ५८ ॥

(त्रिविधसम्पत्तिस्थल वर्णन)—भक्तिमान् एव बुद्धिमान् (साधक) को चाहिये कि वह जैसे गुरु और लिङ्ग के प्रति भक्तिपूर्ण आचरण करता है उसी प्रकार जङ्गम (= शिवयोगी) के प्रति भी वह नित्य भक्ति करे ॥ ५८ ॥

ननु भक्तिसिद्ध्यर्थं शिव एव गुरुरूपेणावतीर्ण इत्युक्तत्वेन शिववद् गुरौ भक्तिः कर्तुमुचिता, जङ्गमे च तथा भक्तिः किमर्थं विधेयेत्यत्राह—

एक एव शिवः साक्षात् सर्वानुग्रहकारकः ।
गुरुजङ्गमलिङ्गात्मा वर्तते भुक्तिमुक्तिदः ॥ ५९ ॥

साक्षात् 'अतोऽस्मिन लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः'[१] इति भगवदुक्तेर्लोकवेदप्रसिद्धः सन् सकलभक्तानुग्रहकरः प्रभुः स्वतन्त्रः परमेश्वर एक एव गुरुजङ्गमलिङ्गात्मा गुरुलिङ्गजङ्गमात्मकः सन् भुक्तिमुक्तिदो भोगमोक्षपदः सन् वर्तत इति शिववज्जङ्गमेऽपि भक्तिः कर्तव्येत्यर्थः ॥ ५९ ॥

सबके प्रति अनुग्रह करने वाले तथा भोग और मोक्ष देने वाले एक ही शिव गुरु जङ्गम और लिङ्ग के रूप में व्यवहार कर रहे हैं (ऐसा समझना चाहिये) ॥ ५९ ॥

अथ लिङ्गापेक्षया जङ्गमस्याधिक्यं वक्तुं लिङ्गस्वरूपं प्रथममुपपादयति—

लिङ्गं च द्विविधं प्रोक्तं जङ्गमाजङ्गमात्मना ।
अजङ्गमे यथा भक्तिर्जङ्गमे च तथा स्मृता ॥ ६० ॥

जङ्गमाजङ्गमात्मना चरस्थिरभेदेन लिङ्गं शिवलिङ्गं द्विविधमिति प्रोक्तम् । अजङ्गमे स्थिरलिङ्गे यथा भक्तिविधीयते, तथा जङ्गमेऽपि चरलिङ्गेऽपि भक्तिः कर्तव्येत्यर्थः ॥ ६० ॥

जङ्गम और अजङ्गम (अर्थात् स्थावर) के रूप में लिङ्ग दो प्रकार का कहा

---

१. भ०गी० १५।१८

गया है । अजङ्गम के प्रति जैसी भक्ति होती है जङ्गम के प्रति भी वैसी ही भक्ति मानी गयी है ॥ ६० ॥

ननु किमनयोः स्वरूपमित्यत्राह—

अजङ्गमं तु यल्लिङ्गं मृच्छिलादिविनिर्मितम् ।
तद्वरं जङ्गमं लिगं शिवयोगीति विश्रुतम् ॥ ६१ ॥

मृच्छिलादिविनिर्मितं यल्लिङ्गमस्ति, तदजङ्गमं स्थिरलिङ्गमित्यर्थः ॥ ६१ ॥

जो अजङ्गम (अर्थात् स्थावर) लिङ्ग है वह मिट्टी अथवा पत्थर आदि से बना होता है । जङ्गम लिङ्ग उसकी अपेक्षा श्रेष्ठ होता है और वह शिवयोगी के नाम से प्रसिद्ध होता है ॥ ६१ ॥

तत्कथमित्यत्राह—

अचरे मन्त्रसंस्कारल्लिङ्गे वसति शङ्करः ।
सदाकालं वसत्येव चरलिङ्गे महेश्वरः ॥ ६२ ॥

स्पष्टम् ॥ ६२ ॥

श्रेष्ठता का कारण बतलाते हैं—स्थावर लिङ्ग में शिव का निवास मन्त्रों के द्वारा उसका संस्कार करने के कारण होता है किन्तु चरलिङ्ग (अर्थात् शिव योगी) में महेश्वर सदा (विना संस्कार आदि के) निवास करते हैं ॥ ६२ ॥

तस्माच्छिवयोगिनं प्रति कृतदानपूजाफलं सूत्रद्वयेन विशेषयति—

शिवयोगिनि यद्दत्तं तदक्षयफलं भवेत् ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन तस्मै देयं महात्मने ॥ ६३ ॥
यत्फलं लभते जन्तुः पूजया शिवयोगिनः ।
तदक्षयमिति प्रोक्तंसकलागमपारगैः ॥ ६४ ॥

अस्मिन्नर्थे आगमः प्रमाणमिति सूचितम् । अत्र—

दर्शनादर्चनात् तस्य त्रिसप्तकुलसंयुताः ।
जना मुक्तिप्रदं यान्ति किं पुनस्तत्परायणाः ॥

इति योगजागमवचनमनुसन्धेयम् ॥ ६३-६४ ॥

जो कुछ शिवयोगी को दिया जाता है वह अक्षय फलकारक होता है । इसलिये सम्पूर्ण प्रयास कर उस महात्मा (शिवयोगी) को देना चाहिये । शिवयोगी की पूजा से जीव जिस फल को प्राप्त करता है सकल आगमों के

विद्वान् उस (फल) को अक्षय मानते हैं ॥ ६३-६४ ॥

एवं तत्पूजाफलमुक्त्वा तदवमानफलं च प्रकाशयति—

नावमन्येत कुत्रापि शिवयोगिनमागतम् ।
अवमानाद्भवेत्तस्य दुर्गतिश्च न संशयः ॥ ६५ ॥

कुत्रापि अन्तर्बहिः क्वापि समागतमित्यर्थः ॥ ६५ ॥

सामने आये हुए शिवयोगी का कभी भी अपमान नहीं करना चाहिये । अवमान के कारण उस (= अवमन्ता) की दुर्गति होती है यह निश्चित है ॥ ६६ ॥

तस्माच्छिवयोगी पूजनीय इति वदन् त्रिविधसम्पत्तिस्थलं समापयति—

शिवयोगी शिवः साक्षादिति कैंकर्यभक्तितः ।
पूजयेदादरेणैव यथा लिङ्गं यथा गुरुः ॥ ६६ ॥

कैङ्कर्यभक्तिर्भृत्याचाररूपा भक्तिरित्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ६६ ॥

शिवयोगी साक्षात् शिव है—ऐसा मानकर सेवक भाव से जैसे लिङ्ग और गुरु की वैसी ही आदरपूर्वक उस (शिवयोगी) की पूजा करनी चाहिये ॥ ६६ ॥

इति त्रिविधसम्पत्तिस्थलम्

अथ चतुर्विधसारायस्थलम्

पादोदकं यथा भक्त्या स्वीकरोति महेशितुः ।
तथा शिवात्मनोर्नित्यं गुरुजङ्गमयोरपि ॥ ६७ ॥

अत्र महेशितुः शिवलिङ्गस्येत्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ६७ ॥

चतुर्विध सारायस्थल वर्णन—(साधक) जिस प्रकार भगवान् शङ्कर का चरणोदक भक्ति के साथ ग्रहण करता है उसी प्रकार नित्य उसे गुरु और जङ्गम (अर्थात् शिवयोगी) का चरणोदक लेना चाहिये ॥ ६८ ॥

अथ पादोदकधारणस्वरूपकथनपूर्वकं तत्फलमाह—

सर्वमङ्गलमाङ्गल्यं सर्वपावनपावनम् ।
सर्वसिद्धिकरं पुंसां शम्भोः पादाम्बुधारणम्॥ ६८ ॥

शिवलिङ्गचरणतीर्थधारणं समस्तमङ्गलानां मङ्गलं सत् सकलपावनानां पावनं सत् पुरुषाणां सर्वसिद्धिकरं भवतीत्यर्थः ॥ ६८ ॥

चूँकि शङ्कर का चरणाम्बु लेना समस्त मङ्गलों का मङ्गल, सभी पवित्रकों का पवित्रक और मनुष्यों के लिये समस्त सिद्धियों का दाता है (इसलिये उसे प्रतिदिन लेना चाहिये) ॥ ६९ ॥

अथ निर्माल्यपत्रपुष्पधारणफलं निरूपयति—

शिरसा धारयेद्यस्तु पत्रं पुष्पं शिवार्पितम् ।
प्रतिक्षणं भवेत् तस्य पौण्डरीकक्रियाफलम् ॥ ६९ ॥

स्पष्टम् ॥ ६९ ॥

जो भक्त शिव.को चढ़ाया हुआ पत्र पुष्प शिर पर धारण करता है उसको प्रतिक्षण पौण्डरीक क्रिया (अर्थात् पौण्डरीक भाग) का फल मिलता है ॥ ७० ॥

ननु शिवनिर्माल्यमग्राह्यमिति पुराणादौ श्रूयते (तत्) कथं ग्राह्यमित्यत्राह—

भुञ्जीयाद् रुद्रभुक्तान्नं रुद्रपीतं जलं पिबेत् ।
रुद्राघ्रातं सदा जिघ्रेदिति जाबालिकी श्रुतिः ॥ ७० ॥

रुद्रभक्तान्नं रुद्रसमर्पितप्रसादान्नं भुञ्जीयाद् भक्षयेत्, रुद्रपीतं रुप्रसादोदकं पिबेत्, रुद्राघ्रातं रुद्रसमर्पितकुसुमं जिघ्रेत्, इति जाबालिकी श्रुतिराहेत्यर्थः । 'रुद्रेणात्तमश्नन्ति रुद्रेण पीतं पिबन्ति रुद्रेणाघ्रातं जिघ्रन्ति' **इति जाबालश्रुतिः । तस्मात् पुराणादिषु श्रूयमाणातन्निषेधस्तु चण्डाधिकारविशिष्टस्थावरलिङ्गपरो न तु बाणादिलिङ्गपरः,**

बाणलिङ्गे स्वयंभूते चन्द्रकान्ते हृदि स्थिते ।
शालग्रामशिलोद्भूते शम्भोर्नैवेद्यभक्षणम् ॥

इति वचनात् । अन्यथा श्रुतिविरुद्धपुराणवचनप्रमाणमेव भवेदिति न सार्वत्रिक इति संक्षेपः, एवं श्रुतिसिद्धत्वात् ॥ ७० ॥

रुद्र को समर्पित अन्न का भोजन करना चाहिये । रुद्र को समर्पित जल का पान करना चाहिये । रुद्र के द्वारा सूँघे गये अर्थात् रुद्र को चढ़ाये गये (पुष्प) को सूँघना चाहिये ऐसा जाबालोपनिषद्[1] कहती है ॥ ७१ ॥

अर्पयित्वा निजे लिङ्गे पत्रं पुष्पं फलं जलम् ।
अन्नाद्यं सर्वभोज्यं च स्वीकुर्याद् भक्तिमान्नरः ॥ ७१ ॥

---

१. अहरहरभ्यर्च्य विश्वेश्वरं लिङ्गं तत्र रुद्रसूक्तैभिषिच्य तदेव स्नपनपयः त्रि:पीत्वा महापातकेभ्यो विमुच्यते । भस्मजाबालो०

स्पष्टम् ॥ ७१ ॥

भक्तिमान् मनुष्य को चाहिये कि वह पत्र पुष्प फल जल अन्न आदि सम्पूर्ण भोज्य पदार्थ को अपने इष्ट लिङ्ग को अर्पित कर ग्रहण करे ॥ ७१ ॥

अथ गुरुप्रसादविमुखानां मुक्तिर्नास्तीति सर्वसम्मतत्वेनापरिमिततेजसः शिवस्य 'ईशानः सर्वविद्यानाम्'[1] **इति श्रुतेः सकलविद्याधीश्वरत्वात्, तत्रैव** 'मे अस्तु सदाशिवोम्' **इति तारकब्रह्मरूपप्रणवाभेदेन श्रूयमाणत्वाच्च सकललोक-गुरुत्वात् तत्प्रसादोऽवश्यं ग्राह्य इत्याह—**

गुरुत्वात् सर्वभूतानां शम्भोरमिततेजसः ।
तस्मै निवेदितंसर्वं स्वीकार्यं तत्परायणैः ॥ ७२ ॥

स्पष्टम् ॥ ७२ ॥

समस्त प्राणियों की अपेक्षा अमित तेजस्वी शिव के श्रेष्ठ होने के कारण उनको निवेदित सब कुछ उनके भक्तों के द्वारा स्वीकार किया जाना चाहिये ॥ ७३ ॥

तर्ह्यस्य शिवलिङ्गप्रसादस्य कोऽधिकारीत्यत्राह—

ये लिङ्गधारिणो लोके ये शिवैकपरायणाः ।
तेषां तु शिवनिर्माल्यमुचितं नान्यजन्तुषु ॥ ७३ ॥

स्पष्टम् ॥ ७३ ॥

इस संसार में जो लोग शिवलिङ्ग का धारण करने वाले हैं और जो एकमात्र शिव के भक्त हैं उनके लिये शिव का प्रसाद ग्रहण करना उचित है अन्य जीवों के लिये नहीं ॥ ७४ ॥

तर्हि शिवप्रसादान्नभोजनस्य किं फलमित्यत्राह—

अन्नजाते तु भक्तेन भुज्यमाने शिवार्पिते ।
सिक्थे सिक्थेऽश्वमेधस्य यत्फलं तदवाप्यते॥ ७४ ॥

परिपक्वतण्डुलव्यक्तिः सिक्थशब्देनोच्यते । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ७४ ॥

भक्त के द्वारा शिव को समर्पित अन्न में से एक-एक चावल या कण में वही फल प्राप्त होता है जो कि अश्वमेध याग से ॥ ७५ ॥

---

१. वा०सं० ८।७

अथास्यानधिकारिणः सूचयति—

निर्माल्यं निर्मलं शुद्धं शिवेन स्वीकृतं यतः ।
निर्मलैस्तत्परैर्धार्यं नान्यैः प्राकृतजन्तुभिः ॥ ७५ ॥

शिवलिङ्गदीक्षारहिताः प्राकृताः, तेऽनधिकारिणः, तैर्न धार्यमित्यर्थः । शिवदीक्षया निर्मलैः, तत्परैः शिवलिङ्गनिष्ठैर्धार्यमित्यर्थः ॥ ७५ ॥

चूँकि शिव के द्वारा स्वीकृत होता है अतः (सम्पूर्ण नैवेद्य) निर्माल्य अर्थात् निर्मल अर्थात् शुद्ध होता है । वह अत्यन्त शुद्ध लोगों के द्वारा गृहीत होना चाहिये न कि सामान्य (अर्थात् अशुद्ध) लोगों के द्वारा ॥ ७५ ॥

तदेव स्फुटयति—

शिवभक्तिविहीनानां जन्तूनां पापकर्मणाम् ।
विशुद्धे शिवनिर्माल्ये नाधिकारोऽस्ति कुत्रचित् ॥ ७६ ॥

अयं भावः—व्यापकीभूतशिवस्याष्टतनुपरिकल्पितत्वेन साधारणीभूत-देवतान्तरपूजायां शिवसम्बन्धिपुष्पोदकीभूतचन्द्रगङ्गाभ्यां परिपुष्टस्य धान्यस्याग्निरूपरुद्रजिह्वया परिपच्यमानत्वाद् एतदुभयत्र सर्वप्राणि-नामप्यधिकारोऽस्ति, तथाप्यसाधारणशिवलिङ्गपूजायां शिवलिङ्गप्रसादस्वीकारे च शिवदीक्षासम्पन्न एवाधिकारीति सर्वशास्त्रप्रसिद्धम् ॥ ७६ ॥

शिवभक्ति से रहित पाप कर्म करने वाले जीवों का विशुद्ध शिवनिर्माल्य के विषय में कोई अधिकार नहीं है ॥ ७६ ॥

अथ प्रसादमहत्त्वं संसूच्यैतत्स्थलं समापयति सूत्रद्वयेन—

शिवलिङ्गप्रसादस्य स्वीकाराद्यत्फलं भवेत् ।
तथा प्रसादस्वीकाराद् गुरुजङ्गमयोरपि ॥ ७७ ॥
तस्माद् गुरुं महादेवं शिवयोगिनमेव च ।
पूजयेत् तत्प्रसादान्नं भुञ्जीयात् प्रतिवासरम् ॥ ७८ ॥

पूजयेत् तनुमनोधनैः पूजयेदित्यर्थः । तत्प्रसादान्नमेव प्रतिवासरं भुञ्जीयात् ॥ ७७-७८ ॥

शिवलिङ्ग के प्रसाद का ग्रहण करने से जो फल मिलता है वही फल गुरु और जङ्गम (अर्थात् शिवयोगी) के प्रसाद का भी प्राप्त होता है । इस कारण गुरु लिङ्ग और शिवयोगी की प्रतिदिन पूजा करनी चाहिये और उनके प्रसादस्वरूप अन्न को स्वीकार करना चाहिये ॥ ७७-७८ ॥

इति चतुर्विधसारायस्थलम्

सोपाधिनिरुपाधिसहजदानस्थलानि

अथ—

देहदानात् सत्यसिद्धिरर्थदानाच्च निर्वृतिः ।
प्राणदानात् ज्ञानसिद्धिरेवं सर्वं स्थिरं भवेत् ॥

इति योगजागमवचनानुसारेण गुरुलिङ्गजङ्गमोद्देशेन यथाशक्ति दानं कुर्यादित्याह—

शिवलिङ्गे शिवाचार्ये शिवयोगिनि भक्तिमान् ।
दानं कुर्याद् यथाशक्तितत्प्रसादयुतः सदा ॥ ७९ ॥

तद्विषय इति शेषः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ७९ ॥

सोपाधि निरुपाधि सहजदान स्थल वर्णन—भक्तिमान् (साधक) को चाहिये कि वह शिवलिङ्ग, शिवाचार्य और शिवयोगी को उनकी कृपा से युक्त होकर सदा अपनी शक्ति के अनुसार दान दे ॥ ७९ ॥

अथ तद्दानस्वरूपं विशदयति—

दानं च त्रिविधं प्रोक्तं सोपाधिनिरुपाधिकम्।
सहजं चेति सर्वेषां सर्वतन्त्रविशारदैः ॥ ८० ॥

दानं च प्राणदेहार्थरूपदानत्रयं सोपाधिकं निरुपाधिकं सहजं चेति त्रिरूपवदिति समस्तागमप्रवीणैः सर्वेषां शिवभक्तानां प्रोक्तमित्यर्थः ॥ ८० ॥

समस्त शास्त्रों के विद्वान् लोगों के द्वारा सबके लिये दान सोपाधि निरुपाधि और सहज भेद से तीन प्रकार का कहा गया है ॥ ८० ॥

तत्र सोपाधिदानस्थलं निरूपयति—

फलाभिसन्धिसंयुक्तं दानं यद्विहितं भवेत् ।
तत् सोपाधिकमाख्यातं मुमुक्षुभिरनादृतम् ॥ ८१ ॥

तुच्छफलाभिलाषसंयुक्तमत एव मुमुक्षुभिरुपेक्षितं यद्दानं विहितं स्यात्, तत् सोपाधिकमित्युक्तमित्यर्थः ॥ ८१ ॥

जो दान फल की आकांक्षा से युक्त होकर किया जाता है वह सोपाधिक दान कहा गया है । मोक्षार्थी जन उस प्रकार के दान का आदर नहीं करते ॥ ८१ ॥

अथ निरुपाधिदानस्थलं लक्षयति—

फलाभिसन्धिनिर्मुक्तमीश्वरार्पितकाङ्क्षितम् ।
निरुपाधिकमाख्यातं दानं दानविशारदैः ॥ ८२ ॥

तुच्छफलेच्छारहितमीश्वरार्पणाभिवाञ्छया विहितं यद्दानं तद् दानतत्त्वस्वरूपज्ञैर्निरुपाधिकदानमित्याख्यातमित्यर्थः ॥ ८२ ॥

दान के विशारद लोग फल की इच्छा से रहित ईश्वरार्पणबुद्ध्या किये गये दान को निरुपाधिक दान कहे हैं ॥ ८२ ॥

सहजदानस्थलं निरूपयति—

अदातृदातृदेयानां शिवभावं विचिन्तयन् ।
आत्मनोऽकर्तृभावं च यद्दत्तं सहजं भवेत् ॥ ८३ ॥

परिगृहीतृप्रदातृदेयानां शिवत्वं चिन्तयन्, आत्मनः स्वस्याकर्तृत्वं भावयन् यद्दानं दत्तम्, तत्सहजदानं स्यादित्यर्थः । 'भोक्ता भोज्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेकम्'[1] इति श्वेताश्वतरश्रुत्योपक्रमगतिपिण्डस्थलरहस्यमन्त्रोपसंहाररूपसहजदानस्थलेऽपि बोध्यम् ॥ ८३ ॥

परिगृहीत दाता एवं देय को शिव रूप सोचने वाला तथा (दान के विषय में) अपने को कर्त्ता न समझते हुए दिया गया दान सहज होता है ॥ ८४ ॥

एषु किं श्रेष्ठमित्यत्राह—

सहजं दानमुत्कृष्टं सर्वदानोत्तमोत्तमम् ।
शिवज्ञानप्रदं पुंसां जन्मरोगनिवर्तकम् ॥ ८४ ॥

सहजं दानं सर्वदानोत्तमानामुत्तममिति, उत्कृष्टं श्रेष्ठमित्यर्थः । कथमित्यत्र पुंसां जननमरणलक्षणमहारोगनिवारकीभूतशिवतादात्म्यज्ञाप्रदमित्युत्तरम् ॥ ८४ ॥

(तीनों प्रकार के दानों में) सहज दान उत्कृष्ट और सब प्रकार के दानों में उत्तम होता है । वह मनुष्यों को शिवज्ञान देने वाला तथा जन्मरूपी रोग को दूर करने वाला होता है ॥ ८४ ॥

ननु गुरुलिङ्गजङ्गमोद्देशेनैवंभावनया दत्तमेव सहजं वेत्यत्राह—

---

१. श्वे०उ० १।१२

शिवाय शिवभक्ताय दीयते यदि किञ्चन ।
भक्त्या तदपि विख्यातं सहजं दानमुत्तमम् ॥ ८५ ॥

शिवाय इष्टलिङ्गातिरिक्तस्थावरलिङ्गरूपिणे शिवाय दत्तं क्षेत्रादिदानम्, विरक्तमूर्तिव्यतिरिक्तशिवभक्तेभ्यश्च दत्तमपि सहजं दानमित्यर्थः ॥ ८५ ॥

शिव को अथवा शिवभक्त को जो कुछ भक्तिपूर्वक दिया जाता है वह भी उत्तम सहज दान कहा गया है ॥ ८५ ॥

अथ तद्दानफलमाह—

दानात् स्वर्णसहस्रस्य सत्पात्रे यत्फलं भवेत् ।
एकपुष्पप्रदानेन शिवे तत्फलमिष्यते ॥ ८६ ॥

स्पष्टम् ॥ ८६ ॥

उत्तम एवं योग्य व्यक्ति को एक सहस्र स्वर्णमुद्रा देने का जो फल होता है शिव को एक पुष्प (भक्तिपूर्वक) अर्पित करने से वही फल होता है ॥ ८६ ॥

तत्कथमित्यत्र—'ईशानः सर्वविद्यानाम्'[1] **इति श्रुतेः सकलविद्यानिधित्वाज्जगद्गुरुत्वेन सत्पात्रतमत्वादित्यभिप्रायेणाह—**

शिव एव परं पात्रं सर्वविद्यानिधिर्गुरुः ।
तस्मै दत्तं तु यत्किञ्चित्तदनन्तफलं भवेत् ॥ ८७ ॥

अयमप्येकोऽर्थः—शिव एव परं पात्रं तथा सर्वविद्यानिधिर्गुरुश्च परं पात्रम् । तस्मै शिवाय गुरवे च दत्तमनन्तंफलमिति ॥ ८७ ॥

समस्त विद्याओं के आकर गुरु रूप शिव ही (दान के) सर्वोत्कृष्ट पात्र हैं अथवा शिव एवं सर्वविद्यानिधि गुरु दोनों उत्तमोत्तम पात्र हैं । उनको जो कुछ दिया जाता है वह अनन्त फल वाला होता है ॥ ८७ ॥

एवं शिवयोगिनोऽपि दत्तमपीत्याह—

शिवयोगी शिवः साक्षाच्छिवज्ञानमहोदधिः ।
यत्किञ्चिद् दीयते तस्मै तद्दानं परमार्थिकम् ॥ ८८ ॥

पारमार्थिकम् अपरिमितफलदसहजदानमित्यर्थः ॥ ८८ ॥

---

१. वा०सं० ८।७

शिवज्ञान के समुद्ररूप शिवयोगी साक्षात् शिव होते हैं उनको जो कुछ दिया जाता है वह दान परम अर्थ (अर्थात् शिवसायुज्य) को देने वाला होता है ॥ ८८ ॥

अथ शिवयोगीश्वरमहत्त्वमेव विशेषयति—

शिवयोगी महत्पात्रं सर्वेषां दानकर्मणि ।
तस्मान्नास्ति परं किञ्चित्पात्रं शास्त्रविचारत: ॥ ८९ ॥

दानकर्मणि दानकर्मविषये सर्वेषां सत्पात्राणां शिवयोगी महापात्रम्, तस्मात्परं श्रेष्ठं पात्रं शास्त्रविचारत: किञ्चिदपि नास्तीत्यर्थ: ॥ ८९ ॥

(समस्त) दान कर्म में सबके लिये शिवयोगी उत्तम पात्र है । शास्त्रों की दृष्टि में उनसे बढ़कर कोई सत्पात्र नहीं है ॥ ८९ ॥

अथ तद्दानफलमाह—

भिक्षामात्रप्रदानेन शान्ताय शिवयोगिने ।
यत्फलं लभ्यते नैतद् यज्ञकोटिशतैरपि ॥ ९० ॥

भिक्षामात्रं कवलमात्रमित्यर्थ: । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ९० ॥

शान्त शिवयोगी को केवल भिक्षा अर्थात् एक ग्रास देने से जो फल प्राप्त होता है वह करोड़ों यज्ञ से भी नहीं मिलता ॥ ९० ॥

तत्कथमित्यत्राह—

शिवयोगिनि सन्तृप्ते तृप्तो भवति शङ्कर: ।
तत्तृप्त्या तन्मयं विश्वं तृप्तिमेति चराचरम् ॥ ९१ ॥

'ब्रह्मविद् (वेद) ब्रह्मैव भवति'[१] **इति श्रुते: शिवयोगिन: साक्षाच्छिवरूपत्वात् तत्तृप्त्या शिवस्तृप्तो भवति, तत्तृप्त्या** 'सर्वो वै रुद्र:' **इति श्रुतेस्तन्मयं विश्वं तृप्तिमेतीत्यर्थ: ॥ ९१ ॥**

शिवयोगी के तृप्त होने पर स्वयं शिव तृप्त होते हैं । उन (= शिव) की तृप्ति से उनसे व्याप्त चर-अचर समस्त विश्व तृप्त होता है ॥ ९१ ॥

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन शिवयोगिन एव तृप्तिं कुर्यादित्याह—

तस्मात् सर्वप्रयत्नेनयेन केनापि कर्मणा ।
तृप्तिं कुर्यात् सदाकालमन्नाद्यै: शिवयोगिन: ॥ ९२ ॥

---

१. मु०उ० २।२।९

सर्वप्रयत्नेन यया कयाचित्क्रियया सदाकालमन्नपानादिना शिवयोगिनस्तृप्तिं कुर्यादित्यर्थः ॥ ९२ ॥

इस कारण सम्पूर्ण प्रयास कर जिस किसी कर्म के द्वारा सब समय अन्न आदि से शिवयोगी को तृप्त करना चाहिये ॥ ९२ ॥

अथैवंरूपसत्पात्रेषु सहजदानसम्पन्नः साक्षाच्छिव एवेत्याह—

निरुपाधिकचिद्रूपपरानन्दात्मवस्तुनि ।
समाप्तं सकलं यस्य स दानी शङ्करः स्वयम् ॥ ९३ ॥

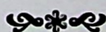
सम्पूर्णसच्चिदानन्दलक्षणगुरुलिङ्गजङ्गमात्मनि परमशिवे यस्य शिवभक्तस्य शरीरार्थप्राणरूपं सकलं वस्तु समाप्तं समर्पितं भवेत्, स सहजदानी स्वयमेव शिव इत्यर्थः ॥ ९३ ॥

विना किसी आकांक्षा वाले चिद्रूप परानन्द तत्त्व के विषय में अर्थात् उसके नाम पर जिसका सब कुछ समाप्त अर्थात् समर्पित हो जाता है वह दानी स्वयं शङ्कर हो जाता है ॥ ९३ ॥

अथैवमुक्ताखिलाचारसम्पन्नः सहजदानी शिवभक्त एव माहेश्वरतामुपैतीति वृत्तेनाह—

उक्ताखिलाचारपरायणोऽसौ
सदा वितन्वन् सहजं तु दानम् ।
ब्रह्मादिसम्पत्सु विरक्तचित्तो
भक्तो हि माहेश्वरतामुपैति ॥ ९४ ॥

इति श्रीमत्षट्स्थलब्रह्मिणा शिवयोगिनाम्ना रेणुकाचार्येण विरचिते
सिद्धान्तशिखामणौ माहेश्वरस्य नवविधस्थलप्रसङ्गो
नाम नवमः परिच्छेदः ॥ ९ ॥



अक्षरार्थस्य स्पष्टत्वाद् भावार्थो लिख्यते—देहद्रव्यक्षेत्राणि गुरुलिङ्गजङ्गमेषु समर्प्य श्रीगुरुकरकमले समुत्पत्य जङ्गमदेवतीर्थप्रसादेनैव शरीरं धृत्वा महालिङ्गैक्यापेक्षी शिवभक्तो माहेश्वरीयसदाचारवान् सन् माहेश्वर इति प्रसिद्धो भवेत् ॥ ९४ ॥

इति दानत्रयस्थलम्

इति श्रीमत्पदवाक्यप्रमाणपारावारधुरीणश्रीमरितोण्टदार्येण विरचितायां तत्त्वप्रदीपिकाख्यायां सिद्धान्तशिखामणिव्याख्यायां भक्तिमार्ग-क्रियास्थलवर्णन नाम नवमः परिच्छेदः ॥ ९ ॥

पूर्वोक्त समस्त आचरणों को करने वाला, सदा सहज दान देता हुआ और ब्रह्मा आदि की सम्पत्ति के प्रति भी मन में राग न रखने वाला यह भक्त माहेश्वर हो जाता है ॥ ९४ ॥

इस प्रकार श्रीसिद्धान्तशिखामणि के भक्तमार्गक्रियास्थलवर्णन नामक नवम परिच्छेद की आचार्य राधेश्याम चतुर्वेदीकृत 'ज्ञानवती' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ९ ॥

दशमः परिच्छेदः

अथ माहेश्वरस्थलम्

अथ भक्तस्थलनिरूपणानन्तरमगस्त्यः श्रीरेणुकं परिपृच्छति—

अगस्त्य उवाच

भक्तस्थलं समाख्यातं भवता गणनायक ।
केन वा धर्मभेदेन भक्तो माहेश्वरो भवेत् ॥ १ ॥

भक्तः शिवभक्तः केन धर्मभेदेन आचारभेदेनेत्यर्थः, माहेश्वरः स्यादिति प्रश्नार्थः ॥ १ ॥

(माहेश्वरस्थल वर्णन)—अगस्त्य ने कहा—हे गणनायक! आपने भक्त स्थल का वर्णन किया । (अब यह बतलाइये कि) किस धर्मभेद से भक्त माहेश्वर होता है ॥ १ ॥

रेणुक उवाच

केवले सहजे दाने निष्णातः शिवतत्परः ।
ब्रह्मादिस्थानविमुखो भक्तो माहेश्वरः स्मृतः ॥ २ ॥

केवले सहजे दाने निष्णातः कुशलः सन् ब्रह्मादिपदनिस्पृहः शिवभक्तः शिवतत्परः शिवैकनिष्ठः सन् माहेश्वरः स्मृत इत्यर्थः ॥ २ ॥

रेणुकाचार्य ने कहा—(जो व्यक्ति) केवल सहज दान में निष्णात एवं शिव-भक्ति में लगा हुआ है तथा ब्रह्मा आदि के भी पद का अभिलाषी नहीं है ऐसा भक्त माहेश्वर माना गया है ॥ २ ॥

तदेव स्फुटयति—

भक्तेर्यदा समुत्कर्षो भवेद् वैराग्यगौरवात् ।
तदा माहेश्वरः प्रोक्तो भक्तः स्थिरविवेकवान् ॥ ३ ॥

भक्तेः शिवभक्तेः समुत्कर्षः समुचितोत्कर्षो वैराग्यगौरवाद् वैराग्यमहत्त्वाद् यदा काले भवेत्, तदा तस्मिन् काले स्थिरविवेकवान् स्थिरीभूतनित्यानित्यवस्तुविवेकवान् शिवभक्तो माहेश्वर इति प्रोक्त इत्यर्थः ॥ ३ ॥

जब वैराग्य की अधिकता से (मनुष्य के अन्दर) भक्ति का उत्कर्ष होता है तब वह स्थिरविवेक वाला भक्त माहेश्वर कहा जाता है ॥ ३ ॥

नन्वस्यापि स्थलभेदाः सन्ति किमित्यत्र तद्भेदमुपदिशति—

माहेश्वरस्थलं वक्ष्ये यथोक्तं शम्भुना पुरा ।
माहेश्वरप्रशंसादौ लिङ्गनिष्ठा ततः परम् ॥ ४ ॥
पूर्वाश्रयनिरासश्च तथाद्वैतनिराकृतिः ।
आह्वानवर्जनं पश्चादष्टमूर्तिनिराकृतिः ॥ ५ ॥
सर्वगत्वनिरासश्च शिवत्वं शिवभक्तयोः ।
एवं नवविधं प्रोक्तं माहेश्वरमहास्थलम् ॥ ६ ॥

पुरा पूर्वकाले शिवेन यथोक्तं तथा माहेश्वरस्थलभेदं वक्ष्ये, शृण्विति शेषः । आदौ माहेश्वरप्रशंसास्थलम्, ततः परं तदनन्तरं लिङ्गनिष्ठास्थलम्, तदनन्तरं पूर्वाश्रयनिरसनस्थलम्, तथा तदनन्तरम् अद्वैतनिरसनस्थलम्, पश्चादाह्वाननिरसनस्थलम्, अनन्तरमष्टमूर्तिनिरसनस्थलम्, अनन्तरं सर्वगत्वनिरासनस्थलम्, अनन्तरं शिवजगन्मयस्थलम्, अथ भक्तदेहिकलिङ्गस्थलम् । एवं माहेश्वरमहास्थलं नवविधं नवप्रकारवदिति प्रोक्तं कथितमित्यर्थः । अत्र पुरा शम्भुना यथोक्तं तथा वक्ष्य इत्यनेनोक्तं वक्ष्यमाणं च सर्वं न स्वकपोलकल्पितमिति सूचितम् । अत्राष्टमूर्तित्वनिरसनानन्तरमाह्वाननिरसनं वक्तुमुचितमिति केषाञ्चिदाशयः परास्तः, शिवोक्तक्रमविरोधादिति, तथापि शिवस्य व्यापकत्वादाह्वानं न सम्भवतीति नोक्तम्, किन्तु स्वेष्टलिङ्गे प्रतिपत्तिविरोधात् पुनराह्वानं न सम्भवतीति कथितत्वान्न शङ्कावकाशः ॥ ४-६ ॥

(अब मैं) माहेश्वर स्थल को बतलाऊँगा जैसा कि भगवान् शिव ने पहले कहा है । पहले माहेश्वर की प्रशंसा उसके बाद लिङ्गार्चन में निष्ठा और पूर्व आश्रय का त्याग, उसी प्रकार अद्वैत का निराकरण, आह्वानवर्जन, अष्टमूर्त्ति का निराकरण तथा सर्वगत्व का निरास, शिवजगन्मयस्थल और अन्त में भक्तदेहिक लिङ्गस्थल इस प्रकार माहेश्वर महास्थल नव प्रकार का कहा गया है ॥ ४-६ ॥

अथोद्देशक्रमेण तदवान्तरस्थलानां लक्षणं वक्ष्ये, श्रूयतामित्याह—

आदितः क्रमशो वक्ष्ये स्थलभेदस्य लक्षणम् ।

समाहितेन मनसा श्रूयतां भवता मुने ॥ ७ ॥

स्पष्टम् ॥ ७ ॥

हे मुने! मैं स्थलभेद का लक्षण प्रारम्भ से बतलाऊँगा । आप समाहित-चित्त होकर सुने ॥ ७ ॥

अत्र—'विश्वाधिको रुद्रो महर्षिः । हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु'[1] **इति श्वेताश्वतरादिश्रुत्यनुसारेण सप्तभिः सूत्रैर्महेश्वर-प्रशंसापूर्वकं माहेश्वरस्वरूपं प्रपञ्चेन प्रकाशयति—**

विश्वस्मादधिको रुद्रो विश्वानुग्रहकारकः ।
इति यस्य स्थिरा बुद्धिः स वै माहेश्वरः स्मृतः ॥ ८ ॥

समस्तदेवदानवादिविश्वानुग्राहकः रुद्रः 'एक एव (एको हि) रुद्रो न द्वितीयोऽवतस्थे (द्वितीयाय तस्थुः)'[2] **इति श्रुतिप्रसिद्धरुद्रः, विश्वस्मात् 'विश्वं नारायणं हरिम्' स इति श्रुतिप्रसिद्धविश्वरूपनारायणाद् अधिक इति यस्य बुद्धिर्दृढा, स वै माहेश्वर इति स्मृत इत्यर्थः ॥ ८ ॥**

'भगवान् शिव विश्व से बढ़कर हैं । वे ही विश्व पर अनुग्रह करने वाले हैं'—इस प्रकार जिसकी निश्चित धारणा होती है वह माहेश्वर माना गया है ॥ ८ ॥

अथ 'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते'[3] इति श्रुत्यर्थमनुसरन् माहेश्वर-स्वरूपमाह—

ब्रह्माद्यैर्मलिनप्रायैर्निर्मले परमेश्वरे ।
साम्योक्तिं यो न सहते सवै माहेश्वराभिधः ॥ ९ ॥

'ब्रह्मविष्णुरुद्रेन्द्रास्ते सम्प्रसूयन्ते' इति श्रुतेर्ब्रह्मादीनां जननमरण-परिपीडितत्वेन समलत्वात्, 'न कारणम्' इति श्रुतेरेतत्कारणीभूत-शिवस्याजातत्वेन निर्मलत्वात्, 'कारणं तु ध्येयः सर्वैश्वर्यसम्पन्नः सर्वेश्वरश्च शम्भुराकाशमध्ये' इत्यग्रे श्रूयमाणत्वात् तैः सह साम्योक्तिं यो न सहते, स माहेश्वराख्य इत्यर्थः ॥ ९ ॥

जो मलिनप्राय ब्रह्मा आदि के साथ निर्मल परमेश्वर की तुलना को नहीं सह सकता उसका नाम माहेश्वर है ॥ ९ ॥

---

१. श्वे०उ० ३।४ २. श्वे०उ० ३।२
३. श्वे०उ० ६।८

अथ—'ईशानः सर्वविद्यानामीश्वरः सर्वभूतानां ब्रह्माधिपतिर्ब्रह्मणोऽधिपतिर्ब्रह्मा शिवो मे अस्तु सदाशिवोम्'[१] इति ईशानमन्त्रार्थम्—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ।
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ॥[२]

इति भगवद्गीतार्थं चानुस्मरन् माहेश्वरस्वरूपं प्रकाशयति—

ईश्वरः सर्वभूतानां ब्रह्मादीनां महानिति ।
बुद्धियोगात् तदासक्तो भक्तो माहेश्वरः स्मृतः ॥ १० ॥

ब्रह्मादीनां चतुर्मुखप्रभृतीनां सर्वभूतानां समस्तपशुप्राणिनाम् ईश्वरः प्रेरकीभूतपरमेश्वर एव एक महान् श्रेष्ठ इति बुद्धियोगात् तदासक्तः महेश्वरासक्तो भक्तः शिवभक्तो माहेश्वर इति स्मृत इत्यर्थः ॥ १० ॥

'ब्रह्मा आदि समस्त प्राणियों में परमेश्वर महान् है'—इस प्रकार के विचार से जो भक्त उन परमेश्वर में सदा आसक्त रहता है वह माहेश्वर कहा गया है ॥ १० ॥

अथ शिव एव एको मुक्तिद इति यो जानाति स माहेश्वर इति सूत्रद्वयेन कथयति—

ब्रह्मादिदेवताजालं मोहितं मायया सदा ।
अशक्तं मुक्तिदाने तु क्षयातिशयसंयुतम् ॥ ११ ॥
अनादिमुक्तो भगवानेक एव महेश्वरः ।
मुक्तिदश्चेति यो वेद स वै माहेश्वरः स्मृतः ॥ १२ ॥

क्षयातिशयसंयुतं जननमरणातिशयेन संयुक्तं ब्रह्मविष्ण्वादिदेवतानीकं निरन्तं मायया परमेश्वरस्वातन्त्र्यापरपर्यायमायाशक्त्या मोहितम् अन्धीकृतं सद् मुक्तिदाने तु परापरमुक्तिप्रदाने अशक्तम् असमर्थम् । अनादिमुक्तो नित्यमुक्तो भगवान् षड्गुणैश्वर्यसम्पन्नो महेश्वरः 'तत्परं ब्रह्म (यत् परं ब्रह्म) स एकः (य एकः) स एको रुद्रः स ईशानः स भगवान् स महेश्वरः स महादेवः'[३] **इत्यथर्वशिरःप्रसिद्धपरमेश्वर एक एव मुक्तिदश्चेति परापरमुक्तिप्रद इति यो वेद जानाति, स वै माहेश्वर इति स्मृत इत्यर्थः ॥ ११-१२ ॥**

---

१. नारायणोप० ४।२१ २. भ०गी० १८।६१
३. अथ०उ० २।३

ब्रह्मा आदि देवताओं का समूह सर्वदा माया ग्रस्त है । क्षय और अतिशय से युक्त वह समूह मुक्ति देने में असमर्थ है । केवल भगवान् शिव ही अनादि मुक्त हैं और वही मुक्ति प्रदाता है ऐसा जो समझता है वही माहेश्वर कहा गया है ॥ ११-१२ ॥

अथ ब्रह्मादिमाहैश्वर्यं तृणवद् ज्ञात्वा शिवानन्दतत्परो वीरमाहेश्वर इत्याह सूत्रद्वयेन—

क्षयातिशयसंयुक्ता ब्रह्मविष्ण्वादिसम्पदः ।
तृणवन्मन्यते युक्त्या वीरमाहेश्वरः सदा ॥ १३ ॥
शब्दस्पर्शादिसम्पन्ने सुखलेशे तु निःस्पृहः ।
शिवानन्दे समुत्कण्ठो वीरमाहेश्वरो भवेत् ॥ १४ ॥

विनाशातिशयेन (याभ्यां) संयुक्ता ब्रह्मविष्ण्वादिसम्पदो वीरमाहेश्वरः शिवभक्तो युक्त्या अनित्यमिति बुद्ध्या तृणवत् सदा मनुते जानाति । तस्मात् शब्दस्पर्शादिसम्पन्ने सोपाधिके सुखलेशे तुच्छसुखे निःस्पृहः सन् शिवानन्दे नित्यसुखे समुत्कण्ठः प्रीतिमान् वीरमाहेश्वरो भवेत् स्यादित्यर्थः ॥ १३-१४ ॥

ब्रह्मा, विष्णु आदि का ऐश्वर्य क्षयशील और अतिशययुक्त है । वीर माहेश्वर उसको सदा तृण के समान (तुच्छ) मानता है । वह शब्द स्पर्श आदि से युक्त क्षणिक सुख की इच्छा नहीं रखता तथा शिवानन्द की प्राप्ति के लिये उत्कण्ठित रहता है । ऐसा व्यक्ति वीरमाहेश्वर होता है ॥ १३-१४ ॥

अथ तदाचारभेदस्थितिं च षड्भिः सूत्रैः प्रतिपादयति—

परस्त्रीसङ्गनिर्मुक्तः परद्रव्यपराङ्मुखः ।
शिवार्थकार्यसम्पन्नः शिवागमपरायणः ॥ १५ ॥
शिवस्तुतिरसास्वादमोदमानमनाः शुचिः ।
शिवोत्कर्षप्रमाणानां सम्पादनसमुद्यतः ॥ १६ ॥
निर्ममो निरहङ्कारो निरस्तक्लेशपञ्जरः ।
अस्पृष्टमदसम्बन्धो मात्सर्यविशवर्जितः ॥ १७ ॥
निरस्तमदनोन्मेषो निर्धूतक्रोधविप्लवः ।
सदा सन्तुष्टहृदयः सर्वप्राणिहिते रतः ॥ १८ ॥
निवारणसमुद्योगी शिवकार्यविरोधिनाम् ।
सहचारी सदाकालं शिवोत्कर्षाभिधायिभिः॥ १९ ॥
शिवापकर्षसम्प्राप्तौ प्राणत्यागेऽप्यशङ्कितः ।

शिवैकनिष्ठः सर्वात्मा वीरमाहेश्वरो भवेत् ॥ २० ॥

निरस्तक्लेशपञ्जरो निवारिताविद्या(दि)क्लेशसमूहवान्, निर्धूतक्रोधविप्लवः निवारितक्रोधबाधावान्, शिवैकनिष्ठः शिवलिङ्गैकनिष्ठः, सर्वात्मा पूर्णाहंभाववान्, निरहङ्कारः परिच्छिन्नशरीराद्यहंभावशून्यः । शिष्टं स्पष्टम् । एवमादिविशेषणविशिष्टः श्रीवीरशैवो माहेश्वरः स्यादित्यर्थः । अत्र निरस्तक्लेशपञ्चक इति पाठान्तरम् ॥ १५-२० ॥

परस्त्री का समागम न करने वाला, दूसरे का धन न चाहने वाला, शिव के लिये कार्य करने वाला, शैवागम का अध्ययन करने वाला, शिवस्तुति के रस का आस्वाद पाकर प्रसन्न मन वाला, पवित्र, शिव की महत्ता के प्रमाणों को एकत्रित करने में लगा हुआ, (संसार के प्रति) ममतारहित, अहङ्कारशून्य, (अविद्या अस्मिता आदि) क्लेश के जाल को तोड़ने वाला, मद से अस्पृष्ट, मात्सर्य के आवेश से रहित, कामभावना से शून्य, क्रोध के वेग से दूर, सदा सन्तोषयुक्त, सब प्राणियों के हित में निरत, शिवकार्य का विरोध करने वालों को नष्ट करने में लगा हुआ, शिवोत्कर्ष का प्रचार करने वालों का सदा सहचर, शिव का अपकर्ष प्राप्त होने पर प्राणत्याग करने को तत्पर, केवल शिव में निष्ठा रखने वाला सर्वात्मा व्यक्ति वीरमाहेश्वर होता है ॥ १५-२० ॥

इति माहेश्वरप्रशंसास्थलम्

अथ लिङ्गनिष्ठांस्थलम्

अथ अनेन माहेश्वरेण विधीयमानां लिङ्गनिष्ठां नवभिः सूत्रैः प्रतिपादयति—

अस्य माहेश्वरस्योक्तं लिङ्गनिष्ठामहास्थलम् ।
प्राणात्ययेऽपि सम्पन्ने यदत्याज्यं विधीयते ॥ २१ ॥

यद् यल्लिङ्गनिष्ठास्थलं प्राणात्यये सम्पन्नेऽपि प्राणसङ्कटे प्राप्ते सत्यपि अत्याज्यं त्यक्तुमयोग्यं विधीयते, तल्लिङ्गनिष्ठामहास्थलम् अस्य माहेश्वरस्य शिवलिङ्गैकतत्परस्य माहेश्वरस्य उक्तं कथितमित्यर्थः ॥ २१ ॥

(लिङ्गनिष्ठास्थल वर्णन)—प्राण सङ्कट की स्थिति में भी जिस लिङ्ग के त्याग का विधान नहीं है वह इस माहेश्वर का लिङ्गनिष्ठ स्थल कहा गया है ॥ २१ ॥

कीदृशोऽयं प्राणसङ्कट इत्यत्र—

भवेत्प्राणपरित्यागश्छेदनं शिरसोऽपि वा ।
न त्वनभ्यर्च्य भुञ्जीयाद् भगवन्तं त्रियम्बकम् ॥

इति शिवधर्मवचनानुसारेण कथयति—

अपगच्छतु सर्वस्वं शिरश्छेदनमस्तु वा ।
माहेश्वरो न मुञ्चेत लिङ्गपूजामहाव्रतम् ॥ २२ ॥

स्पष्टम् ॥ २२ ॥

समस्त धन सम्पत्ति भले ही चली जाय, शिर कट जाय किन्तु माहेश्वर-लिङ्गपूजारूपी महाव्रत का कभी भी त्याग नहीं करता ॥ २२ ॥

अथ ये शिवपूजाव्यतिरेकेण न भुञ्जन्ति, तेषां हस्ते करतलामलकवन्मोक्षलक्ष्मीरुल्लसतीत्याह—

लिङ्गपूजामकृत्वा तु ये न भुञ्जन्ति मानवाः ।
तेषां महात्मनां हस्ते मोक्षलक्ष्मीरुपस्थिता ॥ २३ ॥

मोक्षलक्ष्मीरुपस्थिता वर्तत इत्यर्थः । इदं लिङ्गनिष्ठायाः फलमित्युक्तं भवति ॥ २३ ॥

जो मनुष्य विना लिङ्गपूजा किये भोजन नहीं करते उन महात्माओं के हाथ में मोक्षलक्ष्मी सदा उपस्थित रहती है ॥ २३ ॥

अथेममर्थमेव सूत्रद्वयेन विशेषयति—

किमन्यैर्धर्मकलिलैः कीकषार्थप्रदायिभिः ।
साक्षान्मोक्षप्रदः शम्भोर्धर्मो लिङ्गार्चनात्मकः ॥ २४ ॥

शम्भोः शिवस्य लिङ्गार्चनात्मको धर्मः साक्षान्मोक्षप्रदः । तस्माद् अन्यैः शिवलिङ्गपूजातिरिक्तैः कीकषार्थप्रदायिभिः कुत्सितार्थदायिभिः धर्मकलिलैः क्षुद्रधर्मैः किम्? किं प्रयोजनमित्यर्थः ॥ २४ ॥

क्षुद्र घृणास्पद अर्थ को देने वाले अन्य मलिन धर्मों से क्या लाभ? शम्भु का लिङ्गार्चनात्मक धर्म साक्षात् मोक्ष देने वाला है ॥ २४ ॥

अथ लिङ्गार्पितान्नपानप्राशनमहत्त्वमाह—

अर्पितेनान्नपानेन लिङ्गे नियमपूजिते ।
ये देहवृत्तिं कुर्वन्ति महामाहेश्वरा हि ते ॥ २५ ॥

हि प्रसिद्धम् । शिष्टं स्पष्टम् ॥ २५ ॥

समर्पित अन्नपान के द्वारा जो लोग नियमपूर्वक लिङ्ग की पूजा करते हैं तथा देह को (उसी समर्पित अन्न पान से) जीवित रखते हैं वे महा माहेश्वर हैं ॥ २५ ॥

अथ—'यद्धि मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति' इति श्रुत्यनुसारेण त्रिकरणपूर्वकं शिवलिङ्गनिष्ठाः शिवा एवेत्याह—

चिन्मये शाङ्करे लिङ्गे स्थिरंयेषां मनः सदा ।
विमुक्तेतरसर्वार्थं ते शिवा नात्र संशयः ॥ २६ ॥

येषां मनो विमुक्तेतरसर्वार्थं त्यक्तस्वर्गादितुच्छफलाभिलाषं सत् चिद्रूपे शिवलिङ्गे सदा स्थिरं ते शिवा भूरुद्राः, अत्र अस्मिन्नर्थे न संशय इत्यर्थः ॥ २६ ॥

जिनका मन चिन्मय शाङ्कर लिङ्ग में सदा स्थित रहता है तथा (मुक्ति से) भिन्न सभी विषयों का जिसने त्याग कर दिया है वे शिव हैं, इसमें सन्देह नहीं ॥ २६ ॥

नन्वस्मिन् चिद्रूपलिङ्गे मनोमात्रविश्रान्तिरुक्तेत्याशङ्क्य सूत्रान्तरेण करणत्रयविश्रान्तिं च दर्शयति—

लिङ्गे यस्य मनो लीनं लिङ्गस्तुतिपरा च वाक् ।
लिङ्गार्चनपरौ हस्तौ स रुद्रो नात्र संशयः ॥ २७ ॥

इति स्पष्टम् ॥ २७ ॥

जिसका मन लिङ्ग में लीन है, जिसकी वाणी लिङ्ग की स्तुति में लगी रहती है जिसके दोनों हाथ लिङ्गार्चन में निरत रहते हैं वह रुद्र है, इसमें सन्देह नहीं ॥ २७ ॥

एवं लिङ्गनिष्ठस्याग्निहोत्रादिकर्मणा प्रयोजनं नास्तीत्याह—

लिङ्गनिष्ठस्य किं तस्य कर्मणा स्वर्गहेतुना ।
नित्यानन्दशिवप्राप्तिर्यस्य शास्त्रेषु निश्चिता ॥ २८ ॥

यस्य लिङ्गनिष्ठस्य नित्यानन्दशिवपदप्राप्तिः शास्त्रेषु वेदागमपुराणेषु निश्चितेति तस्य स्वर्गहेतुना अग्निहोत्रादिकर्मणा किम्? किं प्रयोजनम्? न किञ्चित्प्रयोजनमित्यर्थः ॥ २८ ॥

जिस भक्त की शिवानन्द प्राप्ति शास्त्रों के अनुसार निश्चित है । लिङ्गार्चन में लगे हुए उस (भक्त) के स्वर्गहेतुक कर्म से क्या लाभ? या क्या प्रयोजन? ॥ २८ ॥

अथास्य महत्त्वं प्रतिपादयति—

लिङ्गनिष्ठापरं शान्तं भूतिरुद्राक्षसंयुतम् ।
प्रशंसन्ति सदाकालं ब्रह्माद्या देवता मुदा ॥ २९ ॥

स्पष्टम् ॥ २९ ॥

ब्रह्मा अदि देवता लिङ्ग में निष्ठा रखने वाले, शान्त, भस्म और रुद्राक्ष धारण करने वाले (भक्त) की आनन्द के साथ सदा प्रशंसा करते हैं ॥ २९ ॥

इति लिङ्गनिष्ठास्थलम्

अथ पूर्वाश्रयनिरसनस्थलम्

अथ—

गुरुसंस्कृतभाव: सन् गुरुनिर्मितदेहवान् ।
विस्मृत्य पूर्वदुर्भावं तदधीन: समाचरेत् ॥

इति योगजागमवचनानुसारेण तस्य लिङ्गनिष्ठस्य प्रातिकूल्येन प्राप्तपूर्वाश्रयनिरसनस्थलं सप्तभिः सूत्रैः प्रतिपादयति—

लिङ्गैकनिष्ठहृदयः सदा माहेश्वरो जनः ।
पूर्वाश्रयगतान् धर्मांस्त्यज्येत् स्वाचाररोधकान् ॥ ३० ॥

निरन्तरं शिवलिङ्गैकनिष्ठचित्तो वीरमाहेश्वरः स्वाचाररोधकान् स्वसमयाचारविरोधिनः पूर्वाश्रयनिष्ठान् धर्मान् प्राकृताचारान् त्यजेदित्यर्थः ॥ ३० ॥

(पूर्वाश्रयनिरसनस्थल वर्णन)—एकमात्र लिङ्गार्चन में निष्ठा रखने वाले माहेश्वर जन को चाहिये कि वह अपने आचार (अर्थात् शैवाचार) के विरोधी पहले स्वीकृत धर्मों का त्याग कर दे ॥ ३० ॥

तर्ह्ययं कीदृश इत्यत्राह—

स्वजातिकुलजान् धर्मान् लिङ्गनिष्ठाविरोधिनः ।
त्यजन् माहेश्वरो ज्ञेयः पूर्वाश्रयनिरासकः ॥ ३१ ॥

लिङ्गनिष्ठाविरोधिनो लिङ्गनिष्ठाप्रतिकूलान् स्वजातिकुलजान् ब्राह्मणत्वादिजातिकुलालादिकुलप्राप्तान् धर्मान् जातप्रेताशौचादीन् त्यजन् वीरमाहेश्वरः पूर्वाश्रयनिरासक इति ज्ञातुं योग्य इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

अपनी जाति अपने कुल के भी धर्मों अर्थात् जननाशौच मरणाशौच आदि को, यदि वे लिङ्गनिष्ठा के विरोधी हैं तो उनका त्याग करने वाला पूर्वाश्रयनिरासक भक्त माहेश्वर जाना जाता है ॥ ३१ ॥

ननु पूर्वाश्रयप्राप्तनित्यनैमित्तिककर्मपरित्यागो प्रत्यवायश्रवणात् कथं तद्धर्मास्त्यजनीया इत्यत्राह—

शिवसंस्कारयोगेन विशुद्धानां महात्मनाम् ।
किं पूर्वकालिकैर्धर्मैः प्राकृतानां हि ते मताः ॥ ३२ ॥

पूर्वोक्तदानक्षपणलक्षणदीक्षारूपशिवसंस्कारसम्बन्धेन लिङ्गनिष्ठया च विधूतवृत्तवर्तिष्यमाणसकलकल्मषत्वेन निर्मलानां शिवशरणानां पूर्वाश्रय-प्राप्तनित्यनैमित्तिकादिकर्मभिः किं प्रयोजनम्? न किञ्चित् प्रयोजनमित्यर्थः। ननु प्रत्यवायनिवृत्तिरेव प्रयोजनमिति चेन्न,

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥[1]

इति भगवतैव भाषितत्वात्। अस्यायमर्थः—'अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रम्' इति श्रुतिसिद्धान्तितवर्णाश्रमे इह अभिक्रम आत्माभिमुखी-करणप्रवीणगुरुकारुण्यप्राप्तभूतिधारणाद्याचारक्रमः, तस्य नाशो नास्ति विस्मृतिशून्यत्वेन तदेकनिष्ठया सदा विधीयमानत्वेन विच्छेदो नास्तीत्यर्थः। नन्वेवं चेत्, नित्यनैमित्तिककर्मलोपात् प्रत्यवायः स्यादित्यत्राह—प्रत्यवायो न विद्यत इति। कुत इत्यत्राह—अस्य धर्मस्य शिवानुसन्धानाङ्गभूतभूतिधारणादि-धर्मस्य स्वल्पमपि लेशमात्रमपि महतो भयाद् महापातकादिभयात् त्रायत इति यथा पूर्वाश्रमधर्मपरित्यागे सन्यासिनां प्रत्यवायो नास्ति, तथा शिवाश्रयनिष्ठानां पूर्वाश्रयधर्मपरित्यागे प्रत्यवायो नास्तीति भावः। ते पूर्वाश्रयधर्माः प्राकृतानां हि मायासम्बन्धिनामेव मताः प्रोक्ता इति हि प्रसिद्धम्॥ ३२॥

शिवसंस्कार के योग के कारण शुद्ध हुए महात्माओं को पूर्व में वर्त्तमान एवं अनुष्ठित धर्मों से क्या प्रयोजन? वे धर्म प्राकृत अर्थात् साधारण लोगों के लिये कहे गये हैं॥ ३२॥

विशेष—जिस प्रकार सन्यासी सन्यास से पूर्व वाले आश्रम धर्मो को छोड़ने पर दोषदुष्ट नहीं होता उसी प्रकार शैव धर्म स्वीकार करने वाला व्यक्ति यदि अन्य धर्माचरणों का त्याग करता है तो वह प्रायश्चित्ती नहीं होता इस विषय में टीकाकार ने 'नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति.....' गीता वाक्य को उद्धृत किया है।

तस्मात्—

शिवसंस्कारयोगेन शिवधर्मानुषङ्गिणाम्।
प्राकृतानां न धर्मेषु प्रवृत्तिरुपपद्यते॥ ३३॥

नोपपद्यते, न जायत इत्यर्थः॥ ३३॥

शिवसंस्कार के योग से शिवधर्म का पालन करने वाले प्राकृत जनों की (अन्य) धर्मों में प्रवृत्ति नहीं होती॥ ३३॥

---

१. भ०गी० २।४०

ननु मर्त्येषु द्वैविध्यं कथमित्यत्राह—

विशुद्धाः प्राकृताश्चेति द्विविधा मानुषाः स्मृताः ।
शिवसंस्कारिणः शुद्धा प्राकृता इतरे मताः ॥ ३४ ॥

स्पष्टम् ॥ ३४ ॥

मनुष्य दो प्रकार के कहे गये हैं—विशुद्ध और प्राकृत । शिव के संस्कार से युक्त मनुष्य शुद्ध होते हैं दूसरे लोग प्राकृत माने गये हैं ॥ ३४ ॥

ननु वर्णाश्रमधर्मेषु द्वैविध्यं न दृश्यत इत्यत्राह—

वर्णाश्रमादिधर्माणां व्यवस्था हि द्विधा मता।
एका शिवेन निर्दिष्टा ब्रह्मणा कथिताऽपरा ॥ ३५ ॥

स्पष्टम् ॥ ३५ ॥

वर्णाश्रम आदि धर्मों की व्यवस्था दो प्रकार की मानी गयी है—एक शिव के द्वारा निर्दिष्ट है दूसरी का निर्देश ब्रह्मा ने किया है ॥ ३५ ॥

तर्हि को धर्मः कस्येत्यत्राह—

शिवोक्तधर्मनिष्ठा तु शिवाश्रमनिषेविणाम् ।
शिवसंस्कारहीनानां धर्मः पैतामहः स्मृतः ॥ ३६ ॥

स्पष्टम् ॥ ३६ ॥

शैवाश्रम में रहने वालों की शिवोक्त धर्म में निष्ठा होती है । जो लोग शिवसंस्कार से हीन हैं उनका धर्म ब्रह्मा के द्वारा निर्दिष्ट कहा गया है ॥ ३६ ॥

इति पूर्वाश्रयनिरसनस्थलम्

अथ सर्वाद्वैतनिरसनस्थलम्

अथ माहेश्वरो यथा लिङ्गनिष्ठाविरोधित्वात् पूर्वाश्रयनिरासकः, तथा लिङ्गनिष्ठाविरोधित्वात् सर्वाद्वैतनिरासकोऽपि भवेदिति तेन विधीयमान-सर्वाद्वैतनिरसनस्थलं प्रतिपादयति—

पूज्यपूजकयोर्लिङ्गजीवयोर्भेदवर्जने ।
पूजाकर्माद्यसम्पत्तेर्लिङ्गनिष्ठाविरोधतः ॥ ३७ ॥
सर्वाद्वैतविचारस्य ज्ञानाभावो व्यवस्थितेः ।
भवेन्माहेश्वरः कर्मी सर्वाद्वैतनिरासकः ॥ ३८ ॥

पूज्यपूजकयोः शिवलिङ्गभक्तयोः, भेदाभावे सति लिङ्गनिष्ठाविरोधात् पूजाकर्मादिसम्पत्त्यभावात् सर्वाद्वैतविचारस्य व्यवस्थितेः वर्तनस्य ज्ञानाभावेऽनुपपन्नत्वे सति कर्मी माहेश्वरः शिवलिङ्गपूजादिकर्मनिष्ठवीर-माहेश्वरः सर्वाद्वैतनिरासकः स्यात् 'यावदायुस्त्रयो वन्द्या वेदान्तो गुरुरीश्वरः' इति वेदान्तवचनात् 'क्रियाद्वैतं न कर्तव्यम्' इति सिद्धान्तवचनाच्च लिङ्गनिष्ठो माहेश्वरः सर्वाद्वैतं न कुर्यादिति भावः ॥ ३७-३८ ॥

पूज्य पूजक अर्थात् लिङ्ग और जीव के भेद को दूर करने, पूजा कर्म आदि की अप्राप्ति, लिङ्गनिष्ठा का विरोध, समस्त अद्वैत विचार की व्यवस्था के ज्ञान का अभाव, होने पर धर्मी सर्वाद्वैत निरासक माहेश्वर होता है ॥ ३७-३८ ॥

अथ भेदेन क्रियमाणपूजाप्रकारः कथमित्यत्राह—

प्रेरकं शङ्करं बुद्ध्वा प्रेर्यमात्मानमेव च ।
भेदात् तं पूजयेन्नित्यं न चाद्वैतपरो भवेत् ॥ ३९ ॥

जीवानां धर्माधर्मगोचरीभूतबुद्धिवृत्तिप्रेरकः परमेश्वरः, तत्प्रेर्या जीवा इति बुद्ध्वा एवंविधभेदात् तं परमेश्वरं नित्यं पूजयेत्, अद्वैतपरो न भवेत्, पूजाविरोधादिति ॥ ३९ ॥

शङ्कर को प्रेरक और अपने को प्रेर्य मानकर भेदज्ञानपूर्वक उनकी नित्य पूजा करनी चाहिये । अद्वैतपरक नहीं बनना चाहिये ॥ ३९ ॥

अथ प्रकारान्तरेण भेदमुपपादयति—

पतिः साक्षान्महादेवः पशुरेष तदाश्रयः ।
अनयोः स्वामिभृत्यत्वमभेदे कथमिष्यते ॥ ४० ॥

महादेवः परमेश्वरः 'पतिं विश्वस्य' इति स्मृतेः पतिः जगत्पतिः, तदाश्रय एष जीवः पशुः, अनयोः शिवजीवरूपपतिपश्वोः, अभेदे भेदाभावे स्वामिभृत्यत्वं कथमिष्यते इच्छाविषयीक्रियते? न कथञ्चिदपीति स्वामिभृत्यत्वलक्षणभेदेनैव पूजनीय इत्यर्थः ॥ ४० ॥

महादेव साक्षात् पति हैं । उनके अधीन रहने वाला यह जीव पशु है । इन दोनों में स्वस्वामी भावरूप सम्बन्ध है । फिर अभेद मानने पर यह कैसे होगा? ॥ ४० ॥

नन्वयं भेदभावः कियत्पर्यन्तमनुवर्तत इत्यत्राह—

साक्षात्कृतं परं तत्त्वं यदा भवति बोधतः ।
तदाद्वैतसमापत्तिर्ज्ञानहीनस्य न क्वचित् ॥ ४१ ॥

बोधतः श्रुतिगुरुस्वानुभवबोधतः परं तत्त्वं परशिवपरब्रह्माख्यमहालिङ्ग-तत्त्वं यदा साक्षात्कृतं भवति, दशमदृष्टान्तेन स्वात्माभेदेन प्रत्यक्षीकृतं भवति, तदा अद्वैतसमापत्तिरद्वैतस्फूर्तिः, ज्ञानहीनस्य श्रुतिगुरुस्वानुभावरहितस्य केवल-कर्मयुतस्य क्वचित् कदाचित् किञ्चिदपि न नास्तीत्यर्थः ॥ ४१ ॥

ज्ञान के कारण जब पर तत्त्व का साक्षात्कार हो जाता है तब अद्वैत की प्राप्ति होती है । ज्ञान से रहित मनुष्य को यह प्राप्ति कभी नहीं होती ॥ ४१ ॥

ननु कर्मिणः कस्मान्नाद्वैतसिद्धिरित्यत्राह—

भेदस्य कर्महेतुत्वाद् व्यवहारः प्रवर्तते ।
लिङ्गपूजादिकर्मस्थो न चाद्वैतं समाचरेत् ॥ ४२ ॥

भेदस्य व्यवहारो जीवेश्वरभेदव्यवहारः, कर्महेतुत्वात् शिवपूजादिक्रिया-हेतुत्वेन प्रवर्तते, अतः शिवलिङ्गपूजाजपादिकर्मनिष्ठः, अद्वैतं न समाचेरत् । तस्माल्लिङ्गपूजादिकर्मनिष्ठस्य अद्वैतबोधाविर्भावो नास्तीत्यर्थः ॥ ४२ ॥

भेद का व्यवहार कर्म के कारण होता है । इसलिये लिङ्गपूजा आदि कर्म करने वाले को अद्वैत का आचरण नहीं करना चाहिये ॥ ४२ ॥

अथोक्तार्थमुपसंहरति—

पूजादिव्यवहारः स्याद्भेदाश्रयतया सदा ।
लिङ्गपूजापरस्तस्मान्नाद्वैते निरतो भवेत् ॥ ४३ ॥

लिङ्गपूजानिष्ठो वीरमाहेश्वरः, अद्वैते निरत आसक्तो न भवेत्, न स्यादित्यर्थः ॥ ४३ ॥

पूजा आदि का व्यवहार सर्वदा भेद के आधार पर होता है, इसलिये लिङ्गपूजा में लगे हुए (भक्त) को अद्वैत में निरत नहीं होना चाहिये ॥ ४३ ॥

इत्यद्वैतनिरसनस्थलम्

अथाह्वाननिरसनस्थलम्

अथ शिवलिङ्गपूजार्थमद्वैतं निरस्य द्वैताङ्गीकारवान् माहेश्वरः शैव इव पूजार्थं शिवलिङ्गे शिवं नावाहयेदित्याह्वाननिरसनस्थलं कथयति—

लिङ्गार्चनपरः शुद्धः सर्वाद्वैतनिरासकः ।
स्वेष्टलिङ्गे शिवाकारे न तमावाहयेच्छिवम् ॥ ४४ ॥

लिङ्गार्चनपरः शिवलिङ्गपूजातत्परः सन् सर्वाद्वैतनिरासकः शुद्धः नित्यशुद्धवीरमाहेश्वरः शिवाकारे शिवस्वरूपवति स्वेष्टलिङ्गे तं प्रसिद्धं शिवं नावाहयेदित्यर्थः ॥ ४४ ॥

लिङ्गार्चन में लगा हुआ सर्वाद्वैत का निषेध करने वाला परिशुद्ध (वीर माहेश्वर) शिवरूपी अपने इष्ट लिङ्ग में उस शिव का आवाहन न करे ॥ ४४ ॥

अथ कस्मादित्यत्र कारणमाह—

यदा शिवकलायुक्तं लिङ्गं दद्यान्महागुरुः ।
तदारभ्य शिवस्तत्र तिष्ठत्याह्वानमत्र किम्॥ ४५ ॥

अत्र शिवलिङ्गे आह्वानं किं प्रयोजनकम्? न किञ्चित् प्रयोजनमित्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ४५ ॥

(इसका कारण यह है कि) महागुरु जिस दिन से शिवकलायुक्त लिङ्ग (शिष्य को) देते हैं उस दिन से शिव उसमें रहते ही हैं फिर उसमें उनका आवाहन. क्या? ॥ ४५ ॥

पुनश्च कारणान्तरमाह—

ससंस्कारेषु लिङ्गेषु सदा सन्निहितः शिवः ।
तत्राह्वानं न कर्तव्यं प्रतिपत्तिविरोधकम् ॥ ४६ ॥

पुनराह्वानं पूर्वाह्वानविरोधि, तद्विसर्जनानन्तरभावित्वादिति भावः ॥ ४६ ॥

संस्कारयुक्त लिङ्गों में शिव सर्वदा संन्निहित रहते हैं । उसमें भक्ति अथवा ज्ञान का विरोधी आवाहन नहीं करना चाहिये ॥ ४६ ॥

अथाह्वानासम्भवादेव विसर्जनं च नास्तीत्याह—

नाह्वानं न विसर्गं च स्वेष्टलिङ्गे तु कारयेत् ।
लिङ्गनिष्ठापरो नित्यमिति शास्त्रस्य निश्चयः ॥ ४७ ॥

स्पष्टम् ॥ ४७ ॥

लिङ्गपूजा में निष्ठा रखने वाला (भक्त) अपने इष्ट लिङ्ग में न तो शिव का आवाहन करे और न विसर्जन । ऐसा शास्त्र का निश्चय है ॥ ४७ ॥

इत्याह्वाननिरसनस्थलम्

अथ अष्टमूर्तिनिरसनस्थलम्

अथ शिवलिङ्गमेव शिव इत्यभिप्रायेणाह्वानं निराकृत्य पृथिव्याद्यष्टमूर्तित्वं च न सम्भवति, भेदादिति तेन माहेश्वरेण विधीयमानाष्टमूर्तिनिरसनस्थलं प्रदर्शयति—

यथात्मशिवयोरैक्यं न मतं कर्मसङ्गिनः ।
तथा शिवात् पृथिव्यादेरद्वैतमपि नेष्यते ॥ ४८ ॥

कर्मसङ्गिनः शिवपूजादिकर्मनिष्ठस्य माहेश्वरस्य आत्मशिवयोर्जीव-लिङ्गयोऐक्यमेकत्वं यथा न मतं न सम्मतम्, पूज्यपूजकविवेकासम्भवात्, तथा शिवाद् भूम्यादेरद्वैतमभेदोऽपि नेष्यते, भूम्याद्यष्टमूर्तिष्वात्मनोऽपि प्रविष्टत्वादिति भावः ॥ ४८ ॥

(अष्टमूर्त्तिनिरसनस्थल वर्णन)—जिस प्रकार (शिवपूजा लिङ्गधारण आदि) कर्म में आसक्ति रखने वाला आत्मा और शिव में ऐक्य नहीं मानता उसी प्रकार पृथिवी आदि का भी शिव के साथ ऐक्य इष्ट नहीं है ॥ ४८ ॥

अथ शिवस्य पृथिव्यादेरभेदोऽपि न सम्भवतीत्यत्राह—

पृथिव्याद्यष्टमूर्तित्वमीश्वरस्य प्रकीर्तितम् ।
तदधिष्ठातृभावेन न साक्षादेकभावतः ॥ ४९ ॥

'यस्य पृथ्वी शरीरम्'[1] **इत्यारभ्य** 'यस्मात्मा शरीरम्'[2] **इत्यन्तबृहदारण्य-श्रुतिप्रोक्ताष्टमूर्तित्वं तदधिष्ठातृभावेन पृथिव्याद्यष्टमूर्तित्वं तदधिष्ठातृभावेन पृथिव्याद्यष्टमूर्त्यधिष्ठातृत्वेन प्रकीर्तितम्, 'विश्वं महेश्वर भवानधितिष्ठतीति विश्वात्मतामुपचरन्ति यदागमास्ते' इत्यभियुक्तोक्तेः । यथा स्तनस्तन्ययोर्भेदेऽपि स्तनं पिबन्तीति व्यवहारः, तथा अभेदव्यवहार औपचारिकः, साक्षादेकभावतो न**

द्वयमुष्णं द्वयं शीतमनुष्णाशीतलं द्वयम् ।
द्वयमस्पर्शमित्यष्टौ पान्तु वो हरमूर्तयः ॥

इति तासां परस्परभिन्नत्वात्, शरीरशरीरिभावस्य भेदघटितत्वाच्चेति ॥ ४९ ॥

ईश्वर पृथिवी आदि अष्ट मूर्त्ति का रूप है । (इसका तात्पर्य यह है कि ईश्वर) उन (= आठ मूर्त्तियों) का अधिष्ठाता है न कि उनसे अभिन्न ॥ ४९ ॥

विशेष—जैसे स्तन और दूध में परस्पर भेद होने पर भी बालक स्तन पी रहा है—ऐसा लाक्षणिक व्यवहार होता है उसी प्रकार पृथ्वी आदि का शिव

---

१. बृ०उ० ३।७।३ २. बृ०उ० ३।७।२३

की मूर्त्ति के रूप में कथन लाक्षणिक है । इसकी पुष्टि के लिये 'यस्य पृथिवी शरीरम्' इत्यादि श्रुति वाक्य प्रमाण हैं ।

अथ कार्यकारणभावाच्च तयोरैक्यं न सम्भवतीत्याह—

पृथ्व्यादिकमिदं सर्वं कार्यं कर्ता महेश्वरः ।
नैतत्साक्षान्महेशोऽयं कुलालो मृत्तिका यथा॥ ५० ॥

'ब्रह्मविष्णुरुद्रेन्द्रास्ते सम्प्रसूयन्ते सर्वाणि चेन्द्रियाणि सह भूतैर्न कारणम्। कारणं तु ध्येयः शम्भुराकाशमध्ये' **इति श्रुतेः पृथिव्यादेः कार्यकोटिप्रविष्टत्वाच्छिवस्य कारणरूपत्वात् । एवं च मृच्छब्दोपलक्षितघटादेः कुलालस्य च यथैक्यं न सम्भवति, तथा कार्यरूपभूम्यादेः कारणात्मनः शिवस्य चाभेदो न सम्भवतीत्यर्थः ॥ ५० ॥**

यह समस्त पृथिवी आदि कार्य है । महेश्वर इसके कर्त्ता हैं । यह (पृथिवी आदि) साक्षात् महेश्वर नहीं हैं जैसे कि मिट्टी और कुम्हार (एक नहीं हैं)॥ ५० ॥

ननु घटकुलालयोरिवेश्वरस्य भूम्यादेरात्यन्तिकभेदः किमित्यत्राह—

पृथिव्याद्यात्मपर्यन्तप्रपञ्चो ह्यष्टधा स्थितः ।
तनुरीशस्य चात्मायं सर्वतत्त्वनियामकः ॥ ५१ ॥

पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशचन्द्रसूर्याग्निहोत्रिरूपेणात्मपर्यन्तमष्टधा स्थितः प्रपञ्चः सर्वोऽपीशस्य शरीरम् । अयमीशः सर्वतत्त्वनियामकः सर्वतत्त्वात्मकशरीरप्रेरकीभूत आत्मा शरीरीत्यर्थः । एवं च घटकुलालयोर्देहदेहिभावशून्यत्वात् ततो विशेष इत्यर्थः ॥ ५१ ॥

पृथिवी से लेकर आत्मा तक (अर्थात् पृथिवी जल तेज वायु आकाश चन्द्रमा सूर्य और अग्नि अर्थात् आत्मा) यह प्रपञ्च आठ प्रकार से स्थित है। यह सब परमेश्वर का शरीर है और यह आत्मा समस्त तत्त्वों का नियामक है ॥ ५१ ॥

तर्ह्यभेदः किमित्यत्राह—

शरीरभूतादेतस्मात् प्रपञ्चात् परमेष्ठिनः ।
आत्मभूतस्य देवस्य नाभेदो न पृथक् स्थितिः ॥ ५२ ॥

परमेष्ठिनः शिवस्य शरीरभूताद् एतस्माद् इदमित्यङ्गुलिनिर्देश्यत्वेन प्रतीयमानात् प्रपञ्चाद् अभेदो न, भेद एवेत्यर्थः । तथाप्यात्मभूतस्य विश्वशरीरिणो देवस्य न पृथक् स्थितिः, घटपटयोरिव परस्परबाह्यत्वे स्थितिर्नास्ति, शिवस्य व्यापकत्वादिति भावः ॥ ५२ ॥

परमेष्ठी के शरीरभूत इस प्रपञ्च से आत्मभूत परमेश्वर का न अभेद है और न घट-पट के समान सर्वथा उनकी पृथक् स्थिति है ॥ ५२ ॥

तर्हि भेदः कथमित्यत्राह—

अचेतनत्वात् पृथ्व्यादेरज्ञत्वादात्मनस्तथा ।
सर्वज्ञस्य महेशस्य नैकरूपत्वमिष्यते ॥ ५३ ॥

भूम्यादेर्जडत्वाद् आत्मनः अग्निहोत्रिणो यजमानस्याज्ञत्वात्, किञ्चिज्ज्ञत्वादित्यर्थः, महेशस्य चराचरलक्षणविश्वशरीरस्य शिवस्य सर्वज्ञत्वादित्यर्थः, एकरूपत्वं रूपशरीरशरीरिणोरैक्यं नेष्यते नेच्छाविषयीक्रियते । तस्माद् भेद एवेत्यर्थः ॥ ५३ ॥

पृथिवी आदि अचेतन अर्थात् जड़ है । जीवात्मा अज्ञ अर्थात् अल्पज्ञ है । परमेश्वर सर्वज्ञ हैं । इन तीनों की एकरूपता नहीं हो सकती ॥ ५३ ॥

नन्वेवं भेदज्ञानवान् कोऽसावित्यत्राह—

इति यश्चिन्तयेन्नित्यं पृथ्व्यादेरष्टमूर्तितः ।
विलक्षणं महादेवं सोऽष्टमूर्तिनिरासकः ॥ ५४ ॥

स्पष्टम् ॥ ५४ ॥

जो साधक इस प्रकार महादेव को पृथिवी आदि अष्टमूर्त्ति से विलक्षण समझता और ध्यान करता है वह अष्टमूर्त्तिनिरासक माना जाता है ॥ ५४ ॥

इत्यष्टमूर्तिनिरसनस्थलम्

अथ सर्वगतनिरसनस्थलम्

अथ माहेश्वरस्य लिङ्गनिष्ठाविरोधिसर्वगतनिरसनस्थलं प्रकाशयति—

सर्वगत्वे महेशस्य सर्वत्राराधनं भवेत् ।
न लिङ्गमात्रे तन्निष्ठो न शिवं सर्वगं स्मरेत् ॥ ५५ ॥

महेश्वरस्य सर्वगत्वे सर्वत्राराधनं स्यात्, लिङ्गमात्रे न स्यात्, तस्माल्लिङ्गनिष्ठः शिवं सर्वगतं न स्मरेदित्यर्थः ॥ ५५ ॥

(सर्वगतनिरसनस्थल वर्णन)—

प्रश्न—चूँकि महेश्वर सर्वव्यापी हैं इसलिये उनकी सर्वत्र आराधना की जा सकती है न कि केवल लिङ्ग में । यदि शिव को केवल लिङ्ग में स्थित मान लिया जाय तो वह सर्वव्यापी के रूप में स्मृत नहीं होंगे (फिर लिङ्ग की पूजा

कैसे युक्तियुक्त होगी?) ॥ ५५ ॥

ननु शिवस्य सर्वगत्वाभावे परिच्छिन्नत्वेन लोके भक्तबाहुल्यात् तत्तच्छरीरसङ्गतेष्टलिङ्गानां च बाहुल्यादेकत्र विश्रमिताशेषशरीरभारस्यान्यत्राव-स्थानासम्भवात् कथं तत्र तत्र स्थितिः सम्भवतीत्यत्राह—

सर्वगोऽपि स्थितः शम्भुः स्वाधारे हि विशेषतः ।
तस्मादन्यत्र विमुखः स्वेष्टलिङ्गे यजेच्छिवम् ॥ ५६ ॥

शम्भुः सर्वगोऽपि व्यापकोऽपि स्वाधारे स्वाश्रयीभूतलिङ्गे विशेषतः अतिशयेन स्थितो भवति । तस्मादन्यत्र विमुखः सन् स्वेष्टलिङ्गे शिवं पूजयेदित्यर्थः ॥ ५६ ॥

उत्तर—यद्यपि शिव सर्वव्यापी हैं फिर भी अपने आधार अर्थात् लिङ्ग में विशेष रूप से स्थित हैं । इस कारण अन्यत्र विमुख होकर अपने इष्ट लिङ्ग में ही शिव की पूजा करनी चाहिये ॥ ५६ ॥

ननु सर्वगतः शिवस्तत्र तत्र लिङ्गे कथं विशेषेण तिष्ठतीत्यत्राह—

शिवः सर्वगतश्चापि स्वाधारे व्यज्यते भृशम्।
शमीगर्भे यथा वह्निर्विशेषेण विभाव्यते ॥ ५७ ॥

वृक्षस्थितो वह्निः शमीवृक्षे यथा विशेषेण भासते, तथा शिवः सर्वगतोऽपि स्वाधारे लिङ्गे भृशम् अतिशयेन व्यज्यते प्रकाशत इत्यर्थः ॥ ५७ ॥

यद्यपि शिव सर्वगत हैं तथापि वे अपने आधार अर्थात् इष्ट लिङ्ग में विशेष रूप से अभिव्यक्ति होते हैं । जैसे कि अग्नि सभी वृक्षों में रहती है फिर भी शमी के अन्दर विशेष रूप से व्यक्त होती है ॥ ५७ ॥

ननु लिङ्गे किमर्थं विशेषेण तिष्ठतीत्यत्राह—

सर्वगत्वं महेशस्य सर्वशास्त्रविनिश्चितम् ।
तथाप्याश्रयलिङ्गेन पूजार्थमधिका स्थितिः ॥ ५८ ॥

अत्रादि(पि)शब्देन गुरुचरमूर्ती लक्ष्येते । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ५८ ॥

महेश्वर की सर्वव्यापकता सब शास्त्रों में निश्चित है तो भी आश्रयभूत लिङ्ग आदि में पूजा के लिये (शिव की) विशेष स्थिति रहती है ॥ ५८ ॥

अस्मिन्नर्थे—'या ते रुद्र'[1] इति श्रुत्यर्थमेव श्लोकमुखेनोपन्यस्यति—

नित्यं भासि तदीयस्त्वंया ते रुद्र शिवा तनूः ।

---

१. या ते रुद्र शिवा तनूरघोराऽपापकाशिनी (शु०य०वा०सं० १६।२)

अघोराऽपापकाशीति श्रुतिराह सनातनी ॥ ५९ ॥

भो रुद्र ते तव या तनूः शिवलिङ्गमूर्तिः, शिवा मङ्गला, अघोरा अभयङ्करा, अपापकाशी दोषरहिता । त्वं तदीयो लिङ्गसम्बन्धी सन् नित्यं भासीति सनातनी नित्या श्रुतिराह कथयतीत्यर्थः ॥ ५९ ॥

'हे रुद्र! जो आपकी अघोर अर्थात् अभयङ्कर मङ्गलकारी दोषरहित (लिङ्गरूपी) शरीर है'—ऐसा सनातनी श्रुति कहती है उस शरीर वाले तुम नित्य प्रकाशित हो रहे हो ॥ ५९ ॥

तस्मादिष्टलिङ्गमेव पूजयेदित्याह—

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन सर्वस्थानपराङ्मुखः ।
स्वेष्टलिङ्गे महादेवं पूजयेत् पूजकोत्तमः ॥ ६० ॥

तस्मात् श्रुतिप्रसिद्धत्वात् पूजकोत्तमो महेश्वरः सर्वप्रयत्नेन सर्वस्थानविमुखः सन् स्वेष्टलिङ्गे स्वसम्बन्धीवतीष्टलिङ्गे महादेवं पूजयेदित्यर्थः ॥ ६० ॥

इसलिये उत्तम पूजक को चाहिये कि वह सब स्थानों से पराङ्मुख होकर अपने इष्ट लिङ्ग में महादेव की पूजा करे ॥ ६० ॥

एवं बुद्ध्वा स्वेष्टलिङ्गे यजन्नेव सर्वगत्वनिरासक इत्याह—

शिवस्य सर्वगत्वेऽपि सर्वत्र रतिवर्जितः ।
स्वेष्टलिङ्गे यजन् देवं सर्वगत्वनिरासकः ॥ ६१ ॥

स्पष्टम् ॥ ६१ ॥

यद्यपि शिव सर्वगामी हैं तो भी जो सर्वत्र अनुरागरहित होकर केवल अपने इष्ट लिङ्ग में देव की पूजा करता है वह सर्वगत्व निरासक कहा जाता है ॥ ६१ ॥

इति सर्वगत्वनिरसनस्थलम्

अथ शिवजगन्मयस्थलम्

अथ महेश्वरस्य पूजार्थं सर्वगत्वे निराकृतेऽपि प्रमाणबलात् सर्वगत्वं यथाङ्गीक्रियते, तथा प्रमाणबलात् सर्वमयत्वं चाङ्गीकरणीयमिति शिवजगन्मयस्थलं निरूपयति—

पूजाविधौ नियम्यत्वाल्लिङ्गमात्रे स्थितं शिवम् ।
पूजयन्नपि देवस्य सर्वगत्वं विभावयेत् ॥ ६२ ॥

शिवस्य सर्वनियामकत्वेऽपि पूजाकाले भक्तनियाम्यत्वाद्

भक्ताधीनत्वाल्लिङ्गमात्रे स्थितं शिवं भक्तः पूजयन्नपि देवस्य लिङ्गस्थितस्य प्रकाशात्मनः शिवस्य सर्वगत्वं विभावयेत्, अन्यथा कुम्भकारवत् परिच्छिन्नत्वप्रसङ्गादिति ॥ ६२ ॥

(शिवजगन्मयस्थल वर्णन)—पूजा की विधि में नियमित होने के कारण लिङ्ग मात्र में स्थित शिव की पूजा करता हुआ भी भक्त देवाधिदेव की सर्वव्यापकता की भावना करता रहे ॥ ६२ ॥

एवं सर्वगत्वे सिद्धे शिवस्य 'आत्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी'[1] **इति श्रुतेरभिन्ननिमित्तोपादान-कारणत्वश्रवणाद् बहुदृष्टान्तपूर्वकं शिवजगन्मयत्वं प्रतिपादयति—**

यस्मादेतत् समुत्पन्नं महादेवाच्चराचरम् ।
तस्मादेतन्न भिद्येत यथा कुम्भादिकं मृदः ॥ ६३ ॥

यस्मान्महादेवादिति सम्बन्धः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ६३ ॥

चूँकि यह चराचर महादेव से उत्पन्न हैं इस कारण वह जैसे (मिट्टी से उत्पन्न कुम्भ) आदि मिट्टी से भिन्न नहीं होते उसी प्रकार महादेव से भिन्न नहीं है ॥ ६३ ॥

शिवतत्त्वात् समुत्पन्नं जगदस्मान्न भिद्यते ।
फेनोर्मिबुद्बुदाकारं यथा सिन्धोर्न भिद्यते ॥ ६४ ॥

स्पष्टम् ॥ ६४ ॥

चूँकि यह चराचर शिवतत्त्व से उत्पन्न है अतः उससे उसी प्रकार भिन्न नहीं है जैसे (समुद्र से उत्पन्न) फेन लहर बुदबुद समुद्र से भिन्न नहीं होते ॥ ६४ ॥

यथा तन्तुभिरुत्पन्नः पटस्तन्तुमयः स्मृतः ।
तथा शिवात् समुत्पन्नं शिव एव चराचरम् ॥ ६५ ॥

स्पष्टम् ॥ ६५ ॥

जिस प्रकार तन्तुओं से उत्पन्न पट तन्तुमय कहा जाता है उसी प्रकार शिव से उत्पन्न चराचर शिव ही है ॥ ६५ ॥

ननु मृदादीनां विकारित्वात् शिवस्य निर्विकारित्वाद् उक्तदृष्टान्तो विषम इत्याह—

आत्मशक्तिविकासेन शिवो विश्वात्मना स्थितः ।

---

१. तै०उ० २।१

कुटीभावाद् यथा भाति पटः स्वस्य प्रसारणात् ॥ ६६ ॥

पटः स्वतादात्म्यापन्नप्रसरणशक्त्या कुटीभावात् प्रस्थानकुटीभावाद् यथा भाति, तथा शिवोऽपि स्वात्मशक्तिविकासेन विश्वात्मना स्थितः सन् भातीत्यर्थः ॥ ६६ ॥

शिव अपनी शक्ति के विकास से विश्व के रूप में ठीक उसी प्रकार स्थित हैं जैसे कि पट अपने प्रसार से तम्बू के रूप में स्थित होता है ॥ ६६ ॥

ननु प्रसारणशक्तिद्वारा यथा पटस्यापि विकारभाक्त्वम्, तथा शिवस्यापि स्वसमवेतशक्तिद्वारा विकारिता स्यादित्यत्र दृष्टान्तान्तरमुपन्यसन्नुक्तार्थमुपसंहरति—

तस्माच्छिवमयं सर्वं जगदेतच्चराचरम् ।
तदभिन्नतया भाति सर्पत्वमिव रज्जुतः ॥ ६७ ॥

रज्जुः स्वनिष्ठदीर्घवृत्तगोधूमवर्णताशक्तिवशाद् विकारराहित्येन यथा सर्पत्वेन भाति, तथा शिवोऽपि विकारराहित्येन स्वसमवेतमायाशक्त्या विश्वाभिन्नतया भाति, तस्मात् सर्वमेतच्चराचरं विश्वं शिवमयं न तद्व्यतिरिक्तमित्यर्थः ॥ ६७ ॥

इसलिये शिवमय यह समस्त जगत् रज्जु से सर्पत्व[1] की भाँति उस शिव से अभिन्न रूप में भासित होता है ॥ ६७ ॥

अथ दार्ढ्यार्थमुदाहृतदृष्टान्तपूर्वकं बहुदृष्टान्तमाह—

रज्जौ सर्पत्ववद् भाति शुक्तौ च रजतत्ववत् ।
चोरत्ववदपि स्थाणौ मरीच्यां च जलत्ववत् ॥ ६८ ॥
गन्धर्वपुरवद्व्योम्नि सच्चिदानन्दलक्षणे ।
निरस्तभेदसद्भावे शिवे विश्वं विराजते ॥ ६९ ॥

रज्ज्वां गोधूमवर्णताशक्त्या सर्पत्ववत्, शुक्तौ धावल्यशक्त्या रजतत्ववत्, स्थाणौ दीर्घशक्त्या पुरुषत्ववत्, मरीच्यां स्वच्छतोद्रेकशक्त्या जलत्ववत्, कालशक्त्या व्योम्नि गन्धर्वनगरवत्, निरस्तसमस्तप्रापञ्चिकभेदवति निर्विकारे सच्चिदानन्दस्वरूपे परशिवब्रह्मणि, तत्समवेतविमर्शशक्तिप्रतिस्फुरणायमानमायाशक्त्या विश्वं तदभिन्नतया भातीत्यर्थः ॥ ६८-६९ ॥

---

१. रज्जु में सर्प का भ्रम होने पर वस्तुतः मन्दान्धकार, रज्जु का वक्रत्व आदि दोष के कारण रज्जु में सर्प के धर्म सर्पत्व का आरोप होता है न कि सर्प का । सर्प तो रज्जु से सर्वथा भिन्न और अनारोप्य है ।

रस्सी में सर्पत्व, शुक्ति में रजतत्व, स्थाणु में चोरत्व, मृगमरीचिका में जलत्व, आकाश में गन्धर्वनगरत्व के आरोप की भाँति सच्चिदानन्दस्वरूप भेदरहित शिव में विश्व आभासित होता है ॥ ६८-६९ ॥

नन्वेभिर्दृष्टान्तैर्विश्वं प्रातीतिकं स्यादित्यत्र दृष्टान्तान्तरमाह—

पत्रशाखादिरूपेण यथा तिष्ठति पादपः ।
तथा भूम्यादिरूपेण शिव एको विराजते ॥ ७० ॥

वृक्षो यथा कालशक्त्या विकारराहित्येन स्वान्तर्लीनस्वविजातीयपत्रपुष्पादिभेदविशिष्टत्वेन भाति, तथा शिव एव स्वसमवेतशक्तितादात्म्यंक्रोडीकृतभूम्यादिरूपेण प्रतिस्फुरणगत्या भातीत्यर्थः । तत्र धृत्या धरणिः, करुणया जलम्, उज्ज्वलतया तेजः, परमानन्दस्पन्दनेन वायुः, चिद्व्याप्त्या व्योम, चितिसङ्कोचचित्तविशिष्टो जीव इति विवेकः । ननु वृक्षस्य सावयवत्वात्, सदाभाससंयुक्तशिवस्य निरवयवत्वात्, तत्समवेतशक्तेरपि तदभिन्नत्वेन तथात्वात् कथं सावयवप्रपञ्चरूपेण भासनं सम्भवतीति नाशङ्कनीयम्, शक्तेः शिवाभिन्नत्वे सति दुर्घटकारित्वेन अहिकुण्डलन्यायेन स्वस्वातन्त्र्यपरिकल्पितभेदोपस्थितिपरमाणुकार्यभूतद्व्यणुकादाविव तत्कार्यरूपमायाशक्तेः सांशत्वे सम्भवतीत्युक्तत्वात्, 'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्'[१] **इति भगवदुक्तेश्च । प्रातीतिकप्रपञ्चरूपेणापि स्वशक्तिन्यूनीभावेन शिव एव भासते, शुक्तिरजतयोः परस्परसत्त्वाद् मेलकांशो नास्तीति वदता निषेधप्रतियोगित्वेन समानयोगेन च सोऽप्यङ्गीकरणीय एव, उत्तरक्षणबाध्यमानत्वात् शक्तिर्न्यूनीभावनिबन्धनेति सर्वं विश्वं शिवमयमेवेति संक्षेपः । वस्तुतस्तु बाध एव नास्ति, घटपटयोरिव शुक्तिरजतयोरपि वस्तुत्वात् । नापि शुक्तिज्ञानेन रजतज्ञानस्य बाधः, घटपटज्ञानयोरिव भिन्नकालभिन्नविषयत्वात् । नन्वेकस्मिन्नेव धर्मिणि इदं रजतं नेदं रजतमिति विरुद्धावभासद्वयस्य प्रामाण्यासम्भवात्, अथोत्तरकालिकरजताभावज्ञानेन पूर्वोत्पन्नरजतज्ञानस्य बाधोऽङ्गीक्रियत इति चेन्न, ज्ञानानां त्रिक्षणावस्थायित्वनियमेन रजताभावज्ञानस्थितिकाले रजतज्ञानस्याभावात् । किञ्च, बाध्यबाधकभावस्य दण्डभाण्डन्यायेन परस्परान्वयसापेक्षत्वेन ज्ञानानां गुणत्वेन परस्परसम्बन्धाभावात् । तस्माद् घटपटज्ञानयोरिवोन्मेषनिमेषयोरङ्गीकरणीयत्वेन बाधस्य वाभावादिति दिक् ॥ ७० ॥**

जिस प्रकार (एक) वृक्ष (अनेक) पत्ते शाखा आदि के रूप में स्थित होता है उसी प्रकार एक शिव (अनेक) भूमि आदि रूप में विराजमान है ॥ ७७ ॥

---

१. भ०गी० १०।४२

विशेष—प्रकाशस्वरूप शिव अपने अन्दर समवेत विमर्श शक्ति के द्वारा अनेक रूपों में भासित होते हैं । धृति के कारण धरणी, करूणा के कारण जल, उज्ज्वलता के कारण तेज, आनन्दस्पन्दन के कारण वायु, चैतन्य की व्याप्ति के कारण आकाश तथा सङ्कुचित चैतन्य के कारण जीवरूप में प्रकाशित हो रहे हैं । शिव यद्यपि निरंश है तथापि अपनी दुर्घटकारिणी शक्ति के कारण वे नाना एवं सावयवरूप में वर्त्तमान हैं । जहाँ तक प्रतिभासिक प्रतीति का प्रश्न है । उसमें भी अपनी शक्ति की न्यूनता के द्वारा शिव ही भासित होते हैं । टीकाकार बाध्यबाधक भाव स्वीकार नहीं करते क्योंकि शुक्ति में रजत की प्रतीति एवं उसके बाध का काल भिन्न होता है । 'इदं रजतम्' 'नेदं रजतम्' दोनों ज्ञानों का स्थिति काल भिन्न है अत: बाध्यबाधक भाव नहीं हो सकता । ज्ञान गुण है और निरंश है अत: वहाँ वह सम्भव नहीं है । अत: रजतज्ञान और शुक्तिज्ञान शिव के उन्मेष निमेष है ।

इति शिवजगन्मयस्थलम्

अथ भक्तदेहिकलिङ्गस्थलम्

अथैवं शिवस्य जगन्मयत्वेऽपि—

वेदवेदान्तवाक्यार्थसन्धानातीतवर्तन: ।
भक्तभावपरानन्दो भक्तभावैकगोचर: ।।

इति योगजागमवचनानुसारेण भक्तहृदये प्रकाशत इति भक्तदेहिकलिङ्गस्थलं सप्तभिः सूत्रैः प्रतिपादयति—

समस्तजगदात्माऽपि शङ्करः परमेश्वरः ।
भक्तानां हृदयाम्भोजे विशेषेण विराजते ॥ ७१ ॥

शङ्करः सुखङ्करः परमेश्वरः समस्तजगदात्माऽपि भावाभावरूपप्रपञ्चमयोऽपि भक्तानां स्वभक्तानां हृदयाम्भोजे हृदयकमले विशेषेण विराजते आधिक्येन प्रकाशत इत्यर्थः ॥ ७१ ॥

(भक्तदेहिकलिङ्गस्थल वर्णन)—यद्यपि शङ्कर परमेश्वर सम्पूर्ण संसार में व्याप्त हैं तथापि भक्तों के हृदयकमल में वे विशेष रूप से विराजमान रहते हैं ॥ ७१ ॥

तत्कथमित्यत्राह—

कैलासे मन्दरे चैव हिमाद्रौ कनकाचले ।
हृदयेषु च भक्तानां विशेषेण व्यवस्थितः ॥ ७२ ॥

एषु स्थानेषु यथा शिवो विशेषेण भासते, तथा स्वभक्तानां हृदये भासत

इत्यर्थः ॥ ७२ ॥

कैलास मन्दर हिमालय कनकाचल अर्थात् सुमेरु इन पर्वतों तथा भक्तों के हृदय में (शिव की) विशेष स्थिति रहती है ॥ ७२ ॥

नन्वपरिच्छिन्नः परमेश्वरः कथं परिच्छिन्नः सन् भक्तहृदयेषु राजत इत्यत्राह—

सर्वात्मापि परिच्छिन्नो यथा देहेषु वर्तते ।
तथा स्वकीयभक्तेषु शङ्करो भासते सदा ॥ ७३ ॥

सर्वात्माऽपि परमेश्वरो देवतिर्यङ्मनुष्यलक्षणसकलदेहेषु भिन्नान्तःकरण-विशिष्टेषु प्रतिबिम्बगत्या यथा भासते, तथा स्वकीयभक्तेषु सदा प्रकाशत इत्यर्थः ॥ ७३ ॥

जिस प्रकार सर्वत्र व्यापक भी परमात्मा देवादि के देहों में परिच्छिन्न होकर प्रतिबिम्ब भाव से रहते हैं उसी प्रकार शङ्कर अपने भक्तों में सदा भासते हैं ॥ ७३ ॥

अस्मिन्नर्थे प्रमाणगर्भितवचनमाह—

नित्यं भाति त्वदीयेषु या ते रुद्र शिवा तनूः ।
अघोराऽपापकाशीति श्रुतिराह सनातनी ॥ ७४ ॥

भो रुद्र ते तव या तनूः शिवलिङ्गमूर्तिः, अघोरा सौम्या, अपापकाशी दोषरहिता, सा लिङ्गमूर्तिः, त्वदीयेषु त्वत्सम्बन्धिषु भक्तेषु, नित्यं भातीति सनातनी नित्या श्रुतिराहेत्यर्थः ॥ ७४ ॥

'हे रुद्र! जो तुम्हारी शिवा अघोरा अपापकाशिनी शरीर है वह तुम्हारे (भक्तों) के अन्दर नित्य भासित होती हैं'—ऐसा सनातन श्रुति कहती है ॥ ७४ ॥

ननु शिवभक्तव्यतिरिक्तेषु न भासते किमित्यत्राह—

विशुद्धेषु विरक्तेषु विवेकिषु महात्मसु ।
शिवस्तिष्ठति सर्वात्मा शिवलाञ्छनधारिषु ॥ ७५ ॥

विशुद्धेषु विरक्तेषु षट्स्थलज्ञानिषु चरमूर्तिष्वित्यर्थः, विवेकिषु महात्मसु शुकादियोगिष्वित्यर्थः, शिवलाञ्छनधारिषु भूतिरुद्राक्षमात्रधारिषु चेत्यर्थः, सर्वात्मा शिवः, नित्यं तिष्ठति प्रकाशत इत्यर्थः ॥ ७५ ॥

विशुद्ध वैराग्ययुक्त विवेकी तथा शिवचिह्न को धारण करने वाले महात्माओं के अन्दर सर्वात्मा शिव विराजमान रहते हैं ॥ ७५ ॥

नन्वेवं चेत् साधारणत्वात् शिवभक्तेषु को विशेष इत्यत्राह—

नित्यं सन्तोषयुक्तानां ज्ञाननिर्धूतकर्मणाम् ।

माहेश्वराणामन्तःस्थो विभाति परमेश्वरः ॥ ७६ ॥

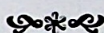
शिवज्ञानेन निर्धूतकल्मषवत्त्वात् शिवसुखानुभाविनां परमेश्वराणां निर्मलदर्पणे मुखादेः स्फुटतया भासनमिवातिस्फुटतया तेषामन्तस्थः सन् भातीत्यर्थः॥ ७६ ॥

नित्य सन्तोषयुक्त ज्ञान के द्वारा समस्त कर्मों को भस्म किये हुए महेश्वर के भक्तों के अन्दर स्थित परमेश्वर प्रकाशित होते हैं ॥ ७६ ॥

अथ वक्ष्यमाणप्रसादिस्थलं सूचयति—

अन्यत्र शम्भो रतिमात्रशून्यो निजेष्टलिङ्गे नियतान्तरात्मा ।
शिवात्मकं विश्वमिदं विबुध्य न्माहेश्वरोऽसौ भवति प्रसादी ॥ ७७ ॥

इति श्रीमत्षट्स्थलब्रह्मिणा शिवयोगिनाम्ना रेणुकाचार्येण विरचिते सिद्धान्तशिखामणौ माहेश्वरस्य नवविधस्थलप्रसङ्गो नाम दशमः परिच्छेदः ॥ १० ॥



शम्भोः शिवाद् अन्यत्र देवतान्तरे रतिमात्रशून्यः प्रीतिलेशेनापि रहितः सन् निजेष्टलिङ्गे नियतान्तरात्मा नियमितान्तःकरणवानसौ माहेश्वर इदं विश्वम् इदमित्यङ्गुलिनिर्देश्यत्वेन भासमानं विश्वं शिवात्मकमुक्तदृष्टान्तैः शिवमयमिति विबुध्यन् सन् प्रसादी भवतीत्यर्थः । 'शिव एको ध्येयः शिवङ्करः सर्वमन्यत् परित्यज' इत्यत्र श्रुतिः ॥ ७७ ॥

इति श्रीमत्पदवाक्यप्रमाणपारावारधुरीणश्रीमरितोण्टदार्येण विरचितायां तत्त्वप्रदीपिकाख्यायां सिद्धान्तशिखामणिव्याख्यायां माहेश्वरस्य नवविधस्थलप्रसङ्गो नाम दशमः परिच्छेदः ॥ १० ॥



शम्भु से अतिरिक्त विषयों में अनासक्त अपने इष्ट लिङ्ग में संयत अन्तःकरण वाला तथा इस संसार को शिवस्वरूप समझने वाला यह माहेश्वर ही (सर्वदा) प्रसादी अर्थात् स्वयं प्रसन्न रहकर दूसरों को प्रसन्न करने वाला प्रसादी स्थल का साधक बन जाता है ॥ ७७ ॥

इस प्रकार श्रीसिद्धान्तशिखामणि के नवविधस्थलप्रसङ्ग नामक दशम परिच्छेद की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदीकृत 'ज्ञानवती' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ १० ॥



एकादशः परिच्छेदः

अथ प्रसादिस्थलम्

अगत्स्य उवाच

उक्तो माहेश्वरः साक्षाल्लिङ्गनिष्ठादिधर्मवान् ।
कथमेष प्रसादीति कथ्यते गणनायक ॥ १ ॥

स्पष्टम् ॥ १ ॥

(प्रसादीस्थल वर्णन)—अगस्त्य ने कहा—हे गणनायक! साक्षात् लिङ्ग में निष्ठा आदि धर्म से युक्त माहेश्वर का अपने वर्णन किया । यह माहेश्वर फिर 'प्रसादी' क्यों कहा जाता है? (यह बतलाइये) ॥ १ ॥

रेणुक उवाच

लिङ्गनिष्ठादिभावेन ध्वस्तपापनिबन्धनः ।
मनःप्रसादयोगेन प्रसादीत्येष कथ्यते ॥ २ ॥

उक्तलिङ्गनिष्ठादिस्थलपरिज्ञानतदाचरणतो ध्वस्तपापसमूह एष माहेश्वरो मनोनैर्मल्यसम्बन्धेन प्रसादीत्युच्यत इत्यर्थः ॥ २ ॥

रेणुकाचार्य ने कहा—लिङ्ग के प्रति निष्ठा आदि भाव के द्वारा समस्त पापरूपी बन्धन को नष्ट करने वाला माहेश्वर (भक्त) मन की प्रसन्नता के कारण 'प्रसादी' कहलाता है ॥ २ ॥

अथैतत्स्थलं कीदृशं कीदृग्विधमित्यत्राह—

प्रसादिस्थलमित्येतदस्य माहात्म्यबोधकम् ।
अन्तरस्थलभेदेन सप्तधा परिकीर्तितम् ॥ ३ ॥

एतत्प्रसादिस्थलमस्य भक्तमाहेश्वरस्थलोक्तसदाचारसमूहस्य महत्त्व-बोधकमवान्तरस्थलभेदेन सप्तविधमिति परिकीर्तितमित्यर्थः ॥ ३ ॥

यह प्रसादी स्थल इसकी महिमा का ज्ञापक है । अन्तर्गत स्थलों के भेद से यह सात प्रकार का कहा गया है ॥ ३ ॥

अथ तत्कथमित्यत्रोद्दिशति—

प्रसादिस्थलमादौ तु गुरुमाहात्म्यकं ततः ।
ततो लिङ्गप्रशंसा च ततो जङ्गमगौरवम् ॥ ४ ॥
ततो भक्तस्य माहात्म्यं ततः शरणकीर्तनम् ।
शिवप्रसादमाहात्म्यमिति सप्तप्रकारकम् ॥ ५ ॥

शरणकीर्तनं तन्महत्त्वकीर्तनमित्यर्थः । एवं सप्तप्रकारकमित्युत्तरम् ॥ ४-५ ॥

पहला प्रसादीस्थल, दूसरा गुरुमाहात्म्य स्थल, तीसरा लिङ्गप्रशंसा उसके बाद जङ्गमगौरव, तत्पश्चात् भक्तमाहात्म्य इसके बाद शरणकीर्त्तनस्थल और अन्त में शिवप्रसादमाहात्म्यस्थल ये सात प्रकार हैं ॥ ४-५ ॥

अथोद्दिष्टानां स्थलानां क्रमाल्लक्षणमुच्यत इत्यत्राह—

क्रमाल्लक्षणमेतेषां कथयामि महामुने ।

स्पष्टम् ॥

अथ—

चित्तस्य हि प्रसादेन हन्ति कर्म शुभाशुभम्।
प्रसन्नात्माऽऽत्मनि स्थित्वा सुखमक्षयमश्नुते ॥[1]

इति मैत्रेयश्रुत्यनुसारेण शिवप्रसादजायमानमनःप्रसन्नतां द्वादशसूत्रैः प्रतिपादयति—

नैर्मल्यं मनसो लिङ्गं प्रसाद इति कथ्यते ।
शिवस्य लिङ्गरूपस्य प्रसादादेव सिद्ध्यति ॥ ६ ॥

मनसश्चित्तस्य नैर्मल्यं लिङ्गं निर्मलत्वचिह्नं प्रसाद इति कथ्यत इत्यर्थः । एष मनोनिर्मलत्वरूपप्रसादो लिङ्गरूपस्य शिवस्य प्रसादात् सिद्ध्यतीत्यर्थः ॥ ६ ॥

हे महामुने! (अब मैं) इनका क्रम से लक्षण कह रहा हूँ । मन की निर्मलतारूपी चिह्न प्रसाद कहा जाता है । यह प्रसाद लिङ्गरूपी शिव की कृपा

१. मैत्रेयी उप० १।६

से प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

ननु कोऽयं चित्तनैर्मल्यलक्षणप्रसादकारणीभूतशिवप्रसाद इत्यत्राह—

शिवप्रसादं यद्द्रव्यं शिवाय विनिवेदितम् ।
निर्माल्यं तत्तु शैवानां मनोनैर्मल्यकारणम् ॥ ७ ॥

शिवाय विनिवेदितं समर्पितं यद् द्रव्यं तत् शिवप्रसादः, तन्निर्माल्यं तु विशेषशैवानां वीरशैवानां मनोनैर्मल्यकारणं भवतीत्यर्थः ॥ ७ ॥

शिव को समर्पित जो शिव का प्रसाद उसकी निर्मलता वीर शैवों के मन की निर्मलता का कारण होती है ॥ ७ ॥

अथैवंरूपशिवप्रसादस्वीकारवान् प्रसादीत्याह—

मनःप्रसादसिद्ध्यर्थं निर्मलज्ञानकारणम् ।
शिवप्रसादं स्वीकुर्वन् प्रसादीत्येष कथ्यते ॥ ८ ॥

ज्ञानकारणं शिवज्ञानकारणं शिवप्रसादं निर्माल्यं शिवलिङ्गप्रसादरूपशिवनिर्माल्यं मनःप्रसादसिद्ध्यर्थं चित्तनैर्मल्यसिद्ध्यर्थं स्वीकुर्वन् एष वीरमाहेश्वरः प्रसादीति कथ्यत इत्यर्थः ॥ ८ ॥

मन की प्रसन्नता की सिद्धि के लिये निर्मल ज्ञान के कारणभूत शिवप्रसाद को स्वीकार करने वाला 'प्रसादी' कहा जाता है ॥ ८ ॥

तस्मात्—'आहारशुद्ध्या (शुद्धौ) तत्त्वशुद्धिः'[1] इति छान्दोग्यश्रुतेः शुद्धशिवनिर्माल्यभक्षणेन सकलतत्त्वशुद्धिद्वारा मनोनैर्मल्यं लभते भक्त इत्याह—

अन्नशुद्ध्या हि सर्वेषां तत्त्वशुद्धिरुदाहृता ।
विशुद्धमन्नजातं हि यच्छिवाय समर्पितम् ॥ ९ ॥
तदेवं सर्वकालं तु भुञ्जानो लिङ्गतत्परः ।
मनःप्रसादमतुलं लभते ज्ञानकारणम् ॥ १० ॥

अन्नशुद्ध्या सर्वेषां प्राणिनां तत्त्वशुद्धिर्देहाक्षभुवनप्रपञ्चशुद्धिरिति शास्त्रज्ञैरुदाहृता । यच्छिवाय समर्पितमन्नजातं शुद्धं तदन्नजातमेव लिङ्गतत्परः सन् सदाकालं भुञ्जानः प्रसादी अतुलं शिवज्ञानकारणं मनःप्रसादं मनोनैर्मल्यं लभत इत्यर्थः ॥ ९-१० ॥

---

१. छा०उ० ७।२६।२

अन्न की शुद्धि से सबकी तत्त्वशुद्धि कही गयी है । विशुद्ध अन्न वह होता है जो शिव को समर्पित किया होता है । लिङ्ग की आराधना में तत्पर भक्त सदा उस अन्न को खाने वाला भक्तज्ञान से उत्पन्न असीम मनःप्रसाद को प्राप्त करता है ॥ ९-१० ॥

तस्मादात्मभोगार्थं नियमितं सद् यद्यद् द्रव्यं प्राप्तं भवति, तत्सर्वं 'यद्यदात्महितं वस्तु........शिवार्पितम्' इति शिवरहस्यवचनानुसारेण शिवाय समर्प्य भुञ्जीयादित्याह—

आत्मभोगाय नियतं यद्यद् द्रव्यं समाहितम् ।
तत्तत् समर्प्य देवाय भुञ्जीतात्मविशुद्धये ॥ ११ ॥

आत्मभोगाय नियमितं सत् समाहितं सम्पादितं तत्तत् शिवलिङ्गदेवाय समर्प्यात्मविशुद्धये चित्तशुद्ध्यर्थं भुञ्जीयादित्यर्थः ॥ ११ ॥

आत्मभोग के लिये निश्चित रूप से जो-जो द्रव्य एकत्रित किया गया आत्मशुद्धि के लिये उस-उस को महादेव को समर्पित कर खाना चाहिये ॥ ११ ॥

अथास्य महत्त्वं प्रतिपादयति—

नित्यसिद्धेन देवेन भिषजा जन्मरोगिणाम् ।
यद्यत् प्रसादितं भुक्त्वा तत्तज्जन्मरसायनम् ॥ १२ ॥

जन्मरोगिणां भवरोगिणां भिषजा वैद्येन नित्यसिद्धेन शिवलिङ्गे निरन्तरसिद्धेन देवेन परमेश्वरेण यद् द्रव्यं भुक्त्वा प्रसादितं प्रसादीकृतम्, तत्तद् जन्मरसायनं संसारव्याधिरसायनमित्यर्थः ॥ १२ ॥

जन्मरूपी रोग वालों के लिये नित्यसिद्ध वैद्यरूपी शिव देव के द्वारा भोग लगाकर जो-जो वस्तु प्रसाद बनायी गयी वह सब वस्तु जन्मरसायन अर्थात् पुनर्जन्म से मुक्ति पाने के लिये औषधि है ॥ १२ ॥

अथ ऐहिकारोग्यादिकारणं चेत्याह—

आरोग्यकारणं पुंसामन्तःकरणशुद्धिदम् ।
तापत्रयमहारोगसमुद्धरणभेषजम् ॥ १३ ॥
विद्यावैशद्यकरणं विनिपातविघातनम् ।
द्वारं ज्ञानावतारस्य मोहोच्छेदस्य कारणम् ॥ १४ ॥
वैराग्यसम्पदो मूलं महानन्दप्रवर्धनम् ।

दुर्लभं पापचित्तानां सुलभं शुद्धकर्मणाम् ॥ १५ ॥
आदृतं ब्रह्मविष्ण्वाद्यैर्वसिष्ठाद्यैश्च तापसैः ।
शिवस्वीकृतमन्नाद्यं स्वीकार्यं सिद्धिकाङ्क्षिभिः ॥ १६ ॥

अत्र पुनस्तदित्यनुवर्तते । तत्प्रसादद्रव्यं पुंसामारोग्यकारणं सद् अन्तःकरणशुद्धिदम् आध्यात्मिकादितापत्रयलक्षणमहारोगोन्मूलनौषधम् विद्या-विशेषसिद्धिकारणम् विनिपातः कृत्रिमदोषस्तस्य घातकम्, शिवज्ञानावतारस्य द्वारम्, अज्ञानोच्छेदकारणम्, वैराग्यसम्पदो मूलकारणम्, नित्यानन्द-प्रकाशकम्, पापिष्ठानां दुर्लभं पुण्यात्मनां सुलभं ब्रह्मादिदेवैर्वसिष्ठादिमुनिभिः प्रीतिविषयीकृतम् । एवंरूपं शिवस्वीकृतमन्नाद्यं शिवलिङ्गस्वीकृतान्नादि-प्रसादद्रव्यं सिद्धिकाङ्क्षिभिरिह परत्र भोगमोक्षलक्षणसिद्धिकाङ्क्षिभिः प्रसादिभिः स्वीकार्यमित्यर्थः ॥ १३-१६ ॥

सिद्धि को चाहने वाले लोगों को चाहिये कि वे शिव के द्वारा स्वीकृत अर्थात् शिव को समर्पित अन्नादि का ग्रहण करें । इस अन्नादि की विशेषतायें निम्नलिखित हैं—यह पुरुषों के आरोग्य का कारण है । उनके अन्तःकरण को शुद्ध करने वाला है । तीन ताप रूपी महारोग से उद्धार करने के लिये औषध है । विद्या को विशद बनाता है । पतन अर्थात् कृत्रिमदोष को रोकता है । ज्ञानावतार का द्वार तथा मोहोच्छेद का कारण है । वैराग्यरूपी सम्पत्ति का मूल तथा महानन्द को बढ़ाने वाला है । पापियों के लिये दुर्लभ और शुद्ध आचार वालों के लिये सुलभ है । ब्रह्मा विष्णु आदि देवता तथा वशिष्ठ आदि तपस्वियों के द्वारा प्रसाद का आदर किया गया है ॥ १३-१६ ॥

अथैतत्प्रसादस्वीकारेण सर्वपापक्षयश्च भवतीत्याह—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं[१] यच्छिवाय निवेदितम् ।
तत्तत्स्वीकारयोगेन सर्वपापक्षयो भवेत् ॥ १७ ॥

यद् यद् द्रव्यमित्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ १७ ॥

पत्र पुष्प फल जल जो कुछ शिव के लिये निवेदित है उस-उस का स्वीकार करने से समस्त पापों का क्षय हो जाता है ॥ १७ ॥

---

१. तुलनीय—
पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ (भ०गी० ९।२६)

अथ शिवलिङ्गप्रसादवदेव श्रीगुरुशिवयोगिनोरपि प्रसादः स्वीकार्य इत्युक्त्वा प्रसादिस्थलं समापयति—

यथा शिवप्रसादान्नं स्वीकार्यं लिङ्गतत्परैः ।
तथा गुरोः प्रसादान्नं तथैव शिवयोगिनाम् ॥ १८ ॥

लिङ्गनिष्ठैः प्रसादिभिर्यथा प्रसादान्नं स्वीकार्यम्, तथा श्रीगुरुशिवयोगिनां चान्नप्रसादोऽपि स्वीकार्य इत्यर्थः ॥ १८ ॥

लिङ्ग की आराधना में तत्पर लोगों के द्वारा जैसे शिव का प्रसाद रूपी अन्न स्वीकार्य होता है उसी प्रकार गुरु एवं शिवयोगियों का भी प्रसादान्न स्वीकार्य होना चाहिये ॥ १८ ॥

इति प्रसादिस्थलम्

अथ गुरुमाहात्म्यस्थलम्

अथ प्रसादनिष्ठेन ज्ञातव्यं गुरुमाहात्म्यस्थलं निरूपयति—

गुरुरेवात्र सर्वेषां कारणं सिद्धिकर्मणाम् ।
गुरुरूपो महादेवो यतः साक्षादुपस्थितः ॥ १९ ॥

अत्र लोके भोगमोक्षलक्षणसकलसिद्धिकर्मणां गुरुरेव कारणम्, 'न गुरोरधिकं न गुरोरधिकम्' इति शिवरहस्यवचनात् । यतः परमेश्वर एव साक्षाद् गुरुरूपः सन् उपस्थितस्तिष्ठतीत्यर्थः ॥ १९ ॥

इस जगत् में समस्त सिद्धि कर्मों का कारण गुरु ही है क्योंकि गुरु के रूप में साक्षात् महादेव उपस्थित हैं ॥ १९ ॥

ननु निष्कलः शिवः किमर्थं सकलगुरुरूपेण प्रकाशत इत्यत्राह—

निष्कलो हि महादेवो नित्यज्ञानमहोदधिः ।
सकलो गुरुरूपेण सर्वानुग्राहको भवेत् ॥ २० ॥

नित्यज्ञानार्णवपरमेश्वरो निष्कलोऽपि निरवयवोऽपि गुरुरूपेण सकलः सन् करचरणादिविशिष्टः सन् सर्वानुग्राहको भवेत्, लोकानुग्रहार्थं भातीत्यर्थः ॥ २० ॥

नित्य ज्ञान के समुद्र महादेव निष्कल हैं वही गुरु के रूप में सकल होकर सर्वानुग्रह कारक होते हैं ॥ २० ॥

तस्माद् गुरुशिवयोर्भेदो नास्तीत्याह—

यः शिवः स गुरुर्ज्ञेयो यो गुरुः स शिवः स्मृतः ।
न तयोरन्तरं कुर्याद् ज्ञानावाप्तौ महामतिः ॥ २१ ॥

गुरोर्मोक्षकारणीभूतज्ञानप्रदत्वेन शिवभिन्नत्वात्, अन्यथा ज्ञानानुदयप्रसङ्गात् । तदर्थं सूक्ष्मदृक् तयोरन्तरं भेदं न कुर्यादित्यर्थः ॥ २१ ॥

जो शिव हैं उन्हीं को गुरु समझना चाहिये । जो गुरु हैं वही शिव कहे गये हैं अर्थात् गुरु शिवसायुज्यरूप मोक्ष के कारण भूत ज्ञान का दाता होने से शिव से अभिन्न है । ज्ञानलाभ के सन्दर्भ में विद्वान् उन दोनों में अन्तर न करे ॥ २१ ॥

'यथाहं सर्वलोकानां गुरुरम्बिकया सह' इत्यागमोक्तेः शिवसदृशं श्रीगुरुं प्राकृतैः सदृशमनुक्त्वा पूजयेदित्याह—

हस्तपादादिसाम्येन नेतरैः सदृशं वदेत् ।
आचार्यं ज्ञानदं शुद्धं शिवरूपतया स्थितम् ॥ २२ ॥

शुद्धं निर्मलान्तःकरणं शिवज्ञानप्रकाशकम् उमामहेश्वररूपेण स्थितं श्रीगुरुं हस्तपादादिसाम्येन प्राकृतैः सदृशं सन्तं न वदेत् ॥ २२ ॥

ज्ञान देने वाले, शुद्ध तथा शिवरूप में स्थित आचार्य को हाथ पैर आदि की समानता के कारण अन्य सामान्य लोगों के सदृश नहीं कहना चाहिये ॥ २२ ॥

तेन किं भवतीत्यत्राह—

आचार्यस्यावमानेन श्रेयः प्राप्तिर्विहन्यते ।
तस्मान्निःश्रेयसप्राप्त्यै पूजयेत् तं समाहितः ॥ २३ ॥

आचार्यस्यावमानेन प्राकृतजनसमोक्त्या भोगमोक्षलक्षणश्रेयःप्राप्तिर्विहन्यते । तस्माद् निःश्रेयसप्राप्त्यै भोगमोक्षावाप्त्यै समाहित एकाग्रचित्तः सन् तं श्रीगुरुं पूजयेदित्यर्थः ॥ २३ ॥

आचार्य का अपमान करने से मोक्ष लाभ में विघ्न पड़ता है । इसलिये निःश्रेयस की प्राप्ति के लिये समाहित चित्त होकर उनकी पूजा करनी चाहिये ॥ २३ ॥

अथ—'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ'[1] इति श्वेताश्वतरश्रुत्यर्थं प्रकटयन् गुरुमहत्त्वस्थलं समापयति—

१. श्वे०उ० ६।२३

गुरुभक्तिविहीनस्य शिवभक्तिर्न जायते ।
ततः शिवे यथा भक्तिस्तथा भक्तिर्गुरावपि ॥ २४ ॥

स्पष्टम् ॥ २४ ॥

जो व्यक्ति गुरुभक्ति से रहित है उसके अन्दर शिवभक्ति नहीं उत्पन्न होती। इसलिये जैसी शिव में वैसी ही भक्ति गुरु में भी करनी चाहिये ॥ २४ ॥

इति गुरुमहत्त्वस्थलम्

अथ लिङ्गमाहात्म्यस्थलम्

अथ गुरुकृपाप्रकाश्यलिङ्गमहत्त्वस्थलं निरूपयति—

गुरुमाहात्म्ययोगेन निजज्ञानातिरेकतः ।
लिङ्गस्यापि च माहात्म्यं सर्वोत्कृष्टं विभाव्यते ॥ २५ ॥

गुरुमाहात्म्यज्ञानयोगेन निजज्ञानाधिक्याद् लिङ्गस्य शिवलिङ्गस्य माहात्म्यमपि सर्वोत्कृष्टं सद् विभाव्यते विज्ञायत इत्यर्थः ॥ २५ ॥

गुरु की महिमा और अपने ज्ञान की अधिकता से लिङ्ग का भी माहात्म्य सर्वोत्कृष्ट समझा जाता है ॥ २५ ॥

(लिङ्गमाहात्म्यस्थल वर्णन)—

ननु लिङ्गज्ञानव्यतिरेकेण तन्माहात्म्यज्ञानासम्भवाद् लिङ्गस्वरूपं केन ज्ञापितमित्यत्राह—

शिवस्य बोधलिङ्गं यद् गुरुबोधितचेतसा ।
तदेव लिङ्गं विज्ञेयं शाङ्करं सर्वकारणम् ॥ २६ ॥

शिवस्य यद्बोधलिङ्गं चिन्मयलिङ्गमस्ति, तच्छाङ्करं लिङ्गं सर्वकारणं विष्ण्वादिसर्वविश्वकारणं सद् गुरुबोधितचेतसैव विज्ञेयं ज्ञातुं योग्यम्, गुरुणैव ज्ञापितमित्यर्थः ॥ २६ ॥

जो शिव का बोधलिङ्ग है गुरु के द्वारा प्रबोधित चित्त वाले मनुष्य को चाहिये कि वह उसी बोधलिङ्ग को सर्वकारणशाङ्कर लिङ्ग समझे ॥ २६ ॥

अथ तत्कीदृशमित्यत्राह—

परं पवित्रममलं लिङ्गं ब्रह्म सनातनम् ।
शिवाभिधानं चिन्मात्रं सदानन्दं निरङ्कुशम् ॥ २७ ॥

कारणं सर्वलोकानां वेदानामपि कारणम् ।
पूरणं सर्वतत्त्वस्य तारणं जन्मवारिधेः ॥ २८ ॥
ज्योतिर्मयमनिर्देश्यं योगिनामात्मनि स्थितम् ।
कथं विज्ञायते लोके महागुरुदयां विना ॥ २९ ॥

अत्र सर्वतत्त्वस्य पूरणमित्यनेन 'शिखण्ड्यण्डरसन्यायेन' स्वात्मैकरसेन परिपूर्णविश्वमयत्वमुक्तम् । योगिनां शिवयोगिभिरनिर्देश्यं सद् आत्मनि निजस्वरूपे स्थितम् । ज्योतिर्मयं 'स्थाणुवज्ज्वलति लिङ्गमदृश्यम्' **इति याज्ञवल्क्यश्रुतेः स्वातिरिक्तमानान्तरागम्यत्वेन स्वयमेव भासमानं परशिवाख्य-परब्रह्ममहालिङ्गम् ।** 'तज्ज्ञानं सद्गुरोर्ज्ञेयं नान्यथा शास्त्रकोटिभिः' **इति शिवरहस्यवचनमप्यस्तीति लोके महागुरुदयां विना कथं केन प्रकारेण विज्ञायते? केनापि प्रकारेण ज्ञातुमशक्यमित्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ २७-२९ ॥**

शिव नामक लिङ्ग परम पवित्र, निर्मल, सनातन, ब्रह्म, चिन्मात्र, सदानन्द, निरङ्कुश, समस्त लोकों का कारण, वेदों का भी कारण, सम्पूर्ण तत्त्वों का पूरक, जन्मरूपी समुद्र के पार ले जाने वाला, ज्योतिर्मय, अनिर्देश्य, योगियों के हृदय में रहने वाला है । ऐसा लिङ्ग महागुरु की महाकृपा के विना इस संसार में कैसे जाना जा सकता है? ॥ २७-२९ ॥

नन्वस्मदादीनां गुरुदयाव्यतिरेकेण विज्ञातुमशक्यत्वेऽपि ब्रह्मादीनां सर्वज्ञत्वेन तदपेक्षा नास्तीति कथमुक्तार्थसिद्धिरित्यत्र—'वराहो विष्णुर्निममज्ज भूमौ ब्रह्मोत्पपात दिवमाशु गृध्र' **इति लिङ्गसूत्रो(क्ता)भिप्रायेणोक्तार्थं स्थापयति—**

ब्रह्मणा विष्णुना पूर्वं यल्लिङ्गं ज्योतिरात्मकम् ।
अपरिच्छेद्यमभवत् केन वा परिचोद्यते ॥ ३० ॥

ज्योतिरात्मकं ज्योतिर्मयं यल्लिङ्गं ब्रह्मणा विष्णुना च पूर्वमपरिच्छेद्यं ज्ञातुमयोग्यमभवत्, तन्महाशिवलिङ्गं केन वा परिचोद्यते? केन विज्ञायत इत्यर्थः ॥ ३० ॥

जिस ज्योतिस्वरूप लिङ्ग का प्राचीन काल में ब्रह्मा और विष्णु ने पार नहीं पाया उसको कौन जान सकता है? ॥ ३० ॥

ननु ब्रह्माद्यगम्यं लिङ्गं कीदृशमित्यत्राह—

बहुनात्र किमुक्तेन लिङ्गं ब्रह्म सनातनम् ।
योगिनो यत्र लीयन्ते मुक्तपाशनिबन्धनाः ॥ ३१ ॥

अत्र बहुभाषणेन किम्? विश्वलयगमनकारणं नित्यं ब्रह्मैव लिङ्गं यत्र परब्रह्मात्मनि शिवलिङ्गे सनकादियोगिनो मुक्तपाशनिबन्धना विसृष्टाविद्यादि-पञ्चक्लेशपाशबन्धनाः सन्तो लीयन्ते तादात्म्यं भजन्त इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

अधिक कहने से क्या लाभ? यह लिङ्ग रूपी ब्रह्म सनातन है । योगी लोग पाशबन्ध से मुक्त होकर उसमें लीन हो जाते हैं ॥ ३१ ॥

ननु ब्रह्मैव लिङ्गं चेत् किमस्य पीठमित्यत्राह—

पीठिका परमा शक्तिर्लिङ्गं साक्षात् परः शिवः ।
शिवशक्तिसमायोगं विश्वं लिङ्गं तदुच्यते ॥ ३२ ॥

'क्रियाशक्त्यात्मकं पीठं ज्ञानशक्त्यात्मनः प्रभोः'[1] इति शिवागमवचनात् परमा शक्तिः सर्वोत्कृष्टा क्रियाशक्तिः पीठम्, साक्षात्परः शिवश्चिद्रूपपरमेश्वर एव लिङ्गम् । शिवशक्तिसमायोगं शिवशक्तिसम्बन्धवत्तल्लिङ्गं विश्वम्,

'न वज्रचक्राङ्कसरोरुहाङ्कं लिङ्गाङ्कितं पश्य जगद्भगाङ्कम्'[2],

'ज्ञानकर्मेन्द्रियैर्विश्वं चित्क्रियालिङ्गरूपकम्'[3]

इति पुराणोक्तेः सर्वजगद्रूपमित्युच्यत इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

पीठिका (= अर्घा) परमा शक्ति है । लिङ्ग साक्षात् परमशिव है । शिव और शक्ति का जो समायोग है वह विश्व लिङ्ग कहा जाता है ॥ ३२ ॥

अथैवंरूपं लिङ्गं ब्रह्मादयः सम्पूज्य महदैश्वर्यं प्राप्तवन्त इत्याह—

ब्रह्मादयः सुराः सर्वे मुनयः शौनकादयः ।
शिवलिङ्गार्चनादेव स्वं स्वं पदमवाप्नुयुः ॥ ३३ ॥

अत्र—'तव श्रिये मरुतोऽमर्जयन्त रुद्र यत्ते जनिमं चारुचित्रम् । पदं यद्विष्णोरुपमं निधायि ॥'[4] **इति ऋग्वेदश्रुतिः । अयमर्थः—भो रुद्र मरुतो ब्रह्मादयो देवाः, श्रियै विष्णोः पदं स्थानं वैकुण्ठादिकम् उपमं दृष्टान्तं निधायि मनसि निधाय चारु मनोहरं चित्रं विचित्रं जनिमम् आविर्भावस्थानं लिङ्गम् अमर्जयन्त अर्चितवन्त इत्यर्थः । वैकुण्ठादिस्थानं महदैश्वर्यं च विष्णुः शिवलिङ्गपूजामहिम्ना लब्धवानिति दृष्टान्तीकृत्य ब्रह्मादयो देवाः सर्वेऽपि शिवलिङ्गं श्रियै पूजितवन्त इति यावत् ॥ ३३ ॥**

ब्रह्मा आदि देवता शौनक आदि ऋषिगण ये सब शिवलिङ्ग की पूजा से

---

१. शि०आ०		२. पु० .
३. पु०		४. ऋ०वे० ५।३।३

ही अपने-अपने पद को प्राप्त हुए ॥ ३३ ॥

ननु शिवस्यापि विश्वाधिकत्वादिमहदैश्वर्यं कस्यचिदुपासनया समागतं किमित्यत्राह—

विश्वाधिपत्वमीशस्य लिङ्गमूर्तेः स्वभावजम् ।
अनन्यदेवसादृश्यं श्रुतिराह सनातनी ॥ ३४ ॥

'विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः । हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वम्',[1] 'न तत्समश्चाप्यधिकश्च दृश्यते'[2] **इति श्वेताश्वतरश्रुतेर्लिङ्गमूर्तेरीशस्य परमेश्वरस्य अनन्यदेवसादृश्यं विश्वाधिपत्वं चराचरप्रपञ्चनियामकत्वं स्वभावजं स्वतः सिद्धमिति सनातनी श्रुतिराहेत्यर्थः ॥ ३४ ॥**

लिङ्गस्वरूप ईश्वर का विश्वाधिप होना स्वभावसिद्ध है । इसके समान विश्वाधिपत्व किसी अन्य देव में नहीं मिलता ऐसा सनातनी श्रुति अर्थात् वेद कहती है ॥ ३४ ॥

इति लिङ्गमहत्त्वस्थलम्

अथ जङ्गममाहात्म्यस्थलम्

अथ गुरुलिङ्गमहत्त्वात् संवेद्यं जङ्गमस्थलं प्रकाशयति—

गुरुशिष्यसमारूढलिङ्गमाहात्म्यसम्पदः ।
सर्वं चिद्रूपविज्ञानाज्जङ्गमाधिक्यमुच्यते ॥ ३५ ॥

'आचार्यः पूर्वरूपमन्तेवास्युत्तररूपं विद्यासन्धिः'[3] **इति श्रुतेर्गुरुशिष्यमध्यगतशिवलिङ्गमहत्त्वसम्पदः सर्वं विश्वप्रपञ्चं चिद्रूपविज्ञानात् चित्क्रियारूपत्वेन विज्ञानाद् जङ्गमाधिक्यमुच्यते, गुरुशिष्ययोरिष्टप्राणभावेषु तादात्म्यभावनया समारूढलिङ्गमहत्त्वसम्पत्त्या सर्वं विश्वं शिवशक्त्यात्मकमिति विज्ञानमेव जङ्गमाधिक्यमित्यर्थः ॥ ३५ ॥**

(जङ्गममाहात्म्यस्थल वर्णन)—गुरु और शिष्य के बीच उत्पन्न लिङ्ग-माहात्म्य की सम्पत्ति की अपेक्षा चिद्रूप विज्ञान के कारण जङ्गमलिङ्ग का माहात्म्य अधिक माना गया है ॥ ३५ ॥

अथ के ते जङ्गमा इत्यत्राह—

जानन्त्यतिशयाद् ये तु शिवं विश्वप्रकाशकम् ।

१. श्वे०उ० ३।४ २. श्वे०उ० ६।८
३. तै०उ० १।११।१

स्वस्वरूपतया ते तु जङ्गमा इति कीर्तिताः ॥ ३६ ॥

'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'[१] **इति श्रुतेर्ये विश्वप्रकाशकं स्वकीयचित्क्रियाशक्तिभ्यां प्रपञ्चप्रकाशं शिवमतिशयेन सर्वासर्वशब्दार्थयोर्मायाकार्यकोटिप्रविष्टत्वेनाऽसनातनत्वाद् एतज्जीवनभूतज्ञत्वकर्तृत्वयोः सनातनत्वात्, अन्यथा स्वविषयकज्ञानशून्यत्वेन स्फटिकादिप्रकाशवज्जडत्वप्रसङ्गात्, तयोर्जीवेश्वरसाधारणीभूतास्मद्रूपात्मतत्त्वनिजस्वभावत्वात् स्वयं तदनतिरिक्त इति दृढतरनिश्चयेन स्वस्वरूपतया जानन्ति, ते जङ्गमा इत्यर्थः ॥ ३६ ॥**

जो लोग विश्व के प्रकाशक शिव को अतिशय के कारण आत्मरूप में जानते हैं वे जङ्गम लिङ्ग कहे गये हैं ॥ ३६ ॥

अथ शिवयोगित्वेन प्रसिद्धजङ्गममहत्त्वं पञ्चभिः सूत्रैः प्रतिपादयति—

ये पश्यन्ति जगज्जालं चिद्रूपं शिवयोगतः ।
निर्धूतमलसंस्पर्शास्ते स्मृताः शिवयोगिनः ॥ ३७ ॥

ये जङ्गमा देवा विश्वं शिवयोगतो विश्वस्य शिवसम्बन्धाभावे चिद्बाह्यत्वेन सङ्कल्पतापत्तेः शिवसम्बन्धोऽङ्गीकरणीय एव । स च संयोगरूपो न भवति, तस्य क्रियापूर्वत्वेन भिन्नदेशस्थितयोरेवोपपद्यत इति ब्रह्मबाह्यदेशाभावेन तादात्म्यरूप एवेत्युपपादितत्वाच्चिद्रूपं चित्क्रियास्वरूपमिति पश्यन्ति जानन्ति, ते निर्धूतमलसंस्पर्शा निर्गताणवादिमलसम्बन्धिनः शिवयोगिन इति स्मृता इत्यर्थः ॥ ३७ ॥

जो अपने शिवयोगसामर्थ्य से जगज्जाल को चिद्रूप जानते हैं नष्टमलस्पर्श वाले वे शिवयोगी कहे गये हैं ॥ ३७ ॥

घोरसंसारतिमिरपरिध्वंसनकारणम् ।
येषामस्ति शिवज्ञानं ते मताः शिवयोगिनः ॥ ३८ ॥

भयङ्करसंसारान्धकारनिवारकं शिवाधिक्यज्ञानं येषामस्ति, ते शिवयोगिन इति मताः स्मृता इत्यर्थः ॥ ३८ ॥

जिनके पास घोर संसाररूपी अन्धकार का नाशक शिव ज्ञान है वे शिवयोगी माने गये हैं ॥ ३८ ॥

अथ ते कीदृशाः कथं तिष्ठन्तीत्यत्राह—

---

१. श्वे०उ० ६।१४

जितकामा जितक्रोधा मोहग्रन्थिविभेदिनः ।
समलोष्टाश्मकनकाः साधवः शिवयोगिनः ॥ ३९ ॥
समाः शत्रौ च मित्रे च साक्षात्कृतशिवात्मकाः ।
निस्पृहा निरहङ्कारा वर्तन्ते शिवयोगिनः ॥ ४० ॥

स्पष्टम् ॥ ३९-४० ॥

काम और क्रोध को जीतने वाले, मोह रूपी ग्रन्थि को तोड़ने वाले, मिट्टी के ढेले पत्थर और स्वर्ण में समान दृष्टि रखने वाले साधु शिवयोगी होते हैं । शत्रु और मित्र में सम, शिव का साक्षात्कार करने वाले जो निस्पृह और निरहङ्कार होकर व्यवहार करते हैं वे शिवयोगी हैं ॥ ३९-४०॰ ॥

एवमुक्तलक्षणज्ञानसम्पन्नाः साक्षाच्छिवा एवेत्याह—

दुर्लभं हि शिवज्ञानं दुर्लभं शिवचिन्तनम् ।
येषामेतद् द्वयं चास्ति ते हि साक्षाच्छिवात्मकाः ॥ ४१ ॥

शिवज्ञानं शिवाधिक्यज्ञानं शिवचिन्तनम् उक्तयुक्तिभिः स्वयमेव शिव इति मननं च दुर्लभम् । एतद् द्वयं येषामस्ति, ते साक्षाच्छिवरूपा इत्यर्थः ॥ ४१ ॥

शिव का ज्ञान दुर्लभ है । शिव का ध्यान दुर्लभ है । जिनके पास ये दोनों हैं वे साक्षात् शिवस्वरूप हैं ॥ ४१ ॥

अथ पुनस्तेषां महत्त्वं श्लोकद्वयेनाह—

पादाग्ररेणवो यत्र पतन्ति शिवयोगिनाम् ।
तदेव सदनं पुण्यं पावनं गृहमेधिनाम् ॥ ४२ ॥
सर्वसिद्धिकरं पुंसां दर्शनं शिवयोगिनाम् ।
स्पर्शनं पापशमनं पूजनं मुक्तिसाधनम् ॥ ४३ ॥

शिवयोगिनां जङ्गमदेवानामित्यर्थः । गृहमेधिनां गृहस्थानामित्यर्थः । पुण्यं पुण्यक्षेत्रमित्यर्थः । पावनं पवित्रम् । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ४२-४३ ॥

शिवयोगियों के पैर के अग्रभाग की धूल जहाँ गिरती है गृहस्थों का वह घर पुण्यप्रद और पवित्र हो जाता है । शिवयोगियों का दर्शन पुरुषों के लिये सर्वसिद्धिकर है । उनका स्पर्श पाप का शमन करने वाला और पूजन मुक्ति को देने वाला होता है ॥ ४२-४३ ॥

अथैवं तादृशशिवयोगिनां सम्पर्कात् सर्वेप्सितार्थसिद्धिरित्याह—

महतां शिवतात्पर्यवेदिनामनुमोदिनाम् ।

किं वा फलं न सिद्ध्येत सम्पर्कांच्छिवयोगिनाम् ॥ ४४ ॥

शिवरहस्याभिप्रायवेदिनां शिवसुखानुमोदिनां महतां सत्पुरुषाणां शिवयोगिनां जङ्गमदेवानां सम्पर्कात् किं वा फलं न सिद्ध्येत्? सर्वं सिद्ध्येदित्यर्थः ॥ ४४ ॥

शिवतात्पर्य को जानने वाले शिवस्वरूप सुख में रमण करने वाले महान शिवयोगियों के सम्पर्क से क्या-क्या फल नहीं मिलता? (अर्थात् सम्पूर्ण कामना की सिद्धि होती है) ॥ ४४ ॥

इति जङ्गममहत्त्वस्थलम्

अथ भक्तमाहात्म्यस्थलम्

अथ गुरुलिङ्गजङ्गममहत्त्वलम्पटस्य भक्तस्य महत्त्वं द्वादशसूत्रैः प्रतिपादयति—

गुरोर्लिङ्गस्य माहात्म्यकथनाच्छिवयोगिनाम् ।
सिद्धं भक्तस्य माहात्म्यं तथाप्येष प्रशस्यते ॥ ४५ ॥

गुरुलिङ्गजङ्गमेष्वेवंविधमाहात्म्यज्ञानपूर्वकं भक्तेः क्रियमाणत्वेन भक्तमाहात्म्यं सिद्धमिति । तथैवायं शास्त्रे प्रशस्यते उत्कर्षेण भण्यत इत्यर्थः ॥ ४५ ॥

यद्यपि गुरु लिङ्ग और शिवयोगियों की महिमा का वर्णन करने से भक्त का माहात्म्य सिद्ध हो जाता है तो भी इस भक्त की प्रशंसा अग्रिम श्लोकों में की जाती है ॥ ४५ ॥

अथ के भक्ता इत्यत्र—'यद्धि मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति' इति श्रुत्यर्थानुसारेण भक्तस्वरूपमाह—

ये भजन्ति महादेवं परमात्मानमव्ययम् ।
कर्मणा मनसा वाचा ते भक्ता इति कीर्तिताः ॥ ४६ ॥

हस्ताभ्यामर्चनारूपकायिकक्रियया शिवमूर्तिध्यानरूपमानसक्रियया स्तुतिरूपवाचिकक्रियया च ये परमात्मानं लिङ्गरूपिणं महादेवं भजन्ति, ते भक्ता इत्यर्थः ॥ ४६ ॥

(भक्त का लक्षण)—जो लोग अव्यय परमात्मा महादेव का मन वाणी और कर्म से भजन अर्थात् सेवा करते हैं वे भक्त कहे गये हैं ॥ ४६ ॥

शिवभक्तेर्जातिभेदोऽस्ति किमित्यत्राह—

दुर्लभा हि शिवे भक्तिः संसारभयतारिणी ।
सा यत्र वर्तते साक्षात् स भक्तः परिगीयते ॥ ४७ ॥

स्पष्टम् ॥ ४७ ॥

संसारूपी भय से पार ले जाने वाली शिवभक्ति दुर्लभ है । वह जिसके अन्दर है वह साक्षात् भक्त कहा जाता है ॥ ४७ ॥

तस्माज्जननमरणपरिपीडितानां जनानां शिवभक्तिव्यतिरेकेण केनापि सत्कर्मणा प्रयोजनं नास्तीत्याह—

किं वेदैः किं ततः शास्त्रैः किं यज्ञैः किं तपोव्रतैः ।
नास्ति चेच्छाङ्करी भक्तिर्देहिनां जन्मरोगिणाम् ॥ ४८ ॥

शास्त्रैः वेदार्थानुगैः, शिवागमसूत्रपुराणादिभिरित्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ४८ ॥

जन्मरूपी रोग से ग्रस्त देहधारी मनुष्यों के अन्दर यदि शिवभक्ति नहीं है तो (उनके द्वारा अधीत) वेद शास्त्र (तथा उनके द्वारा किये गये) यज्ञ तपस्या और व्रत से क्या लाभ? अर्थात् शिवभक्ति के विना सब व्यर्थ है ॥ ४८ ॥

अथ शिवभक्तिव्यतिरेकेण विधीयमानं सत्कर्म विफलं विपरीतफलं चेति दृष्टान्तपूर्वकमाह—

शिवभक्तिविहीनस्य सुकृतं चापि निष्फलम् ।
विपरीतफलं च स्याद् दक्षस्यापि महाध्वरे ॥ ४९ ॥

स्यात्, अभवदित्यर्थः ॥ ४९ ॥

जो शिव भक्ति से रहित है उसका पुण्य भी निष्फल होता है । दक्ष (सदृश प्रतापी) के भी महायज्ञ में (शिवभक्तिविहीन होने का) विपरीत फल[१] मिला ॥ ४९ ॥

---

१. प्रजापति दक्ष शिव जी की पूर्व पत्नी सती के पिता थे । एक बार दक्ष ने यज्ञ का आरम्भ किया । चूँकि दक्ष को अपने प्रजापति होने का अभिमान था और शिव जी उनको कभी प्रणाम नहीं किये अतः दक्ष उनसे अप्रसन्न रहा करते थे । एक बार दक्ष ने यज्ञ किया अनामन्त्रित होने पर भी सती वहाँ गयी और यज्ञ में शिव का आसन न देखकर तथा उनकी प्रतिमा को द्वारपाल की जगह रखी हुई देखकर सती ने योगाग्नि से स्वदेहंत्याग कर दिया। फलतः शिव की आज्ञा से वीरभद्र आदि ने दक्ष का यज्ञ विध्वंस कर दिया और दक्ष का शिर काट कर हवनकुण्ड में डाल दिया।

अथ शिवभक्त्या दुष्कर्मापि सत्कर्म भवेदिति दृष्टान्तपूर्वकमाह—

अत्यन्तपापकर्माऽपि शिवभक्त्या विशुद्ध्यति ।
चण्डो यथा पुरा भक्त्या पितृहाऽपि शिवोऽभवत् ॥ ५० ॥

शिव: शिवगणाधीश इत्यर्थ: । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ५० ॥

अत्यन्त पाप करने वाला भी शिवभक्ति के द्वारा शुद्ध हो जाता है । जैसे कि प्राचीन काल में पितृघाती चण्ड भी शिवभक्ति के द्वारा शिवस्वरूप हो गया ॥ ५० ॥

नन्वेवं चेत्, शिवभक्तानां पुण्यपापसम्बन्धोऽस्ति वा न वेत्यत्राह—

सुकृतं दुष्कृतं चापि शिवभक्तस्य नास्ति हि।
शिवभक्तिविहीनानां कर्मपाशनिबन्धनम् ॥ ५१ ॥

स्पष्टम् ॥ ५१ ॥

शिव भक्त के लिये न पुण्य है न पाप । कर्मपाश का बन्धन केवल शिवभक्ति से रहित (जीवों) के लिये है ॥ ५१ ॥

तत्कथमित्यत्र दृष्टान्तपूर्वकं सूत्रद्वयेनाह—

शिवाश्रितानां जन्तूनां कर्मणा नास्ति सङ्गमः।
वाजिनां दिननाथस्य कथं तिमिरजं भयम् ॥ ५२ ॥

दिननाथस्य रवेर्वाजिनामश्वानां यथान्धकारप्रयुक्तभीर्नास्ति, तथा शिवभक्तानां कर्मणा पुण्यपापमयेन कर्मणा सङ्गमः सम्बन्धो नास्तीत्यर्थः ॥ ५२ ॥

शिव के ऊपर निर्भर जीवों को कर्म का फल नहीं मिलता । सूर्य के घोड़ों को अन्धकार का भय कैसे हो सकता है? ॥.५२ ॥

निरोद्धुं न क्षमं कर्म शिवभक्तान् विशृङ्खलान् ।
कथं मत्तगजान् रुन्ध्येच्छृङ्खला बिसतन्तुजा ॥ ५३ ॥

शिवदीक्षयाऽऽणवादिमलत्रयस्य निवृत्तत्वेन विशृङ्खलान् शिवभक्तान् कर्म निरोद्धुं न क्षमं न समर्थम् । तत्र दृष्टान्तः—मृणालतन्तुनिर्मिता शृङ्खला यथा मत्तगजं न रुन्ध्येत् तथेत्यर्थः ॥ ५३ ॥

विशृङ्खल अर्थात् बन्धन से रहित शिवभक्तों को कर्म नहीं रोक सकते । मतवाले हाथी को बिसतन्तु (= कमलनाल को तोड़ने पर निकलने वाला तन्तु) की शृङ्खला कैसे बाँध सकती है? ॥ ५३ ॥

तस्माच्छिवभक्त एव पूज्य इत्याह—

ब्राह्मणः क्षत्रियो वाऽपि वैश्यो वा शूद्र एव वा।
अन्त्यजो वा शिवे भक्तः शिववन्मान्य एव सः ॥ ५४ ॥

स्पष्टम् ॥ ५४ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अथवा अन्त्यज भी यदि शिव के प्रति भक्ति रखता है तो वह शिव के ही समान मान्य है ॥ ५४ ॥

ननु शूद्रादीनां ब्राह्मणाद्यपेक्षया निकृष्टत्वात् कथं तेषां तत्समानत्वमित्यत्राह—

शिवभक्तिसमावेशे क्व जातिपरिकल्पना ।
इन्धनेष्वग्निदग्धेषु को वा भेदः प्रकीर्त्यते ॥ ५५ ॥

स्पष्टम् ॥ ५५ ॥

शिव भक्ति का समावेश हो जाने पर जाति की परिकल्पना कहाँ सम्भव हो सकती है । इन्धनों के आग में जल जाने पर अग्नि और इन्धन में अथवा इन्धन के नानाविध होने से कौन सा भेद कहा जा सकता है? ॥५५॥

तस्माच्छिवभक्ता एव गणेश्वरा इत्युक्त्वा भक्तमाहात्म्यं समापयति—

शुद्धा नियमसंयुक्ताः शिवार्पितफलागमाः ।
अर्चयन्ति शिवं लोके विज्ञेयास्ते गणेश्वराः ॥ ५६ ॥

ये शुद्धा दीक्षया परिपूता नियमसम्पन्नाः शिवव्रतिनः शिवार्पितफलागमाः तदर्पितपुण्यपापफलागमाः सन्तो लोके शिवलिङ्गमर्चयन्ति, ते 'नाशिवस्य शिवोपास्ति (र्घटते कल्पकोटिभि)', 'नारुद्रो रुद्रमर्चयेत्' **इत्यादिवचनैर्गणेश्वरा इति रुद्रा इति विज्ञेया इत्यर्थः ॥ ५६ ॥**

(दीक्षा आदि से) परिशुद्ध, नियम से बँधे हुए, अपनी अर्चना का फल शिव को अर्पित करने वाले जो लोग इस संसार में शिव का अर्चन पूजन करते हैं वे गणेश्वर होते हैं ॥ ५६ ॥

इति भक्तमाहात्म्यस्थलम्

अथ शरणमहत्त्वस्थलम्

अथ गुरुलिङ्गादिमहत्त्वं ज्ञात्वा शिव एक एव रक्षक इति प्रपद्यमानस्य

शरणस्य महत्त्वं प्रतिपादयति—

गुरुलिङ्गादिमाहात्म्यबोधान्वेषणसङ्गतः ।
सर्वात्मना शिवापत्तिः शरणस्थानमुच्यते ॥ ५७ ॥

गुरुलिङ्गशिवयोगिशिवभक्तमहत्त्वज्ञानान्वेषणसम्बन्धात् सर्वात्मना नानाप्रकारेणापि शिवापत्तिः शिव एक एव रक्षक इति प्रपन्नता शरणस्थानमित्युच्यत इत्यर्थः ॥ ५७ ॥

(शरणमहत्त्वस्थल वर्णन)—गुरु लिङ्ग आदि के माहात्म्य के ज्ञान के अन्वेषण के साथ सब प्रकार से शिव की शरण में जाना शरणस्थल कहा जाता है ॥ ५७ ॥

अथ तदेव विशदयति—

ब्रह्मादिविबुधान् सर्वान् मत्वा प्राकृतवैभवान् ।
प्रपद्यते शिवंयत्तुं शरणं तदुदाहृतम् ॥ ५८ ॥

'शिव एको ध्येयः शिवङ्करः सर्वमन्यत् परित्यज्य' **इति श्रुतेः प्राकृतवैभवान् प्रकृतिजन्यसम्पत्तिमतो ब्रह्मविष्णवादिदेवान् मुक्त्वा त्यक्त्वा शिवं यत् प्रपद्यते प्रपन्नत्वेनाश्रयते, तत् शरणं शरणस्थलमित्युदाहृतं कथितमित्यर्थः ॥ ५८ ॥**

प्रकृति के वैभव से युक्त ब्रह्मा आदि समस्त देवताओं को छोड़कर जो शिव की शरण में जाता है उसे शरण कहा गया है ॥ ५८ ॥

अथ शरणागतस्य स्वरूपं विशदयति—

शरण्यः सर्वभूतानां शङ्करः शशिशेखरः ।
सर्वात्मना प्रपन्नस्तं शरणागत उच्यते ॥ ५९ ॥

शशिशेखरः शङ्करः परमेश्वरः सर्वभूतानां सकलप्राणिनां शरण्यो रक्षणे समर्थ इति तं सर्वात्मना सर्वप्रकारेण प्रपन्नो रक्षिष्यतीति प्रपन्नः शरणागतः इत्युच्यत इत्यर्थः ॥ ५९ ॥

जिसके शिर पर चन्द्रमा है ऐसे शङ्कर समस्त प्राणियों के शरण दाता हैं। जो सर्वात्मना उनकी शरण में जाता है उसे शरणागत कहते हैं ॥ ५९ ॥

अथ शरणार्थिस्वरूपं कथयति—

विमुक्तभोगलालस्यो देवतान्तरनिस्पृहः ।
शिवमभ्यर्थयन् मोक्षं शरणार्थीति गीयते ॥ ६० ॥

विमुक्तभोगलम्पटत्ववान् ब्रह्मविष्ण्वादिपदव्यां विरक्तः सन् शिवं प्रति मोक्षमभ्यर्थयन् शरणार्थीति गीयते कथ्यत इत्यर्थः ॥ ६० ॥

जिसकी भोगलालसा खत्म हो गयी है और अन्य देवताओं के विषय में जो निःस्पृह है ऐसा व्यक्ति यदि शिव से मोक्ष की अभ्यर्थना अर्थात् याचना करता है तो वह शरणार्थी कहा जाता है ॥ ६० ॥

एवं शिवं प्रपन्नानां किमपि सत्कर्म मास्त्वित्याह—

ये प्रपन्ना महादेवं मनोवाक्कायकर्मभिः ।
तेषां तु कर्मजातेन किं वा देवतादितर्पणैः ॥ ६१ ॥

ये महादेवं शिवं मनोवाक्कायकर्मभिः ध्यानस्तुतिपूजाकर्मभी रक्षेति (रक्षिष्यतीति) प्रपन्नानां तेषां कर्मजातेन यज्ञादिकर्मसमूहेन देवप्रभृतितर्पणेन च किं वा? किमपि प्रयोजनं नास्तीत्यर्थः ॥ ६१ ॥

जो लोग मन वाणी और कर्म से महादेव की शरण में गये हैं उनको याग आदि कर्मसमूह और देवता आदि के तर्पणों से क्या लेना देना? (अर्थात् उनको कर्म आदि करने की आवश्यकता नहीं है) ॥ ६१ ॥

कुत इत्यत्र तदर्थं सूत्रद्वयेन प्रतिपादयति—

सर्वेषामपि यज्ञानां क्षयः स्वर्गः फलायते ।
अक्षयं फलमाप्नोति प्रपन्नः परमेश्वरम् ॥ ६२ ॥

अक्षयं फलं मोक्षमित्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ६२ ॥

सम्पूर्ण यज्ञों का फल स्वर्ग क्षयशील है किन्तु जो भक्त परमेश्वर की शरण में आ गया वह अक्षय फल अर्थात् शिवसायुज्य प्राप्त करता है ॥ ६२ ॥

पापिनां कथमित्यत्राह—

प्रपन्नपारिजातस्य भवस्य परमात्मनः ।
प्रपत्त्या किं न जायेत पापिनामपि देहिनाम् ॥ ६३ ॥

शरणागतकल्पद्रुमस्य परमात्मनः शिवस्य प्रपत्त्या रक्षकत्वेन प्रपत्त्या पापिनां प्राणिनामपि किं न जायेत, सर्वं भवेदित्यर्थः ॥ ६३ ॥

परमात्मा शिव प्रपन्न के लिये कल्पवृक्ष के समान हैं । ऐसे शिव के प्रति प्रपत्ति से पापी जीवों को क्या नहीं मिलता? अर्थात् सब कुछ प्राप्त हो जाता है ॥ ६३ ॥

तस्मात् शिवप्रपन्ना एव श्रेष्ठा इत्याह—

प्रपन्नानां महादेवं परिपक्वान्तरात्मनाम् ।
जन्मैव जन्म नान्येषां वृथा जननसङ्गिनाम् ॥ ६४ ॥

महादेवं प्रपद्य परिपक्वान्तःकरणानां पुंसां जन्मैव जन्मफलम्, वृथा जननभाजामप्रपन्नानां जन्म न जन्मैव न, वृथेत्यर्थः ॥ ६४ ॥

महादेव की शरण में गये हुए तथा परिशुद्ध हृदय वालों का ही जन्म जन्म है (अर्थात् सफल है) । जन्म लेने वाले अन्य लोगों का जन्म लेना व्यर्थ है ॥ ६४ ॥

अथ तदेव विशदयति—

दुर्लभं मानुषं प्राप्य जननं ज्ञानसाधनम् ।
ये न जानन्ति देवेशं तेषामात्मा निरर्थकः ॥ ६५ ॥

दुर्लभं मानुषं जननं जन्म प्राप्य ज्ञानसाधनमात्मज्ञानप्रदं देवेशं परशिवं ये न जानन्ति, तेषामात्मा जीवो निरर्थकः, अप्रयोजक इत्यर्थः ॥ ६५ ॥

ज्ञान के साधनभूत दुर्लभ मनुष्यजन्म को प्राप्त कर भी जो देवेश अर्थात् परमात्मा शिव को नहीं जानते उनका जीवन व्यर्थ है ॥ ६५ ॥

अथ 'कुलं पवित्रं जननी कृतार्था' इति सूतसंहितानुसारेण शरणमहत्त्वं प्रकाश्य तत्स्थलं समापयति—

तत्कुलं हि सदा शुद्धं सफलं तस्य जीवितम् ।
यस्य चित्तं शिवे साक्षाद् विलीनमबहिर्मुखम् ॥ ६६ ॥

यस्य चित्तं सदा साक्षाच्छिवलिङ्गे, अबहिर्मुखं बहिर्मुखं यथा न भवति तथा विलीनं विशेषेण लयं गतम्, तत्कुलं शुद्धं तस्य जीवितं जीवनं सफलमित्यर्थः ॥ ६६ ॥

जिस व्यक्ति का अवहिर्मुख मन साक्षात् शिव में विलीन हो गया उसका कुल सदा शुद्ध हो गया और उसका जीवन सफल हो गया ॥ ६६ ॥

इति शरणमहत्त्वस्थलम्

अथ प्रसादमहत्त्वस्थलम्

अथ पूर्वोक्तगुरुलिङ्गादिमहत्त्वानुभवस्थितेः शिवप्रसादलभ्यत्वात् तत्प्रसाद-महत्त्वं कथयति—

गुरुलिङ्गादिमाहात्म्यविशेषानुभवस्थितिः ।
यस्माच्छिवप्रसादात् स्यात्तदस्य महिमोच्यते ॥ ६७ ॥

गुरुलिङ्गजङ्गमशिवभक्तशिवशरणमहत्त्वविशेषानुभवस्थितिर्यस्मात् कारणात् शिवप्रसादात् स्यात्, तस्मात् कारणाद् अस्य शिवप्रसादस्य महिमा महत्त्वम् उच्यते कथ्यत इत्यर्थः ॥ ६७ ॥

जिस शिवप्रसाद के कारण गुरु लिङ्ग आदि के माहात्म्य विशेष का अनुभव होता है वही इस (शिवप्रसाद) की महिमा है ॥ ६७ ॥

ननु शिवप्रसादः कथं गुरुलिङ्गादिमहत्त्वविशेषानुभवस्थितिहेतुरित्यत्राह—

सदा लिङ्गैकनिष्ठानां गुरुपूजानुषङ्गिणाम् ।
प्रपन्नानां विशुद्धानां प्रसीदति महेश्वरः ॥ ६८ ॥

स्पष्टम् ॥ ६८ ॥

जो सदा लिङ्गार्चन में लगे हुए, गुरुपूजा में तत्पर, प्रपन्न तथा विशुद्ध हैं उनके ऊपर परमेश्वर प्रसन्न हो जाते हैं ॥ ६८ ॥

स च शिवप्रसादः कीदृशस्तेन किं भवतीत्यत्राह—

प्रसादोऽपि महेशस्य दुर्लभः परिकीर्त्यते ।
घोरसंसारसन्तापनिवृत्तिर्येन जायते ॥ ६९ ॥

इतरेषामलिङ्गिनां दुर्लभः । तेन शिवप्रसादेन भयङ्करसांसारिकतापत्रयनिवृत्तिर्जायत इत्यर्थः ॥ ६९ ॥

जिसके द्वारा घोर संसारसन्ताप की निवृत्ति हो जाती है ऐसी महेश्वर की प्रसन्नता अथवा कृपा भी दुर्लभ कही गयी है ॥ ६९ ॥

ननु—'तमेवं (तं) वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन'[१] इति श्रुतेर्यज्ञादीनां विज्ञानसाधनत्वश्रवणात् तेनैव सांसारिकदुःखनिवृत्तेः किं महेश्वरप्रसादेनेत्यत्राह—

यज्ञास्तपांसि मन्त्राणां जपश्चिन्ता प्रबोधनम् ।
प्रसादार्थं महेशस्य कीर्तितानि न संशयः ॥ ७० ॥

अत्र चिन्ता ध्यानम्, प्रबोधनं शिवाधिक्यज्ञानम् । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ७० ॥

यज्ञ, तप, मन्त्रों का जप, ध्यान, ज्ञान ये सब (साधन के रूप में)

१. बृ०उ० ४।२२

महेश्वर की प्रसन्नता के लिये कहे गये हैं, इसमें सन्देह नहीं है ॥ ७० ॥

ननु मोक्षस्य भक्तिमूलकत्वात् किं प्रसादेनेत्यत्राह—

प्रसादमूला सर्वेषां भक्तिव्यभिचारिणी ।
शिवप्रसादहीनस्य भक्तिश्चापि न सिद्ध्यति ॥ ७१ ॥

सर्वेषां समस्तजनानाम् अव्यभिचारिणी अनन्यगामिनी भक्ति: प्रसादमूला, शिवप्रसादशून्यस्य भक्तिरेव न सिद्ध्यतीत्यर्थ: ॥ ७१ ॥

सब लोगों की (शिव के) प्रसाद से उत्पन्न भक्ति अव्यभिचारिणी (अर्थात् एक निष्ठ) है । शिवप्रसाद से रहित व्यक्ति को भक्ति भी नहीं मिलती ॥ ७१ ॥

तस्मात्—

गर्भस्थो जायमानो वा जातो वा ब्राह्मणोऽथवा ।
अन्त्यजो वापि मुच्येत प्रसादे सति शाङ्करे ॥ ७२ ॥

स्पष्टम् ॥ ७२ ॥

इस कारण शिव की प्रसन्नता होने पर गर्भस्थ, उत्पन्न होता हुआ तथा उत्पन्न, ब्राह्मण अथवा चाण्डाल कोई भी हो मुक्त हो जाता है ॥ ७२ ॥

अथ ब्रह्मादयोऽपि शिवप्रसादेनैव नित्यसिद्धा इत्याह—

ब्रह्माद्या विबुधा: सर्वे स्वस्वस्थाननिवासिन: ।
नित्यसिद्धा भवन्त्येव प्रसादात् पारमेश्वरात् ॥ ७३ ॥

स्पष्टम् ॥ ७३ ॥

ब्रह्मा आदि समस्त देवगण परमेश्वर के प्रसाद से ही अपने-अपने पदों पर रहते हुए नित्य सिद्ध हैं ॥ ७३ ॥

ननु सर्वशिवात्मकज्ञानेनैव सांसारिकदु:खनिवृत्ते: किं प्रसादेनेत्यत्र—

भोक्ता भोग्यं प्रेरयिता भोगोपकरणानि च ।
सर्वं शिवमयं भाति प्रसादात् पारमेश्वरात् ॥

इति सूतसंहितावचनानुसारेणाह—

प्रसादे शाम्भवे सिद्धे परमानन्दकारणे ।
सर्वं शिवमयं विश्वं दृश्यते नात्र संशय: ॥ ७४ ॥

स्पष्टम् ॥ ७४ ॥

परम आनन्द के हेतुभूत शाम्भव प्रसाद के सिद्ध (अर्थात् प्राप्त) होने पर सम्पूर्ण संसार शिवमय दिखायी देता है, इसमें सन्देह नहीं ॥ ७४ ॥

अथ शिवप्रसादमहत्त्वं पुनः सूत्रद्वयेन कथयति—

संसारचक्रनिर्वाहनिमित्तं कर्म केवलम् ।
प्रसादेन विना शम्भोर्न कस्यापि निवर्तते ॥ ७५ ॥

संसारचक्रनिर्वाहकारणं कर्मैव, तद् यज्ञादिना न नश्यति, तस्यापि कर्मरूपत्वेन पुनः परिपोषकत्वात् । तस्मात् कस्यापि शिवप्रसादेन विना कर्म न नश्यतीति भावः ॥ ७५ ॥

कर्म केवल संसारचक्र के परिभ्रमण का कारण है । विना शिव के प्रसाद के किसी का भी यह कर्म नष्ट नहीं होता ॥ ७५ ॥

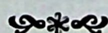
बहुनात्र किमुक्तेन नास्ति नास्ति जगत्त्रये ।
समानमधिकं चापि प्रसादस्य महेशितुः ॥ ७६ ॥

स्पष्टम् ॥ ७६ ॥

इस विषय में अधिक कहने से क्या लाभ? महेश्वर के प्रसाद से अधिक या इसके समान तीनों लोकों में कुछ भी नहीं है ॥ ७६ ॥

शिवप्रसादे सति योगभाजि
सर्वं शिवैकात्मतया विभाति ।
स्वकर्ममुक्तः शिवभावितात्मा
स प्राणलिङ्गीति निगद्यतेऽसौ ॥ ७७ ॥

इति श्रीमत्षट्स्थलब्रह्मिणा शिवयोगिनाम्ना रेणुकाचार्येण प्रणीते सिद्धान्तशिखामणौ प्रसादिनः सप्तविधस्थलप्रसङ्गो नामैकादशः परिच्छेदः ॥ ११ ॥



योगभाजि स्वरूपहानिवृद्धिव्यतिरेकेण सजातीयसमरसशिवयोगवति शिवप्रसादे सति सिद्धे सति सर्वं विश्वं कृत्स्नं जगत् शिवैकात्मतया शिवाभेदेन विभाति । तस्मात् शिवभावितात्मा शिवाभेदेन भावितस्वरूपवान् सोऽसौ प्रसादी स्वकर्ममुक्तः कर्मणोऽपि शिवमयत्वेन स्वस्वरूपतयाऽप्रतिबन्धकत्वात् स्वकर्मपाशविनिर्मुक्तः सन् प्राणलिङ्गीति निगद्यते कथ्यत इत्यर्थः ॥ ७७ ॥

इति श्रीमत्पदवाक्यप्रमाणपारावारधुरीणश्रीमरितोण्टदार्येण विरचितायां तत्त्वप्रदीपिकाख्यायां सिद्धान्तशिखामणिव्याख्यायां प्रसादिनः सप्तविधप्रसङ्गो नामैकादशः परिच्छेदः ॥ ११ ॥

शिवप्रसाद से युक्त होने पर सब कुछ शिवमय प्रतीत होता है । जो मनुष्य शिव-भावनामय है वह अपने कर्म से मुक्त होकर प्राणलिङ्गी कहा जाता है ॥ ७७ ॥

इस प्रकार श्रीसिद्धान्तशिखामणि के प्रसादी के सप्तविध स्थल नामक एकादश परिच्छेद की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदीकृत 'ज्ञानवती' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ११ ॥

द्वादशः परिच्छेदः

अथ प्राणलिङ्गिस्थलम्

अगस्त्य उवाच

भक्तो माहेश्वरश्चेति प्रसादीति निबोधितः ।
एक एव कथं चैष प्राणलिङ्गीति कथ्यते ॥ १ ॥

एक एव भक्तो माहेश्वरः प्रसादीति निबोधितः । एष च कथं केन प्रकारेण प्राणलिङ्गीति कथ्यत इति प्रश्नार्थः ॥ १ ॥

(प्राणलिङ्गीस्थल वर्णन)—अगस्त्य ने कहा—एक ही व्यक्ति भक्त माहेश्वर और प्रसादी होता है यह (आपने मुझे) बतलाया । वही प्रसादी 'प्राणलिङ्गी' कैसे कहा जाता है ॥ १ ॥

श्रीरेणुक उवाच

भक्तो माहेश्वरश्चैष प्रसादीति च कीर्तितः ।
कर्मप्राधान्ययोगेन ज्ञानयोगोऽस्य कथ्यते ॥ २ ॥

एष अयं शिवलिङ्गदीक्षासम्पन्नः कर्मप्रधान्ययोगेन एवंरूपकर्मकाण्डोक्त-क्रियाप्रधानयोगेन भक्त इति, माहेश्वर इति, प्रसादीति कीर्तितः । अस्य एवंविधरूपत्रयसम्पन्नस्य ज्ञानयोगो ज्ञानकाण्डोक्तज्ञानयोगः कथ्यते । अनेन ज्ञानयोगेन प्रसाद्येव प्राणलिङ्गीत्युच्यत इत्यर्थः ॥ २ ॥

श्री रेणुकाचार्य ने कहा—(एक ही मनुष्य) जो भक्त माहेश्वर और प्रसादी कहा जाता है वह कर्मप्राधान्य के कारण । (अब) इस (प्रसादी) का ज्ञानयोग कहा जा रहा है अर्थात् ज्ञानयोग के कारण ही प्रसादी प्राणलिङ्गी कहा जाता है ॥ २ ॥

अथ कोऽयं प्राणलिङ्गीत्यत्र—

सर्वतत्त्वमयः प्राणः सर्वज्ञानमयः शिवः ।
अनयोर्योगमेवैतत् प्राणलिङ्गमिहोच्यते ॥

इति वीरागमोक्तरूपप्राणलिङ्गवान् प्राणलिङ्गीत्याह—

लिङ्गं चिदात्मकं ब्रह्म तच्छक्तिः प्राणरूपिणी ।
तद्रूपलिङ्गविज्ञानी प्राणलिङ्गीति कथ्यते ॥ ३ ॥

चिद्रूपं ब्रह्मैव शिवलिङ्गम्, तच्छक्तिः शिवलिङ्गपीठशक्तिः प्राणरूपिणी प्रणवात्मप्राणस्वरूपवती, प्रणवस्य वेद्यसंस्कारलक्षणबिन्दुघटितत्वात्, चित्क्रियासामरस्यलक्षणोन्मेषशक्तिघटितत्वाच्च सर्वतत्त्वमयत्वमुक्तम् । तद्रूपलिङ्गविज्ञानी तत्प्रकारकलिङ्गज्ञानवान् प्राणलिङ्गीति कथ्यत इत्यर्थः ॥ ३ ॥

चित्स्वरूप ब्रह्म लिङ्ग है । उसकी शक्ति प्राण है । इस रूप वाले लिङ्ग के विशेष रूप से जानने वाला प्राणलिङ्गी कहा जाता है ॥ ३ ॥

अथास्यापि स्थलभेदाः सन्ति किमित्यत्राह—

प्राणलिङ्गिस्थलं चैतत् पञ्चस्थलसमन्वितम् ।
प्राणलिङ्गिस्थलं चादौ प्राणलिङ्गार्चनं ततः ॥ ४ ॥
शिवयोगसमाधिश्च ततो लिङ्गनिजस्थलम् ।
अङ्गलिङ्गिस्थलं चाथ क्रमादेषां भिदोच्यते ॥ ५ ॥

स्पष्टम् ॥ ४-५ ॥

यह प्राणलिङ्गी स्थल पाँच स्थलों से युक्त है । पहले प्राणलिङ्गी स्थल उसके बाद प्राणलिङ्गार्चन फिर शिवयोगसमाधि तत्पश्चात् निजलिङ्ग स्थल और अन्त में अङ्गलिङ्गि स्थल है । अब क्रमशः इनका भेद बतलाया जा रहा है ॥ ४-५ ॥

'अथ प्राणेष्वन्तर्मनसो लिङ्गमाहुः', 'ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति । मध्ये वामनमासीनं विश्वेदेवा उपासते ॥'[१] **इत्यथर्वशिरःकठवल्लीश्रुत्यनुसारेण प्राणिलिङ्गिस्थलं पञ्चभिः सूत्रैः प्रतिपादयति—**

प्राणापानसमाघातात् कन्दमध्यात्तदुत्थितम् ।
प्राणलिङ्गं तदाख्यातं प्राणापाननिरोधिभिः ॥ ६ ॥

प्राणापानसमाघाताद् देशिकोपदेशेन प्राणापानवायुसङ्घट्टने सति

---

१. कठोप० २।६।३

कन्दमध्याद् नाभिकन्दमध्याद् यज्ज्योतिरुत्थितम् उद्भूतं भवति, तत् तज्ज्योति: प्राणलिङ्गमिति प्राणापानवायुनिरोधवद्भि: शिवयोगिभिराख्यातं कथितमित्यर्थ: ॥ ६ ॥

प्राण और अपान के परस्पर आघात से कन्द के मध्य से जो (ज्योती) उठती है। प्राण एवं अपान का निरोध करने वाले योगी लोग उसे प्राणलिङ्ग कहते हैं ॥ ६ ॥

नन्विदं केन विज्ञातमित्यत्राह—

प्राणो यत्र लयं याति भास्करे तुहिनं यथा ।
तत्प्राणलिङ्गमुद्दिष्टं तद्धारी स्यात् तदाकृति: ॥ ७ ॥

प्राण: प्राणवायु:, यत्र यस्मिन् परब्रह्ममयशिवलिङ्गे लयं भास्करे तुहिनमिव याति, तस्मात् प्राणलिङ्गमित्युद्दिष्टमुपदिष्टम्, तद्धारी तत्परामर्शी तदाकृति: तत्स्वरूप: स्यादित्यर्थ: । देशकालाद्यचुम्बितत्वेन सामान्याकारेण भासमानचिदहन्तैव प्राणलिङ्गमिति भाव: ॥ ७ ॥

जिस प्रकार तुहिन अर्थात् पाला सूर्य में लीन हो जाता है उस प्रकार जिसके प्राण परब्रह्म मयशिवलिङ्ग में लीन हो जाता है वह प्राणलिङ्ग कहा गया है। उसका धारण करने वाला तद्रूप अर्थात् प्राणलिङ्गी हो जाता है ॥ ७ ॥

अथ तल्लिङ्गं केषां स्फुरतीत्यत्राह—

ज्ञानिनां योगयुक्तानामन्त: स्फुरति दीपवत् ।
चिदाकारं परब्रह्मलिङ्गमज्ञैर्न भाव्यते ॥ ८ ॥

चिदाकारं स्फुरणं परब्रह्मलिङ्गं परब्रह्ममयप्राणलिङ्गं योगयुक्तानां शिवयोगयुक्तानां ज्ञानिनां शिवज्ञानिनाम् अन्त: हृदयकमले दीपवत् स्फुरति प्रकाशते, अज्ञै: गुरूपदेशरहितै: प्राकृतैर्न भाव्यते न हृदयङ्गमीक्रियते । हृदये वै ब्रह्म सोमसूर्याग्निमण्डले निवातदीपोपमस्थायि, 'हृद्यन्तर्ज्योति: पुरुष:'[१] इत्याद्युपनिषत्प्रसिद्धम् ॥ ८ ॥

चिदाकार परब्रह्म ज्ञानियों और शिव योगियों (अथवा शिव योग समन्वित ज्ञानियों) के अन्दर दीपक की भाँति चमकता रहता है। अज्ञानी जन उसको नहीं जान पाते ॥ ८ ॥

---

१. बृ०उ० ४।३।७

अथैतादृशप्राणलिङ्गं विहाय बाह्यलिङ्गनिष्ठा मूढा इत्याह—

अन्तःस्थितं परं लिङ्गं ज्योतीरूपं शिवात्मकम् ।
विहाय बाह्यलिङ्गस्था विमूढा इति कीर्तिताः ॥ ९ ॥

अत्र बाह्यलिङ्गमिष्टलिङ्गातिरिक्तप्राकृतलिङ्गपरम्, इष्टलिङ्गस्य चिदानन्दघनत्वेनान्तरत्वादिति भावः ॥ ९ ॥

शिवात्मक ज्योतिरूप तथा अपने अन्दर स्थित उत्कृष्ट लिङ्ग को छोड़कर बाह्य लिङ्ग में आस्था रखने वाले मूर्ख कहे गये हैं ॥ ९ ॥

तस्माद् बाह्यलिङ्गविमुखः सन् चिल्लिङ्गपरामर्श्येव प्राणलिङ्गीत्याह—

संविल्लिङ्गपरामर्शी बाह्यवस्तुपराङ्मुखः ।
यः सदा वर्तते योगी प्राणलिङ्गी स उच्यते ॥ १० ॥

बाह्यवस्तुशब्देन बाह्यलिङ्गं तत्पूजासाधनीभूतद्रव्यं च कथ्यते । तत्र विमुखः सन् सदा निरन्तरं संविल्लिङ्गपरामर्शी अभ्यन्तरे चिद्रूपप्राणलिङ्गविचारवान् यः शिवयोगी वर्तते, स शिवयोगी प्राणलिङ्गीति कथ्यत इत्यर्थः ॥ १० ॥

जो संवित्‌रूपी लिङ्ग का बार-बार ध्यान करता है तथा बाह्य वस्तु से पराङ्मुख होकर व्यवहार करता है वह योगी प्राणलिङ्गी कहा जाता है ॥ १० ॥

ननु बाह्यलिङ्गादौ वैमुख्यं किंनिबन्धनमित्यत्राह—

मायाविकल्पजं विश्वं हेयं सञ्चिन्त्य नित्यशः ।
चिदानन्दमये लिङ्गे विलीनः प्राणलिङ्गवान् ॥ ११ ॥

विश्वं मायाविकल्पजं मायिकगुणभेदसञ्जातमिति हेयं त्यजनीयमिति सञ्चिन्त्य सम्यग् विभाव्य नित्यशः सदा चिदानन्दमये सच्चिदानन्दरूपे लिङ्गे प्राणलिङ्गे विलीनो मनोलयवान् प्राणलिङ्गी प्राणलिङ्गवानिति कथ्यत इत्यर्थः ॥ ११ ॥

प्रतिदिन विश्व को मायाविकल्पों से उत्पन्न समझता हुआ चिदानन्दमय लिङ्ग में सदा लीन रहने वाला प्राणलिङ्गी होता है ॥ ११ ॥

ननु चिल्लिङ्गस्य नादबिन्दुकलातीतत्वात् प्राणस्य नादबिन्दुकलारूपत्वात् कथं तस्य पीठरूपत्वं सम्भवतीति शङ्कां शमयन् प्राणलिङ्गिस्थलं समापयति—

सत्ता प्राणमयी शक्तिः सद्रूपं प्राणलिङ्गकम् ।
तत्सामरस्यविज्ञानात् प्राणलिङ्गीति कथ्यते ॥ १२ ॥

सतो भावः सत्तेति, अस्मीत्युत्तमपुरुषान्तर्गतस्फूर्तिरिव चिल्लिङ्गस्य प्राणमयी जीवनभूता शक्तिः, तादृशस्फुरणाभावे जडत्वप्रसङ्गात्, सद्रूपं तादृशस्फुरणवदुत्तमपुरुषमयं प्राणलिङ्गमित्यर्थः । तत्सामरस्यविज्ञानात् तयोः शिवशक्त्योरन्योन्यसामरस्यविज्ञानात् प्राणलिङ्गीति कथ्यत इत्यर्थः ॥ १२ ॥

('मैं हूँ' इस प्रकार का अनुभव करने वाली) सत्ता ही प्राणमयी शक्ति है। प्राणलिङ्ग (= शिव) भी सद्रूप है (इस प्रकार सत्तारूपी शक्ति और प्राणरूपी शिव) इन दोनों के सामरस्य का विज्ञानी प्राणलिङ्गी कहा जाता है ॥ १२ ॥

इति प्राणलिङ्गिस्थलम्

अथ प्राणलिङ्गार्चनस्थलम्

अथ प्राणलिङ्गिना विधीयमानसकलयोगशास्त्रप्रसिद्धप्राणलिङ्गार्चनप्रकारं सप्तभिः सूत्रैः प्रतिपादयति—

अन्तर्गतं चिदाकारं लिङ्गं शिवमयं परम् ।
पूज्यते भावपुष्पैर्यत् प्राणलिङ्गार्चनं हि तत् ॥ १३ ॥

हृत्कमलगतं चिदाकारं घटस्य कम्बुग्रीवादिमत्त्वमिव चित्स्फुरणमाकारं स्वरूपं यस्य तादृशं परं सर्वोत्कृष्टं यत् शिवमयं लिङ्गं शिवस्वरूपविश्वप्राणलिङ्गं भावपुष्पैरन्तःकरणवृत्तिविशेषैः पूज्यते, तत् प्राणलिङ्गार्चनमिति हि प्रसिद्धमित्यर्थः ॥ १३ ॥

(प्राणलिङ्गार्चनस्थल वर्णन)—(हृदयकमल के) अन्दर जो चित्स्वरूप शिवमय उत्तम लिङ्ग है उसकी जो भावनात्मक पुष्पों से पूजा की जाती है वह प्राणलिङ्गार्चन है ॥ १३ ॥

अथ कुत्र पूजनीयमित्यत्र प्राणलिङ्गाश्रयभूतोर्ध्वहृत्कमलं वर्णयित्वा भावपुष्पैः पूजनीयमित्याह—

अन्तःपवनसंस्पृष्टे सुसूक्ष्माम्बरशोभिते ।
मूर्धन्यचन्द्रविगलत्सुधासेकातिशीतले ॥ १४ ॥
बद्धेन्द्रियनवद्वारे बोधदीपे हृदालये ।
पद्मपीठे समासीनं चिल्लिङ्गं शिवविग्रहम् ।
भावयित्वा सदाकालं पूजयेद् भावस्तुभिः ॥ १५ ॥

अन्तःपवनसंस्पृष्टे प्राणवायुव्याप्ते सुसूक्ष्माम्बरशोभिते अतिसूक्ष्माकाशविलसिते ब्रह्मरन्ध्रगतपूर्णचन्द्रमण्डलस्रवत्सुधासेकेनातिशीतले प्रतिबद्धश्रोत्रादि-

पञ्चेद्रियनवद्वारे शिवज्ञानप्रदीपे ऊर्ध्वहृदयसदने पद्मपीठे द्वादशदलकमलकर्णिकायां समासीनं विद्यमानं शिवविग्रहं मङ्गलमूर्ति चिल्लिङ्गं प्राणलिङ्गं भावयित्वा गुरूपदिष्टप्रकारेण ध्यात्वा भाववस्तुभिर्मानसिकपदार्थैः सदा पूजयेदित्यर्थः ॥ १४-१५ ॥

अन्तःपवन (अर्थात् प्राणवायु) से संस्पृष्ट सूक्ष्म आकाश से सुशोभित सहस्रार में स्थित चन्द्रमा से द्रवित होने वाले अमृत के सिञ्चन से शीतल, बद्ध नव इन्द्रिय रूपी द्वार वाले, बोधदीप से युक्त हृदय के अन्दर कमल पर विराजमान चित्स्वरूप शिव की भावना कर सब समय उनकी भाव वस्तुओं[1] से पूजा करनी चाहिये ॥ १४-१५ ॥

अथ तानि वस्तूनि कानीत्यत्राह—

क्षमाऽभिषेकसलिलं विवेको वस्त्रमुच्यते ।
सत्यमाभरणं प्रोक्तं वैराग्यं पुष्पमालिका ॥ १६ ॥
गन्धः समाधिसम्पत्तिरक्षता निरहङ्कृतिः ।
श्रद्धा धूपो महाज्ञानं जगद्भासि प्रदीपिका ॥ १७ ॥
भ्रान्तिमूलप्रपञ्चस्य निवेद्यं तन्निवेदनम् ।
मौनं घण्टापरिस्पन्दस्ताम्बूलं विषयार्पणम् ॥ १८ ॥
विषयभ्रान्तिराहित्यं तत्प्रदक्षिणकल्पना ।
बुद्धेस्तदात्मिका शक्तिर्नमस्कारक्रिया मता ॥ १९ ॥
एवंविधैर्भावशुद्धैरुपचारैरदूषितैः ।
प्रत्युन्मुखमना भूत्वा पूजयेल्लिङ्गमान्तरम् ॥ २० ॥

क्षमैवाभिषेकोदकम्, नित्यानित्यवस्तुविवेक एव वसनम्, सत्यमननृतवचनमाभरणम्, वैराग्यम् इहामुत्रफलभोगविराग एव कुसुममालिका, चित्तैकाग्रतैव गन्धः, निरहङ्कार एवाक्षताः, विश्वास एव धूपः, विश्वप्रकाशकं महाज्ञानं दीपः । अत्र भ्रान्तिशब्देनाज्ञानं लक्ष्यते, नाहमीश्वर इत्यज्ञानस्य

---

१. तुलनीय—

रत्नैः कल्पितमासनं हिमजलैः स्नानं च दिव्याम्बरं
नानारत्नविभूषितं मृगमदामोदाङ्कितं चन्दनम् ।
जाती चम्पकबिल्वपत्ररचितं पुष्पं च धूपं तथा
दीपं देव दयानिधे पशुपते हृत्कल्पितं गृह्यताम् ॥ शि०मा०पू०

मूलप्रपञ्चस्य शरीराद्यहङ्कारवर्गस्य यन्निवेदनं तन्नैवेद्यम्, मौनं घण्टानादः, तस्य अनाहतनादानुसन्धानहेतुत्वात् । विषयाणां मातृमानमेयात्मकानां फेनादेस्तरङ्गद्वारा समुद्रैकलोलीभाव इव मेयं माने मानं मातरि तं परमप्रमातरि ज्योतिर्लिङ्गे लयचिन्तनमेव पूगपर्णचूर्णात्मकताम्बूलसमर्पणमित्यर्थः । विषयाणां शब्दादीनां शिवापेक्षया भेदभ्रान्तिराहित्यं प्रदक्षिणम्, बुद्धेस्तदात्मिका लिङ्गरूपता शक्तिः सामर्थ्यं बुद्धिवृत्तेर्लिङ्गे लय इत्यर्थः, स च नमस्कारः । एवंविधैर्भावशुद्धैरनिन्दितैरुपचारैरबहिर्मुखमनाः सन् आन्तरं चिंल्लिङ्गं प्राणलिङ्गं पूजयेदित्यर्थः ॥ १६-२० ॥

(इस पूजा में) क्षमा अभिषेक जल, विवेक वस्त्र, सत्य अलङ्कार, वैराग्य पुष्पमाला, समाधि गन्ध, निरहङ्कारता अक्षत, श्रद्धा धूप, महाज्ञान जगद्भासक दीप, मूलप्रपञ्च का भ्रम नैवेद्य, मौन घण्टा का बजना, कामक्रोध आदि विषयों का समर्पण ताम्बूल, विषय भ्रम का दूर हो जाना प्रदक्षिणा, बुद्धिवृत्ति का लिङ्ग में लय होना नमस्कार कहा गया है । इस प्रकार के दोषरहित भावशुद्ध पूजासाधनों के द्वारा अन्तर्मुखी होकर आन्तर (अर्थात् हृदय में वर्त्तमान चित्स्वरूप) शिवलिङ्ग की पूजा करनी चाहिये ॥ १६-२० ॥

इति प्राणलिङ्गार्चनस्थलम्

अथ शिवयोगसमाधिस्थलम्

अथ 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'[१] इति योगसूत्रानुसारेण प्राणलिङ्गार्चनलभ्यशिवयोगसमाधिस्थलं निरूपयति—

अन्तःक्रियारतस्यास्य प्राणलिङ्गार्चनक्रमैः ।
शिवात्मध्यानसम्पत्तिः समाधिरिति कथ्यते ॥ २१ ॥

प्राणलिङ्गार्चनक्रमैः पूर्वोक्तप्राणलिङ्गार्चनप्रकारैः, अन्तरङ्गक्रियातत्परस्यास्य प्राणलिङ्गिनः शिवात्मध्यानसम्पत्तिः लिङ्गाङ्गरूपशिवजीवसमानसामरस्यानुसन्धानसम्पत्तिरेव समाधिरित्यर्थः ॥ २१ ॥

(शिवयोग समाधिस्थल वर्णन)—प्राणलिङ्गार्चन के क्रम से आभ्यन्तर पूजा में निरत इस (प्राणलिङ्गी) को जो शिवध्यान की सम्पत्ति की प्राप्ति होती है वह समाधि कही जाती है ॥ २१ ॥

तत्कथमित्यत्र—'योऽसावसौ पुरुषः सोऽहम्' इति श्रुत्यनुसारेणाजपा-

---

१. पा०यो०सू० १।२

गायत्रीरूपशिवयोगेन समाधिं कथयति—

सर्वतत्त्वोपरिगतं सच्चिदानन्दभासुरम् ।
स्वप्रकाशमनिर्देश्यमवाङ्मानसगोचरम् ॥ २२ ॥
उमाख्ययामहाशक्त्या दीपितं चित्स्वरूपया ।
हंसरूपं परात्मानं सोऽहंभावेन भावयेत् ।
तदेकतानतासिद्धिः समाधिः परमो मतः ॥ २३ ॥

सर्वतत्त्वोपरिगतं भूम्यादिशिवान्तषट्त्रिंशत्तत्त्वोत्तीर्णत्वेन विद्यमानं सच्चिदानन्दरूपेण प्रकाशमानम्, 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'[१] **इति श्रुतेर्वाङ्मनोमार्गातीतम् अत एवेदमेतादृगिति लक्षितुमशक्यं प्रत्यक्षादिमानान्तरागम्यं शुक्लपटन्यायेन स्वसमवेतस्फुरणरूपोमाख्यमहाशक्तिप्रदीपितं हंसरूपं परमात्मानं सोऽहंभावेन स एवाहमिति भावेन भावयेत् । तदेकतानतासिद्धिः तयोर्जीवेश्वरयोरेकत्वसिद्धिः, परमः समाधिः उत्कृष्टसमाधिरिति मतं सम्मतमित्यर्थः । तच्छब्दवाच्यस्य षडध्वोत्तीर्णत्वेन सूतसंहितोक्तेः, अकारादिहकारान्तवर्णाध्वपाशबद्धस्य जीवात्मनश्च** 'अहमस्मि प्रथमजा'[२] **इति,** 'अहमादिर्हि देवानाम्'[३], 'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते'[४] **इत्यादिप्रमाणबलात्** 'अकारः शिव आख्यातो हकारः शक्तिरुच्यते'[५] **इति वक्ष्यमाणप्रकारेण षडध्वकारणीभूतानाहतनादलक्षणपरावाक्शक्तिमयास्मद्रूपसमाविष्टात्मकत्वानतिरिक्तत्वेन तादात्म्यचिन्तनं समाधिरिति भावः ॥ २२-२३ ॥**

(पृथिवी आदि) समस्त छत्तीस तत्त्वों से परे, सत् चित् आनन्द के रूप में देदीप्यमान, स्वप्रकाश, अनिर्देश्य, वाणी और मन की सीमा से परे, चित्स्वरूप उमा नामक महाशक्ति से दीपित हंसरूप परमात्मा की सोऽहं भाव (अर्थात् मैं वह हूँ, वह मैं है इस प्रकार के भाव) से भावना करनी चाहिये । ऐसी भावना का एकतान होना (अर्थात् बीच में किसी अन्य विचार का न आना) परम समाधि कही गयी है ॥ २२-२३ ॥

अथ—

प्राणरूप इह जीव उच्यते लिङ्गरूप इति शङ्करः स्मृतः ।
यस्तदैक्यमिति वेदितानयोः प्राणिलिङ्गविदसौ शिवयोगी ॥

---

१. तै०उ० २।४।१	२. तै०उ० ३।१०.६
३. भ०गी० १०।२	४. भ०गी० १०।८
५. सि०शि० २०।३९

इति शङ्करसंहितावचनानुसारेण समाधिस्थस्य लक्षणमाह—

परब्रह्म महालिङ्गं प्राणो जीवः प्रकीर्तितः ।
तदेकभावमननात् समाधिस्थः प्रकीर्तितः ॥ २४ ॥

महालिङ्गमेव परब्रह्म परब्रह्माख्यपरशिवतत्त्वमिति प्रोक्तम्, 'प्राणारूढो भवेज्जीवः' इत्यागमोक्तेः प्राणः प्राण एव जीव इति प्रोक्तः । तदेकभावमननाद् लिङ्गप्राणमधिकृत्य विद्यमानयोर्लिङ्गाङ्गिनोः शिवजीवयोः समानसमरसैक्य-चिन्तावान् समाधिस्थः शिवयोगसमाधिनिष्ठ इति प्रकीर्तित इत्यर्थः ॥ २४ ॥

महालिङ्ग को परमब्रह्म और प्राण को जीव कहा गया है । उन दोनों को एक और अभिन्न समझने वाला समाधिस्थ कहा गया है ॥ २४ ॥

अथ 'गुदमवष्टभ्याधराद्वायुमुत्थाप्य स्वाधिष्ठानं त्रिः प्रदक्षिणीकृत्य मणिपूरकं गत्वा अनाहतमतिक्रम्य विशुद्धौ प्राणलिङ्गं निरुध्य आज्ञामनुध्यायन् ब्रह्मरन्ध्रं ध्यायन् त्रिमात्रोऽहमिति सर्वदा ध्यायेत्'[1] इति हंसोपनिषद्वचनानुसारेण सकलसमाधिं प्रकाशयति—

अन्तः षट्चक्ररूढानि पङ्कजानि विभावयेत् ।
ब्रह्मादिस्थानभूतानि भ्रूमध्यान्तानि मूलतः ॥ २५ ॥
भ्रूमध्यादूर्ध्वभागे तु सहस्रदलमम्बुजम् ।
भावयेत्तत्र विमलं चन्द्रबिम्बं तदन्तरे ॥ २६ ॥
सूक्ष्मरन्ध्रंविजानीयात् तत्कैलासपदं विदुः ।
तत्रस्थं भावयेच्छम्भुं सर्वकारणकारणम् ॥ २७ ॥

अन्तः जीवेश्वराश्रयीभूतसूक्ष्मशरीरमध्ये, षट्चक्ररूढानि षट्चक्रोत्पन्नानि पङ्कजानि षट्कमलानि मूलत आधारमारभ्य भ्रूमध्यान्तानि आज्ञाचक्रान्तानि ब्रह्मादिस्थानभूतानि भावयेद् गुरूपदिष्टप्रकारेण चिन्तयेत् । भ्रूमध्यादूर्ध्वभागे तु ब्रह्मरन्ध्र इत्यर्थः, सहस्रदलमम्बुजं सहस्रशक्तिदलालङ्कृतकमलं भावयेत् । तत्र तत्कमलमध्ये विमलं निर्मलं चन्द्रबिम्बं सोममण्डलं भावयेत् । एतदन्तरे तच्चन्द्रमण्डलमध्ये सूक्ष्मरन्ध्रं वालाग्रसमानातिसूक्ष्मरन्ध्रं विजानीयात् उपदेशाज्जानीयात् । तत् तत्सूक्ष्मरन्ध्रं कैलासपदं कैलासस्थानं सद् विदुः शास्त्रज्ञा जानीयुः । तत्रस्थं शम्भुं शिवं सर्वकारणकारणं ब्रह्मादिकारणेशाना-मपि कारणीभूतं सन्तं भावयेत् स्वात्माभेदेन ध्यायेदित्यर्थः ॥ २५-२७ ॥

---

१. हंसो० ४

(साधक अपने) अन्दर छह चक्रों[१] पर स्थित छह कमलों की भावना करे। ये मूलाधार से लेकर भ्रूमध्य तक स्थित हैं तथा ब्रह्मा आदि के स्थान हैं ।[२] भ्रूमध्य के ऊपरी भाग में सहस्रदल कमल की भावना करे । उसके भीतर चन्द्रबिम्ब का ध्यान करे । उस चन्द्र के अन्दर सूक्ष्म छिद्र की भावना करे । इस सूक्ष्मरन्ध्र को कैलास कहा गया है । उस पर समस्त कारणों के कारण शिव बैठे हैं—ऐसी भावना करनी चाहिये ॥ २५-२७ ॥

अथाधारस्वाधिष्ठानगतपृथ्वीजलसङ्घट्टेन मणिपूरकाख्यनाभिकन्दमुत्पत्य तदनुद्भूतानाहताख्यहृदयद्वादशदलकमले तपिन्यादिद्वादशकलायुक्तसूर्यमण्डलं भाति । तदुपरि षोडशदलयुक्तविशुद्धिकमले अमृतादिषोडशकलायुक्तचन्द्र-मण्डलं विभाति । तदुपरि द्विदलयुक्ताज्ञाचक्रे ज्वलिन्यादिदशकलात्मकवह्नि-मण्डलं प्रकाशते । तदुपरि सहस्रदलालङ्कृतब्रह्मचक्रे तदष्टात्रिंशत्कलोपेत-कुण्डलीमण्डलोपरि लिङ्गाङ्गसमारस्यलक्षणशिवयोगसमाधिसम्पन्नस्य प्राण-लिङ्गिनः शिवानन्दव्यतिरेकेण मायिकसुखानुभवो नास्तीति सूत्रद्वयेनाह—

बहिर्वासनया विश्वं विकल्पार्थं प्रकाशते ।
अन्तर्वासितचित्तानामात्मानन्दः प्रकाशते ॥ २८ ॥

इदमिति बहिर्मुखेन संस्कारेण सर्वं जगत् सङ्कल्पविकल्पार्थं प्रकाशते । अहमित्यन्तर्मुखे परिमिलितचित्तानाम् आत्मानन्दः शिवानन्द एव प्रकाशत इत्यर्थः ॥ २८ ॥

बहिर्वासना के कारण विकल्पात्मक विषयों वाला विश्व प्रकाशित होता है। जिनके चित्त अन्तर्मुखी हैं उनको आत्मानन्द का साक्षात्कार होता है ॥ २८ ॥

ननु बहिर्वासना कथं गच्छतीति तत्राह—

आत्मारणिसमुत्थेन प्रमोदमथनात् सुधीः ।
ज्ञानाग्निना दहेत् सर्वं पाशजालं जगन्मयम् ॥ २९ ॥

---

१. मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, शाकिनी और आज्ञा ये छह चक्र हैं ।

२. ब्रह्मा आदि का स्थान इस प्रकार है—१. मूलाधार—ब्रह्मा, २. स्वाधिष्ठाम—विष्णु, ३. मणिपूर—रुद्र, ४. अनाहत—ईश्वर, ५. शाकिनी—सदाशिव, ६. आज्ञा—शिव + शक्ति । सहस्रार में शिव और शक्ति का यामलरूप विद्यमान है ।

सुधीः प्राणलिङ्गी प्रमोदमथनात् शिवसुखस्य विचाराद् आत्मारणिसमुत्थेन ज्ञानाग्निना शिवाभेदज्ञानाग्निना सर्वं जगन्मयं मलमायादिपाशसमूहं दहेद् भस्मीकुर्यादित्यर्थः ॥ २९ ॥

विद्वान् को चाहिये कि वह प्रमोदरूपी (अर्थात् शिवानन्दरूपी) विचार-मन्थन के द्वारा आत्मारूपी[1] अरणि से उत्पन्न ज्ञानरूपी अग्नि के द्वारा जगत्रूप समस्त पाशजाल को दग्ध कर दे ॥ २९ ॥

अथ शिवध्यानमहत्त्वं सूत्रद्वयेन कथयन् शिवयोगसमाधिस्थलं समापयति—

संसारविषवृक्षस्य पञ्चक्लेशपलाशिनः[2] ।
छेदने कर्ममूलस्य परशुः शिवभावना ॥ ३० ॥

धर्माधर्मलक्षणकर्ममूलस्य अविद्यादिपञ्चक्लेशलक्षणपर्णवतो जननमरण'-लक्षणसंसारविषवृक्षस्य छेदने शिवध्यानमेव परशुरित्यर्थः ॥ ३० ॥

कर्म से उत्पन्न यह संसार विषवृक्ष (के सदृश) है । (अविद्या अस्मिता राग द्वेष और अभिनिवेश अर्थात् मृत्यु से भय ये) पाँच क्लेश इसके पत्ते हैं। इसको काटने के लिये शिवभावना कुठार सदृश है ॥ ३० ॥

अज्ञानराक्षसोन्मेषकारिणः संहृतात्मनः ।
शिवध्यानं तु संसारतमसश्चण्डभास्करः ॥ ३१ ॥

अज्ञानलक्षणराक्षसनयनोन्मीलनकारिणो निबिडतरसंसारान्धकारस्य शिवध्यानं चण्डभास्करः प्रचण्डमार्तण्ड इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

आत्मा को आवृत करने वाले अज्ञानरूपी राक्षस को उद्दीप्त करने वाले संसाररूपी अन्धकार को दूर करने के लिये शिवध्यान प्रचण्ड सूर्य के समान है ॥ ३१ ॥

इति शिवयोगसमाधिस्थलम्

अथलिङ्गनिजस्थलम्

---

१. तुलनीय—

आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् ।
ज्ञाननिर्मथनाभ्यासात् पाशं दहति पण्डितः ॥ कैवल्योपनिषत् ११

२. अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः (पा०यो०सू० २।३)

अथैवंविधशिवयोगसम्पन्नस्य प्रत्यक्षीभूतलिङ्गनिजस्थलं निरूपयति—

स्वान्तस्थशिवलिङ्गस्य प्रत्यक्षानुभवस्थितिः ।
यस्यैव परलिङ्गस्य निजमित्युच्यते बुधैः ॥ ३२ ॥

स्वात्मनि तादात्म्येन स्थितस्य शिवलिङ्गस्य यया प्रत्यक्षानुभवस्थितिर्देशकालाकारकृतसङ्कोचाभावेन सामान्यतोऽहमिति प्रत्यक्षानुभवस्थितिरस्ति, सैव परलिङ्गस्य महालिङ्गस्य निजमिति निजस्वरूपमिति बुधैरात्मतत्त्वज्ञानिभिरूउच्यते कथ्यत इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

(निजलिङ्गस्थल वर्णन)—जिसको स्वान्तस्थ शिवलिङ्ग का प्रत्यक्ष अनुभव होने लगता है । उस परलिङ्ग को स्वात्मरूप से अनुभव करने वाले प्राणलिङ्ग को विद्वान् निजलिङ्ग कहते हैं ॥ ३२ ॥

अथ तत्स्वरूपं सूत्रद्वयेन प्रकटयति—

ब्रह्मविष्ण्वादयो देवाः सर्वे वेदादयस्तथा ।
लीयन्ते यत्र गम्यन्ते तल्लिङ्गं ब्रह्म केवलम् ॥ ३३ ॥

ब्रह्माविष्णुप्रभृतिदेवा वेदागमपुराणादिशब्दसमूहाश्च यत्र लयं गच्छन्ति पुनः प्रकाशयन्ति, तद् लिङ्गं लिङ्गशब्दाभिधेयं केवलं ब्रह्म ब्रह्मैवेत्यर्थः ॥ ३३ ॥

ब्रह्मा विष्णु आदि समस्त देव तथा सभी वेद आदि (= आगम पुराण स्मृति आदि) जिसमें लीन होते हैं तथा पुनः उत्पन्न होते हैं वह लिङ्ग केवल ब्रह्म है ॥ ३३ ॥

ननु लिङ्गशब्दाभिधेयं विश्वोत्पत्तिलयस्थानं ब्रह्मैव चेत्, तच्छिवस्वरूपं वा तद्व्यतिरिक्तं वेत्यत्राह—

चिदानन्दमयः साक्षाच्छिव एव निरञ्जनः ।
लिङ्गमित्युच्यते नान्यद् यतः स्याद्विश्वसम्भवः ॥ ३४ ॥

यतो ब्रह्मस्वरूपलिङ्गाद् विश्वसम्भवो विश्वोत्पत्तिः स्यात्, तल्लिङ्गं ब्रह्मस्वरूपलिङ्गं चिदानन्दमयः सच्चिदानन्दस्वरूपः, निरञ्जनः दोषरहितः, साक्षात् प्रत्यक्षीभूतः शिव एवेत्युच्यते नान्यत्, अन्यद्वस्तु नोच्यत इत्यर्थः ॥ ३४ ॥

चित्-आनन्द-स्वरूप निरञ्जन (अर्थात् निष्कलङ्क) शिव ही साक्षात् लिङ्ग कहे जाते हैं । इन्हीं से विश्व की उत्पत्ति होती है ॥ ३४ ॥

अथ निष्कर्षमाह—

बहुनात्र किमुक्तेन लिङ्गमित्युच्यते बुधैः ।
शिवाभिधं परं ब्रह्म चिद्रूपं जगदास्पदम् ॥ ३५ ॥

अत्र अस्मिन् विषये बहुभाषणेन किम्? जगदाधारभूतस्फुरणस्वभावं परब्रह्मैव शिवाभिधं परशिवाभिधानं लिङ्गं निजलिङ्गमिति बुधैः शास्त्रज्ञैरुच्यत इत्यर्थः ॥ ३५ ॥

इस विषय में अधिक कहने से क्या लाभ? शिव नामक परब्रह्म, जो कि चिद्रूप और संसार का आधार है, विद्वान् लोगों के द्वारा लिङ्ग कहा जाता है ॥ ३५ ॥

मायिकवेदान्तमतसिद्धं लिङ्गं निजलिङ्गं न भवतीति सूत्रद्वयेन प्रतिपादयति—

वेदान्तवाक्यजां विद्यां लिङ्गमाहुस्तथाऽपरे ।
तदसज्ज्ञेयरूपत्वाल्लिङ्गस्य ब्रह्मरूपिणः ॥ ३६ ॥

वेदान्तवाक्यजां 'प्रज्ञानं ब्रह्म, अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि, अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादिवेदान्तवाक्यप्रकाशितां विद्यां तथा तत्प्रकाशकं निजलिङ्गं सद् अपरे वेदान्तज्ञानिन आहुः, तत् तद्वेदान्तवाक्यप्रकाशितज्ञानलिङ्गं ब्रह्मरूपिणः परब्रह्मस्वरूपिणो लिङ्गस्य ज्ञेयरूपत्वाद् निजलिङ्गरूपचिदहंप्रकाशवेद्यत्वात्, असद् अप्रशस्तमित्यर्थः, प्रमाणानां प्रमातृभित्तिलग्नत्वेनैव प्रमेयप्रकाशकत्व-नियमात्, अन्यथा बौद्धमतप्रवेशापत्तेः, ब्रह्मालिङ्गस्य प्रमेयपदप्रविष्टत्वेन प्रमात्रन्तरसापेक्षत्वादिति ॥ ३६ ॥

जो दूसरे लोग (तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि, अयमात्मा ब्रह्म, प्रज्ञानं ब्रह्म)[1] इन चार वेदान्त महावाक्यों से उत्पन्न ज्ञान को लिङ्ग कहते हैं उनका कथन असङ्गत है क्योंकि ब्रह्मरूपी लिङ्ग ज्ञेय है एवं उनके कथन का ब्रह्म अवाङ्मनसगोचर है ॥ ३६ ॥

अथ मतान्तरं निराकरोति—

अव्यक्तं लिङ्गमित्याहुर्जगतां मूलकारणम् ।
लिङ्गी महेश्वरश्चेति मतमेतदसङ्गतम् ॥ ३७ ॥

---

१. तत्त्वमसि—सामवेद का, प्रज्ञानं ब्रह्म—ऋग्वेद का, अयमात्मा ब्रह्म—यजुर्वेद का तथा अहं ब्रह्मास्मि—अथर्ववेद का महावाक्य है ।

जगतां मूलकारणमव्यक्तं मायातत्त्वं लिङ्गमित्याहुः, महेश्वरो लिङ्गी चेति लिङ्गवानित्याहुः । एतन्मतम् 'मायां तु प्रकृतिं विन्द्यान्मायिनं तु महेश्वरम्'[1] इति श्वेताश्वतराणां मतम्, असङ्गतं प्राणलिङ्गिनामसम्मतम्, प्रकृतेर्जडत्वेन हेयकोटिप्रविष्टत्वादिति ॥ ३७ ॥

(कुछ विद्वान्) संसार के मूल कारण अव्यक्त तत्त्व को लिङ्ग कहते हैं और महेश्वर को लिङ्गी । यह मत असङ्गत है क्योंकि प्रकृति जड है अत एव हेय है जबकि शैव मत में परमेश्वर की शक्ति चेतन है ॥ ३७ ॥

अथ—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥

इति कठवल्लीश्रुत्यनुसारेण प्राणलिङ्गिनां सम्मतं निजलिङ्गस्वरूपं सूत्रद्वयेन प्रतिपादयति—

न सूर्यो भाति तत्रेन्दुर्न विद्युन्न च पावकः ।
न तारका महालिङ्गे द्योतमाने परात्मनि ॥ ३८ ॥

परात्मनि परमात्मनि महालिङ्गे द्योतमाने सति तत्र तस्मिन् महाप्रकाशे न सूर्यः सूर्यो न भाति, नेन्दुः चन्द्रो न भाति, पावको न भाति, विद्युच्च न भाति, नक्षत्राणि च न भान्ति ॥ ३८ ॥

उस परमात्मा महालिङ्ग के प्रकाशमान होने पर न सूर्य चमकता है न चन्द्रमा न विद्युत् न अग्नि और न तारायें चमकती हैं[2] ॥ ३८ ॥

तर्हि तेषां भासनं कथमित्यत्राह—

ज्योतिर्मयं परं लिङ्गं श्रुतिराह शिवात्मकम् ।
तस्य भासा सर्वमिदं प्रतिभाति न संशयः ॥ ३९ ॥

---

१. श्वे०उ० ४।१०

१. तुलनीय—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभति ॥
(श्वे० उ० ६।१४)

शिवात्मकं परं लिङ्गं महालिङ्गमेव ज्योतिर्मयमन्यानपेक्षप्रकाशरूपम् । तस्मात् तस्य भासा ज्योतिर्लिङ्गप्रकाशेनैव इदं सर्वं सूर्यचन्द्रादिकं सर्वं प्रतिभाति । अत्र सन्देहो नास्तीति कठवल्लीश्रुतिराहेत्यर्थः । अयं भावः— वह्न्यर्कसोमानां मातृमानमेयात्मकत्रिपुटीमयप्रपञ्चरूपत्वाद् एतेषां प्रकाशो महालिङ्गप्रकाशाधीन इति सिद्धत्वेन पुनस्तन्महालिङ्गं वेदान्तजन्यज्ञान-प्रकाश्यमित्यङ्गीकृतं चेत्, पराधीनप्रकाशत्वेनात्यन्तजडत्वप्रसङ्गात् । अप्रमेयं स्वप्रकाशं वस्तु निजलिङ्गशब्दार्थः । अस्मन्मते निगमागमादिप्रमाणानां स्वशक्तिमयत्वेन स्वसंवेद्यत्वान्न दोष इति ॥ ३९ ॥

श्रुति शिवात्मक परलिङ्ग को ज्योतिर्मय कहती है । उसकी चमक से यह समस्त जगत् देदीप्यमान हो रहा है, इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥ ३९ ॥

विशेष—अग्नि सूर्य और चन्द्रमा, प्रमाता प्रमाण और प्रमेयरूप है । यह त्रिपुटी महालिङ्ग के अधीन रहकर प्रकाशित होती है । यदि महालिङ्ग को भी वेदान्त जन्य ज्ञान से प्रकाश्य माना जायगा तो परप्रकाश्य होने के कारण यह महालिङ्ग घटादि के समान जड़ हो जायगा । अतः वह महालिङ्ग स्वप्रकाश अर्थात् स्वसंवेद्यं है ।

अथ सूत्रद्वयेन लिङ्गमहत्त्वमुक्त्वा निजलिङ्गस्थलं समापयति—

लिङ्गान्नास्ति परं तत्त्वं यदस्माज्जायते जगत् ।
यदेतद्रूपतां धत्ते यदत्र लयमश्नुते ॥ ४० ॥

यत्र लिङ्गे यतो यस्मात् कारणाद् यज्जगज्जायते उत्पद्यते, यज्जगद् एतद्रूपतां स्थितिरूपतां धत्ते दधाति, यज्जगद् लयं संहारम् अश्नुते अनुभवति, तस्मात् कारणाद् अस्माल्लिङ्गाद् अन्यानपेक्षभासमानस्वप्रकाशमयनिजलिङ्गात् परं तत्त्वं नास्ति ॥ ४० ॥

लिङ्ग से बढ़कर कोई तत्त्व नहीं है क्योंकि इसी से संसार उत्पन्न होता है। उस लिङ्ग में ही संसार इस रूप में स्थित होता है और इसी में लीन हो जाता है ॥ ४० ॥

तस्माल्लिङ्गं परं ब्रह्म सच्चिदानन्दलक्षणम् ।
निजरूपमिति ध्यानात् तदवस्था प्रजायते ॥ ४१ ॥

तस्मात् सच्चिदानन्दस्वरूपं परब्रह्मैव निजरूपं लिङ्गमिति ध्यानात् चिन्तनात् तदवस्था लिङ्गमेव निजमित्यवस्था प्रजायते प्रकाशत इत्यर्थः ॥ ४१ ॥

इस कारण सत्-चित्-आनन्दस्वरूप ब्रह्म ही परलिङ्ग है । 'वही अपना रूप है' ऐसा ध्यान करने से निजलिङ्गावस्था उत्पन्न होती है ॥ ४१ ॥

इति लिङ्गनिजस्थलम्

अथाङ्गलिङ्गस्थलम्

अथ लिङ्गनिजाङ्गिनमङ्गलिङ्गिनं सूत्रद्वयेन निरूपयति—

ज्ञानमङ्गमिति प्राहुर्ज्ञेयं लिङ्गं सनातनम् ।
विद्यते तद्द्वयं यस्य सोऽङ्गलिङ्गीति कीर्तितः॥ ४२ ॥

ज्ञानं शिवज्ञानवान् जीवः, अङ्गम् अङ्गमिति प्राहुरित्यर्थः । ज्ञेयं तेन शिवज्ञानवतानेन साक्षात्करणीयं वस्तु सनातनं नित्यं लिङ्गमिति प्राहुः, 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया'[1] **इति श्रुतेः । एतद्द्वयम् अङ्गलिङ्गद्वयं यस्य प्राणलिङ्गिनो वर्तते, सोऽङ्गलिङ्गी कीर्तित इत्यर्थः ॥ ४२ ॥**

(अङ्गलिङ्गस्थल वर्णन)—(विद्वान् लोग) ज्ञान को अङ्ग और ज्ञेय को सनातन लिङ्ग कहते हैं । इन दोनों का ज्ञान जिसके पास हो वह अङ्गलिङ्गी कहा गया है ॥ ४२ ॥

अथैवं चेद् भेदवादिमतप्रवेशो जात इत्यत्राह—

अङ्गे लिङ्गं समारूढं लिङ्गे चाङ्गमुपस्थितम् ।
एतदस्ति द्वयं यस्य स भवेदङ्गलिङ्गवान् ॥ ४३ ॥

अङ्गे जीवात्मनि लिङ्गं शिवलिङ्गं समारूढं सामरस्येनास्ति, लिङ्गे शिवलिङ्गे अङ्गं जीव उपस्थितं सामरस्येनास्ति । एतद्द्वयं यस्यास्ति बीजाङ्कुरन्यायेनैवं-विधज्ञानद्वयं यस्य प्राणलिङ्गिनोऽस्ति, सोऽङ्गलिङ्गवानित्यर्थः ॥ ४३ ॥

अङ्ग में लिङ्ग आरूढ है और लिङ्ग में अङ्ग ओतप्रोत है । बीजाङ्कुरन्याय से ये दोनों प्रकार के ज्ञान जिसके पास हैं वह अङ्गलिङ्गवान् होता है ॥४३॥

नन्वत्र ज्ञानमात्रमेव विवक्षितं किमित्यत्राह—

ज्ञात्वा यः सततं लिङ्गं स्वान्तःस्थं ज्योतिरात्मकम् ।
पूजयेद् भावयेन्नित्यं तं विन्द्यादङ्गलिङ्गिनम् ॥ ४४ ॥

यः प्राणलिङ्गी स्वान्तःस्थं स्वहृदयकमलस्थं ज्योतिरात्मकं ज्योतिर्मयं सततं नित्यं लिङ्गं निजलिङ्गं ज्ञात्वा सामरस्यरूपं श्रुतिगुरुस्वानुभवैर्विदित्वा

---

१. मुं० उ० ३।१।१

पूजयेद् ध्यायेत् तं प्राणलिङ्गिनं विन्द्याद् जानीयादित्यर्थः ॥ ४४ ॥

जो मनुष्य अपने अन्दर स्थित ज्योतिर्मय लिङ्ग को शास्त्र, गुरु अथवा अपने अनुभव के द्वारा जानकर नित्य उसकी पूजा तथा भावना करता है उसे अङ्गलिङ्गी समझना चाहिये ॥ ४४ ॥

अथ निजलिङ्गपर्यायनामान्युक्त्वा तत्र दृढचित्तवान् जीवन्मुक्त इति सूत्रत्रयेण कथयति—

ज्ञायते लिङ्गमेवैकंसर्वैः शास्त्रैः सनातनैः ।
ब्रह्मेति विश्वधामेति विमुक्तेः परमित्यपि ॥ ४५ ॥
मुक्तिरूपमिदं लिङ्गमिति यस्य मनःस्थितिः ।
स मुक्तो देहयोगेऽपि स ज्ञानी स महागुरुः ॥ ४६ ॥

एकं निजलिङ्गमेव परब्रह्मेति, जगदाधारमिति, परमुक्तिस्थानमिति, 'वाचा विरूपनित्यया' इति श्रुतेरारम्भविवक्षाध्यवसायोक्तिरूपेण शिवशक्तिमयत्वात् सनातनैः नित्यैः सर्वैः शास्त्रैः निगमागमादिप्रमाणैर्ज्ञायते, इदं निजलिङ्गं मुक्तिरूपं परमुक्तिस्वरूपमिति यस्य प्राणिलिङ्गिनो मनःस्थतिः, स देहयोगेऽपि मुक्तः पुनर्जन्मान्तराभावाज्जीवन्मुक्तः, स ज्ञानी स एव शिवज्ञानवान्, स महागुरुः श्रीगुरुरित्यर्थः ॥ ४५-४६ ॥

एक ही लिङ्ग को समस्त सनातन शास्त्र ब्रह्म, विश्वधाम, मुक्तिपद के रूप में जानते हैं । 'यह लिङ्ग मुक्तिस्वरूप है'—ऐसा जो मन में समझता है वह देह से युक्त रहते हुए भी मुक्त (अर्थात् जीवन्मुक्त) है । वही ज्ञानी और वही महागुरु है ॥ ४५-४६ ॥

अथैवं लिङ्गनिजज्ञानशून्यानां मुक्तिर्नास्तीत्याह—

अनादिनिधनं लिङ्गं कारणं जगतामिति ।
ये न जानन्ति ते मूढा मोक्षमार्गबहिष्कृताः ॥ ४७ ॥

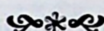
अनादिनिधनम् उत्पत्तिविनाशरहितमित्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ४७ ॥

आदि और अन्त अर्थात् उत्पत्ति विनाश से रहित लिङ्ग संसार का कारण है—ऐसा जो लोग नहीं जानते वे मूर्ख हैं तथा मोक्षमार्ग से बहिष्कृत हैं ॥ ४७ ॥

अथ प्राणलिङ्गार्चनादिधर्मवान् प्राणलिङ्ग्येव ज्ञानपरिपाकवशात् शरण इत्यभिधानवानित्युक्त्वा प्राणलिङ्गिस्थलं समापयति—

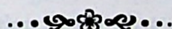
य: प्राणलिङ्गार्चनभावपूर्वै-
धर्मैरुपेतः शिवभावितात्मा ।
स एव तुर्यः परिकीर्तितोऽसौ
संविद्विपाकाच्छरणाभिधानः ॥ ४८ ॥

इति श्रीमत्षट्स्थलब्रह्मिण शिवयोगिनाम्ना रेणुकाचार्येण विरचिते
सिद्धान्तशिखामणौ प्राणलिङ्गिनः पञ्चस्थलप्रसङ्गो नाम
द्वादशः परिच्छेदः ॥ १२ ॥



यः प्राणलिङ्गी प्राणलिङ्गपूजाचारप्रमुखैः धर्मैः शिवाचारैः समेतः सन् लिङ्गरूपेण भाविताङ्गस्वरूपवान्, तुर्यः भक्तापेक्षया चतुर्थः, स एवासौ प्राणलिङ्गी ज्ञानपरिपाकवशात् शरण इत्यभिधानवानित्यर्थः ॥ ४८ ॥

इति श्रीमत्पदवाक्यप्रमाणपारावारधुरीणश्रीमरितोण्टदार्येण विरचितायां
तत्त्वप्रदीपिकाख्यायां सिद्धान्तशिखामणिव्याख्यायां प्राणलिङ्गि-
पञ्चस्थलप्रसङ्गनामा द्वादशः परिच्छेदः ॥ १२ ॥



जो प्राणलिङ्गार्चन भाव से पूर्ण धर्मो से युक्त है तथा आत्मा में सर्वदा शिव की भावना करता रहता है वही चतुर्थ अवस्था को प्राप्त कहा गया है । संवित् के परिपाक के कारण वह शरणस्थल कहा जाता है ॥ ४८ ॥

इस प्रकार श्रीसिद्धान्तशिखामणि के प्राणलिङ्गिपञ्चस्थलप्रसङ्ग
नामक द्वादश परिच्छेद की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदीकृत
'ज्ञानवती' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ १२ ॥



त्रयोदशः परिच्छेदः

अथ शरणस्थलम्

अथागस्त्यप्रश्नः । अगस्त्य उवाचेति—

माहेश्वरः प्रसादीति प्राणलिङ्गीति बोधितः ।
कथमेष समादिष्टः पुनः शरणसंज्ञकः ॥ १ ॥

माहेश्वरः प्रसादीति बोधितः । प्राणलिङ्ग्येव पुनः कथं केन प्रकारेण शरणाभिधानवानित्यर्थः ॥ १ ॥

(शरणस्थल वर्णन)—अगस्त्य ने कहा—माहेश्वर प्रसादी और प्राणलिङ्गी का (आपने) ज्ञान करा दिया । यही शरणस्थली कैसे कहा जाता है । (कृपया इसे बतलाइये) ॥ १ ॥

अस्य प्रश्नस्योत्तरं निरूपयति रेणुक उवाचेति—

अङ्गलिङ्गी ज्ञानरूपः सती ज्ञेयः शिवः पतिः ।
यत्सौख्यं तत्समावेशे तद्वान् शरणनामवान् ॥ २ ॥

ज्ञानरूपः शिवज्ञानमेव स्वरूपं यस्य स तादृशः, शिवज्ञानवानित्यर्थः । अङ्गलिङ्गी अङ्गलिङ्गसामरस्यवान् प्राणलिङ्गी सतीति ज्ञेयः । शिवः शिवलिङ्गमेव पतिः पतिरिति ज्ञेयः । तत्समावेशे तयोरङ्गलिङ्गरूपयोः स्त्रीपुरुषयोः समानसमरसरूपयोगे यत्सौख्यं 'यथा स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्'[१] **इति बृहदारण्यकश्रुतिप्रसिद्धं यत्सौख्यमस्ति, तद्वान् तादृशसौख्यवान् शरणनामवानित्यर्थः ॥ २ ॥**

रेणुकाचार्य ने कहा—ज्ञान रूप अङ्गलिङ्गी सती है । ज्ञेय शिव उसके पति हैं । इस सती और पति का (सामरस्य या यामलरूप) जो सुख है उस का अनुभव करने वाला शरणस्थल कहा जाता है ॥ २ ॥

---

१. बृ०उ० ४।३।२१

अथ अस्यापि स्थलभेदोऽस्ति किमित्यत्राह—

स्थलमेतत्समाख्यातं चतुर्धा धर्मभेदतः ।
आदौ शरणमाख्यातं ततस्तामसवर्जनम् ॥ ३ ॥
ततो निर्देशमुद्दिष्टं शीलसम्पादनं ततः ।
क्रमाल्लक्षणमेतेषां कथयामि निशाम्यताम् ॥ ४ ॥

एतत्स्थलं शरणस्थलं धर्मभेदत आचारभेदात् चतुर्धा चतुर्विधमिति समाख्यातम् । आदौ शरणस्थलम्, तदनन्तरं तामसनिरसनस्थलम्, ततो निर्देशस्थलम्, अथ शीलसम्पादनस्थलम् उद्दिष्टमुपदिष्टम् । एषां चतुर्णां लक्षणं क्रमाद् वदिष्यामि, श्रूयतामित्यर्थः ॥ ३-४ ॥

धर्म के भेद से यह स्थल चार प्रकार का कहा गया है । पहले शरणस्थल फिर तामसनिरसनस्थल इसके बाद निर्देशस्थल तत्पश्चात् शील-सम्पादनस्थल होता है । (अब मैं) क्रम से इनका लक्षण बतला रहा हूँ । सुनो ॥ ३-४ ॥

सती चाहं पतिर्लिङ्गं हृदियुक्तः स्वयं प्रभुः ।
प्रापञ्चिकसुखं नास्ति शरणस्थलमुत्तमम् ॥

इति शङ्करसंहितावचनानुसारेण शरणस्थलं निरूपयति—

सतीव रमणे यस्तु शिवे शक्तिं विभावयन् ।
तदन्यविमुखः सोऽयं ज्ञातः शरणनामवान् ॥ ५ ॥

रमणे प्राणकान्तविषये सतीव पतिव्रता स्त्रीव यस्तु शिवे शिवलिङ्गविषये स्वात्मानं शक्तिं स्त्रियं भावयन् तदन्यविमुखः शिवलिङ्गादन्यत्र देवतान्तरे तिर्यङ्मुखः सन् अस्ति, सोऽयं शरणवान् शरणस्थलवानिति ज्ञातो ज्ञातुं योग्य इत्यर्थः ॥ ५ ॥

जिस प्रकार सती स्त्री अपने रमण अर्थात् प्रियतम पति के प्रति भावना रखती है । उस प्रकार जो व्यक्ति शिव के विषय में अपने को शक्ति समझते हुए भावना करता है तथा उस (शिव) से अन्य (देवता आदि) के विषय में विमुख है उसे शरणवान् माना गया है ॥ ५ ॥

अथ बहुदृष्टान्तपूर्वकं शिवलिङ्गासक्त एव शरण इत्युपपादयति—

परिज्ञाते शिवे साक्षात् को वान्यमभिकाङ्क्षति ।
निधाने महति प्राप्ते कः काचं याचतेऽन्यतः ॥ ६ ॥

शिवे परमशिवे साक्षात् प्रसिद्धश्रुत्यादिप्रमाणैः परिज्ञाते ब्रह्मादिभ्यो महानिति ज्ञाते सति को वान्यं काङ्क्षति न काङ्क्षतीत्यर्थः । यथा महति निधाने प्राप्ते सति, अन्यतः अन्यस्मात् काचं काचमणिं को याचते? न कोऽपि इत्यर्थः, तथा शिवादन्यत्र देवतान्तरे विमुखः शरण इत्यर्थः ॥ ६ ॥

शिव का साक्षात् ज्ञान होने पर कौन ऐसा व्यक्ति है जो किसी दूसरे की इच्छा करेगा । विपुल धनराशि प्राप्त होने पर कौन अन्य से काँच की याचना करता है ॥ ६ ॥

शिवानन्दं समासाद्य को वान्यमुपतिष्ठते ।
गङ्गामृतं परित्यज्य कः काङ्क्षेन्मृगतृष्णिकाम् ॥ ७ ॥

शिवानन्दं शिवलिङ्गसुखं समासाद्य प्राप्य को देवतान्तरम् उपतिष्ठते आश्रयति, नाश्रयतीत्यर्थः । गङ्गोदकं परित्यज्य को मृगतृष्णिकां मरीचिकाजलं काङ्क्षेद् इच्छेत्, तथा शिवादन्यत्र विमुखः शरण इत्यर्थः ॥ ७ ॥

शिव का आनन्द प्राप्त कर कौन दूसरे की उपासना करता है । गङ्गाजल रूपी अमृत को छोड़कर कौन मृगमरीचिका की इच्छा करता है ॥ ७ ॥

संसारतिमिरच्छेदे विना शङ्करभास्करम् ।
प्रभवन्ति कथं देवाः खद्योता इव देहिनाम् ॥ ८ ॥

खद्योता अल्पप्रकाशिनः प्राणिविशेषाः यथान्धकारनिवारणे समर्था न भवन्ति, भास्करः समर्थो भवति, तथा संसारतिमिरच्छेदे शङ्करभास्करं विना ब्रह्मादयो देवाः समर्था न भवन्तीति शिवादन्यत्र विमुखः शरण इत्यर्थः ॥ ८ ॥

जो देवता लोग संसारी जीवों के लिये जुगुन् के समान हैं वे विना शङ्कररूपी सूर्य के संसाररूपी अन्धकार का नाश करने में कैसे समर्थ हो सकते हैं? ॥ ८ ॥

संसारार्तः शिवं यायाद् ब्रह्माद्यैः किं फलं सुरैः ।
चकोरस्तृषितः पश्येच्चन्द्रं किं तारका अपि ॥ ९ ॥

तृषितः पिपासार्दितचकोरः, चन्द्रं यथा पश्येत्, तारका न पश्येत्, तथा संसारेण श्रमितो ब्रह्माद्यैः किं फलमिति शिवमेवाश्रयेत् । तादृशचकोरवदन्यत्र विमुखः शिवशरण इत्यर्थः ॥ ९ ॥

संसार से पीड़ित व्यक्ति को शिव के पास जाना चाहिये । ब्रह्मा आदि

देवताओं से कोई फल मिलने वाला नहीं है । प्यासा चकोर चन्द्रमा को देखता है । क्या वह ताराओं (को भी देखता है? अर्थात् नहीं देखता) ॥ ९ ॥

शिव एव समस्तानां शरण्यः शरणार्थिनाम् ।
संसारोरगदष्टानां सर्वज्ञः सर्वदोषहा ॥ १० ॥
शिवज्ञाने समुत्पन्ने परानन्दः प्रकाशते ।
तदासक्तमना योगी नान्यत्र रमते सुधीः ॥ ११ ॥

संसारसर्पदष्टानां समस्तानां शरणार्थिनां सर्वज्ञः सर्वदोषघ्नः शिव एव रक्षक इति शिवमाहात्म्यज्ञाने समुत्पन्ने सति परमानन्दाविर्भावो जायते । तदासक्तचित्तः शिवयोगी अन्यत्र देवतान्तरे न रमत इत्यर्थः ॥ १०-११ ॥

संसाररूपी सर्प के द्वारा काटे गये अत एव (विषमूर्च्छित) समस्त शरणार्थियों के एकमात्र शरण शिव हैं जो कि सर्वज्ञ हैं और सम्पूर्ण दोषों को नष्ट करने वाले हैं । शिवज्ञान के उत्पन्न होने पर परानन्द का अनुभव होता है । उसमें संसक्त चित्त वाला बुद्धिमान् योगी अन्यत्र आनन्द का आस्वादन नहीं करता ॥ १०-११ ॥

अथोक्तार्थमुपसंहरन् शरणस्थलं समापयति—

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन शङ्करं शरणं गतः ।
तदनन्तसुखं प्राप्य मोदते नान्यचिन्तया ॥ १२ ॥

तस्मात् कारणात् सर्वप्रयत्नेन मनोवाक्कायकर्मणा शिवं शरणं गतो रक्षणविचक्षण इति ज्ञात्वा प्रपन्नः, तदनन्तसुखं प्राप्य तस्माच्छिवाद् अनन्तसुखं लब्ध्वा मोदते, अन्यचिन्तया देवतान्तरचिन्तया न मोदत इत्यर्थः ॥ १२ ॥

इसलिये सम्पूर्ण प्रयास कर शङ्कर की शरण में गया हुआ योगी उस अनन्त सुख को प्राप्त कर आनन्दमग्न रहता है न कि अन्य (देवता आदि) का ध्यान करने से ॥ १२ ॥

इति शरणस्थलम्

अथ तामसनिरसनस्थलम्

अथ शरणेन विधीयमानतामसनिराकरणस्थलं निरूपयति—

शिवासक्तपरानन्दमोदिना गुरुणा यतः ।
निरस्यन्ते तमोभावाः स तामसनिरासकः ॥ १३ ॥

शिवासक्तः सन् परानन्दानुमोदिना गुरुणा श्रेष्ठेन शरणेन तमोभावास्तमोविकारा यतः कारणाद् निरस्यन्ते निवार्यन्ते, ततः तस्मात् स तामसनिरासको भवेदित्यर्थः ॥ १३ ॥

शिव में आसक्त अत एव परानन्द से आनन्दित होने वाले जिस गुरु के द्वारा समस्त तमोभाव निरस्त कर दिये जाते हैं वह तामसनिरासक कहा जाता है ॥ १३ ॥

ननु तमोभावाः किमर्थं निराकरणीया इत्यत्राह—

यस्य ज्ञानं तमोमिश्रं न तस्य गतिरिष्यते ।
सत्त्वं हि ज्ञानयोगस्य नैर्मल्यं विदुरुत्तमाः ॥ १४ ॥

नैर्मल्यं निर्मलसाधनं सदित्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् । तस्मात् तमोविकारा निराकरणीया इति भावः ॥ १४ ॥

जिसका ज्ञान तमोगुणमिश्रित है उसकी सद्गति नहीं होती । उत्तम पुरुष सत्त्व को ज्ञानयोग के नैर्मल्य का कारण कहते हैं ॥ १४ ॥

अथ—

सत्त्वात् सुखं च ज्ञानं च वैराग्यं सौख्यमेव च ।
दुःखप्रवृत्तिरागौ च लौहित्यं रजसो भवेत् ॥
मोहो भ्रान्तिस्तथालस्यं काष्ण्यं च तमसो भवेत् ॥

इति सूतसंहितावचनानुसारेण गुणत्रययुंक्तान् प्रकाशयति—

शमो दमो विवेकश्च वैराग्यं पूर्णभावना ।
क्षान्तिः कारुण्यसम्पत्तिः श्रद्धा सत्यसमुद्भवा ॥ १५ ॥
शिवभक्तिः परो धर्मः शिवज्ञानस्य बान्धवाः ।
एतैर्युक्तो महायोगी सात्त्विकः परिकीर्तितः ॥ १६ ॥

शमः क्षान्तिः (मनसो निग्रहो वा), दमो बाह्येन्द्रियनिग्रहः, विवेको नित्यानित्यवस्तुविचारः, वैराग्यं विषयविरक्तिः, पूर्णभावना अखण्डध्यानम्, क्षान्तिः (= तितिक्षा) क्षमा, कारुण्यसम्पत्तिः भूतदया, सत्यसमुद्भवा यथार्थवस्तुसम्भवा श्रद्धा विश्वासः, शिवभक्तिः, परो धर्म उत्कृष्टशिवाचारः, शिवज्ञानस्य बान्धवा एते शिंवज्ञानस्य सम्बन्धिनः । एतैर्दशगुणैर्युक्तो महायोगी सात्त्विक इति सत्त्वगुणयुक्त इति प्रकीर्तितः ॥ १५-१६ ॥

शम, दम, विवेक, वैराग्य, पूर्णभावना अर्थात् अखण्ड ज्ञान, क्षमा,

करुणा, सत्य से उत्पन्न श्रद्धा, शिव भक्ति, परमधर्म अर्थात् उत्कृष्ट शैवाचार ये सब शिवज्ञान के बन्धु हैं। इन सबसे युक्त महायोगी सात्त्विक कहलाता है ॥ १५-१६ ॥

नन्वेतैर्गुणैर्युक्तस्य महायोगिनः कदाचिद् वा कामक्रोधादयः सम्भवन्ति किमित्यत्राह—

कामक्रोधमहामोहमदमात्सर्यवारणाः ।
शिवज्ञानमृगेन्द्रस्य कथं तिष्ठन्ति सन्निधौ ॥ १७ ॥

शिवज्ञानस्य मत्तमनोगजनिग्रहकरत्वेन सिंहरूपत्वात् तस्य सन्निधौ कामक्रोधादिगजस्थितेरवकाशो नास्तीत्यर्थः ॥ १७ ॥

काम, क्रोध, महामोह, महामद, मात्सर्य रूपी हाथियों का झुण्ड शिवज्ञान रूपी सिंह के पास कैसे ठहर सकते हैं ॥ १७ ॥

अथ रजोगुणयुक्तं प्रदर्शयति—

यत्र कुत्रापि वा द्वेष्टि प्रपञ्चे शिवरूपिणि ।
शिवद्वेषी स विज्ञेयो रजसाविष्टमानसः ॥ १८ ॥

यो रजसाविष्टमानसो रजोगुणकार्यभूतकामक्रोधाद्यावृतचित्तः सन् शिवरूपिणि प्रपञ्चे यत्र क्वापि द्वेष्टि, स शिवद्वेषी राजस इति शेषः, विज्ञेयो ज्ञातुं योग्य इत्यर्थः ॥ १८ ॥

शिवरूप प्रपञ्च में जहाँ कहीं भी कोई द्वेष करता है रजोगुण से आविष्ट चित्त वाला वह शिवद्वेषी समझा जाना चाहिये ॥ १८ ॥

अथ तमोगुणयुक्तं लक्षयति—

यो द्वेष्टि सकलान् लोकान् यो वाऽहङ्कुरुते सदा।
योऽसत्यभावनायुक्तः स तामस इति स्मृतः ॥ १९ ॥

स्पष्टम् ॥ १९ ॥

जो सब लोगों से द्वेष करता है अथवा जो सदा अहङ्कारयुक्त रहता है तथा जो असत्य भावना से युक्त है वह तामस माना गया है ॥ १९ ॥

अथायं तमोगुणः शिवशरणानां नास्तीति श्लोकद्वयेनोक्त्वा तामसनिरसनस्थलं समापयति—

तमोमूला हि सञ्जाता रागद्वेषादिपादपाः ।

शिवज्ञानकुठारेण छेद्यन्ते हि निरन्तरम् ॥ २० ॥

तमोगुणरूपमूलवन्तः सन्तः सञ्जाता रागद्वेषादिपादपाः कामक्रोधादि-राजसवृक्षाः शिवज्ञानकुठारेण सात्त्विकशिवज्ञानरूपपरशुना सदा छेद्यन्ते हि प्रसिद्धम् ॥ २० ॥

राग द्वेष आदि के वृक्ष तमोमूलक हैं (अर्थात् ये तमोगुण के कारण उत्पन्न होते हैं) ये शिवज्ञानरूपी कुठार के द्वारा सदा काटे जाते हैं ॥ २० ॥

ननु तमोमूलकत्वेन सञ्जातरागद्वेषादिपादपानां शिवज्ञानकुठारेण छेदनमस्तु, एतत्कारणीभूततमोगुणनिवृत्तिः केन भवेत्, तद्विना तदङ्कुरनिवृत्तिर्न सम्भवतीत्यत्राह—

शिवज्ञाने समुत्पन्ने सहस्रादित्यसन्निभे ।
कुतस्तमोविकाराः स्युर्महतां शिवयोगिनाम् ॥ २१ ॥

सहस्रादित्यसङ्काशे शिवज्ञाने समुत्पन्ने सति महतां महापुरुषाणां शिवयोगिनां शिवशरणानां तमोविकाराः तमोङ्कुराः कुतः स्युः कस्मात् कारणाद् भवेयुः? कारणीभूतस्य तमसो मूलनाशादिति भावः ॥ २१ ॥

सहस्र सूर्य के समान शिवज्ञान के उत्पन्न होने पर महा शिवयोगियों के लिये तमो विकार कहाँ ॥ २१ ॥

इति तामसनिरसनस्थलम्

अथ निर्देशस्थलम्

अथ तामसनिराकरणेन भासमाननिर्देशस्थलं निरूपयति—

निराकृत्य तमोभागं संसारस्य प्रवर्तकम् ।
निर्दिश्यते तु यज्ज्ञानं स निर्देश इति स्मृतः ॥ २२ ॥

संसारप्रवृत्तेर्मूलकारणं तमोभागं निराकृत्य यद् ज्ञानं निर्दिश्यते उपदिश्यते, स तद् ज्ञानं निर्देश इति निर्देशस्थलमिति स्मृतः स्मृतमित्यर्थः ॥ २२ ॥

(निर्देशस्थल वर्णन)—संसार के प्रवर्त्तक अर्थात् मूलकारणभूत तमोभाग को दूर कर जो ज्ञान निर्दिष्ट होता है वह निर्देश कहा जाता है ॥ २२ ॥

अथ तज्ज्ञानं केनोपदिश्यत इत्यत्र गुरुरेवेति तन्महत्त्वं बहुधा प्रकाशयति—

गुरुरेव परं तत्त्वं प्रकाशयति देहिनाम् ।

को वा सूर्यं विना लोके तमसो विनिवर्तकः ॥ २३ ॥

(यथा) लोके सूर्यं विना तमोनिराकरणद्वारा पदार्थप्रकाशको (कोऽप्यन्यो) नास्ति, तथा गुरुं विना तमोनिराकरणद्वारा परतत्त्वप्रकाशको (कोऽपि) नास्तीत्यर्थः ॥ २३ ॥

गुरु ही मनुष्यों को परमतत्त्व का ज्ञान कराते हैं। सूर्य के विना संसार में अन्धकार का विनिवर्त्तक कौन हो सकता है? ॥ २३ ॥

पुनर्दृष्टान्तमाह—

अन्तरेण गुरुं सिद्धं कथं संसारनिष्कृतिः ।
निदानज्ञं विना वैद्यं किं वा रोगो निवर्तते ॥ २४ ॥

सिद्धं गुरुमन्तरेण ज्ञानसिद्धगुरुं विनेत्यर्थः, संसारनिष्कृतिः भवरोगनिवृत्तिः कथं स्यात् कथं भवेत्? तत्र दृष्टान्तः—निदानम् एतद्धेतुकस्यास्य रोगस्येदमौषधमिति रोगज्ञानपूर्वकचिकित्साभिज्ञं वैद्यं विना रोगो निवर्तते किं वा? न निवर्तत इत्यर्थः । यथा निदानज्ञानसहितेन वैद्येन विना रोगो न निवर्तते, तथा ज्ञानसिद्धगुरुव्यतिरेकेण संसारनिवृत्तिर्न सम्भवतीति तात्पर्यम् ॥ २४ ॥

सिद्ध गुरु के विना संसार की निष्कृति अर्थात् निवृत्ति कैसे सम्भव है। क्या निदानज्ञ वैद्य के विना रोग की निवृत्ति होती है ॥ २४ ॥

नन्वयं गुरुः कथं ज्ञायत इत्यत्राह—

अज्ञानमलिनं चित्तदर्पणं यो विशोधयेत् ।
प्रज्ञाविभूतियोगेन तमाहुर्गुरुसत्तमम् ॥ २५ ॥

अज्ञानमलिनं चित्तदर्पणं यः प्रज्ञाविभूतियोगेन 'प्रज्ञानं ब्रह्म'[1] इति श्रुतिप्रसिद्धशिवज्ञानविभूतिसम्बन्धेन शोधयेद् निर्मलं कुर्यात्, तं गुरुसत्तमं गुरुश्रेष्ठं सन्तम् आहुरित्यर्थः ॥ २५ ॥

जो प्रज्ञारूपी भस्म से अज्ञानमलिन चित्तदर्पण को शुद्ध करता है उसे (विद्वांन् लोग) उत्तम गुरु कहते हैं ॥ २५ ॥

अथ तादृशगुरुकटाक्षात् सकलसिद्धिर्भवतीत्याह—

अपरोक्षिततत्त्वस्य जीवन्मुक्तस्वभाविनः ।

---

१. ऐ०उ० ३।५।३

गुरोः कटाक्षे संसिद्धे को वा लोकषु दुर्लभः ॥ २६ ॥

अपरोक्षिततत्त्वस्य स्वस्वरूपेण साक्षात्कृतशिवतत्त्ववतो जीवन्मुक्त-स्वभाविनः—

विकल्परहितं ज्ञानं निषेधरहिता क्रिया ।
अलोकरञ्जकं रूपं जीवन्मुक्तस्य लक्षणम् ॥

इति वासिष्ठवचनाद् जीवन्मुक्तस्वरूपवतो गुरोः सद्गुरोः कटाक्षे कृपारसपूरितापाङ्गे संसिद्धे सति लोकेषु को वा दुर्लभः, न कोऽप्यलभ्य इत्यर्थः । भोगमोक्षलक्षणसकलसिद्धिर्भवतीति भावः ॥ २६ ॥

तत्त्व का साक्षात्कार करने वाले अत एव स्वभावतः जीवन्मुक्त गुरु की कृपादृष्टि प्राप्त हो जाने पर लोक में क्या दुर्लभ है? ॥ २६ ॥

नन्वेतादृशगुरवः सन्ति किमित्यत्र—

गुरवो बहवः सन्ति शिष्यवित्तापहारकाः ।
शिष्यहृत्तापहारस्तु गुरुरेकोऽपि दुर्लभः ॥

इति शिवरहस्यवचनानुसारेणाह—

कैवल्यकल्पतरवो गुरवः करुणालयाः ।
दुर्लभा हि जगत्यस्मिन् शिवाद्वैतपरायणाः ॥ २७ ॥

स्पष्टम् ॥ २७ ॥

कैवल्यरूपी फल देने के लिये कल्पवृक्ष के समान, करुणा के सागर तथा शिवाद्वैतपरायण गुरु इस संसार में दुर्लभ है ॥ २७ ॥

तस्माच्छिवलिङ्गतत्परः श्रीगुरुः प्राकृतगुरुभ्यः श्रेष्ठ इति वदन् निर्देशस्थलं समापयति—

क्षीराब्धिरिव सिन्धूनां सुमेरुरिव भूभृताम् ।
ग्रहाणामिव तिग्मांशुर्मणीनामिव कौस्तुभः ॥ २८ ॥
द्रुमाणामिव भद्रश्रीर्देवानामिव शङ्करः ।
गुरुः शिवः परः श्लाघ्यो गुरूणां प्राकृतात्मनाम् ॥ २९ ॥

भद्रश्रीर्मलयज इत्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ २८-२९ ॥

जिस प्रकार समुद्रों में क्षीर सागर, पर्वतों में सुमेरु, ग्रहों में सूर्य, मणियों में कौस्तुभ, वृक्षों में चन्दन तथा देवताओं में शङ्कर श्रेष्ठ और श्लाघ्य हैं ।

उसी प्रकार प्राकृत गुरुओं की अपेक्षा शिवज्ञानी गुरु श्रेष्ठ और प्रशस्य हैं ॥ २८-२९ ॥

इति निर्देशस्थलम्

अथ शीलसम्पादनस्थलम्

अथ श्रीगुरुनिर्देश्यज्ञानयोगात् शिवतत्त्वस्य जिज्ञासा शीलमित्युक्त्वा शीलवतः स्वरूपं सप्तभिः सूत्रैः प्रतिपादयति—

जिज्ञासा शिवतत्त्वस्य शीलमित्युच्यते बुधैः ।
निर्देश्ययोगादार्याणां तद्वान् शीलीति कथ्यते ॥ ३० ॥

आचार्याणां पूर्वोक्तलक्षणवदाचार्यैर्निर्देश्ययोगाद् उपदेश्यज्ञानयोगात् शिवतत्त्वस्य जिज्ञासा ज्ञातुमिच्छा शीलमिति बुधैः ज्ञानिभिरुच्यते, तद्वान् तादृशजिज्ञासालक्षणशीलवान् शीलीति कथ्यत इत्यर्थः ॥ ३० ॥

(शीलसम्पादनस्थल वर्णन)—गुरुओं के द्वारा निर्देश्य अर्थात् उपदेश्य होने के कारण विद्वान् लोग शिवतत्त्व की जिज्ञासा को शील कहते हैं । वह जिसके पास है वह शीली कहा जाता है ॥ ३० ॥

अथ निष्कर्षमाह—

प्रपन्नार्तिहरे देवे परमात्मनि शङ्करे ।
भावस्य स्थिरतायोगः शीलमित्युच्यते बुधैः ॥ ३१ ॥

पालयस्वेति शरणागतानां क्लेशहरे परब्रह्मस्वरूपशिवे चित्तस्थिरीकरणं शीलमिति बुधैः शिवशास्त्रज्ञैः कथ्यत इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

शरणागत के कष्ट को दूर करने वाले देवाधिदेव परमात्मा शङ्कर के प्रति भाव की स्थिरता को विद्वान् लोग शील कहते हैं ॥ ३१ ॥

अथ प्रकारान्तरेण तल्लक्षणमाह—

शीलं शिवैकविज्ञानं शिवध्यानैकतानता ।
शिवप्राप्तिसमुत्कण्ठा तद्योगी शीलवान् स्मृतः ॥ ३२ ॥

शिवे विज्ञानं शिव एव विशेषज्ञानं शिवध्यानैकतानता शिवध्यान एव अनन्यवृत्तित्वं शीलमित्युच्यते । तद्योगी शीलविशिष्टः शिवज्ञानसमुत्कण्ठातः शिवाभिगमनलालस्यात् शीलवानिति स्मृत इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

केवल शिव का ज्ञान, शिव का निरन्तर ध्यान और शिव की प्राप्ति के

लिये उत्कण्ठा शील कहलाता है । वह जिसके पास है वह शीलवान् माना गया है ॥ ३२ ॥

इममर्थमेव स्फुटीकृत्याह—

शिवादन्यत्र विज्ञाने वैमुख्यं यस्य सुस्थिरम् ।
तदासक्तमनोवृत्तिस्तमाहुः शीलभाजनम् ॥ ३३ ॥

शिवात् शिवलिङ्गाद् अन्यत्र विज्ञाने देवतान्तरविशेषज्ञाने वैमुख्यं विमुखत्वं यस्य शरणस्य सुस्थिर दृढम्, यस्य मनोवृत्तिः मनोव्यापारः, तदासक्ता शिवलिङ्ग एव लम्पटा, तं शीलभाजनं शीलभजकं सन्तम् आहुः ॥ ३३ ॥

शिव से भिन्न विज्ञान के विषय में जिसकी पराङ्मुखता स्थिर है तथा जिसकी मनोवृत्ति उस (अर्थात् शिव) में आसक्त है वह शील का पात्र अर्थात् शीलवान् होता है ॥ ३३ ॥

अत्र दृष्टान्तमाह—

पतिव्रताया यच्छीलं पतिरागात् प्रशस्यते ।
तथा शिवानुरागेण सुशीलोऽभक्त उच्यते ॥ ३४ ॥

पतिव्रताया यच्छीलं पातिव्रत्यं पतिरागात् पुरुषप्रीतिवशात् प्रशस्यते, तथा शिवानुरागेण शिवोपरि प्रीत्या अभक्तः अवियुक्तः शरणः सुशीलः शोभनशीलवानित्यर्थः । शरणलिङ्गयोः सतीपतिभावस्योक्तत्वात् पतिव्रता-दृष्टान्त कथितः ॥ ३४ ॥

जैसे पतिव्रता का जो शील है उसकी प्रशंसा पति के प्रति उसकी रागात्मिका भावना के कारण होती हैं । वैसे ही शिव के प्रति अनुराग के कारण अभक्त अर्थात् शिव के प्रति प्रीति से अवियुक्त मनुष्य भी सुशील कहा जाता है ॥ ३४ ॥

अथेममर्थमेव विशदयति—

पतिं विना यथा स्त्रीणां सेवाऽन्यस्य तु गर्हणा ।
शिवं विना तथान्येषां सेवा निन्द्या कृतात्मनाम् ॥ ३५ ॥

स्त्रीणां पतिं विना प्राणकान्तं विना अन्यस्य परपुरुषस्य सेवा यथा गर्हणा निन्दिता, तथा कृतात्मनां कृतकृत्यानां शिवशरणानां शिवं विना शिवलिङ्गं विना अन्येषा विष्ण्वादिदेवानां सेवा निन्द्या भवतीत्यर्थः ॥ ३५ ॥

जिस प्रकार स्त्रियों के लिये पति से अन्य पुरुष की सेवा निन्दनीय होती

है उसी प्रकार शिव के विना अन्य देवताओं की सेवा कृतकृत्य लोगों के लिये निन्दनीय है ॥ ३५ ॥

अथोक्तार्थं सङ्गृह्याह—

बहुनात्र किमुक्तेन शिवज्ञानैकनिष्ठता ।
शीलमित्युच्यते सद्भिः शीलवांस्तत्परो मतः ॥ ३६ ॥

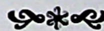
अत्र शीलविषये बहुभाषणेन किम् शिवज्ञानैकनिष्ठता श्रीगुरुनिर्दिष्टशिवज्ञान एकस्मिन्नेव निष्ठा शीलमिति सत्पुरुषैरुच्यते । तत्परस्तच्छीलासक्तः शीलवानिति मतः सम्मत इत्यर्थः ॥ ३६ ॥

इस विषय में अधिक कहने से क्या लाभ? सज्जन लोग शिवज्ञान के प्रति एकनिष्ठता को शील कहते हैं और उसमें जो लगा हुआ है वह शीलवान् माना गया है ॥ ३६ ॥

अथैवंविधशीलवान् शरण एव शिवलिङ्गैक्य इति शरणस्थलं समापयति—

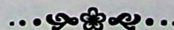
शिवात्मबोधैकरतः स्थिराशयः
शिवं प्रपन्नो जगतामधीशम् ।
शिवैकनिष्ठाहितशीलभूषणः
शिवैक्यवानेष हि कथ्यते बुधैः ॥ ३७ ॥

इति श्रीमत्षट्स्थलब्रह्मिण शिवयोगिनाम्ना रेणुकाचार्येण विरचिते सिद्धान्तशिखामणौ शरणस्य चतुःस्थलप्रसङ्गो नाम त्रयोदशः परिच्छेदः ॥ १३ ॥



शिवात्मबोधैकरतो लिङ्गाङ्गज्ञानैकनिष्ठः सन् जगतामधीशं शिवं प्रपन्नो रक्षेति शरणं गतः स्थिराशयः शिवशरणयोर्दृढीभूतसतीपतिभावयुक्तचित्तः शिवैकनिष्ठाहितशीलभूषणः शिवलिङ्गैकनिष्ठाकृतिशीलालङ्कारवानेष शरणः शिवैक्यवानिति बुधैः शिवशास्त्रप्रवीणैः कथ्यते हि प्रसिद्धमित्यर्थः ॥ ३७ ॥

इति श्रीमत्पदवाक्यप्रमाणपारावारधुरीणश्रीमरितोण्टदार्येण विरचितायां तत्त्वप्रदीपिकाख्यायां सिद्धान्तशिखामणिव्याख्यायां शरणस्यचतुःस्थलप्रसङ्गनामा त्रयोदशः परिच्छेदः ॥ १३ ॥



केवल शिवबोध में लगा हुआ, स्थिर भावना से युक्त, संसार के स्वामी शिव की शरण में गया हुआ, केवल शिव में निष्ठारूपी आभूषण को धारण करने वाला यह मनुष्य विद्वानों के द्वारा शिवैक्यवान् कहा जाता है ॥ ३७ ॥

इस प्रकार श्रीसिद्धान्तशिखामणि के शरणके चतुःस्थलप्रसङ्गनामक त्रयोदश परिच्छेद की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदीकृत 'ज्ञानवती' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ १३ ॥



चतुर्दशः परिच्छेदः

अथ ऐक्यस्थलम्

अथागस्त्यप्रश्नः—अगस्त्य उवाचेति—

तामसत्यागसम्बन्धान्निर्देशाच्छीलतस्तथा ।
शरणाख्यस्य भूयोऽस्य कथमैक्यनिरूपणम् ॥ १ ॥

तमोभागनिराकरणाद् ज्ञाननिर्देशात् तथा शीलसम्पादनात् शरणाख्यस्यास्य एतावन्मात्रेण कथमैक्यनिरूपणम् लिङ्गाङ्गयोर्भेद-घटितत्वादिति ॥ १ ॥

(ऐक्यस्थल वर्णन)—अगस्त्य ने कहा—तामस गुण का त्याग, ज्ञान-निर्देश तथा शीलसम्पादन के द्वारा शरण नामक साधक का पुनः ऐक्य कैसे होता है? ॥ १ ॥

अस्योत्तरं ददाति—श्रीरेणुक उवाचेति—

प्राणलिङ्गादियोगेन सुखातिशयमेयिवान् ।
शरणाख्यः शिवेनैक्यभावनादैक्यवान् भवेत् ॥ २ ॥

प्राणलिङ्गादियोगेन बाह्यलिङ्गपूजावैमुख्येनान्तर्लिङ्गपूजाध्यानयोगेन सुखातिशयं शिवसुखाातिशयम् एयिवान् लब्धवान् शरणाख्यः शिवेन शिवलिङ्गेन ऐक्यभावनाद् एकत्वचिन्तनाद् ऐक्यवान् शिवलिङ्गैक्यवान् भवेत् स्यादित्यर्थः । अयं भावः—लिङ्गात्मनोर्भेदो न सम्भवति, चिदेकरूपत्वात् । ननु चिद्रूपत्वेऽपि व्यक्तिभेदोऽस्तीति चेत्, उच्यते—स जीवः परिच्छिन्नचित्प्रकाशरूपो वा अपरिच्छिन्नचित्प्रकाशरूपो वा? नाद्यः, परिमितघटादिप्रकाशवत् स्वविषयस्वमात्रनिष्ठत्वेन परविषयपर-स्वरूपेष्वन्धबधिरप्रायत्वेन चैत्रो मैत्राद् भिन्नः, मैत्रश्चैत्राद् भिन्नः, चैत्रमहं जानामि, मैत्रमहं जानामिइति बाह्याभ्यन्तरानुसन्धानं न सम्भवतीति,

चैत्रोऽहमिति प्रकाशस्य तन्मात्रनिष्ठत्वात्, मैत्रस्वरूपतद्विषययोरन्धबधिरप्रायत्वात्, एवं मैत्रोऽहमिति प्रकाशः स्यादिति । अथापरिच्छिन्नप्रकाशत्वे तादृशप्रकाशद्वयाङ्गीकारो न सम्भवति, सेव्यसेवकभावाद्यसम्भवात्, प्रकाशैक्ये कल्पितभेदमादाय तत्सम्भवात् प्रकाशैक्यमङ्गीकरणीयम्, सर्वासर्वशब्दयोर्मायाकार्यकोटिप्रविष्टत्वेनान्तरालिकत्वात्, ज्ञत्वकर्तृत्वयोरेव स्वाभाविकत्वादिति तदेकत्वचिन्तनादैक्यवान् स्यादिति ॥ २ ॥

श्री रेणुकाचार्य ने कहा—प्राणलिङ्ग ध्यान योग के द्वारा अतिशय सुख को प्राप्त करने वाला शरण नामक साधक शिव के साथ ऐक्यभावना के कारण ऐक्यवान् हो जाता है ॥ २ ॥

विशेष—लिङ्ग और आत्मा का भेद सम्भव नहीं है क्योंकि दोनों चित्स्वरूप हैं । दोनों के चित्स्वरूप होने से दोनों में नितान्त पार्थक्य भी नहीं है क्योंकि तब अपना ज्ञान होने के समय घट पट आदि का ज्ञान नहीं होगा । वे दोनों नितान्त एक भी नहीं हो सकते क्योंकि तब शैव सिद्धान्त का व्याघात हो जायगा । शैव सिद्धान्त के अनुसार शिव और जीव में सेव्य-सेवक भाव होना चाहिये । इसलिये दोनों के बीच भेद की कल्पना करनी पड़ती है। इसके द्वारा भेद होने पर फिर ऐक्य भावना सम्भव है ।

अथास्यापि स्थलभेदाः सन्ति किमित्यत्राह—

ऐक्यस्थलमिदं प्रोक्तं चतुर्धा मुनिपुङ्गव ।
ऐक्यमाचारसम्पत्तिरेकभाजनमेव च ।
सहभोजनमित्येषां क्रमाल्लक्षणमुच्यते ॥ ३ ॥

स्पष्टम् ॥ ३ ॥

हे मुनिश्रेष्ठ! यह ऐक्यस्थल चार प्रकार का कहा गया है । ऐक्यस्थल आचारसम्पति स्थल, एकभाजनस्थल और सहभोजन स्थल । अब इनका क्रम से लक्षण कहा जा रहा है ॥ ३ ॥

'एकमेव तद्भवत्यविकल्पो नाविकल्पोऽपि नात्र काचन भिदास्ति नैवात्र काचन भिदास्त्यत्र भिदामिव मन्यमानः शतधा सहस्रधा भिन्नो मृत्योर्मृत्युमाप्नोति । तदेतदद्वयं स्वप्रकाशम्'[1] **इत्युत्तरतापनीयश्रुत्यनुसारेण लिङ्गैक्यस्य लक्षणं पञ्चभिः सूत्रैः प्रतिपादयति—**

विषयानन्दकणिकानिस्पृहो निर्मलाशयः ।

१. नृ०उ०उ० ८।७

शिवानन्दमहासिन्धुमज्जनादैक्यमुच्यते ॥ ४ ॥

विषयानन्दकणिकानिस्पृहः शब्दादिविषयानन्दशीकरेषु विरक्तः सन् निर्मलाशयो निर्मलचित्तवानेव शिवानन्दमहासिन्धुमज्जनात् शिवानन्दमहासमुद्रे तादात्म्यानुप्रवेशनाद् ऐक्य लिङ्गैक्यस्थलमित्युच्यत इत्यर्थः ॥ ४ ॥

विषयानन्द के लेशमात्र में भी निस्पृह, निर्मल चित्त वाला साधक शिवानन्द महासमुद्र में मज्जन अर्थात् सामरस्य स्थापित करने वाला ऐक्यस्थल कहलाता है ॥ ४ ॥

नन्विदमैक्यं कीदृशस्य सम्भवतीत्यत्राह—

निर्धूतमलसम्बन्धो निष्कलङ्कमनोगतः ।
शिवोऽहमिति भावेन निरूढो हि शिवैक्यताम् ॥ ५ ॥

निवारिताणवादिमलसम्पर्कवान् कलङ्करहितमनोव्यापारवान् शिवोऽहमिति परामर्शनेन शिवलिङ्गैक्यतां निरूढो हि भज(व)तीति प्रसिद्धम् ॥ ५ ॥

मल को हटाकर उससे असम्बद्ध, निष्कलङ्क मन वाला, साधक 'शिवोऽहम्' इस भावना से शिवैक्य को प्राप्त करता है ॥ ५ ॥

अथ किं पश्यन्नास्ती(स्त इ)त्यत्राह—

शिवेनैक्यं समापन्नश्चिदानन्दस्वरूपिणा ।
न पश्यति जगज्जालं मायाकल्पितवैभवम् ॥ ६ ॥

मायाशक्तिपरिकल्पितं विश्वमपश्यन्नास्त इत्यर्थः ॥ ६ ॥

चित् आनन्द रूप शिव से ऐक्य को प्राप्त मनुष्य माया के द्वारा रचित वैभव वाले संसार जाल को नहीं देखता ॥ ६ ॥

तत्कुतो न पश्यतीत्यत्राह—

ब्रह्माण्डबुदोद्भेदविजृम्भी तत्त्ववीचिमान् ।
मायासिन्धुर्लयं याति शिवैक्यवडवानले ॥ ७ ॥

ब्रह्माण्डबुद्बुदोद्भेदविजृम्भी ब्रह्माण्डरूपबुद्बुदाविर्भावेन वर्धिष्णुः, तत्त्ववीचिमान् षट्त्रिंशत्तत्त्वलक्षणवीचिमान् मायासिन्धुः शिवैक्यवडवानले शिवलिङ्गैक्यरूपवडवाग्नौ लयं याति । अतः कारणात् प्रपञ्चदर्शनं नास्ति, उपादानकारणनाशात् कार्यनाशस्यावश्यमङ्गीकरणीयत्वात् ॥ ७ ॥

ब्रह्माण्ड रूपी बुद्बुद के उद्भव से बाढ़ वाला, छत्तीस तत्त्वरूपी लहरों से युक्त मायारूपी समुद्र शिवैक्यरूपी वाडवाग्नि में लीन हो जाता है ॥ ७ ॥

अथ तदेव विशदयति—

मायाशक्तितिरोधानाच्छिवे भेदविकल्पना ।
आत्मनस्तद्विनाशे तु नाद्वैतात्किञ्चिदिष्यते ॥ ८ ॥

शिवे मायाशक्तेस्तिरोधानात् प्रसरणाद् आत्मनो जीवस्य भेदविकल्पना स्यात् । तद्विनाशे मायाप्रसरणस्य नाशे, अद्वैतात् किञ्चिद् ईषद्भेदोऽपि नेष्यते नेच्छाविषयीक्रियते ॥ ८ ॥

मायाशक्ति का शिव में तिरोधान होने पर जीव का शिव से भेदभाव होता है। उस (भेदभाव) के नष्ट होने पर अद्वैत के अतिरिक्त कुछ नहीं बचता ॥ ८ ॥

ननु शिवजीवयोः पतिपशुलक्षणभेदश्रवणात् कथं किञ्चिद्भेदोऽपि नेष्यत इत्युक्तमित्यत्र—

अहमेको न मे कश्चिन्नाहमन्यस्य कस्यचित् ।
न तं पश्यामि यस्याहं न तं पश्यामि यो मम ॥

इति देवीकालोत्तरवचनानुसारेण शिवलिङ्गैक्यस्य प्रसिद्धशिवाद्वैतं पञ्चभिः सूत्रैः प्रतिपादयति—

पशुत्वं च पतित्वं च मायामोहविकल्पितम् ।
तस्मिन् प्रलयमापन्ने कः पशुः को नु वा पतिः ॥ ९ ॥

स्पष्टम् ॥ ९ ॥

पशुभाव और पतिभाव ये दोनो मायामोह की विकल्पनायें हैं । उस मायामोह का प्रलय होने पर कौन पशु और कौन पति ॥ ९ ॥

अथास्य संसारस्य भेदवल्मीकनिष्ठसर्परूपत्वात् किमस्यौषधमित्यत्राह—

घोरसंसारसर्पस्य भेदवल्मीकशायिनः ।
बाधकं परमाद्वैतभावना परमौषधम् ॥ १० ॥

भेदवल्मीकशायिनो जडाजडभेदः, जीवाजीवभेदः, जीवजडभेदः, जीवेश्वरभेदः, जडेश्वरभेद इत्येवंरूपपञ्चविधभेदविशिष्टवल्मीकस्थितस्य घोरसंसारसर्पस्य जननमरणादिभयङ्करस्य संसारसर्पस्य बाधकमौषधं परमाद्वैत-भावना जडचेतनैक्यभावनेत्यर्थः ॥ १० ॥

यह परमाद्वैत भावना भेदरूपी[1] बिल में सोने वाले भयङ्कर संसार रूपी

१. यह भेद पाँच प्रकार का है—जड-अजड़ भेद, जीव-अजीव भेद, जीव-जड़ भेद, जीव-ईश्वर भेद और जड़-ईश्वर भेद ।

सर्प का बाधक परम औषधि है ॥ १० ॥

नन्वस्य संसारस्य भेदबुद्धिसमुत्पन्नमहासागरत्वादिमं केनोपायेन को वा तरतीत्यत्राह—

भेदबुद्धिसमुत्पन्नमहासंसारसागरम् ।
अद्वैतबुद्धिपोतेन समुत्तरति देशिकः ॥ ११ ॥

देशिकः शिवलिङ्गैक्य इत्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ११ ॥

आचार्य अथवा शिवलिङ्गैक्य भावना वाला व्यक्ति भेदबुद्धि से उत्पन्न महा संसारसागर को अद्वैत बुद्धिरूपी जहाज से पार कर जाता है ॥ ११ ॥

नन्वियं संसृतिः कामरक्षःक्रियाकरी कालरात्रिर्भवति(न्ती) केन नश्यतीत्यत्राह—

अज्ञानतिमिरोद्रिक्ता कामरक्षःक्रियाकरी ।
संसारकालरात्रिस्तु नश्येदद्वैतभानुना ॥ १२ ॥
तस्मादद्वैतभावस्य सदृशो नास्ति योगिनाम् ।
उपायो घोरसंसारमहातापनिवृत्तये ॥ १३ ॥

अज्ञानतिमिरोद्रिक्ता अज्ञानलक्षणगाढान्धकारेणोत्पन्ना सती कामरक्षः-क्रियाकरी कामलक्षणराक्षसकृत्यं कुर्वती संसारकालरात्रिः, अद्वैतभानुना शिवाद्वैतसूर्येण नश्यतीत्यर्थः॥ १२-१३ ॥

अज्ञानरूपी अन्धकार से भरी हुई, कामरूपी राक्षसी कृत्य करने वाली संसाररूपी कालरात्रि शिवाद्वैतरूपी सूर्य के द्वारा नष्ट हो जाती है । इस कारण योगियों के लिये घोर संसाररूपी महाताप को दूर करने के हेतु अद्वैत भाव के समान कोई दूसरा उपाय नहीं है ॥ १२-१३ ॥

अथ शिवाद्वैतातिशयमुक्त्वा सूत्रद्वयेनैक्यस्थलं समापयति—

अद्वैतभावनाजातं क्षणमात्रेऽपि यत्सुखम् ।
तत्सुखं कोटिवर्षेण प्राप्यते नैव भोगिभिः ॥ १४ ॥
चित्तवृत्तिसमालीनजगतः शिवयोगिनः ।
शिवानन्दपरिस्फूर्तिर्मुक्तिरित्यभिधीयते ॥ १५ ॥

भोगिभी राजभोगिभिरित्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ १४-१५ ॥

अद्वैत भावना से उत्पन्न तथा एक क्षण के लिये जो सुख होता है वह राजभोगी लोग करोड़ों वर्षों में भी नहीं प्राप्त कर सकते । जिसने संसार को

अपनी चित्तवृत्ति में लीन कर लिया है ऐसे शिवयोगी की शिवानन्दपरिस्फूर्त्ति मुक्ति कही जाती है ॥ १४-१५ ॥

इत्यैक्यस्थलम्

अथ आचारसम्पत्तिस्थलम्

अथ—'यथा रविः सर्वरसान् प्रभुङ्क्ते हुताशनश्चापि हि सर्वभक्षकः । तथैव योगी विषयान् प्रभुङ्क्ते न लिप्यते कर्मशुभाशुभैश्च ॥'

इति शिवरहस्यवचनानुसारेण लिङ्गैक्यस्य सदाचारसम्पत्तिं द्वादशसूत्रैः प्रतिपादयति—

शिवैकभावनापन्नशिवत्वो देहवानपि ।
देशिको हि न लिप्येत स्वाचारैः सूतकादिभिः ॥ १६ ॥

शिवैकभावनया लब्धशिवत्ववान् देशिकः शिवलिङ्गैक्यो देहवानपि जीवन्मुक्तः सन् सूतकादिभिः सूतकप्रभृतिभिः स्वाचारैः स्वेच्छाचारैः, न लिप्येतेत्यर्थः ॥ १६ ॥

(आचारसम्पत्तिस्थल वर्णन)—'शिव ही एकमात्र सत्य है'—ऐसी भावना से युक्त अतएव शिवत्व वाला आचार्य शरीरधारण करने पर भी सूतक आदि अपने सम्प्रदाय या समाज के आचारों से लिप्त अर्थात् दूषित नहीं होता ॥ १६ ॥

कस्मादित्यत्राह—

शिवाद्वैतपरिज्ञाने स्थिते सति मनस्विनाम् ।
कर्मणां किं नु भाव्यं स्यादकृतेन कृतेन वा ॥ १७ ॥

मनस्विनां लिङ्गैक्यनिष्ठचित्तवृत्तीनां शिवाद्वैतज्ञाने स्थिरे सति, अकृतेन कर्मणा दुष्कर्मणा कृतेन वा सत्कर्मणा वा किं नु भाव्यं स्यात्, न किञ्चिदपि स्यादित्यर्थः ॥ १७ ॥

शिवाद्वैत का परिज्ञान होने पर मनस्वियों के सत्कर्म अथवा असत्कर्म का कोई फल नहीं होता ॥ १७ ॥

तत्कुत इत्यत्राह—

शम्भोरेकत्वभावेन सर्वत्र समदर्शनः ।
कुर्वन्नपि महाकर्म न तत्फलमवाप्नुयात् ॥ १८ ॥

सर्वत्र समदर्शनो लोष्टाश्मकाञ्चनादिषु सर्वत्र समदर्शनः शिवलिङ्गैक्यः शम्भोरेकत्वभावेन ऐक्यभावेन महाकर्म पुण्यपापरूप महाकर्म कुर्वन्नपि

तत्फलं नाप्नुयात् । सर्वस्यापि शिवमयत्वेन दर्शनात् तल्लेपो नास्तीति भावः ॥ १८ ॥

(जीवात्मा और) शिव के एकत्व की भावना से सर्वत्र एक एवं तुल्य दृष्टि वाला महान् अर्थात बड़े-बड़े सत् या असत् कर्मों को करता हुआ भी उनके फल से लिप्त नहीं हाता ॥ १८ ॥

सुकृती दुष्कृती वापि ब्राह्मणो वान्त्यजोऽपि वा ।
शिवैकभावयुक्तानां सदृशो भवति ध्रुवम् ॥ १९ ॥

शिवैकभावयुक्तानां सर्वत्र शिवाभेदज्ञानयुक्तानां शिवलिङ्गैक्यानां सुकृती पुण्यात्मा वा दुष्कृती पापात्मा वा ब्राह्मणो अन्त्यजो वा श्वपचो वा सदृशः समानो भवति ध्रुवं निश्चयः ॥ १९ ॥

चाहे पुण्यकर्मा हो या पापी, ब्राह्मण हो या चाण्डाल, शिवैकभाव से युक्त योगियों के लिये वे सब निश्चित रूप से समान हैं[1] ॥ १९ ॥

ननु शिवज्ञानिनामपि वर्णाश्रमप्राप्तधर्माः कथं त्यजनीया इत्यत्राह—

वर्णाश्रमसदाचारैर्ज्ञानिना किं प्रयोजनम् ।
लौकिकस्तु सदाचारः फलाभावेऽपि भाव्यते ॥ २० ॥

वर्णाश्रमप्राप्तैर्ब्राह्मणादिवर्णब्रह्मचर्याद्याश्रमप्राप्तैः सदाचारैः ज्ञानिनां शिवज्ञानिनां किं प्रयोजनं न किञ्चित् प्रयोजनमित्यर्थः । कुत इत्यत्राह लौकिकस्तु सदाचारो वर्णाश्रमगतनित्यनैमित्तिकसदाचारः फलाभावेऽपि भाव्यते विधीयत इत्यर्थः ॥ २० ॥

शिवज्ञानियों को लौकिक वर्ण आश्रम के सदाचार से क्या प्रयोजन । (नित्य नैमित्तिक आदि) लौकिक सदाचार फल न देने पर भी उनके द्वारा किया जाता है ॥ २० ॥

ननु ज्ञानिनामपि शरीरसम्बन्धस्य विद्यमानत्वात् कथं ते परित्यजनीयाः, अकरणे प्रत्यवायश्रवणादित्यत्राह—

निर्दग्धकर्मबीजस्य निर्मलज्ञानवह्निना ।
देहिवद् भासमानस्य देहयात्रा तु लौकिकी ॥ २१ ॥

निर्मलशिवसंविद्वह्निना पुनरुत्पत्तिशङ्काशून्यत्वेन नितरामतिशयेन

---

१. तुल०—अत्र पिताऽपिताभवति.....अनन्वागतं पुण्येनानन्वागतं पापेन...... (बृ० उ० ४।३।२२)

दग्धपुण्यपापलक्षणकर्मबीजवतः शिवज्ञानिनः प्रत्यवायसम्बन्धो नास्त्येव । दग्धपटन्यायेन शरीरीव भासमानस्य तस्य देहयात्रा तु करचरणसञ्चालनादिव्यवहृतिस्तु लौकिकी विदेहकैवल्यपर्यन्तमनुवर्तत इत्यस्थिरेत्यर्थः ॥ २१ ॥

निर्मल ज्ञानरूपी अग्नि से जिसका कर्मबीज दग्ध हो गया है, देही के समान प्रतीत होने वाले ऐसे शरीरधारी की देहयात्रा (= आहार निद्रा आदि) लौकिकी अर्थात् अन्य लोगों की भाँति होती है (किन्तु उस यात्रा से फल और संस्कार नहीं बनते) ॥ २१ ॥

अथ—'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये',[१] 'तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम', 'यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवविदि पापं कर्म न श्लिष्यते',[२] 'स उत्तमः पुरुषः स तत्र पर्येति'[३] इति छान्दोग्यश्रुत्यनुसारेणाह—

शिवज्ञानसमापन्नस्थिरवैराग्यलक्षणः ।
स्वकर्मणा न लिप्येत पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ २२ ॥

शिवज्ञानलब्धदृढवैराग्यचिह्नः शिवलिङ्गैक्यः स्वकर्मणा स्वेच्छाकर्मणा अम्भसा जलेन पद्मपत्रमिव न लिप्येत इत्यर्थः ॥ २२ ॥

शिवज्ञान से युक्त स्थिरवैराग्य वाला साधक अपने कर्म से उसी प्रकार लिप्त नहीं होता जिस प्रकार की जल से कमल का पत्ता ॥ २२ ॥

'यथा वायुः सुशीघ्रोऽपि मुक्त्वाकाशं न गच्छति' इति निःश्वासकारिकानुसारेण शिवलिङ्गनिष्ठस्य सर्वापि क्रिया शिवलिङ्गपूजारूपेति पञ्चभिः सूत्रैः प्रतिपादयति—

गच्छंस्तिष्ठन् स्वपन् वापि जाग्रन् वापि महामतिः ।
शिवज्ञानसमायोगाच्छिवपूजापरः सदा ॥ २३ ॥

महामतिः शिवलिङ्गैक्यः, गच्छन् गमनसमये तिष्ठन्, स्थितिसमये- स्वपन् निद्रासमये जाग्रन्, विषयदर्शनसमये सदा निरन्तरं शिवज्ञानसमायोगात् शिवानुसन्धानसम्बन्धात् शिवपूजापरः लिङ्गनिष्ठ इत्यर्थः ॥ २३ ॥

चलता हुआ, खड़ा हुआ, सोता अथवा जागता हुआ महामतिमान्

---

१. छा०उ० ६।१४।२ २. छा०उ० ४।१४।३
३. छा०उ० ८।१२।३

शिवज्ञान से सम्बद्ध होने के कारण सदा शिवपूजा करता रहता है[१] ॥ २३ ॥

ननु विषयदर्शनसमये कथं शिवानुसन्धानमित्यत्राह—

यद्यत्पश्यति सामोदं वस्तु लोकेषु देशिकः ।
शिवदर्शनसम्पत्तिस्तत्र तत्र महात्मनः ॥ २४ ॥

देशिकः शिवलिङ्गैक्यः, लोकेषु यद्यद्वस्तु घटपटादिकं सामोदं प्रीतियुक्तं सत् पश्यति, तत्र तत्र तस्मिंस्तस्मिन् वस्तुनि महात्मनः शिवलिङ्गैक्यस्य शिवदर्शनसम्पत्तिः शिवालोकनसम्पत्तिर्भवेत् शिवातिरेकेण पदार्थान्तराभावात् चिन्मयत्वबुद्धिर्भवेदित्यर्थः ॥ २४ ॥

शिवलिङ्गैक्य आचार्य इस संसार में आनन्द के साथ जिस-जिस वस्तु को देखता है उस-उस में उस महात्मा को शिव की प्रतीति होती है ॥ २४ ॥

अथ—

आत्मा त्वं गिरिजा मतिः परिचराः प्राणाः शरीरं गृहं
पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः ।
सञ्चारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वा गिरो
यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम् ॥

इत्यभियुक्तवचनानुसारेण त्रिकरणशुद्धशिवलिङ्गपूजोपचारं त्रिभिः सूत्रैः प्रतिपादयन् आचारसम्पत्तिस्थलं समापयति—

यद्यच्चिन्तयते योगी मनसा शुद्धभावनः ।
तत्तच्छिवमयत्वेन शिवध्यानमुदाहृतम् ॥ २५ ॥

शुद्धभावनो निर्मलभावनावानित्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ २५ ॥

शुद्धभावना वाला योगी मन से जिस-जिस का ध्यान करता है वह-वह शिवमय होने से शिवध्यान कहा गया है ॥ २५ ॥

यत्किञ्चिद् भाषितं लोके स्वेच्छया शिवयोगिना ।

---

१. तुलनीय—
आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहं
पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः ।
सञ्चारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वा गिरः
यद्यत् कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम् ॥ (शि०मा०पू०)

शिवस्तोत्रमिदं सर्वं यस्मात् सर्वात्मकः शिवः ॥ २६ ॥

स्पष्टम् ॥ २६ ॥

शिवयोगी स्वेच्छा से इस संसार में जो कुछ कहता है वह सब शिवस्तोत्र हो जाता है क्योंकि शिव सब में विद्यमान है ॥ २६ ॥

या या चेष्टा समुत्पन्ना जायते शिवयोगिनाम् ।
सा सा पूजा महेशस्य सर्वदा तद्गतात्मनाम् ॥ २७ ॥

शिवयोगिनां शिवलिङ्गैक्यानां या या चेष्टा कायक्रिया जायते, तद्गतात्मनां शिवलिङ्गे तादात्म्येन प्रविष्टस्वरूपवतां तेषां सा सा क्रिया सर्वदा महेशस्य शिवलिङ्गस्य पूजेत्यर्थः ॥ २७ ॥

शिवयोगियों की जो-जो चेष्टायें (उनके शरीर में) उत्पन्न होती हैं वह सब शिवमय आत्मा वाले उनके लिये सदाशिव की पूजा होती हैं ॥ २७ ॥

इत्याचारसम्पत्तिस्थलम्

अथैकभाजनमस्थलम्

अथ—'परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति'[1] **इति मुण्डकोपनिषद्वचनानुसारेण सर्वाचारसम्पत्तिमतः शिवलिङ्गैक्यस्य एकभाजनस्थलं पञ्चभिः सूत्रैः प्रतिपादयति—**

विश्वं शिवमयं चेति सदा भावयतो धिया ।
शिवैकभाजनात्मत्वादेकभाजनमुच्यते ॥ २८ ॥

लिङ्गैक्यस्य शिवैक्यभाजनात्मत्वात् शिवैकाश्रयत्वाद् एकभाजनस्थलमित्युच्यत इत्यर्थः ॥ २८ ॥

(एकभाजनस्थल वर्णन)—'यह विश्व शिवमय है'—मन से ऐसी भावना करना शिवैकभाजनात्मक होने से एकभाजन कहा जाता है ॥ २८ ॥

ननु किमनेन भवतीत्यत्राह—

स्वस्य सर्वस्य लोकस्य शिवस्याद्वैतदर्शनात् ।
एकभाजनयोगेन प्रसादैक्यमतिर्भवेत् ॥ २९ ॥

स्वस्य स्वात्मनः सर्वस्य लोकस्य समस्तजनस्य अद्वैतदर्शनाद् अहमिति चिदैक्यदर्शनाद् एकभाजनयोगेन एककूटत्वेन प्रसादैक्यमतिः शिवप्रसाद एव

---

१. मुं०उ० ३।२।७

स्वप्रसादः, स्वप्रसाद एव शिवप्रसादः, स एष स्वातिरिक्त इव भासमानस्य शिवभक्तस्य प्रसाद इति प्रसादैक्यमतिर्भवेदिति चरमूर्तिपादोदकप्रसादावपि शिवस्य स्वस्य च योग्याविति भावः ॥ २९ ॥

अपने सम्पूर्ण संसार तथा शिव को एक समझने के कारण एक पात्र होने से प्रसादविषयिणी अद्वैत बुद्धि होती है इस प्रकार चरमूर्त्ति अर्थात् लिङ्गैक्य का पादोदक और शिवलिङ्ग को स्नान कराया जल दोनों समान रूप से ग्राह्य होते हैं ॥ २९ ॥

ननु शिवस्य विश्वस्यैकरूपत्वे तयोः स्थितिः कथमित्यत्राह—

शिवे विश्वमिदं सर्वं शिवः सर्वत्र भासते ।
आधाराधेयभावेन शिवस्य जगतः स्थितिः ॥ ३० ॥

शिवे विश्वं विश्वस्मिन् शिव इति बीजाङ्कुरन्यायेनाधाराधेयभावेन सम्बन्धेन सामरस्येन शिवस्य जगतः स्थितिरित्यर्थः ॥ ३० ॥

यह समस्त विश्व शिव में है और शिव सर्वत्र प्रकाशमान हो रहे हैं इस प्रकार शिव और संसार की आधारआधेय सम्बन्ध से स्थिति है (अर्थात् शिव और जगत् दोनों एक साथ एक दूसरे के आधार और आधेय हैं) ॥ ३० ॥

एवं चिदेकभाजनतां प्राप्तस्य मायिकभेदेन प्रयोजनं नास्तीत्याह—

चिदेकभाजनं यस्य चित्तवृत्तेः शिवात्मकम् ।
नान्यत् तस्य किमेतेन मायामूलेन वस्तुना ॥ ३१ ॥

यस्य लिङ्गैक्यस्य चित्तवृर्त्तेमनोव्यापारस्य चिद् मनोव्यापाररूपा ज्ञप्तिरेव शिवात्मकमेकभाजनं शिवस्वरूपैकभाजनम्, तस्य मायामूलेन मायामूलकेन एतेन भेदेन किम् किं प्रयोजनम् न किञ्चित्प्रयोजनमित्यर्थः ॥ ३१ ॥

जिसकी चित्तवृत्ति शिवात्मक और मात्र चैतन्य विषय वाली है किसी दूसरे विषय वाली नहीं उसको मायामूलक इस वस्तु से क्या लेना देना? ॥ ३१ ॥

नन्विदं विश्वं कथं शिवात्मकमित्यत्राह—

चित्प्रकाशयते विश्वं तद्विना नास्ति वस्तु हि ।
चिदेकनिष्ठचित्तानां किं मायापरिकल्पितैः ॥ ३२ ॥

विश्वं घटाद्युपलक्षितनिखिलप्रपञ्चं चित्प्रकाशयते । तद्विना चित्प्रकाशं विना वस्तु घटादिवस्तु नास्ति । विषयसत्त्वोपगमे संविदेव भगवती शरणमिति प्राभाकरा अपि मन्यन्ते । अतो यद्यदधीनतया भासते, तत्तदात्मकं

जलतरङ्गादिवदिति चिदेकनिष्ठचित्तानां मायापरिकल्पितैः प्रापञ्चिकवेद्यपदार्थैः किं प्रयोजनमित्यर्थः ॥ ३२ ॥

चित् ही घट आदि से उपलक्षित समस्त प्रपञ्चमय विश्व को प्रकाशित करता है । उसके विना कोई वस्तु है ही नहीं । जिनका चित्त केवल एकमात्र चित् में लगा हुआ है उनके लिये माया परिकल्पित (वस्तुओं) से क्या प्रयोजन? ॥ ३२ ॥

अथैकभाजनस्थलं समापयति—

वृत्तिशून्ये स्वहृदये शिवलीने निराकुले ।
यः सदा वर्तते योगी स मुक्तो नात्र संशयः ॥ ३३ ॥

यः शिवयोगी वृत्तिशून्ये व्यापारशून्ये निराकुले क्षोभरहिते शिवलीने शिवलिङ्गैक्यभूते स्वहृदये सदा वर्तते, स मुक्तः जीवन्मुक्त इत्यर्थः । अत्र सन्देहो नास्तीत्यर्थः ॥ ३३ ॥

जो योगी सर्वदा वृत्तिशून्य शिव में लीन अतएव निराकुल अर्थात् शान्त अपने हृदय में ध्यानस्थ रहता है वह मुक्त होता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥ ३३ ॥

इत्येकभाजनस्थलम्

अथ सहभोजनस्थलम्

अथ—'अग्राह्यमग्राह्येण वायुं वायव्येन सोमं सौम्येन ग्रसति स्वेन तेजसा तस्मादुपसंहर्त्रे महाग्रासाय वै नमो नमः' **इत्यथर्वश्रुत्यनुसारेणैकभाजनस्थल-निष्ठस्य सहभोजनस्थलं दशभिः सूत्रैः प्रतिपादयति—**

गुरोः शिवस्य शिष्यस्य स्वस्वरूपतया स्मृतिः ।
सहभोजनमाख्यातं सर्वग्रासात्मभावतः ॥ ३४ ॥

श्रीगुरोः शिवलिङ्गस्य शिष्यस्य च स्वरूपतया स्वात्माभेदेन अस्मत्प्रत्ययानतिरिक्तत्वेन स्मृतिः सर्वग्रासात्मभावतो घटो मया ज्ञातः, पटो मया ज्ञातः, चैत्रो मया ज्ञातः, मैत्रो मया ज्ञात इति विश्वभेदग्रसनमेव स्वरूपत्वात् सहभोजनम् अनुभूतपदार्थस्य पुनः स्वात्मविश्रान्तत्वेन परामर्शन-लक्षणं सहभोजनमित्यर्थः ॥ ३४ ॥

(सहभोजनस्थल वर्णन)—गुरु शिव और शिष्य का अपने रूप में स्मरण सर्वग्रासात्मभाव के कारण सहभोजन कहा गया है ॥ ३४ ॥

अथ निष्कर्षमाह—

शिवं विश्वं गुरुं साक्षाद् योजयेन्नित्यमात्मनि ।
एकत्वेन चिदाकारे तदिदं सहभोजनम् ॥ ३५ ॥

साक्षाच्चिदाकार आत्मनि शिवं गुरुं विश्वं च एकत्वेन एकरूपत्वेन नित्यं संयोजयेत् । संयोजनं नाम अस्मद्रूपानतिरिक्तत्वेन परामर्शनं यदस्ति तदिदं सहभोजनम् । अत्र गुरुशिवयोरस्मद्रूपानतिरिक्तत्वात् स्वात्मैक्येन संयोजनं सम्भवति, इदंरूपतया भासमानस्य जडस्य कथमात्मैक्यसंयोजनं सम्भवतीति नाशङ्कनीयम्, तस्याप्युक्तरीत्यात्मविश्रान्तत्वात् । अन्यथा स्मृतिर्न स्यात्, संसारस्यापि सविषयत्वेनैवात्मसमवेतत्वात् ॥ ३५ ॥

शिव विश्व और गुरु को प्रतिदिन साक्षात् चिदाकार आत्मा में एक रूप में जोड़ने वाला सहभोजन कहलाता है ॥ ३५ ॥

विशेष—सहभोजन का तात्पर्य है शिव गुरु और विश्व का अपने स्वरूप से अभिन्न रूप में परामर्श करना ।

अथ पुनरपि निष्कर्षमाह—

अयं शिवो गुरुश्चैष जगदेतच्चराचरम् ।
अहं चेति मतिर्यस्य नास्त्यसौ विश्वभोजकः ॥ ३६ ॥

अयं शिवः, एष गुरुः स्वामी, एतत्स्थावरजङ्गमात्मकं विश्वम्, अहं च इति यस्य बुद्धिर्भेदबुद्धिर्नास्ति, सोऽसौ शिवलिङ्गैक्यो विश्वभोजको जगद्भेद-भक्षक इत्यर्थः ॥ ३६ ॥

यह शिव हैं यह गुरु है और यह चराचर जगत् है और यह मैं हूँ—ऐसी जिसकी भेदबुद्धि होती है वह विश्वभोजक नहीं होता ॥ ३६ ॥

अथेतोऽपि निष्कर्षमाह—

अहं भृत्यः शिवः स्वामी शिष्योऽहं गुरुरेव वै ।
इति यस्य मतिर्नास्ति स चाद्वैतपदे स्थितः ॥ ३७ ॥

शिवः स्वामी अहं भृत्य एष गुरुरहं शिष्य इति यस्य मतिर्भेदबुद्धिर्नास्ति, स च शिवलिङ्गैक्यः, अद्वैतपदे विश्वभेदग्रासात्मकशिवाद्वैतस्थाने, स्थितः तिष्ठतीत्यर्थः ॥ ३७ ॥

मै सेवक हूँ और शिव स्वामी हैं, मैं शिष्य हूं और ये गुरु हैं—ऐसी जिसकी भेदबुद्धि नहीं है वह अद्वैतपद में स्थित होता है ॥ ३७ ॥

अथैवंविधसहभोजनसम्पन्न एव विश्वहोमीति कथ्यत इत्याह—

पराहन्तामये स्वात्मपावके विश्वभास्वति ।
इदन्ताहव्यहोमेन विश्वहोमीति कथ्यते ॥ ३८ ॥

विश्वप्रकाशे उत्कृष्टमूलाहङ्कारमये स्वात्माग्नौ इदन्तारूपहवनद्रव्यहोमेन विश्वहोमीति कथ्यत इत्यर्थः ॥ ३८ ॥

विश्व को आभासित करने वाली पर अहन्तारूपी आत्मारूपी अग्नि में इदन्तारूपी हव्य का होम करने वाला विश्वहोमी कहा जाता है ॥ ३८ ॥

ननु कासौ पराहन्तेत्यत्राह—

अहं शिवो गुरुश्चाहमहं विश्वं चराचरम् ।
यया विज्ञायते सम्यक् पूर्णाहन्तेति सा स्मृता ॥ ३९ ॥

शिवोऽहं गुरुरहं च चराचरं विश्वमहमिति यया चित्या सम्यग् विज्ञायते, अत्र—'प्रत्यवमर्शात्मासौ चितिः स्वरसवाहिनी परा वाग् या । आद्यन्तप्रत्याहृतवर्णगणा सत्यहन्ता सा ॥'[1] **इति पञ्चाशिकाशास्त्रस्थित्या देशकालाद्याकारकृतसङ्कोचराहित्येन तद्वाचकसकलमातृकार्णक्रोडीकारलक्षणप्रत्याहृताकारहकारसम्मेलनात्मकतदन्तर्गतवेद्यसंस्कारलक्षणबिन्दुस्पन्दस्फुरितपरशक्तिशिवात्मकत्वेन स्थूलप्रपञ्चोत्पत्तेः प्राक् तत्कारणत्वेनाण्डरसन्यायेन सामान्यतोऽहमिति पश्चाद् अन्यव्यामिश्रमस्वतन्त्रं भेदाशक्यावभासनं प्रतिबिम्बमिति तल्लक्षणयोगसाम्येन प्रतिबिम्बगत्या विश्वमयत्वेन स्वातन्त्र्येण भासमाना पूर्णाहन्तेति स्मृतेत्यर्थः ॥ ३९ ॥**

मैं ही शिव हूँ, मैं ही गुरु हूँ, मैं ही चर-अचर विश्व हूँ—ऐसा जिसके द्वारा जाना जाता है वह पूर्णाहन्ता मानी गयी है ॥ ३९ ॥

विशेष—यह संसार अकारादि क्षकारान्त ५० वर्णों के विकास का फल है । साधना के द्वारा इस अ ह दो वर्णों में प्रत्याहृत कर लेने के पश्चात् उसका भी बिन्दु के रूप में प्रत्याहरण हो जाता है । यह बिन्दु अ ह का सूक्ष्मतम रूप है । इसमे मयूराण्डरसन्यायेन सम्पूर्ण विश्व प्रच्छन्न रहता है । यही पूर्ण अहंभाव है । जिसमें समस्त जगत् सूक्ष्म रूप से प्रतिबिम्बित होता रहता है ।

---

१. तुलनीय—
चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परावाक् स्वरसोदिता ।
स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्यं तदैश्वर्यं परमात्मनः ॥ (ई०प्र० १।५।१३)

अथोक्तलक्षणविश्वहोम्येव ज्ञानयज्ञदीक्षित इत्याह—

आधारवह्नौ चिद्रूपे भेदजातं जगद्धविः ।
जुहोति ज्ञानयज्वा यः स ज्ञेयो विश्वहव्यभुक् ॥ ४० ॥

चिद्रूपे ज्ञानस्वरूपे आधारवह्नौ आज्ञाचक्रगतवह्नौ भेदजातं मायाकल्पितं जगद्धविः विश्वहविः यो जुहोति, स विश्वहव्यभुग् विश्वहविर्भोक्ता ज्ञानयज्वा ज्ञानयज्ञदीक्षित इति ज्ञेयो ज्ञातुं योग्य इत्यर्थः ॥ ४० ॥

जो ज्ञानयज्ञ का कर्त्ता चिद्रूपी आधारवह्नि अर्थात् आज्ञाचक्र में स्थित तेज में भेदसमूह वाले जगत् रूपी हवि का हवन करता है उसे विश्वहव्यभुक् समझना चाहिये ॥ ४० ॥

ननु प्रत्यक्षवह्नौ तद्व्यतिरिक्तकाष्ठादौ निक्षिप्ते सति तन्नाशो (न) दृश्यते, ज्ञानाग्नौ निक्षिप्तजगतो नाशः कथमित्यत्राह—

चिदाकारे पराकाशे परामनन्दभास्वति ।
विलीनचित्तवृत्तीनां का वा विश्वक्रमस्थितिः ॥ ४१ ॥

चिदाकारे पराकाशे ऊर्ध्वहृत्कमलकर्णिकाविवरे परमानन्दभास्वति नित्यानन्दमयमहालिङ्गाख्यभानौ विलीनचित्तवृत्तीनां लयीभूतमनोव्यापारवतां लिङ्गैक्यानां विश्वक्रमस्थितिः विश्वव्यापारवर्तनम्, (का) कापि नास्तीत्यर्थः ॥ ४१ ॥

परम आनन्दरूपी सूर्य वाले चित्स्वरूप पराकाश में जिनकी चित्तवृत्तियाँ विलीन हो गयी हैं उनके लिये विश्वक्रम अर्थात् विश्वव्यवहार की क्या स्थिति हो सकती है ॥ ४१ ॥

अथ तस्य सहभोजनसम्पन्नस्य लिङ्गैक्यस्य मुक्तिस्वरूपं सूत्रद्वयेन कथयति—

निरस्तविश्वसम्बाधे निष्कलङ्के चिदम्बरे ।
भावयेल्लीनमात्मानं सामरस्यस्वभावतः ॥ ४२ ॥
सैषा विद्या परा ज्ञेया सत्तानन्दप्रकाशिनी ।
मुक्तिरित्युच्यते सद्भिर्जगन्मोहनिवर्तिनी ॥ ४३ ॥

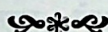
निवारितजननमरणादिक्लेशे दोषरहिते चिदाकाशस्वरूपे महालिङ्गे, अङ्गशब्दवाच्यमात्मानं स्वरूपहानिवृद्धिव्यतिरेकेण सजातीयसमानसमरसभावेन लीनं स्थिरसिद्धिमन्तं भावयेत् । सैषा सच्चिदानन्दस्वरूपप्रकाशिनी परा विद्येति ज्ञातुं योग्या जगन्मोहनिवर्तिनी विश्वभेदभ्रान्तिनिवर्तिनी परा मुक्तिरिति सत्पुरुषैरुच्यत इत्यर्थः ॥ ४२-४३ ॥

विश्व की बाधा अर्थात् जन्म-मृत्यु आदि का बन्धन जहाँ दूर हो गया है ऐसे निष्कलङ्क चिदाकाश में अपने को सामरस्यस्वभाव से लीन समझना चाहिये । सज्जनों के द्वारा यह जगत् का मोह दूर करने वाली मुक्ति कही जाती है ॥ ४२-४३ ॥

अथायं शिवलिङ्गैक्य एव मोक्षलक्ष्मीनिवासस्थानभूत इत्युक्त्वा सहभोजनस्थलं समापयति—

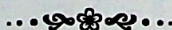
भक्तादिधामार्पितधर्मयोगात् प्राप्तैकभावः परमाद्भुतेन ।
शिवेन चिद्व्योममयेन साक्षान्मोक्षश्रियो भाजनतामुपैति ॥ ४४ ॥

इति श्रीमत्षट्स्थलब्रह्मिण शिवयोगिनाम्ना रेणुकाचार्येण विरचिते सिद्धान्तशिखामणौ शिवलिङ्गैक्यस्य चतुर्विधस्थलप्रसङ्गो नाम चतुर्दशः परिच्छेदः ॥ १४ ॥



चिद्व्योममयेन ऊर्ध्वहृत्कमलमध्यस्थचिदाकाशस्वरूपेण परमाद्भुतेन परमाश्चर्यरूपेण शिवेन शिवलिङ्गेन स्वरूपहानिवृद्धिव्यतिरेकेण समान-समरसत्वेन लब्धैकत्ववान् शिवलिङ्गैक्यो भक्तादिधामार्पितधर्मयोगाद् भक्तादि-स्थलगतसदाचारसम्बन्धात् प्रत्यक्षमोक्षलक्ष्म्या भाजनताम् आश्रयत्वम् उपैति प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ४४ ॥

इति श्रीमत्पदवाक्यप्रमाणपारावारधुरीणश्रीमरितोण्डदार्येण विरचितायां तत्त्वप्रदीपिकाख्यायां सिद्धान्तशिखामणिव्याख्यायां शिवलिङ्गैक्यस्य चतुर्विधस्थलप्रसङ्गनामा चतुर्दशः परिच्छेदः ॥ १४ ॥



भक्त आदि स्थल के लिये समर्पित धर्मयोग के कारण चिदाकाशमय परम अद्भुत शिवलिङ्ग के साथ ऐक्य को प्राप्त ऐक्यस्थली व्यक्ति साक्षात् मोक्ष का पात्र होता है ॥ ४४ ॥

इस प्रकार श्रीसिद्धान्तशिखामणि के शिवलिङ्गैक्यस्य सम्बन्धी चतुर्विध-स्थलप्रसङ्गनामक चतुर्दश परिच्छेद की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदीकृत 'ज्ञानवती' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ १४ ॥



पञ्चदशः परिच्छेदः

अथ लिङ्गस्थलानि, दीक्षागुरुस्थलम्

अथ भक्तादिशिवलिङ्गैक्यान्तषट्स्थलोक्तपिण्डादिसहभोजनान्तचतुश्चत्वारिंशदवान्तरस्थलनिरूपतिसदाचारसम्पन्नस्य लिङ्गैक्यस्य वर्णाश्रमादिसङ्कल्पविकल्पशून्यत्वेन प्राकृताचारनिवृत्त्या सहभोजनसम्पन्नत्वाल्लिङ्गरूपत्वेन तदाचरणीयलिङ्गाचारस्थलानि निरूपयति श्रीरेणुकः—

षट्स्थलोक्तसदाचारसम्पन्नस्य यथाक्रमम् ।
लिङ्गस्थलानि कथ्यन्ते जीवन्मुक्तिपराणि च ॥ १ ॥

अङ्गषट्स्थलोक्तसदाचारसम्पन्नस्य शिवलिङ्गैक्यस्य क्रमेण जीवन्मुक्तिपराणि लिङ्गषट्स्थलानि कथ्यन्त इत्यर्थः ॥ १ ॥

(लिङ्गस्थल वर्णन)—श्री रेणुकाचार्य ने कहा—छह स्थलों में वर्णित सदाचार से सम्पन्न साधक के जीवनमुक्तिपरक लिङ्गस्थल क्रम से कहे जा रहे हैं ॥ १ ॥

अथागस्त्यप्रश्नः । अगस्त्य उवाचेति—

भक्ताद्यैक्यावसानानि षडुक्तानि स्थलानि च ।
लिङ्गस्थलानि कानीह कथ्यन्ते कति वा पुनः ॥ २ ॥

स्पष्टम् ॥ २ ॥

अगस्त्य ने कहा—भक्तस्थल से लेकर ऐक्यस्थल तक छह स्थल कहे गये । लिङ्ग स्थल कौन-कौन से हैं और कितने हैं यह बतलाइये ॥ २ ॥

श्रीरेणुक उवाच

गुर्वादिज्ञानशून्यान्ता भक्तादिस्थलसंश्रिताः ।
स्थलभेदाः प्रकीर्त्यन्ते पञ्चाशत् सप्त चाधुना ॥ ३ ॥

भक्ताद्यैक्यान्ताङ्गषट्स्थलसंश्रिता दीक्षागुर्वादिवृत्तिज्ञानशून्यान्ताः सप्तोत्तरपञ्चाशल्लिङ्गस्थलभेदा अधुना कथ्यन्त इत्यर्थः ॥ ३ ॥

भक्त आदि छह स्थलों पर आधृत दीक्षागुरु स्थल से लेकर ज्ञानशून्य स्थल तक सत्तावन स्थलभेद अब बतलाये जायेंगे ॥ ३ ॥

अथ भक्तस्थलगतलिङ्गस्थलभेदान् सूत्रत्रयेण कथयति—

आदौ नव स्थलानीह भक्तस्थलसमाश्रयात् ।
कथ्यन्ते गुणसारेण नामान्येषां पृथक् शृणु ॥ ४ ॥

इह लिङ्गषट्स्थले भक्तस्थलसमाश्रयाद् आदौ नवस्थलानि गुणसारेण श्रेष्ठत्वेन । एषां नवस्थलानां नामानि पृथक् पृथक् कथ्यन्ते । शृण्वित्यर्थः ॥ ४ ॥

भक्तस्थल के आधार पर यहाँ पहले नवस्थल उनके गुणों के अनुसार कहे जा रहे हैं । उनके पृथक्-पृथक् नामों को सुनो ॥ ४ ॥

अथ तान्युद्दिशति—

दीक्षागुरुस्थलं पूर्वं ततः शिक्षागुरुस्थलम् ।
प्रज्ञागुरुस्थलं चाथ क्रियालिङ्गस्थलं ततः ॥ ५ ॥
भवलिङ्गस्थलं चाथ ज्ञानलिङ्गस्थलं ततः ।
स्वयं परं चरं चेति तेषां लक्षणमुच्यते ॥ ६ ॥

स्पष्टम् ॥ ५-६ ॥

पहले दीक्षागुरुस्थल उसके बाद शिक्षागुरुस्थल, फिर प्रज्ञागुरुस्थल तत्पश्चात् क्रियालिङ्गस्थल, फिर भावलिङ्गस्थल उसके बाद ज्ञानलिङ्गस्थल, स्वयंस्थल, परस्थल और चरस्थल (ये नव स्थल हैं अब) इनका लक्षण कहा जा रहा है ॥ ५-६ ॥

अथ—

दीयते च यथा ज्ञानं क्षीयते च मलत्रयम् ।
सा दीक्षा संज्ञिता तस्यां गुरुर्दीक्षागुरुर्मतः ॥

इति वातुलोत्तरवचनानुसारेण शिवलिङ्गैक्य एव दीक्षागुरुरिति कथयति—

दीयते परमं ज्ञानं क्षीयते पाशबन्धनम् ।
यया दीक्षेति सा तस्यां गुरुर्दीक्षागुरुः स्मृतः ॥ ७ ॥

यया परमज्ञानम् उत्कृष्टशिवज्ञानं 'दा दाने' इति धातुगत्या दीयते, पाशबन्धनं मलमायादिपाशबन्धनं 'क्षि क्षये' इति धातुगत्या क्षीयते, सा दीक्षेति मता सम्मता, तस्यां चित्क्रियालक्षणदीक्षायां गुरुः 'गृ निगरणे' इति धातुगत्या उपदेशकृच्छिवलिङ्गैक्यो दीक्षागुरुरिति स्मृत इत्यर्थः ॥ ७ ॥

(दीक्षागुरुस्थल वर्णन)—जिसके द्वारा परम ज्ञान दिया जाता है और पाशबन्धन का क्षय किया जाता है वह दीक्षा होती है। उस विषय में जो गुरु होता है वह दीक्षागुरु कहा गया है ॥ ७ ॥

अथ गुरुस्वरूपं विशदयति—

गुणातीतं गुकारं च रूपातीतं रुकारकम् ।
गुणातीतमरूपं च यो दद्यात् स गुरुः स्मृतः ॥ ८ ॥

गुकारं प्राकृतगुणातीतम्, रुकारम् अशुद्धमायारूपातीतम्, गुणातीतमरूपं च मण्डलत्रयात्मकगुणत्रयं ज्योतिर्मयबैन्दवकलाशून्यचिन्मयवस्तु यो ददाति उपदिशति, स गुरुः स्मृतः, गुरुरिति स्मृत इत्यर्थः ॥ ८ ॥

'गु' का अर्थ है—गुणातीत, 'रु' का अर्थ है—रूपातीत। जो गुणों से परे अर्थात् निर्गुण एवं रूपरहित तत्त्व को देता है अर्थात् उसका ज्ञान कराता है वह गुरु कहा गया है ॥ ८ ॥

अथैतत्प्रसङ्गादाचार्यस्वरूपं च विशदयति—

आचिनोति च शास्त्रार्थानाचारे स्थापयत्यलम् ।
स्वयमाचरते यस्मादाचार्यस्तेन चोच्यते ॥ ९ ॥

शास्त्रार्थान् वीरशैवशास्त्ररहस्यार्थान् प्रकटीकृत्य कथयति, आचारे वीरशैवाचारे शिष्यान् अलम् आधिक्येन स्थापयति नियमयति, स्वयं च वीरशैवाचारान् आचरते, तेन हि तेन कारणेन—'आचार्यो[१] वक्ता कुशलोऽस्य लब्धः'[२] इति कठवल्लीश्रुत्यनुसारेणाचार्य इत्युच्यते इत्यर्थः ॥ ९ ॥

जो शास्त्रों के तात्पर्य का सञ्चयन करता और अपने शिष्यों को उसका बोध कराता है तथा स्वयं उसका आचरण करता है इस कारण वह आचार्य कहा जाता है ॥ ९ ॥

अथ देशिकशब्दनिर्वचनं च कृत्वा शिवलिङ्गैक्य एव जगद्गुरुरिति

---

१. 'आचार्यो' इत्यस्य स्थाने कठोपनिषदि 'आश्चर्यो' इति पाठो लभ्यते ।
२. कठोप० १।२।७

सूत्रद्वयेनोक्तदीक्षागुरुस्थलं समापयति—

षडध्वातीतयोगेन यतते यस्तु देशिकः ।
मायाब्धितारणोपायहेतुर्विश्वगुरुः शिवः ॥ १० ॥

'ज्ञानान्मुक्तिं दिशति यः स देशिक इति स्मृतः' इति कामिकवाक्यप्रसिद्धो यो देशिकः षडध्वतीतयोगेन 'अध्वनामध्वपते श्रेष्ठस्याध्वनः पारमय' इति श्रुतिप्रसिद्धवर्णपदादिषडध्वातीतयोगेन यतते उद्योगवानास्ते, स शिवः शिवलिङ्गैक्यो मायाब्धितारणोपायहेतुभूतो जगद्गुरुरित्यर्थः ॥ १० ॥

जो आचार्य षडध्वा से परे योग को लेकर प्रयत्न करता है, वह देशिक कहलाता है । मायारूपी समुद्र के पार जाने का उपाय बताने वाला विश्वगुरु है, वही 'शिव' भी है ॥ १० ॥

अथ कथमयं जगद्गुरुरित्याह—

अखण्डं येन चैतन्यं व्यज्यते सर्ववस्तुषु ।
आत्मयोगप्रभावेण स गुरुर्विश्वभासकः ॥ ११ ॥

सर्ववस्तुषु नीलपीतादिसकलवस्तुषु, आत्मयोगप्रभावेण स्वानुभवबलाद् अखण्डं सच्चिदानन्दात्मकं चैतन्यं येन व्यज्यते, नीलपीतादिप्रतिनियत-पदार्थावभासनकालेऽप्यहमित्यखण्डचैतन्यमनुवर्तत एव, अन्यथा तद्वेद्यदर्शनं न स्यादिति स्फुटीक्रियते, स गुरुर्विश्वभासको विश्वप्रकाशक इत्यर्थः ॥ ११ ॥

जिसके द्वारा अपने योग के प्रभाव से सब वस्तुओं में अखण्ड चैतन्य की अभिव्यक्ति की जाती है वह गुरु विश्व का प्रकाशक होता है ॥ ११ ॥

इति दीक्षागुरुस्थलम्

अथ शिक्षागुरुस्थलम्

अथ—

बोध्यबोधकभावेन ज्ञानद्वारेण शास्यते ।
शिष्यो हि येन गुरुणा स शिक्षागुरुरुच्यते ॥

इति वातुलोत्तरवचनानुसारेण शिक्षागुरुस्थलं निरूपयति—

दीक्षागुरुरसौ शिक्षाहेतुः शिष्यस्य बोधकः ।
प्रश्नोत्तरप्रवक्ता च शिक्षागुरुरितीर्यते ॥ १२ ॥

असौ दीक्षागुरुः शिष्यस्य बोधकः सन् प्रश्नोत्तरप्रवक्ता शिष्यकृतप्रश्नस्योत्तरं दत्वा शिक्षाहेतुश्च शिक्षाकरणः सन् शिक्षागुरुरिति कथ्यत इत्यर्थः ॥ १२ ॥

(शिक्षागुरुस्थल वर्णन)—यह दीक्षागुरु शिष्य को ज्ञान कराने वाला होने के कारण उसका शिक्षागुरु होता है। जो (शिष्य के द्वारा किये गये) प्रश्न का उत्तर देने वाला होता है वह शिक्षागुरु कहा जाता है ॥ १२ ॥

अथामुमेवार्थं स्फुटयति—

बोधकोऽयं समाख्यातो बोध्यमेतदिति स्फुटम् ।
शिष्ये नियुज्यते येन स शिक्षागुरुरुच्यते ॥ १३ ॥

अयं शिवसिद्धान्तबोधकः परतत्त्वप्रकाशक इत्यर्थः, 'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते'[1] इति वैयाकरणोक्तेः स्फुटं देशिकोपदेशस्फुटीभूतम् एतत् शिवयोगज्ञानं बोध्यम् इति येन गुरुणा शिष्यः समाख्यातो बोधकः सन् नियुज्यते नियम्यते, स शिक्षागुरुरित्युच्यत इत्यर्थः ॥ १३ ॥

यह (शिवसिद्धान्त का) बोधक अर्थात् परतत्त्व का प्रकाशक कहा गया है। यह अर्थात् शिवयोग बोध्य है। जो शिष्य में इस ज्ञान को नियुक्त अर्थात् नियमित करे, वह शिक्षागुरु कहा जाता है ॥ १३ ॥

अथ—'आचार्यः पूर्वरूपं अन्तेवास्युत्तररूपं विद्या सन्धिः',[2] 'आचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति'[3] **इति श्रुत्यनुसारेण द्वैविध्येन तत्स्वरूपं वर्णयति—**

संसारतिमिरोन्माथिशरच्चन्द्रमरीचयः ।
वाचो यस्य प्रवर्तन्ते तमाचार्यं प्रचक्षते ॥ १४ ॥

यस्य वाच उपदेशवाक्यानि संसारतिमिरविनाशने शरच्चन्द्रमरीचय इव प्रवर्तन्ते, तम् आचार्यं सन्तं प्रचक्षते कथयन्ति ॥ १४ ॥

संसार रूपी अन्धकार को नष्ट करने के लिये जिसकी वाणी शरत्कालीन चन्द्रमा के समान कार्य करती है (विद्वान् लोग) उसको आचार्य कहते हैं ॥ १४ ॥

---

१. 'अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥' इति श्लोकोत्तरार्द्धम् । वाक्यप० १।१२३।

२. तै०उ० २।२-३	३. तै०उ० ११।१

ददाति यः पतिज्ञानं जगन्मायानिवर्तकम् ।
अद्वैतवासनोपायं तमाचार्यवरं विदुः ॥ १५ ॥

यो जगन्मायानिवर्तकं प्रापञ्चिकभेदभ्रान्तिनिवर्तकं पतिज्ञानम्, 'पतिं विश्वस्यात्मेश्वरं शाश्वतं शिवमच्युतम्'[१] **इति नारायणोपनिषत्प्रसिद्धस्वात्माभिन्न-शिवज्ञानं ददाति प्रकाशयति, तम् आचार्यवरम् आचार्यश्रेष्ठं सन्तं विदुः, जानन्तीत्यर्थः ॥ १५ ॥**

जो संसार माया को दूर करने वाले पतिज्ञान को देता है अद्वैतभावना के उपायभूत उस मनुष्य को आचार्य माना गया है ॥ १५ ॥

अथ शिवाद्वैतज्ञानसम्पन्नः सन् शिष्यसन्देहवारक एव गुरुः श्रेष्ठ इति सूत्रद्वयेनाह—

पूर्वपक्षं समादाय जगद्भेदविकल्पनम् ।
अद्वैतकृतसिद्धान्तो गुरुरेष गुणाधिकः ॥ १६ ॥

जगद्भेदविकल्पनं प्रापञ्चिकभेदद्वैविध्यविशिष्टं पूर्वपक्षं समादाय अङ्गीकृत्य अद्वैतकृतसिद्धान्तवानेष गुरुः शिक्षागुरुरेव गुणाधिकः श्रेष्ठ इत्यर्थः ॥ १६ ॥

जगद्विषयक भेद की विकल्पना को पूर्वपक्ष के रूप में स्वीकृत कर जो सिद्धान्त पक्ष के रूप में अद्वैतवाद को स्थापित करता है वह गुरु गुणाधिक अर्थात् श्रेष्ठ है ॥ १६ ॥

सन्देहवनसन्दोहसमुच्छेदकुठारिका ।
यत्सूक्तिधारा विमला स गुरूणां शिखामणिः ॥ १७ ॥

विमला निर्मला यत्सूक्तिधारा यस्य गुरोरुपदेशवाक्यधारा सन्देहवन-सन्दोहसमुच्छेदकुठारिका संशयारण्यसमुच्छेदपरशुः, स गुरूणां शिखामणिः श्रेष्ठ इत्यर्थः ॥ १७ ॥

जिसकी व्यक्ति कि निर्मल सूक्तिधारा सन्देहरूपी जङ्गल के समूह को काटने के लिये कुठार जैसी होती है वह गुरुओं का शिखामणि है ॥ १७ ॥

अथेममेवार्थं विशेषयति सूत्रद्वयेन—

यत्सूक्तिदर्पणाभोगे निर्मले दृश्यते सदा ।
मोक्षश्रीर्बिम्बरूपेण स गुरुर्भवतारकः ॥ १८ ॥

---

१. ना०उ० १३।१

निर्मले यस्योपदेशोक्तिदर्पणमण्डले मोक्षलक्ष्मीर्बिम्बरूपेण प्रतिबिम्बरूपेणत्यर्थः, दृश्यते प्रकाशते, स गुरुर्भवतारकः संसारार्णवतारक इत्यर्थः ॥ १८ ॥

जिसके निर्मल सूक्तिरूपी दर्पण के विस्तार में मोक्षलक्ष्मी सदा बिम्ब के रूप में दिखायी पड़ती है । वह गुरु संसार से पार ले जाने वाला होता है ॥ १८ ॥

अथ प्रकारान्तरेणाह—

शिष्याणां हृदयालेख्यं प्रद्योतयति यः स्वयम् ।
ज्ञानदीपिकयाऽनेन गुरुणा कः समो भवेत् ॥ १९ ॥

यः श्रीगुरुः शिष्याणां हृदयालेख्यं हृत्कमलस्थनिजरूपचित्रं ज्ञानदीपिकया ज्ञानदीपेन प्रद्योतयति प्रकाशयति अनेन गुरुणा शिक्षागुरुणा कः समो भवेत्, न कोऽपि सम इत्यर्थः ॥ १९ ॥

जो स्वयं अपने ज्ञानदीप से शिष्यों के हृदयचित्र को प्रकाशित करता है (अर्थात् चित्त को निर्मल बनाकर उसमें निजस्वरूप शिव का प्रकाश करता है) उस गुरु के समान कौन है? अर्थात् कोई नहीं ॥ १९ ॥

अथैतादृशगुरुरस्ति वेत्यत्रास्ति दुर्लभ इत्युक्त्वा शिक्षागुरुस्थलं समापयति—

परमाद्वैतविज्ञानपरमौषधिदानतः ।
संसाररोगनिर्माथी देशिकः केन लभ्यते ॥ २० ॥

शिवकारुण्यरहितेन केनापि न लभ्यत इत्यर्थः ॥ २० ॥

परम अद्वैतविज्ञानरूपी परम औषधि के दान से संसाररूपी रोग को नष्ट करने वाला आचार्य किसे प्राप्त होता है? अर्थात् शिव की करुणा से ही ऐसे गुरु की उपलब्धि होती है ॥ २० ॥

इति शिक्षागुरुस्थलम्

अथ ज्ञानगुरुस्थलम्

अथ—

शिवरूपानुसन्धायि ज्ञानं येनोपदिश्यते ।
मुमुक्षोर्मोक्षसिद्ध्यर्थं स ज्ञानगुरुरुच्यते ॥

इति वातुलोत्तरवचनानुसारेण ज्ञानगुरुस्थलं निरूपयति—

उपदेष्टोपदेशानां संशयच्छेदकारकः ।
सम्यग्ज्ञानप्रदः साक्षादेष ज्ञानगुरुः स्मृतः ॥ २१ ॥

उपदेशानां रहस्यार्थानाम् उपदेष्टा उपदेशकृत् संशयच्छेदकारकः शिष्यसन्देहवारक एष शिक्षागुरुरेव सम्यक् साक्षाद् ज्ञानप्रदः प्रत्यक्षीभूतशिवो ज्ञानप्रदः सन् ज्ञानगुरुरिति स्मृत इत्यर्थः ॥ २१ ॥

(ज्ञानगुरुस्थल वर्णन)—(शिवयोग के) उपदेशों का उपदेष्टा, (शिष्य के) संशय को दूर करने वाला समीचीन ज्ञान को देने वाला साक्षात् ज्ञानगुरु कहा गया है ॥ २१ ॥

ननु शिवज्ञानं कीदृशं तत्कथं प्रत्यक्षीकरोतीत्यत्राह—

निरस्तविश्वसम्भेदं निर्विकारं चिदम्बरम् ।
साक्षात्करोति यो युक्त्या स ज्ञानगुरुरुच्यते ॥ २२ ॥

निरस्तविश्वसम्भेदं न किञ्चिदवेदिषमिति शून्यप्रतीतिबलान्निराकृतविश्वभेदं विकाररहितं चिदाकाशं चिद्व्योम युक्त्या स्फुटतरभासमाननीलखादिप्रमात्रन्वेषणद्वारा पारमार्थिकप्रमातृलाभ इहोपदिश्यत इति शिवाद्वैतशास्त्रोक्तस्वानुभवयुक्त्या यः प्रत्यक्षीकरोति, स ज्ञानगुरुरित्यर्थः ॥ २२ ॥

विश्व के भेद का निरास करने वाले निर्विकार चिदाकाश का जो (अद्वैत शास्त्र की) युक्ति के द्वारा प्रत्यक्ष करता है । वह ज्ञानगुरु कहा जाता है ॥ २२ ॥

अथ शिवज्ञानं प्रस्तौति सूत्रद्वयेन—

कलङ्कवानसौ चन्द्रः क्षयवृद्धिपरिप्लुतः ।
निष्कलङ्कस्थितो ज्ञानचन्द्रमा निर्विकारवान् ॥ २३ ॥

क्षयवृद्धिपरिप्लुतः क्षयवृद्धिपीड्यमानः, असौ चन्द्रः कलङ्कवान् । निर्विकारवान् विकाररहितो ज्ञानचन्द्रमाः चिच्चद्रः, निष्कलङ्कस्थितः कलङ्करहितः सन् तिष्ठतीत्यर्थः ॥ २३ ॥

यह (= आकाश में दृश्यमान) चन्द्रमा कलङ्कयुक्त तथा ह्रास एवं वृद्धि से पीड़ित है किन्तु ज्ञानरूपी चन्द्र निष्कलङ्क एव निर्विकार है ॥ २३ ॥

पार्श्वस्थतिमिरं हन्ति प्रदीपो मणिनिर्मितः ।
सर्वगामि तमो हन्ति बोधदीपो निरङ्कुशः ॥ २४ ॥

मणिनिर्मितो रत्ननिर्मितो दीपः पार्श्वस्थान्धकारं निवारयति, निरङ्कुशोऽनर्गलो बोधदीपश्चित्प्रदीपः सर्वगामि तमः सर्वत्र विद्यमानं तमो निवारयतीत्यर्थः ॥ २४ ॥

मणि से निर्मित दीपक पास में स्थित अन्धकार को दूर करता है किन्तु निर्बाध ज्ञानरूपी दीप सर्वव्यापी अन्धकार को हटा देता है ॥ २४ ॥

अथ शिवज्ञानोपदेशतत्परं श्रीगुरुं सूत्रद्वयेन प्रस्तौति—

सर्वार्थसाधकज्ञानविशेषादेशतत्परः ।
ज्ञानाचार्यः समस्तानामनुग्रहकरः शिवः ॥ २५ ॥

भोगमोक्षलक्षणसर्वप्रयोजनसाधकशिवज्ञानविशेषोपदेशासक्तो ज्ञानगुरुरेव समस्तानां मुमुक्षूणाम् अनुग्रहकरः, साक्षाच्छिव इत्यर्थः ॥ २५ ॥

सम्पूर्ण अर्थ के साधनभूत विशेष ज्ञान के दान में तत्पर एवं सबके ऊपर कृपा करने वाला ज्ञानाचार्य साक्षात् शिव होता है ॥ २५ ॥

कटाक्षचन्द्रमा यस्य ज्ञानसागरवर्धनः ।
संसारतिमिरच्छेदी स गुरुर्ज्ञानपारगः ॥ २६ ॥

यस्याचार्यस्य कटाक्षचन्द्रमाः शिवज्ञानोदधिवर्धनः संसारतिमिरच्छेदी, स गुरुः श्रीगुरुः, ज्ञानपारगः परापरज्ञानपारङ्गत इत्यर्थः ॥ २६ ॥

जिसका अनुग्रहकटाक्षरूपी चन्द्रमा ज्ञानरूपी सागर को बढ़ाने वाला होता है, संसाररूपी अन्धकार का नाश करने वाला वह गुरु ज्ञान का पारगामी होता है ॥ २६ ॥

अथ तमेव गुरुं भानुत्वेन वर्णयन् ततोऽप्याधिक्यं प्रतिपादयति—

बहिस्तिमिरविच्छेत्ता भानुरेष प्रकीर्तितः ।
बहिरन्तस्तमश्छेदी विभुर्देशिकभास्करः ॥ २७ ॥

एष भानुः, बहिस्तिमिरविच्छेत्ता बाह्यान्धकारनिवारकः, विभुः चिद्व्यापको देशिकभास्करो ज्ञानाचार्यसूर्यो बहिरन्तस्तमश्छेदी, नायं शिव इति विषयगतमज्ञानम्, नाहं शिव इत्यन्तर्गताज्ञानं च भिनत्तीति प्रकीर्तितः ॥ २७ ॥

यह (प्राकृतिक सूर्य) बाह्य अन्धकार का नाशक है किन्तु आचार्यरूपी व्यापक सूर्य बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के अज्ञानान्धकार का नाश करता है ॥ २७ ॥

विशेष—यह संसार शिव से भिन्न है—ऐसा समझना बाह्य अज्ञान है । मैं शिव से भिन्न हूं—ऐसा समझना आन्तर अज्ञान है ।

अथ शिववेदकं शिवज्ञानं सूचयित्वा ज्ञानगुरुस्थलं सूत्रद्वयेन समापयति—

कटाक्षलेशमात्रेण विना ध्यानादिकल्पनम् ।
शिवत्वं भावयेद्यत्र स वेदः शाम्भवो मतः ॥ २८ ॥

ध्यानधारणादिसङ्कल्पं विना श्रीगुरोः कृपाऽपाङ्गदर्शनमात्रेण शिवत्वं भावयेत् स्फुटं भवेत्, स वेदः शाम्भव इति मतः सम्मत इत्यर्थः ॥ २८ ॥

जिससे ध्यान आदि की कल्पना के विना केवल कृपाकटाक्ष से शिवत्व की भावना उत्पन्न हो जाती है वह शाम्भव ज्ञान कहा जाता है ॥ २८ ॥

शिववेदकरे ज्ञाने दत्ते येन सुनिर्मले ।
जीवन्मुक्तो भवेच्छिष्यः स गुरुर्ज्ञानसागरः ॥ २९ ॥

येन श्रीगुरुणा शिववेदकरे स्वात्मशिवतास्फुटीकरणप्रवीणे निर्मले शिवज्ञाने दत्ते सति शिष्यो जीवन्नपि मुक्तः स्यात्, स गुरुः शिवज्ञानसागर इत्यर्थः ॥ २९ ॥

जिसके द्वारा शिवभावना उत्पन्न करने वाला निर्मल ज्ञान दिये जाने पर शिष्य जीवन्मुक्त हो जाता है वेहं गुरु ज्ञान का सागर है ॥ २९ ॥

इति ज्ञानगुरुस्थलम्

अथ क्रियालिङ्गस्थलम्

अथ—'इष्टमूर्जं तपसानुयच्छति' इत्यार्थ्वणी श्रुतिः, एतद्विवरणरूपेण—

सकलं दृक्कलाग्राह्यमिष्टलिङ्गस्थलं महत् ।
इष्टावाप्तिकरं साक्षादनिष्टपरिहारकम् ॥
इष्टमूर्जं स्वभक्तानामनुयच्छति सर्वदा ।
इष्टलिङ्गमिति प्राह तस्मादाथर्वणी श्रुति ॥

इति वातुलतन्त्रवचनेन ज्ञानगुरुपदिष्टक्रिया यत्र लयं गच्छति, तत्क्रियालिङ्गस्थलमिति सप्तभिः सूत्रैः प्रतिपादयति—

गुरोर्विज्ञानयोगेन क्रिया यत्र विलीयते ।
तत्क्रियालिङ्गमाख्यातं सर्वैरागमपारगैः ॥ ३० ॥

गुरोः ज्ञानगुरोः, विज्ञानयोगेन विशेषज्ञानयोगेन क्रिया यत्र

यस्मिन्नधिकरणे विलीयते तत्क्रियालिङ्गं क्रियार्थकमिष्टलिङ्गमित्यागमपारगैः शिवसिद्धान्तपारङ्गतैः सर्वैर्वीरशैवाचार्यैराख्यातं प्रोक्तमित्यर्थः ॥ ३० ॥

(क्रियालिङ्ग स्थल वर्णन)—गुरु के विज्ञानयोग से क्रिया जिसमें लीन हो जाती है समस्त आगम के पारङ्गत उसे क्रियालिङ्ग कहते हैं ॥ ३० ॥

ननु किं तत्स्वरूपमित्यत्राह—

परानन्दचिदाकारं परब्रह्मैव केवलम् ।
लिङ्गं सद्रूपतापन्नं लक्ष्यते विश्वसिद्धये ॥ ३१ ॥

नित्यानन्दस्वरूपं सद् अन्तर्मुखज्ञानस्वरूपं सद् अस्तितारूपं गतं केवलं परब्रह्मैव विश्वसिद्धये समस्तसत्क्रियासिद्ध्यर्थं लिङ्गम् इष्टलिङ्गमिति लक्ष्यत इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

परानन्द चिदाकार तथा केवल अर्थात् अद्वितीय परब्रह्म विश्व की रचना (अथवा सम्पूर्ण क्रिया) की सिद्धि के लिये सद्रूपता (= स्थूलरूपता) को प्राप्त प्रतीत होता है ॥ ३१ ॥

अथ सा सिद्धिः कथं भवतीत्यत्राह—

लिङ्गमेव परं ज्योतिर्भवति ब्रह्म केवलम् ।
तस्मात् तत्पूजनादेव सर्वकर्मफलोदयः ॥ ३२ ॥

परंज्योतिः स्वरूपं केवलं परब्रह्मैव क्रियार्थलिङ्गम् । तस्मात् तत्पूजनादेव सर्वकर्मफलोदयः सकलसत्कर्मफलाविर्भावो भवति जायत इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

परज्योति केवल परब्रह्म ही लिङ्ग (रूप में स्थित है) इसलिये उसकी पूजा से समस्त कर्मफल का उदय होता है ॥ ३२ ॥

तस्माल्लिङ्गमेव श्रेष्ठमित्याह—

परित्यज्य क्रियाः सर्वा लिङ्गपूजैकतत्पराः ।
वर्तन्ते योगिनः सर्वे तस्माल्लिङ्गं विशिष्यते ॥ ३३ ॥

सर्वे योगिनः सनकादिसमस्तयोगिनः सर्वाः क्रियाः समस्ता योगादिक्रियाः परित्यज्य इष्टलिङ्गपूजैकतत्पराः सन्तो वर्तन्ते, तस्माल्लिङ्गं क्रियालिङ्गं विशिष्यत इत्यर्थः ॥ ३३ ॥

समस्त योगीजन सारी क्रियाओं को छोड़कर केवल लिङ्गपूजा में तत्पर होते हैं इस कारण क्रियालिङ्ग श्रेष्ठ है ॥ ३३ ॥

ननु सनकादीनां यज्ञादिक्रियापरित्यागः किंनिबन्धन इत्यत्राह—

यज्ञादयः क्रियाः सर्वा लिङ्गपूजांशसम्मिताः।
इति यत्पूज्यते सिद्धैस्तत्क्रियालिङ्गमुच्यते ॥ ३४ ॥

यज्ञादयः क्रियाः सर्वा लिङ्गपूजालेशभाजिन इति मत्वा सनकादिभिः सिद्धैर्यल्लिङ्गं पूज्यते, तस्मात्क्रियालिङ्गं सकलक्रियार्थलिङ्गमित्युच्यत इत्यर्थः ॥ ३४ ॥

'यज्ञ आदि सम्पूर्ण क्रियायें लिङ्गपूजा के अंशमात्र के बराबर हैं'—इस भावना से जिसकी सिद्ध लोग पूजा करते हैं वह क्रियालिङ्ग कहा जाता है ॥ ३४ ॥

तस्माल्लिङ्गपूजासम्पन्नस्य कापि क्रिया मास्त्वित्याह—

किं यज्ञैरग्निहोत्राद्यैः किं तपोभिश्च दुश्चरैः।
लिङ्गार्चनरतिर्यस्य स सिद्धः सर्वकर्मसु ॥ ३५ ॥

सर्वकर्मसु सकलकर्मविषये सिद्धः सिद्धिमानित्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ३५ ॥

अग्निहोत्र आदि यज्ञों तथा कृच्छ्र चान्द्रायण आदि दुश्चर तपस्याओं से क्या प्रयोजन? जिसकी लिङ्गार्चन में रति है वह सब कार्यों में सिद्ध होता है ॥ ३५ ॥

अथ किमु ब्रह्मादयोऽपीष्टलिङ्गपूजामहिम्नैव जगन्निर्माणादिक्रिया-सिद्धिमन्तः सन्तः स्वस्वस्थानेषु लसन्तीत्युक्त्वा क्रियालिङ्गस्थलं समापयति—

ब्रह्मविष्ण्वादयः सर्वे विबुधा लिङ्गमाश्रिताः।
सिद्धाः स्वस्वपदे भान्ति जगत्तन्त्राधिकारिणः ॥ ३६ ॥

सिद्धाः प्रसिद्धाश्चेत्यर्थः । जगत्तन्त्राधिकारिणः जगन्निर्माणादिक्रियाधि-कारिण इत्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ३६ ॥

ब्रह्मा विष्णु आदि सभी देवता लिङ्ग के ऊपर आश्रित होने से अपने-अपने स्थान पर सिद्ध अर्थात् स्थित हैं तथा जगत् के तन्त्र अर्थात् सृजन आदि के अधिकारी ब्रह्मा विष्णु आदि सब देवता लिङ्ग के ऊपर आश्रित होकर अपने-अपने पदों पर देदीप्यमान हैं ॥ ३६ ॥

इति क्रियालिङ्गस्थलम्

अथभावलिङ्गस्थलम्

अथ—'भावग्राह्यमनीड्याख्यं भावाभावकरं परम् । कलासर्गकरं देवं ये विदुस्ते जहुस्तनुम् ॥'[1] **इति श्वेताश्वतरश्रुत्यनुसारेण, 'निष्कलं भावलिङ्गं स्याद् भावग्राह्यं परात्परम्' इति वातुलतन्त्रवचनानुसारेण च क्रियेव भावोऽपि यत्र लयं गच्छति, तद्भावलयकारणीभूतप्राणलिङ्गमिति भावलिङ्गस्थलं निरूपयति—**

क्रिया यथा लयं प्राप्ता तथा भावोऽपि लीयते ।
यत्र तद् देशिकैरुक्तं भावलिङ्गमिति स्फुटम् ॥ ३७ ॥

यथा क्रियालयस्थानं क्रियालिङ्गं तथा भावलयस्थानं भावलिङ्गं भावलयकारणीभूतं प्राणलिङ्गमिति देशकैः स्फुटमुक्तमित्यर्थः ॥ ३७ ॥

(भावलिङ्गस्थल वर्णन)—जिस प्रकार क्रिया (क्रियालिङ्ग में) लीन हो गयी उसी प्रकार जहाँ भाव भी लीन हो जाता है उसे आचार्य लोग स्पष्ट भावलिङ्ग कहते हैं ॥ ३७ ॥

अथानयोः किं वैशिष्ट्यमित्यत्र भावलिङ्गं सूत्रद्वयेन विशेषयति—

भावेन गृह्यते देवो भगवान् परमः शिवः ।
किं तेन क्रियते तस्य नित्यपूर्णो हि स स्मृतः ॥ ३८ ॥

भगवान् षड्गुणैश्वर्यसम्पन्नः परमेश्वरो भावेन गृह्यते निर्मलान्तः-करणवृत्त्या प्रकाश्यत इति तेन बाह्यक्रियालयेन किं किं प्रयोजनम्, न किञ्चित्प्रयोजनमित्यर्थः । कुत इत्यत्राह—सः परमेश्वरो हि यस्मात् कारणान्नित्यपूर्णो नित्यतृप्त इति स्मृतः, तस्मात् कारणात् क्रियापूजनेन प्रयोजनं नास्तीत्यर्थः ॥ ३८ ॥

भगवान् परम शिव भाव (अर्थात् निर्मल हृदय की भावना) के द्वारा वश में होते हैं । उस (अर्थात् बाह्य पूजा आदि) से उन्हें क्या लेना देना? वह तो नित्य पूर्ण कहे गये हैं ॥ ३८ ॥

अखण्डपरमानन्दबोधरूपः परः शिवः ।
भक्तानामुपचारेण भावयोगात् प्रसीदति ॥ ३९ ॥

अपरिच्छिन्नपरमानन्दचिद्रूपः परमेश्वरः शिवभक्तानां भक्तिपूर्वक-मानसोपचारेण भावयोगाद् मनस्सन्निवेशात् प्रसीदति प्रसन्नो भवतीति भावलिङ्गं प्रशस्तमिति भावः ॥ ३९ ॥

---

१. श्वे०उ० ५।१४

परमशिव अखण्ड परमानन्द और ज्ञानस्वरूप हैं । भक्तों के उपचार (अर्थात् पूजनसामग्री) के द्वारा वह भाव के कारण प्रसन्न होते हैं ॥ ३९ ॥

तस्माद् भावलिङ्गमेव प्रशस्तमिति कण्ठोक्त्यैवाह—

मृच्छिलाविहिताल्लिङ्गाद् भावलिङ्गं विशिष्यते ।
निरस्तसर्वदोषत्वाद् ज्ञानमार्गप्रवेशनात् ॥ ४० ॥

मृच्छिलादिनिर्मिताल्लिङ्गाद् भावलिङ्गं भावलयकारणीभूतप्राणलिङ्गं विशिष्यते विशिष्टं भवति । कुत इत्यत्राह—निरस्तसर्वदोषत्वात् छेदनभेदनादिदोषरहितत्वाद् ज्ञानमार्गप्रवेशनादिति ॥ ४० ॥

मिट्टी और पत्थर के लिङ्ग की अपेक्षा भावलिङ्ग विशिष्ट अर्थात श्रेष्ठ होता है क्योंकि उसमें सभी दोष निरस्त होते हैं तथा वह (भक्तों का) ज्ञान-मार्ग में प्रवेश कराता है ॥ ४० ॥

अथ भावलिङ्गिनं कथयति—

विहाय बाह्यलिङ्गानि चिल्लिङ्गं मनसि स्मरन् ।
पूजयेद् भावपुष्पैर्यो भावलिङ्गीति कथ्यते ॥ ४१ ॥

यो मृच्छिलादिनिर्मितबाह्यलिङ्गानि परित्यज्य 'तत्प्राणेष्वन्तर्मनसो लिङ्गमाहुः' इत्याथर्वणश्रुतिप्रसिद्धचिन्मयप्राणलिङ्गं मनसि हृत्कमले स्मरन् सन् भावपुष्पैः भावकल्पिताहिंसाद्यष्टपुष्पैः पूजयेत्, स भावलिङ्गीति भावगोचरीभूतप्राणलिङ्गवानिति कथ्यत इत्यर्थः ॥ ४१ ॥

जो भक्त बाह्य लिङ्गों को छोड़कर चित् लिङ्ग का मन में स्मरण करता हुआ भावपुष्पों से उसकी पूजा करता है वह भावलिङ्गी कहा जाता है ॥ ४१ ॥

अथ तत्प्राणलिङ्गपूजक एव शिवयोगीति कथ्यते—

मूलाधारेऽथवा चित्ते भ्रूमध्ये वा सुनिर्मलम् ।
दीपाकारं यजन् लिङ्गं भावद्रव्यैः स योगवान् ॥ ४२ ॥

मूलाधारे मूलकमले अथवा चित्ते मध्यहृदये भ्रूमध्ये ऊर्ध्वहृदये वा दीपाकारम्, 'हृदयकमलमध्ये दीपवद्वेदसारं प्रणवमयमतर्क्यं योगिभिर्ध्यान-गम्यम्' इति योगशास्त्रप्रसिद्धदीपोपमम् अत्यन्तनिर्मलं लिङ्गं प्राणलिङ्गं भावद्रव्यैः पूर्वोक्तभावपुष्पैर्यः पूजयेत्, स योगवान् शिवयोगवा-नित्यर्थः ॥ ४२ ॥

मूलाधार, हृदय अथवा भ्रूमध्य में जो निर्मल दीपकलिका के आकार वाले

लिङ्ग की भावद्रव्यों से पूजा करता है वह शिवयोगी होता है ॥ ४२ ॥

अथ भावपूजामेव विशेषयित्वा शिवयोगी क्रियालिङ्गनिष्ठो नेति कथयति—

स्वानुभूतिप्रमाणेन ज्योतिर्लिङ्गेन संयुतः ।
शिलामृद्दारुसम्भूतं न लिङ्गं पूजयत्यसौ ॥ ४३ ॥

असौ शिवयोगी स्वानुभूतिप्रमाणेन अहमस्मीत्यकर्मकस्वानुभवप्रमाणेन ज्योतिर्लिङ्गेन चिन्मयप्राणलिङ्गेन संयुक्तः सन् पाषाणमृत्काष्ठनिर्मितं लिङ्गं न पूजयेद् नार्चयतीत्यर्थः ॥ ४३ ॥

जो अपने अनुभव से प्रमाणित ज्योतिर्लिङ्ग से युक्त होता है । वह शिला मिट्टी और लकड़ी के लिङ्ग की पूजा नहीं करता ॥ ४३ ॥

अथ भावसिद्धज्योतिर्लिङ्गपूजां विशिष्टीकृत्य भावलिङ्गस्थलं समापयति—

क्रियारूपा तु या पूजा सा ज्ञेया स्वल्पसंविदाम् ।
आन्तरा भावपूजा तु शिवस्य ज्ञानिनां मता ॥ ४४ ॥

शिवस्य शिवलिङ्गस्य क्रियारूपा तु या पूजा कर्मकाण्डप्रसिद्धक्रिया-स्वरूपिणी या पूजाऽस्ति, सा स्वल्पसंविदाम् अज्ञानिनामेव मता सम्मता सती ज्ञेया । आन्तरा भावपूजा तु ज्ञानकाण्डप्रसिद्धान्तःपूजा ज्ञानिनां परिपूर्णशिव-ज्ञानिनां मता सम्मता ॥ ४४ ॥

शिव की जो क्रियारूपी (बाह्य) पूजा है वह अल्पज्ञानी लोगों के द्वारा की जाती है । उनकी आन्तरिक भावपूजा ज्ञानियों की पूजा मानी गयी है ॥ ४४ ॥

इति भावलिङ्गस्थलम्

अथ ज्ञानलिङ्गस्थलम्

अथ—'अचिन्त्यं चाप्रमेयं च व्यक्ताव्यक्तं परं च यत् । सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं ज्ञानं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥' **इति श्रुत्यनुसारेण,** 'परात्परं तु यत्प्रोक्तं तृप्तिलिङ्गं तदुच्यते । भावनातीतमव्यक्तं परं ब्रह्म शिवाभिधम् ॥' **इति प्रवृत्तवातुलोत्तरवचनानुसारेण च भावलिङ्गप्रकाशकज्ञानलयस्थानं तृप्ति-लिङ्गापरपर्यायं ज्ञानलिङ्गस्थलं निरूपयति—**

तद्भावज्ञापकज्ञानं लयं यत्र समश्नुते ।
तज्ज्ञानलिङ्गमाख्यातं शिवतत्त्वार्थकोविदैः ॥ ४५ ॥

तद्भावज्ञापकज्ञानं तद्भावलिङ्गप्रकाशकज्ञानं यत्र लयं गच्छति, तद्

ज्ञानलिङ्गं ज्ञानाश्रयीभूततृप्तिलिङ्गमिति शिवतत्त्वरहस्यार्थवेदिभिर्वीर-शैवेराख्यातमित्यर्थः ॥ ४५ ॥

(**ज्ञानलिङ्गंस्थल वर्णन**)—उस (अर्थात् शिव) भाव का ज्ञापक ज्ञान जिसमें लीन हो जाता है शिव तत्त्व रूपी अर्थ (अथवा शिव तत्त्व के अर्थ) को जानने वाले लोग उसे ज्ञानलिङ्ग कहते हैं ॥ ४५ ॥

अथ तदेव विशदयति—

त्रिमूर्तिभेदनिर्मुक्तं त्रिगुणातीतवैभवम् ।
ब्रह्म यद् बोध्यते तत्तु ज्ञानलिङ्गमुदाहृतम् ॥ ४६ ॥

ब्रह्मविष्णुरुद्रलक्षणमूर्तित्रयभेदरहितं सत्त्वरजस्तमोरूपगुणत्रयोत्तीर्ण-तुर्यतुर्यातीतसम्पत्तिमद् ब्रह्म बोध्यते श्रुतिगुरुत्वानुभवैः प्रकाश्यते, तज्ज्ञानलिङ्गं ज्ञानस्याश्रयीभूततृप्तिलिङ्गमित्युच्यत इत्यर्थः ॥ ४६ ॥

(ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र रूपी) त्रिमूर्त्ति के भेद से रहित, (सत्त्व, रजस्, तमस् इन) तीनों गुणों से परे वैभव वाला ब्रह्म जिसके द्वारा बतलाया जाता है वह ज्ञानलिङ्ग कहा गया है ॥ ४६ ॥

अथ तद् ज्ञानलिङ्गं सूत्रद्वयेन विशेषयति—

स्थूले क्रियासमापत्तिः सूक्ष्मे भावस्य सम्भवः ।
स्थूलसूक्ष्मपदातीते ज्ञानमेव परात्मनि ॥ ४७ ॥

स्थूले स्थूलरूपेष्टलिङ्गे क्रियारूपपूजासम्पत्तिः, सूक्ष्मे प्राणलिङ्गे भावोद्भवः, निर्मलत्वमित्यर्थः । स्थूलसूक्ष्मपदातीते परात्मनि तृप्तिलिङ्गरूप-परमात्मनि ज्ञानमेव ॥ ४७ ॥

स्थूल (लिङ्ग) के विषय में क्रिया की समापत्ति (अर्थात् प्राप्ति) होती है अर्थात् क्रिया करनी होती है । सूक्ष्म लिङ्ग के सन्दर्भ में भावमय सामग्री की आवश्यकता होती है । जो स्थूल और सूक्ष्म दोनों स्तरों से ऊपर है उस परात्मा के विषय में ज्ञान ही (पूजासम्भार) होता है ॥ ४७ ॥

ननु उपासनार्थं स्थूलसूक्ष्मरूपाणि शिवस्यावश्यमपेक्षणीयानीत्यत्राह—

कल्पितानि हि रूपाणि स्थूलानि परमात्मनः ।
सूक्ष्माण्यपि च तैः किं वा परबोधं समाचरेत् ॥ ४८ ॥

परमात्मनः स्थूलसूक्ष्मरूपाणां मायाकल्पितत्वेन केवलमुमुक्षूणां तैः प्रयोजनाभावात् परबोधं परब्रह्ममयतृप्तिलिङ्गमेव समाचरेद् उत्कृष्टत्वेन

जानीयादित्यर्थः ॥ ४८ ॥

स्थूल और सूक्ष्म दोनों परमात्मा के ही माया द्वारा कल्पित रूप हैं। उनसे क्या लेना देना अर्थात् वे मोक्षसाधन नहीं हो सकते। परबोधरूप तृप्तिलिङ्ग को आचरण में रखना चाहिये अर्थात् ज्ञान का विषय बनाना चाहिये ॥ ४८ ॥

अथ उत्कृष्टपरबोधाभिज्ञ एव ज्ञानलिङ्गीति कथयति—

परात्परं तु यद् ब्रह्म परमानन्दलक्षणम्।
शिवाख्यं ज्ञायते येन ज्ञानलिङ्गीति कथ्यते ॥ ४९ ॥

परात्परं विश्वापेक्षया परमुत्कृष्टशक्तितत्त्वं तदाश्रयत्वात् ततोऽप्युत्कृष्टं परमानन्दलक्षणं शिवाख्यं यत्परब्रह्म, तद् येन ज्ञायते, स ज्ञानलिङ्गीति भण्यत इत्यर्थः ॥ ४९ ॥

जो परात् पर परमानन्दस्वरूप शिव नामक ब्रह्म को जानता है वह ज्ञानलिङ्गी कहा जाता है ॥ ४९ ॥

अथ ज्ञानलिङ्ग्येव परमुक्त इत्युक्त्वा ज्ञानलिङ्गस्थलं समापयति—

बाह्यक्रियां परित्यज्य चिन्तामपि च मानसीम्।
अखण्डज्ञानरूपत्वं यो भजेन्मुक्त एव सः ॥ ५० ॥

यो बाह्यक्रियाम् इष्टलिङ्गसम्बन्धिनीं बाह्यक्रियापूजाम्, मानसीं चिन्तामपि च प्राणलिङ्गसम्बन्धिनीमान्तरध्यानपूजां च परित्यज्य अखण्डज्ञानरूपत्वं परिपूर्णतृप्तिलिङ्गं भजेत्, स मुक्त एवेत्यर्थः ॥ ५० ॥

जो भक्त बाह्य क्रिया एवं मानस ध्यान को छोड़कर अखण्ड ज्ञानरूपता का भजन अर्थात् सेवन करता है वह मुक्त ही है ॥ ५० ॥

इति ज्ञानलिङ्गस्थलम्

अथ स्वयंस्थलम्

अथ—परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते। स उत्तमः पुरुषस्तत्र पर्येति'[१] **इति छान्दोग्यश्रुतेः—**

प्राणलिङ्गपरिज्ञानानन्दः स शिवलाञ्छनः।
बाह्यकर्मपरित्यागी स स्वयं लिङ्गमुच्यते ॥

---

१. छा०उ० ८।१२।३

इति वातुलोत्तरवचनाच्च ज्ञानलिङ्ग्येव स्वयंस्थलसम्पन्न इति निरूपयति—

तद्भावज्ञापकज्ञानं यत्र ज्ञाने लयं व्रजेत् ।
तद्वानेष समाख्यातः स्वाभिधानो मनीषिभिः ॥ ५१ ॥

तद्भावज्ञापकज्ञानलयस्थानवानेष ज्ञानलिङ्गी स्वाभिधानः स्वयंलिङ्गाभिधान इति मनीषिभिः शिवज्ञानिभिः समाख्यात् इत्यर्थः ॥ ५१ ॥

(स्वयंस्थल वर्णन)—उस अर्थात् भावलिङ्ग का ज्ञापक ज्ञान जिस ज्ञान में लीन हो जाता है मनीषियों के द्वारा उस ज्ञान वाला यह व्यक्ति 'स्वयं' नाम से कहा जाता है ॥ ५१ ॥

अथ तदाचारं प्रकाशयति सूत्रचतुष्टयेन—

स्वच्छन्दाचारसन्तुष्टो ज्योतिर्लिङ्गपरायणः ।
आत्मस्थसकलाकारः स्वाभिधो मुनिसत्तमः ॥ ५२ ॥

ज्योतिर्लिङ्गपरायणो बाह्यलिङ्गवैमुख्येन चिल्लिङ्गनिष्ठः स्वैराचारसन्तुष्टः शिवात्मनि विद्यमानसकलाकारवान् मुनिश्रेष्ठ एव स्वयंलिङ्गाभिधानवानित्यर्थः ॥ ५२ ॥

स्वच्छन्द आचार से सन्तुष्ट, ज्योर्तिलिङ्ग की अर्चना में तत्पर, अपनी आत्मा में सम्पूर्ण आकार या विश्व को रखने वाला मुनिसत्तम स्वयं कहा जाता है ॥ ५२ ॥

निर्ममो निरहङ्कारो निरस्तक्लेशपञ्चकः ।
भिक्षाशी समबुद्धिश्च मुक्तप्रायो मुनिर्भवेत् ॥ ५३ ॥

विषयेषु ममताशून्यः शरीरादिष्वहमित्यभिमानशून्यः, अविद्यादिपञ्चक्लेशरहितः, भिक्षान्नभोक्ता, लोष्टाश्मकाञ्चनेषु समबुद्धिमान् मुनिः स्वयंलिङ्गाभिधानवान् यतिः, मुक्तप्रायः परमुक्तसदृशः स्यात्, चरमदेहत्वादिति ॥ ५३ ॥

विषयों के प्रति ममतारहित, शरीर में आत्मभावनारूप अहङ्कार से रहित तथा (अविद्या आदि) पाँच क्लेशों को समाप्त कर देने वाला, भिक्षा माँगकर भोजन करने वाला समबुद्धि मुनि मुक्तप्राय होता है ॥ ५३ ॥

यदृच्छालाभसन्तुष्टो भस्मनिष्ठो जितेन्द्रियः ।
समवृत्तिर्भवेद् योगी भिक्षुके वा नृपेऽथवा ॥ ५४ ॥

स्पष्टम् ॥ ५४ ॥

जितना और जो कुछ मिलता है उससे सन्तुष्ट, भस्मधारण करने में श्रद्धा रखने वाला, जितेन्द्रिय भिक्षुक अथवा राजा के विषय में समान बुद्धि एवं व्यवहार वाला शिवयोगी होता है ॥ ५४ ॥

पश्यन् सर्वाणि भूतानि संसारस्थानि सर्वशः ।
स्मयमानः परानन्दे लीनात्मा वर्तते सुधीः ॥ ५५ ॥

सुधीः शोभनबुद्धिमान् स्वयंलिङ्गयतिः सर्वशः सर्वत्र संसारस्थानि संसार-चक्रस्थितानि सर्वाणि भूतानि पश्यन् स्मयमानः सन् विस्मयवान् सन् परानन्द परमानन्दमयमहालिङ्गे लीनात्मा लयं गतः सन् वर्तत इत्यर्थः ॥ ५५ ॥

विद्वान् साधक परानन्द में सदा लीन अतएव संसार में रहने वाले समस्त प्राणियों को मुस्कुराहट (अथवा आश्चर्य) के साथ देखता हुआ व्यवहार करता है ॥ ५५ ॥

अथ तस्य यतीश्वरस्य नित्यकर्मोक्त्वा स्वयंस्थलं समापयति—

ध्यानं शैवं तथा ज्ञानं भिक्षा चैकान्तशीलता ।
यतेश्चत्वारि कर्माणि न पञ्चममिहेष्यते ॥ ५६ ॥

शिवज्ञानं शिवाधिक्यज्ञानम्, शिवध्यानम्, भिक्षाहारः एकान्तशीलत्वम्—यतेः स्वयलिङ्गशिवयोगिन एतानि चत्वारि कर्माणि । पञ्चकर्म नेच्छाविषयीक्रियते ॥ ५६ ॥

शिव का ज्ञान, शिव का ध्यान, भिक्षा और एकान्तवास—ये चार ही कर्म शिवयोगी के होते हैं । इस संसार में उसके लिये पाँचवा कर्म नहीं है ॥ ५६ ॥

इति स्वयंस्थलम्

अथ चरस्थलम्

अथ—'आत्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति । तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति'[1] **इति छान्दोग्यश्रुतेः—**

अहंममत्वशून्यात्मा निजबोधैकरूपदृक् ।
स्वयमेव स्वयं भूत्वा चरतीति चरः स्मृतः ॥

इति वातुलोत्तरवचनाच्च स स्वयंलिङ्गसम्पन्न एव स्वयं भूत्वा सञ्चरतीति चरलिङ्गस्थलरूप इति कथयति—

---

१. छा०उ० ७।२५।२

स्वरूपज्ञानसम्पन्नो ध्वस्ताहंममताकृतिः ।
स्वयमेव स्वयं भूत्वा चरतीति चराभिधः ॥ ५७ ॥

स्वयंलिङ्गीति शेषः । निरस्ताहङ्कारममकारवान् स्वस्वरूपज्ञानसम्पन्नः स्वयंलिङ्गी स्वयमेव स्वयं भूत्वा चरतीति चरलिङ्गाभिधानवानित्यर्थः ॥ ५७ ॥

(चरस्थल वर्णन)—जो स्वरूप के ज्ञान से सम्पन्न है, जिसने अहङ्कार और ममकार (अर्थात् 'मैं' और 'मेरा') इस भावना को नष्ट कर दिया है और इस प्रकार स्वयंस्थली होकर स्वयं इस संसार में सञ्चार करता है उसको चरस्थल कहते हैं ॥ ५७ ॥

अथ तस्य चरलिङ्गस्याचारं पञ्चभिः सूत्रैः प्रतिपादयति—

कामक्रोधादिनिर्मुक्तः शान्तिदान्तिसमन्वितः ।
समबुद्ध्या चरेद् योगी सर्वत्र शिवबुद्धिमान् ॥ ५८ ॥

स्पष्टम् ॥ ५८ ॥

काम क्रोध आदि से रहित शम दम से युक्त सबके विषय में शिवबुद्धि रखने वाले योगी को सर्वत्र समत्व बुद्धि से व्यवहार करना चाहिये ॥ ५८ ॥

इदं मुख्यमिदं हीनमिति चिन्तामकल्पयन् ।
सर्वत्र सञ्चरेद् योगी सर्वं ब्रह्मेति भावयन् ॥ ५९ ॥

योगी शिवयोगीत्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ५९ ॥

'यह मुख्य है यह गौण है'—ऐसा विचार न करता हुआ तथा 'सब कुछ ब्रह्म है'[१]—ऐसी भावना करता हुआ योगी सर्वत्र सञ्चरण करे ॥ ५९ ॥

न सम्मानेषु सम्प्रीतिं नावमानेषु च व्यथाम् ।
कुर्वाणः सञ्चरेद् योगी कूटस्थे स्वात्मनि स्थितः ॥ ६० ॥

कूटस्थे स्वात्मनि तुर्यसाक्षिकप्रत्यगात्मलक्षणनिजरूपे विद्यमानः शिवयोगी सम्मानेषु सम्प्रीतिमवमानेषु दुःखं च न कुर्वाणः अकुर्वाणः सन् सञ्चरेत् ॥ ६० ॥

सम्मान होने पर हर्ष और अपमान होने पर विषाद न करता हुआ शिव-योगी को चाहिये कि वह कूटस्थ आत्मा में स्थित होकर व्यवहार करे ॥ ६० ॥

---

१. तुलनीय—
सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान् इति होपासीत—छा०उ० ३।१४।१

अप्राकृतैर्गुणैः स्वीयैः सर्वं विस्मापयन् ज़नम् ।
अद्वैतपरमानन्दमुदितो देहिवच्चरेत् ॥ ६१ ॥

शिवाद्वैतोद्भूतपरमानन्दसन्तोषितः शिवयोगी अप्राकृतैर्लोकोत्तरैः स्वकीयैर्गुणैः सर्वजनं विस्मययुक्तं सन्तं कुर्वन् सन् शरीरीव चरेत् चरतीत्यर्थः ॥ ६१ ॥

अपने अलौकिक गुणों से सारे संसार को आश्चर्यचकित करता हुआ तथा अद्वैत परमानन्द में आनन्दित (वह शिवयोगी साधारण) मनुष्य की भाँति आचरण करे ॥ ६१ ॥

न प्रपञ्चे निजे देहे न धर्मे न च दुष्कृते ।
गतवैषम्यधीर्धीरो यतिश्चरति देहिवत् ॥ ६२ ॥

गतवैषम्यधीः विधिनिषेधादिषु विगतविषमबुद्धिः धीरः स्थिरचित्तः, यतिः शिवयोगी, निजे देहे सति देहिवत् प्राकृतवत् प्रपञ्चे न चरति, धर्मे पुण्यकृत्ये पापकृत्येऽपि न चरतीत्यर्थः ॥ ६२ ॥

योगी प्रपञ्च अर्थात् संसार अपने शरीर धर्म तथा अधर्म के विषय में वैषम्यबुद्धि से रहित होकर साधारण देही की भाँति व्यवहार करे ॥ ६२ ॥

अथ चरलिङ्गस्थलं समापयति—

प्राकृतैश्वर्यसम्पत्तिपराङ्मुखमनःस्थितिः ।
चिदानन्दनिजात्मस्थो मोदते मुनिपुङ्गवः ॥ ६३ ॥

प्रकृतितत्त्वसमुद्भूतब्रह्मविष्णवाद्यैश्वर्यसम्पत्तिविमुखीभूतचित्तवृत्तिर्यतिश्रेष्ठश्चिदानन्दस्वरूपनिष्ठः सन् मोदते सुखमनुभवन्नास्त इत्यर्थः ॥ ६३ ॥

प्रकृति के ऐश्वर्य वैभव के प्रति पराङ्मुख अर्थात् निःस्पृह मन वाला अतएव चित् आनन्द स्वरूप आत्मा में स्थित अर्थात् आत्मा का सदा साक्षात्कार करने वाला मुनिश्रेष्ठ सदा आनन्दमय रहता है ॥ ६३ ॥

इति चरस्थलम्

अथ परस्थलम्

अथ—'तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा ब्रह्म सम्पद्यते परम्' **इत्यमृत[1](ब्रह्म)-बिन्दुश्रुतेः—**

स्वयं स्वयंत्वमासाद्य चरतो न परः स्मृतः ।

---

१. ब्र०बि०उ० ८

असौ ततोऽतीतवर्णाश्रमत्वेन परः स्मृतः ॥

इति वातुलोत्तरवचनाच्च स्वरूपसिद्धत्वेन चरतस्तस्य शिवयोगी- श्वरस्य परं नास्तीति ज्ञानस्य परलिङ्गस्थलं सप्तभिः सूत्रैः प्रतिपादयति—

स्वयमेव स्वयं भूत्वा चरतः स्वस्वरूपतः ।
परं नास्तीति बोधस्य परत्वमभिधीयते ॥ ६४ ॥

स्वयमेव स्वयं भूत्वा चरतस्तस्य शिवयोगिनः स्वस्वरूपतः परं नास्तीति ज्ञानस्य परलिङ्गत्वमभिधीयत इत्यर्थः ॥ ६४ ॥

(परस्थल वर्णन)—स्वयमेव स्वयं होकर अपने स्वरूप से आचरण करने वाले (शिवयोगी) का (शिव के अतिरिक्त) कोई दूसरा नहीं है । यह ज्ञान उसका परत्व कहा जाता है ॥ ६४ ॥

अथ तस्य वर्तनाप्रकारमाह—

स्वतन्त्रः सर्वकृत्येषु स्वं परत्वेन भावितः ।
तृणीकुर्वन् जगज्जालं वर्तते शिवयोगिराट् ॥ ६५ ॥

स्वं परत्वेन विश्वाधिकत्वेन भावितः परामृष्टः शिवयोगिराट् शिवयोगीश्वरः सर्वकृत्येषु स्वतन्त्रः सन् जगज्जालं जगत्समूहं तृणीकुर्वन् सन् वर्तत इत्यर्थः ॥ ६५ ॥

सब कार्यों में स्वतन्त्र और अपने को परतत्त्व के रूप में समझने वाला तथा संसार को तृणवत् तुच्छ मानने वाला शिवयोगिराट् होता है ॥ ६५ ॥

अथ स कथं मोदत इत्यत्राह—

वर्णाश्रमसमाचारमार्गनिष्ठापराङ्मुखः ।
सर्वोत्कृष्टं स्वमात्मानं पश्यन् योगी तु मोदते ॥ ६६ ॥

योगी शिवयोगीत्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ६६ ॥

वर्ण आश्रम के आचरण के पथ से पराङ्मुख हुआ शिवयोगी अपने को पर अर्थात् सर्वोत्कृष्ट समझता हुआ आनन्दित होता है ॥ ६६ ॥

अथ किमिदं सर्वोत्कृष्टत्वमित्यत्राह—

विश्वातीतं परम्ब्रह्म शिवाख्यं चित्स्वरूपकम् ।
तदेवाहमिति ज्ञानी सर्वोत्कृष्टः स उच्यते ॥ ६७ ॥

स्पष्टम् ॥ ६७ ॥

विश्वातीत शिव नामक चित्स्वरूप ब्रह्म पर अर्थात अन्तिम तत्त्व हैं। 'मै भी वही हूँ' इस प्रकार का ज्ञान रखने वाला पर अर्थात् सर्वोत्कृष्ट कहा जाता है ॥ ६७ ॥

ननु ब्रह्मस्वरूपत्वे ब्रह्मवन्मुक्त एव स्यादित्यत्राह—

अचलं ध्रुवमात्मानमनुपश्यन्निरन्तरम् ।
निरस्तविश्वविभ्रान्तिर्जीवन्मुक्तो भवेन्मुनिः ॥ ६८ ॥

अचलमचञ्चलं ध्रुवं नित्यमात्मानं स्वरूपं निरन्तरमखण्डितत्वेन अनुपश्यन् अनन्यत्वेन पश्यन् मुनिः शिवयोगी निरस्तविश्वविभ्रान्तिः निराकृत-प्रापञ्चिकभ्रान्तिमान् सन् जीवन्मुक्त आहारव्यवहारादिना जीवन्नपि पुनर्जन्मान्तराभावान्मुक्त इत्यर्थः ॥ ६८ ॥

अपने को निरन्तर अचल ध्रुव समझने वाला तथा जिसका समस्त भ्रम दूर हो गया है ऐसा मुनि जीवन्मुक्त होता है ॥ ६८ ॥

ननु वर्णाश्रमगतसमाचारपरित्यागेन कर्मदेवताः कुपिता भवन्तीति कथं जीवन्मुक्त इत्यत्राह—

ब्रह्माद्याः किं नु कुर्वन्ति देवताः कर्ममार्गगाः ।
कर्मातीतपदस्थस्य स्वयं ब्रह्मस्वरूपिणः ॥ ६९ ॥

स्वयं स्वयमेव ब्रह्मस्वरूपिणः ब्रह्मस्वरूपवान् सन् कर्मातीतपदस्थस्य पुण्यपापादिकर्मकाण्डोत्तीर्णस्थानगतस्य शिवयोगिनः कर्ममार्गगा ब्रह्म-विष्ण्वाद्या देवताः किं नु कुर्वन्ति न किमपि कर्तुं कुशला इत्यर्थः ॥ ६९ ॥

कर्म से परे अर्थात् ऊर्ध्व पद में स्थित स्वयं ब्रह्मरूपी योगी का कर्ममार्गी ब्रह्मा आदि देवगण क्या कर सकते हैं? ॥ ६९ ॥

पुनरयं शिवयोग्येवाज्ञानं विमोचयतीत्याह—

स्वेच्छया सञ्चरेद् योगी विमुञ्चन् देहमानिताम् ।
दर्शनैः स्पर्शनैः सर्वाज्ञानपि विमोचयेत् ॥ ७० ॥

देहमानितां देहाभिमानं विमुञ्चन् शिवयोगी स्वेच्छया सञ्चरन्नपि स्वैराचारसम्पन्नोऽपि दर्शनस्पर्शनाभ्यां सर्वानज्ञान् प्राकृतजनान् विमोचयेद् मुक्तान् कुर्यादित्यर्थः ॥ ७० ॥

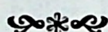
देह में (अहं भाव और मम भाव) का त्याग करने वाला योगी इस संसार में स्वेच्छा से आचरण करता है तथा अपने दर्शन एवं स्पर्श से समस्त

अज्ञानियों को विमुक्त करा देता है ॥ ७० ॥

अथ—'निरञ्जन: परमं साम्यमुपैति दिव्यम्' इति श्रुते परलिङ्गरूपशिवयोगीश्वर एव शिवभावसम्पन्नत्वाज्जीवन्मुक्त इत्युक्त्वा परस्थलं समापयति—

नित्ये निर्मलभावने निरुपमे निर्धूतविश्वभ्रमे
सत्तानन्दचिदात्मके परशिवे साम्यं गत: संयमी ।
प्रध्वस्ताश्रमवर्णधर्मनिगल: स्वच्छन्दसञ्चारवान्
देहीवाद्भुतवैभवो विजयते जीवन्विमुक्त: सुधी: ॥ ७१ ॥

इति श्रीमत्षट्स्थलब्रह्मिण शिवयोगिनाम्ना रेणुकाचार्येण विरचिते सिद्धान्तशिखामणौ लिङ्गस्थले भक्तस्थलगतनवविधलिङ्गप्रसङ्गो नाम पञ्चदश: परिच्छेद: समाप्त: ॥ १५ ॥



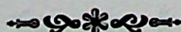
नित्ये निर्मलस्वरूपे, उपमातीते निरस्तसमस्तदोषे सच्चिदानन्दात्मके परशिवे ज्ञातृत्वकर्तृत्वयोगात् साम्यं गत: प्रध्वस्तचतुर्वर्णचतुराश्रमधर्मशृङ्खल: स्वच्छन्दाचारवान् स्वेच्छाचारवान् जीवन्मुक्त: सुधी: परलिङ्गरूपशिवयोगी, देहीव देहवानपि, अद्भुतवैभव: सन् आश्चर्यभूतमहत्त्वसम्पत्तिमान् सन्, विजयते सर्वोत्कर्षेण वर्तत इत्यर्थ: ॥ ७१ ॥

इति श्रीमत्पदवाक्यप्रमाणपारावारधुरीणश्रीमरितोण्टदार्येण विरचितायां तत्त्वप्रदीपिकाख्यायां सिद्धान्तशिखामणिव्याख्यायां भक्तस्थलस्य नवविधलिङ्गप्रसङ्गनामा पञ्चदश: परिच्छेद: ॥ १५ ॥



नित्य निर्मल भावरूप अनुपम समस्त भ्रम के नाशक सत् चित् आनन्द स्वरूप पर शिव के साथ समारस्य स्थापित करने वाला संयमी आश्रम वर्ण धर्म की बन्धन शृङ्खला को तोड़कर स्वच्छन्द अर्थात् अपने इच्छानुसार विचरण करने वाला विद्वान् अद्भुत वैभव से युक्त हुआ जीवन्मुक्त होकर भी सामान्य जन की भाँति व्यवहार करता है ॥ ७१ ॥

इस प्रकार श्रीसिद्धान्तशिखामणि के भक्तस्थलस्य नवविधलिङ्गप्रसङ्ग-नामक पञ्चदश परिच्छेद की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदीकृत 'ज्ञानवती' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ १५ ॥



षोडशः परिच्छेदः

अथ क्रियागमस्थलम्

अथागस्त्यप्रश्नः । अगस्त्य उवाचेति—

स्थलानां नवकं प्रोक्तं भक्तस्थलसमाश्रयम् ।
माहेश्वरस्थले सिद्धं स्थलभेदं वदस्व मे ॥ १ ॥

स्पष्टम् ॥ १ ॥

(क्रियागमस्थल वर्णन)—अगस्त्य ने कहा—(हे रेणुकाचार्य! आपने) भक्त स्थल के अन्तर्गत नव स्थलों का वर्णन किया । माहेश्वर स्थल में सिद्ध स्थलभेद का मुझसे वर्णन कीजिये ॥ १ ॥

श्रीरेणुकः प्रत्युत्तरं वक्ति, रेणुक उवाचेति—

माहेश्वरस्थले सन्ति स्थलानि नव तापस ।
क्रियागमस्थलं पूर्वं ततो भावागमस्थलम् ॥ २ ॥
ज्ञानागमस्थलं चाथ सकायस्थलमीरितम् ।
ततोऽकायस्थलं प्रोक्तं परकायस्थलं ततः ॥ ३ ॥
धर्माचारस्थलं चाथ भावाचारस्थलं ततः ।
ज्ञानाचारस्थलं चेति क्रमादेषां भिदोच्यते ॥ ४ ॥

स्पष्टम् ॥ २-४ ॥

रेणुकाचार्य ने कहा—हे तपस्वी! माहेश्वरस्थल में नव स्थल हैं । पहला क्रियागमस्थल उसके बाद भावागमस्थल तत्पश्चात् ज्ञानागमस्थल फिर सकायस्थल कहा गया है । इसके पश्चात् अकायस्थल उसके बाद परकायस्थल कहा गया है । धर्माचारस्थल फिर भावाचारस्थल और ज्ञानाचारस्थल है । अब क्रम से इनका भेद कहा जा रहा है ॥ २-४ ॥

अथ—'यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि'[१] इति श्रुतेः, 'अल्पक्रिया बहुफलं वीरशैवे महेश्वरि' **इति वातुलतन्त्रवचनाच्च पूर्वोक्तपरस्थल-सम्पन्नः शिवयोगीश्वर एव शिवः, तस्य पूजैव क्रिया, तत्परागम एव क्रियागम इति क्रियागमस्थलं निरूपयति—**

शिवो हि परमः साक्षात् पूजा तस्य क्रियोच्यते ।
तत्परा आगमा यस्मात् तदुक्तोऽयं क्रियागमः ॥ ५ ॥

परमः पूर्वोक्तपरलिङ्गशिवयोगीश्वर एव साक्षाच्छिवो हि प्रत्यक्षीभूतः शिवः, तस्य पूजा क्रियोच्यते, क्रियेत्युच्यत इत्यर्थः । आगमा यस्मात् कारणात् तत्पराः क्रियाप्रधानाः, तत् तस्मात् कारणाद् अयं क्रियागम इत्युच्यत इत्यर्थः ॥ ५ ॥

परलिङ्ग शिवयोगी साक्षात् शिव होता है । उसकी पूजा क्रिया कही जाती है । उस क्रिया को बताने वाला आगम क्रियागम कहा गया है ॥ ५ ॥

अथ तत्पूजाक्रियामेव पञ्चभिः सूत्रैर्विशेषयति—

प्रकाशते यथा नाग्निररण्यां मन्थनं विना ।
क्रियां विना तथान्तःस्थो न प्रकाशो भवेच्छिवः ॥ ६ ॥

अरण्यां दारुपात्रे वह्निर्मन्थनं विना यथा न प्रकाशते, तथा पूजाक्रियां विना अन्तःस्थो लिङ्गमध्यस्थः शिवः प्रकाशो न भवेदित्यर्थः ॥ ६ ॥

जिस प्रकार अरणि में (प्रच्छन्न रूप से स्थित) अग्नि विना मन्थन के प्रकट नहीं होती उसी प्रकार क्रिया के विना अन्दर स्थित शिव प्रकाशित नहीं होते ॥ ६ ॥

अथ सा पूजा कथं कर्तव्येत्यत्राह—

न यथा विधिलोपः स्याद्यथा देवः प्रसीदति ।
यथागमः प्रमाणं स्यात्तथा कर्म समाचरेत् ॥ ७ ॥

विधिलोप इतिकर्तव्यतालक्षणनियमलोप इत्यर्थः । विधेर्लोपे शिवो न प्रसीदति, तथागमस्याप्रामाण्यं प्राप्नुयात् । तस्माद् यथा विधेर्लोपो न भवति, तथा पूजा कर्तव्येत्यर्थः ॥ ७ ॥

जिस प्रकार विधान अर्थात् इतिकर्त्तव्यता का लोप न हो और जिस विधि से देव अर्थात् शिव प्रसन्न हों और जिसमें आगम प्रमाण हो (अर्थात् आगम

१. तै०उ० ११।१

जिस कर्म को करने के लिये कहता है) उस प्रकार का कर्म करना चाहिये ॥ ७ ॥

ननु शिवपूंजा किमर्थं कर्तव्येत्यत्राह—

विधिः शिवनियोगोऽयं तस्माद् विहितकर्मणि ।
शिवाराधनबुद्ध्यैव निरतः स्याद् विचक्षणः ॥ ८ ॥

विहितकर्मणि शास्त्रोक्तकर्मण्ययं विधिः शिवपूजा कर्तव्येति विधिः शिवनियोगः शिवस्याज्ञारूपः, तस्माद् विचक्षणः प्रवीणः शिवाराधनबुद्धौ निरत आसक्तः स्यात्, अन्यथा शिवाज्ञानलङ्घने नरकं व्रजेदित्यर्थः ॥ ८ ॥

आगम शास्त्रों के द्वारा विहित कर्म के विषय में यह शिव की आज्ञा है—ऐसा समझकर विद्वान् को शिवाराधनबुद्धि से (पूजा कर्म में) लगना चाहिये ॥ ८ ॥

अथ शिवपूजाप्रकारः कथं ज्ञातव्य इत्यत्राह—

गुरोरादेशमासाद्य पूजयेत् परमेश्वरम् ।
पूजिते परमेशाने पूजिताः सर्वदेवताः ॥ ९ ॥

गुरूपदिष्टप्रकारेण शिवलिङ्गं पूजयेत् । तस्मिन् पूजिते सर्वे देवाः पूजिताः स्युः, शिवलिङ्गस्य सर्वदेवमयत्वेन सर्वदेवाः प्रसन्नाः स्युरित्यर्थः ॥ ९ ॥

(शिवभक्त) गुरु की आज्ञा लेकर परमेश्वर शिव की पूजा करे । क्योंकि शिव की पूजा होने पर सब देवों की पूजा हो जाती है ॥ ९ ॥

ननु शिवपूजनस्य किं फलमित्यत्राह—

सदा शिवार्चनोपायसामग्रीव्यग्रमानसः ।
शिवयोगरतो योगी मुच्यते नात्र संशयः ॥ १० ॥

सर्वदा शिवलिङ्गपूजासाधनसामग्रीसम्पादनरूपशिवयोगनिष्ठः शिवयोगी मलमायादिपाशमुक्तो भवति । अस्मिन्नर्थे संशयो नास्तीत्यर्थः ॥ १० ॥

शिव की पूजा सामग्री को जुटाने में सदा व्यग्र चित्त वाला तथा शिवयोग में निरन्तर लगा हुआ योगी मुक्त हो जता है, इसमें सन्देह नहीं ॥ १० ॥

ननु—'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' इत्यादिवचनैर्ज्ञानस्यैव मोक्षसाधत्वं प्रतीयते, न कर्मण इत्याशङ्क्य—

न क्रियारहितं ज्ञानं न ज्ञानरहिता क्रिया ।
अपश्यन्नन्धको दग्धोऽगच्छन् पङ्गुश्च दह्यते ॥

इति शिवरहस्यवचनानुसारेण समाधत्ते—

अन्धपङ्गुवदन्योऽन्यसापेक्षो ज्ञानकर्मणी ।
फलौत्पत्तौ विरक्तस्य तस्मात् तद्द्वयमाचरेत् ॥ ११ ॥

ज्ञानकर्मणी ज्ञानक्रिये अन्धपङ्गुवदन्योन्यसापेक्षे इति तद्द्वयं ज्ञानक्रियाद्वयम् । तस्मात् फलोत्पत्तौ परापरमुक्तिरूपफलोत्पत्तौ विरक्त आचरेदित्यर्थः ॥ ११ ॥

अन्धे और लँगड़े के समान ज्ञान और कर्म परस्पर सापेक्ष है । इस कारण फल की उत्पत्ति में अनासक्त होता हुआ योगी उन दोनों को करे ॥ ११ ॥

ननु सिद्धज्ञानिनां कर्मणा प्रयोजनं नास्तीत्यत्राह—

ज्ञाने सिद्धेऽपि विदुषां कर्मापि विनियुज्यते ।
फलाभिसन्धिरहितं तस्मात् कर्म न सन्त्यजेत् ॥ १२ ॥

'न कर्मणा' इति श्रुतेः काम्यकर्मपरत्वाद् विदुषां ज्ञाने सिद्धेऽपि वेदान्तेऽग्निहोत्रवत् फलापेक्षारहितं कर्म विधीयत एव, तत्तदाश्रमविहित-कर्मपरित्यागे पातित्यात्—

ज्ञानं प्रधानं न तु कर्महीनं
कर्म प्रधानं न तु चिद्विहीनम् ।
तस्माद् द्वयोरेव भवेत्
प्रसिद्धिर्नह्येकपक्षो विहग: प्रयाति ॥

इत्यभियुक्तोक्तेश्च निष्कामकर्मानुष्ठानं न सन्त्यजेदित्यर्थः ॥ १२ ॥

विद्वानों अर्थात् ज्ञानी लोगों का ज्ञान सिद्ध अर्थात् प्राप्त होने पर भी कर्म को करना होता है । इसलिये यद्यपि फल की इच्छा से रहित हो तथापि कर्म का त्याग न करे ॥ १२ ॥

अथाचारस्याधिक्यं प्रतिपादयति—

आचार एव सर्वेषामलङ्कारायं कल्प्यते ।
आचारहीनः पुरुषो लोके भवति निन्दितः ॥ १३ ॥

स्पष्टम् ॥ १३ ॥

आचार ही सबका अलङ्कार होता है । आचारहीन पुरुष लोक में निन्दा का पात्र होता है ॥ १३ ॥

तस्मात् सत्कर्माचरणवान् भवेदित्युक्त्वा क्रियागमस्थलं समापयति—

ज्ञानेनाचारयुक्तेन प्रसीदति महेश्वरः ।
तस्मादाचारवान् ज्ञानी भवेदादेहपातनम् ॥ १४ ॥

स्पष्टम् ॥ १४ ॥

सदाचारयुक्त ज्ञान से महेश्वर प्रसन्न होते हैं । इसलिये ज्ञानी को शरीर की मृत्युपर्यन्त आचारवान् होना चाहिये ॥ १४ ॥

इति क्रियागमस्थलम्

अथ भावागमस्थलम्

अथ—'यं यथोपासते तदेव भवति यद्भावं तद्भवति यथाकारि तथाचारि तथा भवति' **इति बृहदारण्यकश्रुतेः, 'शिवभावानुसन्धानाच्छिवो भावे प्रकाशते' इति योगजागमस्थितेश्च निष्कामकर्मानुष्ठानवतो विरक्तस्य भावचिह्नमेव भावागमस्थलमिति निरूपयति—**

भावचिह्नानि विदुषो यानि सन्ति विरागिणः ।
तानि भावागमत्वेन वर्तन्ते सर्वदेहिनाम् ॥ १५ ॥

विरागिणः असत्क्रियाफलविरक्तस्य विदुषो ज्ञानिनः शिवयोगिनः, यानि भावचिह्नानि सन्ति, तानि सर्वदेहिनां प्राकृतानां भावागमत्वेन वर्तन्त इत्यर्थः ॥ १५ ॥

(भावागमस्थल वर्णन)—वैराग्ययुक्त विद्वान् के जो भावचिह्न होते हैं वे ही समस्त सामान्य जनों के भावागम अर्थात् भावरूपी आगमशास्त्र के रूप में प्रमाण हो जाते हैं ॥ १५ ॥

अथ पूर्वोक्तज्ञानाचारापेक्षया भाव एव विशिष्ट इति सूत्रद्वयेन कथयति—

शिवोऽहमिति भावोऽपि शिवतापत्तिकारणम् ।
न ज्ञानमात्रं नाचारो भावयुक्तः शिवो भवेत् ॥ १६ ॥

शिवोऽहमिति भावः शिवत्वप्राप्तिकारणम्, ज्ञानमात्रं न, शिवतापत्तिकारणं न भवतीत्यर्थः । आचारः केवलसत्क्रियाचारोऽपि न, शिवत्वप्राप्तिकारणं न, किन्तु भावयुक्तः शिवोऽहमिति भावेन संयुक्त एव शिवः शिवस्वरूपो भवेदित्यर्थः ॥ १६ ॥

'शिवोऽहम्' (= मैं शिव हूँ) यह भाव भी शिवत्व की प्राप्ति का कारण होता है । न केवल ज्ञान अथवा केवल आचार युक्त वरन् केवल भावयुक्त

भक्त शिव हो जाता है ॥ १६ ॥

ननु ज्ञानभावयोः को भेद इत्यत्राह—

ज्ञानं वस्तुपरिच्छेदो ध्यानं तद्भावकारणम् ।
तस्माद् ज्ञाते महादेवे ध्यानयुक्तो भवेत् सुधीः ॥ १७ ॥

वस्तुपरिच्छेद इदमेतादृशमिति वस्तुस्वरूपनिर्णायकं ज्ञानम्, तद्भावकारणं निर्णीतस्य वस्तुनो भावस्य धर्मलाभस्य कारणं ध्यानं तदेवाहमिति मननम् । तस्मात् शिवे ज्ञाते सति सुधीः सुज्ञानी ध्यानयुक्तो भावेन संयुक्तो भवेत् स्यादित्यर्थः ॥ १७ ॥

ज्ञान वस्तु का परिच्छेद अर्थात् उसके वास्तविक स्वरूप का निर्णायक होता है । ध्यान उस भाव का कारण होता है । इस कारण महादेव का ज्ञान होने पर विद्वान् को शिवध्यान से युक्त होना चाहिये ॥ १७ ॥

अथ कथं भावयेदित्यत्राह—

अन्तर्बहिश्च सर्वत्र परिपूर्णं महेश्वरम् ।
भावयेत् परमानन्दलब्धये पण्डितोत्तमः ॥ १८ ॥

अन्तर्बहिश्च शरीरान्तर्बहिश्चेत्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ १८ ॥

उत्तम पण्डित को चाहिये कि वह परमानन्द प्राप्त करने के लिये शरीर के अन्दर और बाहर सर्वत्र परिपूर्ण महेश्वर का ध्यान और उनकी भावना करे ॥ १८ ॥

अथ सा क्रियापूजा भावरहिता चेद् वृथेति सदृष्टान्तं सूत्रद्वयेनाह—

अर्थहीना यथा वाणी पतिहीना यथा सती ।
श्रुतिहीना यथा बुद्धिर्भावहीना तथा क्रिया ॥ १९ ॥

श्रुतिहीना वेदश्रुतिसम्मतिरहिता बुद्धिर्ज्ञानमित्यर्थः ॥ १९ ॥

जिस प्रकार अर्थहीन वाणी, पति से विहीन सती स्त्री, वेदज्ञान से रहित बुद्धि उसी प्रकार शिवभावना से रहित क्रिया (व्यर्थ होती है) ॥ १९ ॥

चक्षुर्हीनो यथा रूपं न किञ्चिद्वीक्षितुं क्षमः ।
भावहीनस्तथा योगी न शिवं द्रष्टुमीश्वरः ॥ २० ॥

ईश्वरः समर्थ इत्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ २० ॥

जिस प्रकार चक्षु से हीन मनुष्य कुछ भी देखने में समर्थ नहीं होता उसी

प्रकार भावहीन योगी शिव का साक्षात्कार करने में समर्थ नहीं होता ॥ २० ॥

भावशुद्धेन मनसा पूजयेत् परमेष्ठिनम् ।
भावहीनां न गृह्णाति पूजां सुमहतीमपि ॥ २१ ॥

भावशुद्धेन ध्यानशुद्धेनेत्यर्थः । सः स परमेश्वर इत्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ २१ ॥

इसलिये मनुष्य को चाहिये कि वह शुद्धभाव से युक्त मन के द्वारा परमेश्वर शिव की पूजा करे । कितनी भी बड़ी पूजा यदि भाव से हीन है तो परमेश्वर उसका स्वीकार नहीं करते ॥ २१ ॥

अथ—

भ्रमद्भ्रमरचिन्तायां कीटोऽपि भ्रमरायते ।
शिवचिन्तासमाक्रान्तः शिवरूपी भवेद् ध्रुवम् ॥

इति वीरागमवचनानुसारेण भावमहत्त्वं प्रकाशयति—

नैरन्तर्येण सम्पन्ने भावे ध्यातुं शिवं प्रति ।
तद्भावो जायते यद्वत् क्रिमेः कीटस्य चिन्तनात् ॥ २२ ॥

क्रिमेः कीटस्य भ्रमरस्य चिन्तनाद् यद्वद् यथा तद्भावो भ्रमरकीटभावो जायते, तथा भावे चित्ते चित्तविशिष्टे शिवं ध्यातुं नैरन्तर्येण सम्पन्ने सति तद्भावः शिवस्वरूप एव जायते, शिवं प्रतीयत इत्यर्थः ॥ २२ ॥

जैसे कृमि भ्रमर का चिन्तन करते-करते भ्रमर हो जाता है, वैसे ही शिव के प्रति ध्यान की निरन्तरता के सम्पन्न होने पर योगी भी शिव हो जाता है ॥ २२ ॥

अथ निष्कलशिवचिन्तने यद्यसमर्थः, तद्विभूतिं वा चिन्तयेदित्युक्त्वा भावागमस्थलं समापयति—

निष्कलङ्कं निराकारं परब्रह्म शिवभिधम् ।
निर्ध्यातुमसमर्थोऽपि तद्विभूतिं विभावयेत् ॥ २३ ॥

तद्विभूतिं सर्वज्ञत्वादिमहदैश्वर्यमित्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ २३ ॥

यदि कोई भक्त शिव नामक निष्कलङ्क निराकार परब्रह्म का ध्यान करने मे समर्थ नहीं हो तो भी उस शिव के सर्वज्ञता आदि ऐश्वर्य का ध्यान करे ॥ २३ ॥

इति भावागमस्थलम्

अथ ज्ञानागमस्थलम्

अथ—'ज्ञानी विज्ञानतत्परः' **इत्यमृतबिन्दुश्रुते,** 'ज्ञानमेतच्छैवसंस्थम्' **इति पतिपरातन्त्रवचनाच्च तद्भावागमसम्पन्नस्य परयोगिनो ज्ञानचिह्नमेव ज्ञानागमस्थलमिति प्रतिपादयति—**

परस्य ज्ञानचिह्नानि यानि सन्ति शरीरिणाम्।
तानि ज्ञानागमत्वेन प्रवर्तन्ते विमुक्तये ॥ २४ ॥

परस्य भावागमसम्पन्नस्य परमशिवयोगिनो ज्ञानचिह्नान्येव प्राकृतानां पशुजनानां विमुक्तये तद्गतये ज्ञानागमत्वेन प्रवर्तन्त इत्यर्थः ॥ २४ ॥

(ज्ञानागमस्थल वर्णन)—पर अर्थात् भावागम सम्पन्न ज्ञानयोगी के जो ज्ञानचिह्न होते हैं सामान्य देहधारियों के लिये वे ही मोक्षार्थ ज्ञानागम के रूप में व्यवहृत होते हैं ॥ २४ ॥

अथ—'यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते, एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते',[१] 'ज्ञात्वा देवं मृत्युपाशान् छिनत्ति'[२] **इति श्रुत्यनुसारेण पूर्वोक्तकेवल-भावकर्मभ्यां फलं नास्तीत्युक्त्वा ज्ञानमेव पञ्चभिः सूत्रैर्विशेषयति—**

भावेन किं फलं पुसां कर्मणां वा किमिष्यते।
भावकर्मसमायुक्तं ज्ञानमेव विमुक्तिदम् ॥ २५ ॥

अहं ब्रह्मास्मीत्यपरोक्षज्ञानं ज्ञानमित्यर्थः। शिष्टं स्पष्टम् ॥ २५ ॥

केवल भाव से मनुष्यों को कोई फल नहीं मिलने वाला। केवल कर्म से भी कोई लाभ नहीं। भाव और कर्म दोनों से युक्त ज्ञान ही मोक्षदायक होता है ॥ २५ ॥

केवलं कर्ममात्रेण जन्मकोटिशतैरपि।
नात्मनां जायते मुक्तिर्ज्ञानं मुक्तेर्हि कारणम् ॥ २६ ॥

हि 'न कर्मणा'[३] **इति,** 'तरति शोकमात्मवित्'[४] **इत्यादिबहुश्रुत्यादि-प्रसिद्धोऽयमर्थः। शिष्टं स्पष्टम् ॥ २६ ॥**

केवल कर्म के द्वारा करोड़ों जन्मों में भी आत्माओं की मुक्ति नहीं होती। ज्ञान ही मुक्ति का एकमात्र कारण है ॥ २६ ॥

---

१. छा०उ० ८।१।६
२. तुलनीय—ज्ञात्वां देवं सर्वपाशापहानिः (श्वे०उ० १।११)
३. कै०उ० ३   ४. छा०उ० ७।१।३

अथ कर्मणा मुक्तिर्नास्तीत्येदेव न, किन्तु कर्म ज्ञानहीनं चेत् पुनः संसारकारणमित्याह—

ज्ञानहीनं सदा कर्म पुंसां संसारकारणम् ।
तदेव ज्ञानयोगेन संसारविनिवर्तकम् ॥ २७ ॥

स्पष्टम् ॥ २७ ॥

पुरुषों के ज्ञानहीन कर्म सदा संसार अर्थात् पुनर्जन्म का कारण बनते हैं। वे ही कर्म ज्ञान से युक्त कर लिये जाने पर संसार के विनिवर्त्तक अर्थात् मोक्षप्रद होते हैं ॥ २७ ॥

अथ ज्ञानहीनं कर्म कथं पुनः संसारकारणमित्यत्राह—

फलं क्रियावतां पुंसां स्वर्गाद्यं नश्वरं यतः ।
तस्मात् स्थायिफलप्राप्त्यै ज्ञानमेव समभ्यसेत् ॥ २८ ॥

'ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'[1] **इत्यादि-वचनबलात् केवलक्रियानिष्ठानां पुंसां स्वर्गाद्यं फलं नश्वरं नाशशीलम्, तस्मात् स्थायिमोक्षफलप्राप्त्यै ज्ञानमेव सम्यगभ्यसेदित्यर्थः ॥ २८ ॥**

चूँकि क्रियावान् पुरुषों का अर्थात् जीवों का क्रिया के द्वारा प्राप्त स्वर्ग आदि फल नश्वर होता है इसलिये स्थायी अर्थात् अनश्वर फल की प्राप्ति के लिये ज्ञान का अभ्यास करना चाहिये ॥ २८ ॥

ननु तज्ज्ञानं कथमभ्यसनीयमित्यत्राह—

शास्त्राभ्यासादियत्नेन सद्गुरोरुपदेशतः ।
ज्ञानमेव समभ्यस्येत् किमन्येन प्रयोजनम् ॥ २९ ॥

शास्त्राभ्यासादियत्नेन निगमागमशिरःसिद्धवीरशैवशास्त्राभ्यासादिप्रयत्नेन सद्गुरोरुपदेशतोऽनुग्रहाद् ज्ञानमेव शिवज्ञानमेव समभ्यस्येत् सम्यगभ्यासं कुर्यात् । अन्येन पाशवहविर्भक्षणोपयुक्तपूर्वमीमांसादिशास्त्रेण किं प्रयोजनम्? न किञ्चित् प्रयोजनमित्यर्थः ॥ २९ ॥

शास्त्रों का अभ्यास आदि प्रयास तथा सद्गुरु के उपदेश के द्वारा ज्ञान का ही अभ्यास करना चाहिये । अन्य साधनों से क्या प्रयोजन? ॥ २९ ॥

अथ तज्ज्ञानमहत्त्वं सूत्रद्वयेन प्रकाशयति—

---

१. भ०गी० ९।२१

ज्ञानं परशिवाद्वैतपरिपाकविनिश्चयः ।
येन संसारसम्बन्धविनिवृत्तिर्भवेत् सताम् ॥ ३० ॥

परब्रह्मलिङ्गादन्यन्नास्तीति परिपक्वनिश्चय एव ज्ञानम्, येन ज्ञानेन सतां संसारबाधानिवृत्तिर्भवेदिति ॥ ३० ॥

ज्ञान का अर्थ है—पर शिव के अद्वैत भाव के परिपाक के सन्दर्भ में निश्चित अवधारणा । इसी के द्वारा महात्माओं को संसार की निवृत्ति प्राप्त होती है ॥ ३० ॥

अथ तदेव विशदयति—

शिवात्मकमिदं सर्वं शिवादन्यन्न विद्यते ।
शिवोऽहमिति या बुद्धिस्तदेव ज्ञानमुत्तमम् ॥ ३१ ॥

स्पष्टम् ॥ ३१ ॥

'यह सब शिव ही हैं, शिव से अन्य कुछ नहीं है, मैं भी शिव ही हूँ—ऐसी जो बुद्धि है वही उत्तम ज्ञान है ॥ ३१ ॥

अथ तज्ज्ञानमहत्त्वं सूत्रद्वयेन प्रकाशयति—

अन्धो यथा पुरस्थानि वस्तूनि च न पश्यति ।
ज्ञानहीनस्तथा देही नात्मस्थं वीक्षते शिवम् ॥ ३२ ॥

स्पष्टम् ॥ ३२ ॥

जिस प्रकार अन्धा व्यक्ति सामने स्थित वस्तुओं को नहीं देख पाता उसी प्रकार ज्ञानहीन जीव अपने अन्दर स्थित शिव को नहीं देखता ॥ ३२ ॥

ननु शिवदर्शनेन किमित्यत्राह—

शिवस्य दर्शनात् पुंसां जन्मरोगनिवर्तनम् ।
शिवदर्शनमप्याहुः सुलभं ज्ञानचक्षुषाम् ॥ ३३ ॥

अत्र स्यादिति शेषः । जन्मरोगनिवर्तनं स्यादिति सम्बन्धः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ३३ ॥

शिव का साक्षात्कार होने से मनुष्यों का जन्मरूपी रोग दूर हो जाता है । ज्ञानरूपी नेत्र वाले महात्माओं को शिव का दर्शन भी सुलभ हो जाता है ॥ ३३ ॥

तस्माद् ज्ञानेन विना अज्ञाननिवृत्तिर्नास्तीत्युक्त्वा ज्ञानागमस्थलं समापयति—

दीपं विना यथा गेहे नान्धकारो निवर्तते ।
ज्ञानं विना तथा चित्ते मोहोऽपि न निवर्तते ॥ ३४ ॥

ज्ञानं विना शिवज्ञानं विनेत्यर्थः । मोहोऽज्ञानम् । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ३४ ॥

जिस प्रकार घर में स्थित अन्धकार दीपक के विना नहीं हटता उस प्रकार चित्त में स्थित मोह भी ज्ञान के विना दूर नहीं होता ॥ ३४ ॥

इति ज्ञानागमस्थलम्

अथ सकायस्थलम्

अथ—'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'[१] **इति वचनानुसारेण तच्छिवज्ञानसम्पन्नस्य योगिनः शरीरस्य क्रियाभावज्ञानकारणत्वेनात्मत्वनिरूपणादयं लोकः सकाय इति षड्भिः सूत्रैः सकायस्थलं प्रतिपादयति—**

परस्य या तनुर्ज्ञेयाऽदेहकर्माभिमानिनः ।
तया सकायो लोकोऽयं तदात्मत्वनिरूपणात् ॥ ३५ ॥

अदेहकर्माभिमानिनः स्थूलोऽहमहं करोमीति लौकिकवद् देहकर्माभिमानशून्यस्य परस्य पूर्वोक्तज्ञानसम्पन्नस्य योगिनः परैर्ज्ञेया या तनुरस्ति, तया तन्वा तदात्मत्वनिरूपणात् तच्छरीरस्य आत्मत्वनिरूपणाद् अयं लोकः सकाय इति कायेन सहित इत्यर्थः ॥ ३५ ॥

(सकायस्थल वर्णन)—(स्थूल आदि विशिष्ट) देह और कर्म का जो अभिमानी नहीं है ऐसे पर अर्थात् ज्ञानस्थली का जो ज्ञेय शरीर है उसके द्वारा यह लोक सकाय कहा जाता है क्योंकि उस (ज्ञानी) का शरीर आत्मा के रूप में प्रतिपादित है ॥ ३५ ॥

ननु देहाभिमानशून्यस्य परयोगिनः कायापेक्षा किमर्थमित्यत्राह—

कायं विना समस्तानां न क्रिया न च भावना ।
न ज्ञानं यत्ततो योगी कायवानेव सञ्चरेत् ॥ ३६ ॥

यद्यस्मात् कारणात् समस्तानां च कायं विना क्रियाध्यानशून्यत्वात् शिवज्ञानसम्पन्नः शिवयोगी कायवानेव सञ्चरेदिति ॥ ३६ ॥

चूँकि काय के विना सब लोगों की न तो क्रिया, न भावना और न ज्ञान सम्भव होता है इसलिये योगी को चाहिये कि वह कायवान् होकर (संसार में)

---

१. कु०सं०

विचरण करे ॥ ३६ ॥

नन्वस्य योगिनः शिवज्ञानसम्पन्नत्वात् किमिति कायापेक्षेत्यत्राह—

शिवैकज्ञानयुक्तस्य योगिनोऽपि महात्मनः ।
काययोगेन सिद्ध्यन्ति भोगमोक्षादयः सदा ॥ ३७ ॥

मोक्षस्य ज्ञानमूलत्वात्, ज्ञानस्य कायमूलत्वादिति भावः ॥ ३७ ॥

शिव के ज्ञान से युक्त महान् आत्मा वाले योगी के भी भोग मोक्ष आदि सर्वदा काययोग से ही सिद्ध होते हैं ॥ ३७ ॥

अत्र दृष्टान्तमाह—

काष्ठं विना यथा वह्निर्जायते न प्रकाशवान् ।
मूर्तिं विना तथा योगी नात्मतत्त्वप्रकाशवान् ॥ ३८ ॥

स्पष्टम् ॥ ३८ ॥

जिस प्रकार अग्नि काष्ठ के विना प्रकाशवान् अर्थात् प्रकट नहीं होता उसी प्रकार मूर्त्ति (= शरीर) के विना योगी आत्म तत्त्व का प्रकाश नहीं कर सकता ॥ ३८ ॥

पुनश्च दृष्टान्तान्तरमाह—

मूर्त्यात्मनैव देवस्य यथापूज्यत्वकल्पना ।
तथा देहात्मनैवास्य पूज्यत्वं परयोगिनः ॥ ३९ ॥

स्पष्टम् ॥ ३९ ॥

जिस प्रकार मूर्त्तियुक्त होने के कारण देवता को पूज्य माना जाता है उसी प्रकार परयोगी भी देहधारण करने के कारण ही पूज्य होता है ॥ ३९ ॥

किमुत शिवोऽपि मूर्त्यात्मनैव सृष्ट्यादीन् करोतीत्याह—

निष्कलो हि महादेवः परिपूर्णः सदाशिवः ।
जगत्सृष्ट्यादिसंसिद्ध्यै मूर्तिमानेव भासते ॥ ४० ॥

स्पष्टम् ॥ ४० ॥

निष्कल (फिर भी) परिपूर्ण (अतएव) महादेव भी सदाशिव जगत् की सृष्टि आदि करने के लिये मूर्त्तिमान् होकर (सर्वत्र) भासित होते हैं ॥ ४० ॥

अथ ब्रह्मादिदिव्यज्ञानिनोऽपि कायवन्त एवेत्याह—

ब्रह्माद्या देवताः सर्वा मुनयोऽपि मुमुक्षवः ।
कायवन्तो हि कुर्वन्ति तपः सर्वार्थसाधकम् ॥ ४१ ॥

स्पष्टम् ॥ ४१ ॥

ब्रह्मा आदि समस्त देवतायें मोक्ष चाहने वाले समस्त मुनिगण भी सर्वार्थ-साधक तप को शरीर धारण करके ही करते हैं ॥ ४१ ॥

अथ—'वैराग्येण वपुस्त्यागो नैव कार्यो मनीषिभिः' इति देवीकालोत्तर-वचनानुसारेण शरीरस्य सकलसिद्धिमूलत्वान्न तत्परित्यागो युक्त इत्युक्त्वा सकायस्थलं समापयति—

तपो हि मूलं सर्वासां सिद्धीनां यज्जगत्त्रये ।
तपस्तत्कायमूलं हि तस्मात् कायं न सन्त्यजेत् ॥ ४२ ॥

सर्वासां सिद्धीनां तपः कारणम्, तपसः शरीरं कारणम्, तस्मात् कायं वैराग्येण न परित्यजेदिति ॥ ४२ ॥

चूँकि तीनों लोकों में समस्त सिद्धियों का मूल कारण तप है और वह तप कायमूल (अर्थात् शरीर के द्वारा सम्पादित किया जाता) है इसलिये शरीर का त्याग नहीं करना चाहिये ॥ ४२ ॥

इति सकायस्थलम्

अथ अकायस्थलम्

अथ—'अच्छायम्'[१] 'अशरीरम्'[२] **इति श्रुतेः परयोगिनश्चौपचारिक-देहित्वादकाय इति पञ्चभिः सूत्रैः प्रतिपादयति—**

औपचारिकदेहित्वाज्जगदात्मत्वभावनात् ।
मायासम्बन्धराहित्यादकायो हि परः स्मृतः ॥ ४३ ॥

पर उक्तलक्षणसकायः परयोगी, औपचारिकदेहित्वाद् देहाभिमान-शून्यत्वाद् जगदात्मत्वभावनात् 'स्वशक्तिप्रचयो विश्वम्'[३] इति शिवसूत्रस्थितेः सर्वं विश्वं शिवस्वभावभूतचित्क्रियाशक्तिमयम्, तद्विषयत्वात्, अन्यथा तद्बाह्यत्वेनाप्रमेयकार्यं स्यादिति चिन्तनाद् मायासम्बन्धरहित्यात्, अत एवान्योन्यभावलक्षणभेदबुद्धिराहित्याद् अकाय इति स्मृतः, हि प्रसिद्ध इत्यर्थः ॥ ४३ ॥

---

१. वृ०उ० ३।८।८　　　　२. छा०उ० ८।१२।१
३. शि०सू० ३।३०

(अकायस्थल वर्णन)—पर अर्थात् सकाय परयोगी औपचारिक (= गौण रूप से) देह धारण करने, संसार को अपना स्वरूप समझने और माया के सम्बन्ध से रहित होने के कारण अकाय माना गया है ॥ ४३ ॥

नन्वस्य देहाभिमानशून्यत्वेनाकायत्वेऽपि देहसम्बन्धस्य विद्यमानत्वात् तत्कृतविकारोऽस्ति किमित्यत्राह—

परस्य देहयोगेऽपि न देहाश्रयविक्रिया ।
शिवस्येव यतस्तस्मादकायोऽयं प्रकीर्तितः ॥ ४४ ॥

शिवस्य देहयोगेऽपि यथा शरीरप्रयुक्तकामादिविकारो नास्ति, तथा परयोगिनः शिवतुल्यत्वाद् देहप्रयुक्तविकारो नास्तीत्यर्थः ॥ ४४ ॥

जिस प्रकार शिव के पर होने के कारण उनमें देहसम्बन्धी विकार नहीं होते उसी प्रकार पर अर्थात् शिवस्वरूप हुए योगी के देह धारण करने पर भी (सामान्य जनों के) शरीर के द्वारा सम्पन्न होने वाली क्रियाओं का संस्काररूप विकार नहीं होता इस कारण यह योगी भी अकाय कहा गया है ॥ ४४ ॥

नन्वकायकायत्वेन भासनं किंप्रयुक्तमित्यत्राह—

परलिङ्गे विलीनस्य परमानन्दचिन्मये ।
कुतो देहेन सम्बन्धो देहिवद्भासनं भ्रमः ॥ ४५ ॥

द्रष्टृणां भ्रम इत्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ४५ ॥

परम आनन्द स्वरूप एवं चिन्मय परलिङ्ग अर्थात् परमशिव में विलीन योगी का देह से सम्बन्ध कहाँ रहता है? अर्थात् नहीं रहता । जो वह देहधारी दिखलायी पड़ता है वह भ्रम है ॥ ४५ ॥

अथ देहसम्बन्धे सत्यपि तेन बाधकं नास्तीत्याह—

देहाभिमानहीनस्य शिवभावे स्थितात्मनः ।
जगदेतच्छरीरं स्याद् देहेनैकेन का व्यथा ॥ ४६ ॥

देहाभिमानशून्यत्वेन शिवभावे स्थितस्वरूपवत एतत्परयोगिनः शिववद् विश्वं शरीरं स्यादित्येकेन शरीरेण का व्यथा न काऽपीत्यर्थः ॥ ४६ ॥

देहाभिमान से रहित अत एव शिवभाव में स्थित (योगी) के लिये यह सम्पूर्ण संसार ही उसका शरीर होता है फिर एक (दृश्यमान व्यक्तिगत) शरीर से क्या हानि लाभ? ॥ ४६ ॥

अथ शिववत् स्वातन्त्र्याभावात् कस्मान्नास्तीत्यत्राह—

शिवज्ञानैकनिष्ठस्य नाहङ्कारभवभ्रमः ।
न चेन्द्रियभवं दुःखं त्यक्तदेहाभिमानिनः ॥ ४७ ॥

शिवाहंभावनिष्ठस्य परिच्छिन्नशरीराहङ्कारशून्यत्वाद् नाहमीश्वर इति तत्कृतभ्रान्तिरिन्द्रियजन्यं दुःखं च नास्तीत्यर्थः ॥ ४७ ॥

जो शिवाद्वैत ज्ञान में सर्वदा लगा हुआ है उसको अहङ्कार से उत्पन्न भ्रम नहीं होता। जिसने देहाभिमान का त्याग कर दिया है उसको इन्द्रियजन्य दुःख नहीं होता ॥ ४७ ॥

अथोक्तार्थमेव स्फुटीकृत्याकायस्थलं समापयति—

न मनुष्यो न देवोऽहं न यक्षो नैव राक्षसः ।
शिवोऽहमिति यो बुद्ध्यात् तस्य किं देहकर्मणा ॥ ४८ ॥

तस्याकायस्य शारीरककर्मणा किम्, किं प्रयोजनम्, न किमपीत्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ४८ ॥

'मैं न मनुष्य हूँ, न देवता, न यक्ष और न राक्षस, मैं केवल शिव हूँ'— ऐसा जो अपने को समझता है उसको शारीर कर्म से क्या लेना देना? (अर्थात् शरीर के द्वारा किये गये कर्म से वह उपलिप्त नहीं होता) ॥ ४८ ॥

इत्यकायस्थलम्

अथ परकायस्थलम्

'स एवै (वेदै) तत्परमं ब्रह्मधाम'[1] **इति मुण्डकश्रुतेः, अकायपरयोगी प्रकृतिमायातीत इति परब्रह्मशरीरत्वात् परकाय इति पञ्चभिः सूत्रैः प्रतिपादयति—**

वशीकृतत्वात् प्रकृतेर्मायामार्गातिवर्तनात् ।
परकायोऽयमाख्यातः सत्यज्ञानसुखात्मकः ॥ ४९ ॥

अयमकायः शिवयोगी प्रकृतेर्वशीकृतत्वाद् वशीकृतेर्मायामार्गोल्लङ्घनात् सत्यज्ञानसुखात्मकः सच्चिदानन्दस्वरूपवान् परकाय इत्याख्यात इत्यर्थः ॥ ४९ ॥

(परकायस्थल वर्णन)—प्रकृति को अपने अधीन करने एवं माया के मार्ग का अतिक्रमण करने के कारण सच्चिदानन्दस्वरूप यह योगी परकाय कहा जाता है ॥ ४९ ॥

---

१. मुं०उ० ३।२।१

नन्वेवं परकायत्वे कथितेऽपि स्थूलशरीरस्य विद्यमानत्वात् कथमधुनैव परकायत्वमित्यत्राह—

परब्रह्मवपुर्यस्य प्रबोधानन्दभासुरम् ।
प्राकृतेन शरीरेण किमेतेनास्य जायते ॥ ५० ॥

चिदानन्दाभ्यां प्रकाशमानं परब्रह्म यस्य वपुः शरीरं जायते, अस्य परकायस्य प्राकृतेन शरीरेण किम्? अन्योन्यभेदाभावबुद्धिरूपमाया-मार्गोल्लङ्घनेन तत्कार्यरूपप्रकृतितत्त्वस्य वशीकरणात् सागरतरङ्गन्यायेन स्वाधीनीकरणात् प्रकृतिसम्भवेन शरीरेण किं बाधकम्? न किमति बाधकमित्यर्थः ॥ ५० ॥

जिसका प्रकृष्ट बोध अर्थात् पर ज्ञान एवं आनन्द से देदीप्यमान शरीर परब्रह्मस्वरूप हो गया है उसको प्रकृति के तत्त्वों से उत्पन्न इस स्थूल शरीर से क्या प्रयोजन? (अर्थात् इस शरीर से विहित कर्म से वह प्रभावित नहीं होता) ॥ ५० ॥

ननु तथापि शरीरमेव प्रतिबन्धकमित्यत्राह—

सम्यग्ज्ञानाग्निसन्दग्धजन्मबीजकलेवरः ।
शिवतत्त्वावलम्बी यः परकायः स उच्यते ॥ ५१ ॥

सम्यग्ज्ञानाग्निना दृढतरशिवाद्वैतज्ञानाग्निना सन्दग्धं पुनरुत्पत्तिशङ्का यथा न भवति तथा सम्यग् दग्धं जन्मैव बीजं यस्य तादृशः कलेवरो भवान्तरकारणीभूतसूक्ष्मशरीरो यस्य स तथाविधः शिवतत्त्वावलम्बी परशिवस्वरूपवान् यो अस्ति, सः परकाय इत्युच्यत इत्यर्थः । जन्मरोग-प्रवर्तकस्य सूक्ष्मशरीरस्य नष्टत्वात् स्थूलशरीरे सत्यपि बाधकं नास्तीति भावः ॥ ५१ ॥

सम्यक् ज्ञान (अर्थात् 'सर्वं शिवमयम्' इस प्रकार का ज्ञान) रूपी अग्नि से जिसका जन्म का कारणभूत सूक्ष्म शरीर जल गया है तथा जो शिव तत्त्वावलम्बी है वह परकाय कहा जाता है ॥ ५१ ॥

ननु शरीरस्य विद्यमानत्वेनेन्द्रियव्यापारानुवृत्तेर्बाधकमेवेत्यत्राह—

इन्द्रियाणि मनोवृत्तिवासनाः कर्मसम्भवाः ।
यत्र यान्ति लयं तेन सकायोऽयं परात्मना ॥ ५२ ॥

कर्मसम्भवाः कर्मपाशसम्भूता मनोवृत्तिवासना इन्द्रियार्थवासना इन्द्रियाणि च दशेन्द्रियव्यापारा यत्र लयं यान्ति, तेन परात्मना परब्रह्मणा अयं एष

परकाय: सकाय: कायेन सहित: सन् वर्तते । एतत्कायस्यापि ब्रह्ममयत्वादिति भाव: ॥ ५२ ॥

कर्म के द्वारा उत्पन्न मानसिक भावना संस्कार तथा इन्द्रियाँ जिसमें लीन हो जाती हैं उस परमात्मा के कारण यह सकाय (कहा जाता या) हो जाता है ॥ ५३ ॥

ननु शरीरस्य कथं ब्रह्ममयत्वमित्यत्राह—

पराहन्तामनुप्राप्य पश्येद् विश्वं चिदात्मकम् ।
सदेहोऽतिभ्रमस्तस्य निश्चिता हि शिवात्मता ॥ ५३ ॥

पराहन्तां परब्रह्मपरशिवपरात्मपर्यायपरतत्त्वमेव स्वयमिति भावमनुप्राप्य विश्वं सकलजगज्जालं चिदात्मकं परब्रह्मस्वभावभूतचित्क्रियान्तर्गतत्वात्तन्मय-मिति य: पश्यति, तस्य सदेह: देहेन सह वर्तमानत्वम्, अतिभ्रम: पश्यतां प्राकृतानां भ्रम: । निश्चिता हि शिवात्मता, किन्तु तस्य शरीरस्य शिवात्मता निश्चिता, शक्तिमयत्वादिति ॥ ५३ ॥

पर अहन्ता (अर्थात् 'अहं पर: शिव:' अथवा 'अहंसर्वम्' इस भावना) को प्राप्त कर योगी सम्पूर्ण विश्व को चिन्मय देखता है । उसकी शिवरूपता निश्चित है (अर्थात् वह निश्चित रूप से शिव हो गया) उसको सदेह समझना बहुत बड़ा भ्रम है ॥ ५३ ॥

तर्हि स परकाय: शिववदकाय: सन् परममुक्त एव स्यादित्यत्राह—

स्वस्वरूपं चिदाकारं ज्योति: साक्षाद्विचिन्तयन् ।
देहवानपि निर्देहो जीवन्मुक्तो हि साधक: ॥ ५४ ॥

स्वस्वरूपं साक्षाच्चिदाकरं ज्योतिरिति चिन्तयन् साधको देहवानपि पुनर्देहान्तराभावान्निर्देहो जीवन्मुक्त इति हि प्रसिद्धमित्यर्थ: ॥ ५४ ॥

अपने स्वरूप को चिदाकार एवं साक्षात् ज्योति: स्वरूप समझने वाला देहवान् भी वस्तुत: देहरहित ही होता है । वह साधक निश्चित रूप से जीवन्मुक्त है ॥ ५४ ॥

तदेवोपपादयति—

देहस्तिष्ठतु वा यातु योगिन: स्वात्मबोधिन: ।
जीवन्मुक्तिर्भवेत् सद्यश्चिदानन्दप्रकाशिनी ॥ ५५ ॥

स्पष्टम् ॥ ५५ ॥

जिसको आत्मसाक्षात्कार हो गया है ऐसे योगी का शरीर रहे या जाय उसको चिदानन्द प्रकाश करने वाली जीवन्मुक्ति तत्काल प्राप्त हो जाती है ॥ ५५ ॥

अत्र दृष्टान्तमाह—

आत्मज्ञानावसानं हि संसारपरिपीडनम् ।
सूर्योदयेऽपि किं लोकस्तिमिरेणोपरुद्ध्यते ॥ ५६ ॥

उपरुध्यते व्याप्यत इत्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ५६ ॥

संसार की पीड़ा आत्मज्ञान के पहले तक ही है । क्या सूर्योदय होने पर भी संसार अन्धकार से आच्छन्न रहता है ? (अर्थात् नहीं) ॥ ५६ ॥

अथ परकायस्थलं समापयति—

देहाभिमाननिर्मुक्तः कलातीतपदाश्रयः ।
कथं याति परिच्छेदं शरीरेषु महाबुधः ॥ ५७ ॥

शरीरकलाभिमानशून्यः सन् शरीरस्य पाञ्चभौतिकत्वात् तत्कारणीभूत-निवृत्त्यादिकलातीतपरब्रह्मपदाश्रितो महाबुधः परमज्ञानी परकायः शरीरेषु परिच्छेदं परिमितत्वं कथं केन प्रकारेण याति? न केनापि यातीत्यर्थः ॥ ५७ ॥

जो देहाभिमान से रहित और कलातीत अर्थात् निष्कल पद पर प्रतिष्ठित हो गया है ऐसा महा विद्वान् शरीर के विषय में सीमित कैसे हो सकता है? ॥ ५७ ॥

इति परकायस्थलम्

अथ धर्माचारस्थलम्

अथ—'य(द्येव)दविद्याधिगमः स्व(गमस्य)धर्मस्यानुचरणं स्वाश्रमेष्वेवानुक्रमणं स्वधर्म एव संवर्धते स्तम्भशाखेवेतराण्यनेनोर्ध्वभाग् भवत्यन्यथा पतति'[१] **इति मैत्रेयश्रुतेस्तस्य परकायस्याचार एव सर्वजनानां धर्माचार इति धर्माचारस्थलं प्रतिपादयति—**

तस्यैव परकायस्य समाचारो य इष्यते ।
स धर्मः सर्वलोकानामुपकाराय कल्प्यते ॥ ५८ ॥

तस्य परब्रह्मकायस्य शिवयोगिनो य आचार इच्छाविषयीक्रियते, स धर्मः

---

१. मै०उ० ४।३

सन् समस्तजनानाम् उपकाराय कल्प्यत इत्यर्थः ॥ ५८ ॥

(**धर्माचार स्थल वर्णन**)—ऐसे ही परकाय शिवयोगी का जो आचरण होता है वह कर्म कहा जाता है । ऐसा धर्म समस्त लोगों का उपकार करने में समर्थ होता है ॥ ५८ ॥

अथ तद्धर्माचारं सूत्रत्रयेण कथयति—

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दया क्षमा ।
दानं पूजा जपो ध्यानमिति धर्मस्य संग्रहः ॥ ५९ ॥

दानं सहजदानम्, पूजा शिवलिङ्गपूजा, ध्यानं शिवलिङ्गचिन्तनम्, जपः शैवपञ्चाक्षराभ्यास इत्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ५९ ॥

अहिंसा, सत्य, चोरी न करना, ब्रह्मचर्य, दया, क्षमा, दान, पूजा (= शिवलिङ्गार्चन), जप (= पञ्चाक्षर का जप), ध्यान (शिव का ध्यान)—यह धर्म का संग्रह है ॥ ५९ ॥

नन्विदं धर्माचरणं किमर्थं कर्तव्यमित्यत्राह—

शिवेन विहितो यस्मादागमैर्धर्मसंग्रहः ।
तस्मात्तमाचरन् विद्वान् तत्प्रसादाय कल्प्यते ॥ ६० ॥

आगमैः शिवेन धर्मसमूहो विहित इति विधेय एव । तस्माद्धर्माचारवान् शिवप्रसादाय समर्थो भवति, अन्यथा शिवप्रसादशून्यः सन् नरकं व्रजेदित्यर्थः ॥ ६० ॥

चूँकि आगमशास्त्रों ने शिव के द्वारा विहित धर्मसंग्रह का वर्णन एवं उपदेश किया है अतएव उसका आचरण करने वाला विद्वान् उस (शिव) को प्रसन्न करने में समर्थ होता है ॥ ६० ॥

ननु स धर्मः कथं कर्तव्य इत्यत्राह—

अधर्मं न स्पृशेत् किञ्चिद् विहितं धर्ममाचरेत् ।
तं च कामविनिर्मुक्तं तमपि ज्ञानपूर्वकम् ॥ ६१ ॥

विहितमहिंसादिरूपमित्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ६१ ॥

अधर्म का रञ्चमात्र भी स्पर्श नहीं करना चाहिये । (शास्त्रों के द्वारा) विहित धर्म का आचरण करना चाहिये और उस (धर्म) के फल की इच्छा से रहित होकर करना चाहिये और यह (निष्काम कर्म) ज्ञानी होकर करना चाहिये ॥ ६१ ॥

अथ तज्ज्ञानं कीदृशमित्यत्र—

मातृवत् परदारांश्च परद्रव्याणि लोष्ठवत् ।
आत्मवत् सर्वभूतानि यः पश्यति स धर्मिराट् ॥

इति श्रुत्यनुसारेण सूत्रद्वयेनाह—

आत्मवत् सर्वभूतानि संपश्येद् योगवित्तमः ।
जगदेकात्मताभावान्निग्रहादिविरोधतः ॥ ६२ ॥

योगवित्तमो योगीश्वरो जगदेकात्मताभावाज्जगतः प्रकाशैकरूपत्वचिन्तनान्निग्रहादिविरोधतो निग्रहानुग्रहयोरवकाशाभावात् सर्वभूतानि आत्मवत् स्वात्मवत् संपश्येत्, अपक्षपातेन पश्येदित्यर्थः ॥ ६२ ॥

योग को जानने वाला साधक संसार को एकमात्र परमात्मरूप समझता हुआ निग्रह अनुग्रह को अवसर न देता हुआ सम्पूर्ण प्राणियों को आत्मवत् देखे ॥ ६२ ॥

एवं पश्यतो ममकारो नैवेत्याह—

एक एव शिवः साक्षाज्जगदेतदिति स्फुटम् ।
पश्यतः किं न जायेत ममकारो हि विभ्रमः ॥ ६३ ॥

शिव एक एवैतज्जगदिति स्फुटं साक्षात् पश्यतः किं न जायेत्? सर्वं स्यादेव । तस्मिन् जगति ममकारः प्रतिनियतमस्तु ममेत्यभिमानो विभ्रमो नास्तीत्यर्थः ॥ ६३ ॥

एक ही शिव इस जगत् के रूप में हैं ऐसी स्पष्ट दृष्टि रखने वाले योगी को क्या प्राप्त नहीं होता अर्थात् सब कुछ उसे मिल जाता है । ममकार (अर्थात् यह मेरा है, यह मेरा नहीं—ऐसा ज्ञान) भ्रमात्मक होता है ॥ ६३ ॥

अथ तद्धर्माचारं विरक्तोऽपि न त्यजेदित्याह—

धर्म एव समस्तानां यतः संसिद्धिकारणम् ।
निःस्पृहोऽपि महायोगी धर्ममार्गं च न त्यजेत् ॥ ६४ ॥

संसिद्धिकारणं भोगमोक्षकारणमित्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ६४ ॥

चूँकि धर्म ही सारी सिद्धियों का कारण होता है इसलिये योगी को चाहिये कि निःस्पृह होते हुए भी वह धर्ममार्ग का परित्याग न करे (अर्थात् धर्माचरण करता जाय) ॥ ६४ ॥

ननु ज्ञानिनां किं धर्माचरणेनेत्यत्राह—

ज्ञानामृतेन तृप्तोऽपि योगी धर्मं न संत्यजेत् ।
आचारं महतां दृष्ट्वा प्रवर्तन्ते हि लौकिकाः[1] ॥ ६५ ॥

ज्ञानामृतेन शिवज्ञानामृतेन तृप्तोऽपि महायोगी लोकहितार्थं धर्माचारं न परित्यजेदित्यर्थः ॥ ६५ ॥

ज्ञान के अमृत से तृप्त भी योगी को धर्म का त्याग नहीं करना चाहिये क्योंकि बड़े लोगों का व्यवहार देखकर ही मनुष्य इस संसार में प्रवृत्त होते हैं ॥ ६५ ॥

अथ कारणान्तरमप्याह—

सदाचारप्रियः शम्भुः सदाचारेण पूज्येत् ।
सदाचारं विना तस्य प्रसादो नैव जायते ॥ ६६ ॥

ज्ञानिनोऽपि शिवप्रसादसिद्ध्यर्थमहिंसाधर्माचरणमावश्यकमिति भावः ॥ ६६ ॥

सदाचार प्रिय शिव की सदाचार से ही पूजा की जाती है । विना सदाचार के वे प्रसन्न नहीं होते ॥ ६६ ॥

इति धर्माचारस्थलम्

अथ भावाचारस्थलम्

अथ—

ज्योतीरूपं शिवं पूर्णं विश्वतेजोनिवर्तकम् ।
आशयं भासयन्तं च भावयस्तन्मयो भवेत् ॥

इति कामिकवचनानुसारेण धर्माचारसम्पन्नस्य शिवयोगिनो भाव एव सर्वेषां भावाचार इत्युपपादयति—

भाव एवास्य सर्वेषां भावाचारः प्रकीर्तितः ।
भावो मानसचेष्टात्मा परिपूर्णः शिवाश्रयः ॥ ६७ ॥

अस्य धर्माचारसम्पन्नस्य शिवयोगिनो भाव एव सर्वेषां प्राकृतानां भावाचार इति परिकीर्तितः । भावो नाम क इत्यत्राह—मानसेति ।

---

१. तुलनीय— यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते ॥ (भ०गी० ३।२१)

मनोव्यापाररूपः सन् परिपूर्णशिवाश्रयोऽन्तर्बहिश्च पूर्णशिव एव आश्रयो यस्य, तादृशस्तु विशेषणभाव इत्यर्थः ॥ ६७ ॥

(भावाचारस्थल वर्णन)—इस धर्माचारस्थली योगी का भाव ही सबके लिये भावाचार कहा गया है । भाव का अर्थ है—मानसिक चेष्टा अर्थात् विचारात्मिका क्रिया । यह परिपूर्ण एवं शिव को आश्रित करके होती है ॥ ६७ ॥

अथ भावयुक्तकर्म सूत्रद्वयेन विशेषयति—

भावनाविहितं कर्म पावनादपि पावनम् ।
तस्माद् भावनया युक्तं परधर्मं समाचरेत् ॥ ६८ ॥

स्पष्टम् ॥ ६८ ॥

भावना के साथ विहित कर्म (अर्थात् इस कर्म को करने वाले, कराने वाले तथा स्वयं कर्म भी शिव ही हैं—ऐसी भावना से किया गया कर्म) पवित्र से भी पवित्र हैं इस कारण शिवभावना से युक्त पर धर्म का आचरण करना चाहिये ॥ ६८ ॥

ननु भावेन किमित्यत्राह—

भावेन हि मनःशुद्धिर्भावशुद्धिश्च कर्मणा ।
इति सञ्चिन्त्य मनसा योगी भावं न संत्यजेत् ॥ ६९ ॥

स्पष्टम् ॥ ६९ ॥

भाव के द्वारा मन की शुद्धि होती है और भाव की शुद्धि (शिवाराधन आदि) कर्म से होती है । ऐसा सोच कर योगी कभी भी भाव का त्यान न करे ॥ ६९ ॥

ननु भावेन कर्मसिद्धिश्चेत् प्रतिबन्धकं स्यादित्यत्राह—

शिवभावनया सर्वं नित्यनैमित्तिकादिकम् ।
कुर्वन्नपि महायोगी गुणदोषैर्न बाध्यते ॥ ७० ॥

शिव एव कर्तेति शिवभावनया (कर्म) कुर्वन् योगी गुणदोषैर्न लिप्यत इत्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ७० ॥

महायोगी शिवभावना के साथ समस्त नित्य नैमित्तिक आदि (= काम्य) कर्मों को करता हुआ भी (उन कर्मों के) गुण अथवा दोष (अर्थात् उनसे जन्य पुण्य और पाप से) बाधित नहीं होता ॥ ७० ॥

ननु परयोगीश्वरस्य नित्यनैमित्तिककर्मसङ्गाभावात् कथं तदाचरणमङ्गीकृतमित्यत्राह—

अन्तः प्रकाशमानस्य संवित्सूर्यस्य सन्ततम् ।
भावेन यदुपस्थानं तत्सन्ध्यावन्दनं विदुः ॥ ७१ ॥

अन्तः ऊर्ध्वं हृत्कमले निरन्तरं भासमानस्य चिदादित्यस्य भावेन यदुपस्थानमनुवर्तनम्, तत् सन्ध्यावन्दनमिति वीरशैवाचार्या जानन्तीत्यर्थः ॥ ७१ ॥

अपने अन्दर प्रकाशमान संविद्रूपी सूर्य का शिवभावना के द्वारा निरन्तर जो उपस्थान[1] है (विद्वान् लोग) उसको सन्ध्या का वन्दन कहते हैं ॥ ७१ ॥

तर्हि होमोऽप्यावश्यक इति स कीदृश इत्यत्राह—

आत्मज्योतिषि सर्वेषां विषयाणां समर्पणम् ।
अन्तर्मुखेन भावेन होमकर्मेति गीयते ॥ ७२ ॥

आत्मज्योतिषि चिदग्नौ, अन्तर्मुखेन भावेन अबहिर्मुखेन भावेन सर्वेषां विषयाणां यत्समर्पणं सागरतरङ्गन्यायेन लयचिन्तनं तदेकलोलीभावचिन्तनं यदस्ति, तद् होमकर्मेति गीयते कथ्यत इत्यर्थः ॥ ७२ ॥

आत्मरूपी ज्योति अर्थात् चिदग्नि में अन्तर्मुखी भाव से समस्त विषयों का समर्पण होम कर्म कहा जाता है ॥ ७२ ॥

एवं नित्यनैमित्तिककर्माणि भावयन् सङ्गरहितः स्यादित्याह—

भावेयत् सर्वकर्माणि नित्यनैमित्तिकानि च ।
शिवप्रीतिकराण्येव सङ्गराहित्यसिद्धये ॥ ७३ ॥

संसारसम्बन्धनिवृत्त्यर्थं नित्यनैमित्तिकानि सर्वाणि कर्माणि शिवप्रीतिकाराण्येवेति भावयेदित्यर्थः ॥ ७३ ॥

संसार की आसक्ति से रहित होने के लिये साधक को चाहिये कि वह नित्य नैमित्तिक आदि सारे कर्मों को शिव को प्रसन्न करने वाला समझे ॥ ७३ ॥

ननु कर्मणः सङ्गहेतुत्वात् कथं सङ्गराहित्यं स्यादित्यत्राह—

शिवे निवेश्य सकलं कार्याकार्यं विवेकतः ।
वर्तते यो महाभागः स सङ्गरहितो भवेत् ॥ ७४ ॥

---

१. प्रातःकाल सूर्य को अर्घ्य देने के बाद 'उद्वयं.........।', 'उदुत्यं.......।', 'चित्रं देवानां...........।' तथा 'तच्चक्षुर्देवहितं........।' इन चार मन्त्रों का, दोनों हाथ उठाकर, उच्चारण करना सूर्योपस्थान कहलाता है ।

विवेकतः कर्ता कारयिता कर्म तत्फलं च शिव एवेति विवेकतः कार्याकार्यं कर्तुं योग्यमयोग्यं च शिवे निवेश्य समर्प्य यो महाभागो महापुरुषो वर्तते, स सङ्गरहितो भवसङ्गरहित इत्यर्थः ॥ ७४ ॥

जो महाभाग्यशाली साधक विवेकपूर्वक करणीय अकरणीय सारे कर्मों को शिव को समर्पित कर देता है वह आसक्तिरहित हो जाता है ॥ ७४ ॥

ननु भवसङ्गराहित्यं शिवदर्शनेन विना न सम्भवतीत्यत्राह—

आत्मानमखिलं वस्तु शिवमानन्दचिन्मयम् ।
एकभावेन सततं सम्पश्यन्नेव पश्यति ॥ ७५ ॥

आत्मानं स्वात्मानं अखिलं वस्तु सर्वं विश्वम् आनन्दचिन्मयं परशिवं च एकभावेन एकत्वेन सततं पश्यन्नेव चिद्रूपत्वाच्छिवजीवैक्यं शिवस्वभावभूत-चित्क्रियाव्याप्तत्वात् तदबाह्यत्वेन सर्वं विश्वं शिवात्मकमिति पश्यन्नेव पश्यति शिवं पश्यतीत्यर्थः ॥ ७५ ॥

आत्मा, समस्त संसार तथा चिन्मय आनन्द स्वरूप शिव को एक भाव (अर्थात् यह सब शिव ही है—ऐसी भावना) से निरन्तर देखने वाला ही वास्तविक दर्शन करता है (अर्थात् वही यथार्थतः शिवद्रष्टा है) ॥ ७५ ॥

इति भावाचारस्थलम्

अथ ज्ञानाचारस्थलम्

अथ—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'[1] **इति श्रुतेस्तस्य भावाचारसम्पन्नस्य शिवयोगिनो ज्ञानाचार एव सर्वदेहिनां ज्ञानाचार इति ज्ञानाचारस्थलं निरूपयति—**

अस्य ज्ञानसमाचारो योगिनः सर्वदेहिनाम् ।
ज्ञानाचारो यदुक्तोऽयं ज्ञानाचारः स कथ्यते ॥ ७६ ॥

भावाचारसम्पन्नस्यास्य योगिनो ज्ञानसमाचार एव सर्वदेहिनां ज्ञानाचार इति यद्यस्मात् कारणादुक्तः, तस्मात्कारणात् सोऽयं ज्ञानाचार इति कथ्यत इत्यर्थः ॥ ७६ ॥

(ज्ञानाचारस्थल वर्णन)—(भावाचार सम्पन्न) इस योगी का ज्ञानाचार ही जो समस्त मनुष्यों के लिये ज्ञानाचार कहा गया है । यही ज्ञानाचार स्थल है ॥ ७६ ॥

---

१. तै०उ० २।१।१

अथ तज्ज्ञानाचारमेव लक्षणपूर्वकं सूत्रत्रयेण कथयति—

शिवाद्वैतपरं ज्ञानं ज्ञानमित्युच्यते बुधैः ।
सिद्धेन वाप्यसिद्धेन फलं ज्ञानान्तरेण किम् ॥ ७७ ॥

शिवाद्वैतमेव परं प्रधानं यस्य तादृशं ज्ञानं बुधैर्ज्ञानमित्युच्यते, शास्त्रसिद्धेन वा तदसिद्धेन वा ज्ञानान्तरेण भिन्नज्ञानेन किं फलम् न किमपीत्यर्थः ॥ ७७ ॥

विद्वान् लोग शिवाद्वैतपरक ज्ञान को ही यथार्थ ज्ञान कहते हैं । दूसरे ज्ञान चाहे सिद्धि दें या न दें अथवा शास्त्र सम्मत हों या शास्त्र विरूद्ध उनसे क्या फल? (अर्थात् वे शश्वत् व्यर्थ हैं) ॥ ७७ ॥

अथ तत्कथमित्यत्राह—

निर्मलं हि शिवज्ञानं निःश्रेयसकरं परम् ।
रागद्वेषादिकलुषं भूयः संसृतिकारणम् ॥ ७८ ॥

शिवज्ञानं शिवाद्वैतज्ञानं निर्मलम् आणवादिमलसङ्गरहितं सत् परं निःश्रेयकारणं सर्वोत्कृष्टमोक्षप्रदमित्यर्थः । तद्व्यतिरिक्तभेदज्ञानं रागद्वेषादि-कलुषं कामक्रोधादिमिश्रं सद् भूयः पुनः पुनः संसृतिकारणं यातायातकारणमिति हि प्रसिद्धमित्यर्थः ॥ ७८ ॥

शिव ज्ञान ही निर्मल (अर्थात् आणव, मायीय और कार्म इन तीन मलों से रहित) अतएव मोक्षदायक है । जो ज्ञान राग द्वेष आदि के कारण मलिन है वह संसार अर्थात् जन्म-मृत्यु का कारण होता है ॥ ७८ ॥

एवं ज्ञानस्वरूपमुक्त्वा तदाचारस्वरूपं कथयति—

परिपूर्णं महाज्ञानं परतत्त्वप्रकाशकम् ।
अवलम्ब्य प्रवृत्तो यो ज्ञानाचारः स उच्यते ॥ ७९ ॥

परतत्त्वप्रकाशकं परिपूर्णम् अपिरिच्छिन्नं महाज्ञानं शिवाद्वैतज्ञानमवलम्ब्य धृत्वा य आचारः प्रवृत्तः, स ज्ञानाचार इत्युच्यत इत्यर्थः ॥ ७९ ॥

पर तत्त्व (अर्थात् परम शिव नामक तत्त्व) का प्रकाशक अर्थात् आभास कराने वाले परिपूर्ण महाज्ञान को आधार बनाकर जो प्रवृत्त होता है वह ज्ञानाचार कहा जाता है ॥ ७९ ॥

अथ तज्ज्ञानाचारिणं प्रकाशयति—

निर्विकल्पे परे धाम्नि निष्कले शिवनामनि ।
ज्ञानेन योजयेत् सर्वं ज्ञानाचारी प्रकीर्तितः ॥ ८० ॥

निष्कले निरवयवे निर्विकल्पे भेदरहिते शिवनामनि शिव इत्यभिधानवति परे धाम्नि परब्रह्माधारे सर्वं जगज्जालं ज्ञानेन अभेदज्ञानेन यो योजयेत्, स ज्ञानाचारीति कीर्तित इत्यर्थः ॥ ८० ॥

जो सब कुछ को निष्कल निर्विकल्प शिव नामक पर धाम में जोड़ देता है वह ज्ञानाचारी कहा जाता है ॥ ८० ॥

अथ तस्य ज्ञानाचारिणः कर्मकार्पण्यं नास्तीति सूत्रद्वयेन कथयति—

ज्ञानं मुक्तिप्रदं प्राप्य गुरुदृष्टिप्रसादतः ।
कः कुर्यात् कर्मकार्पण्ये वाञ्छां संसारवर्धने ॥ ८१ ॥

मुक्तिप्रदं परापरमोक्षप्रदं शिवज्ञानं गुरुकृपादृष्टिप्रसन्नतावशात् प्राप्य संसारवर्धने कर्मकार्पण्ये वाञ्छाम् इच्छां कः कुर्यात्? न कोऽपि कुर्यादित्यर्थः ॥ ८१ ॥

गुरु की कृपादृष्टि से मुक्तिदायक ज्ञान को प्राप्त कर कौन व्यक्ति कर्म के कारण दुखदायी संसार को बढ़ाने की इच्छा करेगा? ॥ ८१ ॥

कुत इत्यत्राह—

कर्म ज्ञानाग्निना दग्धं न प्ररोहेत् कथञ्चन ।
यदाहुः संसृतेर्मूलं प्रवाहानुगतं बुधाः ॥ ८२ ॥

यत्कर्म बुधाः संसृतेर्मूलं मूलकारणं सत् प्रवाहानुगतं जलप्रवाहन्यायेनानादित्वेन श्रुतेरनुगतं सद् आहुः, तत्कर्मबन्धनं शिवज्ञानाग्निना दग्धं सत् कथञ्चन केनापि प्रकारेण न प्ररोहेद् नाङ्कुरेदित्यर्थः ॥ ८२ ॥

विद्वान् लोग प्रवाहानुगत अर्थात् अनादि परम्परा से प्राप्त जिस कर्म को संसार का कारण मानते हैं वह कर्म ज्ञानरूपी अग्नि से जल जाने पर किसी भी प्रकार संसार का अङ्कुरण नहीं करता ॥ ८२ ॥

तर्हि कर्मबन्धनं कस्येत्यत्राह—

ज्ञानेन हीनः पुरुषः कर्मणा बध्यते सदा ।
ज्ञानिनः कर्मसङ्कल्पा भवन्ति किल निष्फलाः ॥ ८३ ॥

'यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्ते, एवमेवंविदि पापकर्म न श्लिष्यते', 'स उत्तमः पुरुषः' इति छान्दोग्यश्रुतेः,

अद्वैतभक्तियुक्तस्य योगिनः सकलाः क्रियाः ।
सन्ति दग्धपटन्यायात् क्रियामात्रा हि न क्रियाः ॥

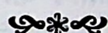
इति वीरागमोक्तेश्च ज्ञानिनः कर्मपाशो नास्तीत्यर्थः ॥ ८३ ॥

ज्ञान से रहित पुरुष सदा कर्म द्वारा बन्धन में डाल दिया जाता है। ज्ञानी के कर्मसङ्कल्प निश्चित रूप से निष्फल होते हैं ॥ ८३ ॥

अथ ज्ञानाचारस्थलं समापयति—

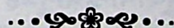
शुद्धाचारे शुद्धभावो विवेकी
ज्योतिः पश्यन् सर्वतश्चैवमेकम् ।
ज्ञानध्वस्तप्राकृतात्मप्रपञ्चो
जीवन्मुक्तश्चेष्टते दिव्ययोगी ॥ ८४ ॥

इति श्रीमत्षट्स्थलब्रह्मिण शिवयोगिनाम्ना रेणुकाचार्येण विरचिते सिद्धान्तशिखामणौ माहेश्वरस्थलाश्रितनवलिङ्गप्रसङ्गो नाम षोडशः परिच्छेदः ॥ १६ ॥



शुद्धाचारे निर्मलज्ञानाचारे शुद्धभावे निर्मलभाववान् विवेकी, एवं प्रतियोगिरहितं शैवं तेजः सर्वतः पश्यन् ज्ञानध्वस्तप्राकृतात्मप्रपञ्चः शिवाद्वैतज्ञाननाशितप्रकृतिन्यदेहप्रपञ्चवान् दिव्ययोगी स्वयंप्रकाशरूपः शिवयोगी जीवन्मुक्तः सन् चेष्टते लौकिकवद् व्यवहरतीत्यर्थः ॥ ८४ ॥

इति श्रीमत्पदवाक्यप्रमाणपारावारधुरीणश्रीमरितोण्टदार्येण विरचितायां तत्त्वप्रदीपिकाख्यायां सिद्धान्तशिखामणिव्याख्यायां माहेश्वरस्थला-श्रितनवलिङ्गप्रसङ्गनामा षोडशः परिच्छेदः ॥ १६ ॥



विशुद्ध ज्ञानाचार होने पर शुद्ध भावना वाला अतएव विवेकपूर्ण दिव्ययोगी सर्वत्र एक (शिवात्मक) ज्योति का साक्षात्कार करता हुआ तथा ज्ञान के द्वारा प्राकृत प्रपञ्च को नष्ट करने वाला होकर जीवन्मुक्त हो जाता है फिर भी वह सामान्य जन के समान व्यवहार करता है ॥ ८४ ॥

इस प्रकार श्रीसिद्धान्तशिखामणि के माहेश्वरस्थलाश्रितनवलिङ्गप्रसङ्ग नामक षोडश परिच्छेद की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदीकृत 'ज्ञानवती' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ १६ ॥



सप्तदशः परिच्छेदः

अथ प्रसादिस्थलम्

(अथ कायानुग्रहस्थलम्)

अथागस्त्यप्रश्नः । अगस्त्य उवाचेति—

स्थलानि तानि चोक्तानि यानि माहेश्वरस्थले ।
वदस्व स्थलभेदं मे प्रसादिस्थलसंश्रितम् ॥ १ ॥

वदस्व उपदिशेत्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ १ ॥

(प्रसादिस्थल वर्णन)—अगस्त्य ने कहा—(हे आचार्य!) आपने माहेश्वर स्थल में जितने स्थल हैं उनका वर्णन कर दिया । अब प्रसादिस्थल में आने वाले स्थल भेद को मुझको बतलाइये ॥ १ ॥

श्रीरेणुक उवाच

स्थलभेदा नव प्रोक्ताः प्रसादिस्थलसंश्रिताः ।
कायानुग्रहणं पूर्वमिन्द्रियानुग्रहं ततः ॥ २ ॥
प्राणानुग्रहणं पश्चात् ततः कायार्पितं मतम् ।
करणार्पितमाख्यातं ततो भावार्पितं मतम् ॥ ३ ॥
शिष्यस्थलं ततः प्रोक्तं शुश्रूषास्थलमेव च ।
ततः सेव्यस्थलं चैषां क्रमशः शृणु लक्षणम् ॥ ४ ॥

श्री रेणुकाचार्य ने कहा—प्रसादिस्थल के अन्दर नव स्थलभेद कहे गये हैं । वे हैं—कायानुग्रहस्थल, इन्द्रियानुग्रहस्थल, प्राणानुग्रहस्थल, कायार्पितस्थल, करणार्पितस्थल, भवार्पितस्थल, शिष्यस्थल, सुश्रूषुस्थल और सेव्यस्थल । अब इनका क्रम से लक्षण सुनो ॥ २-४ ॥

अथ कायानुग्रहस्थलम्

अथ—'शुचिः समग्रीवशिरः शरीरः'[१] इति कैवल्यश्रुतेः स ज्ञानाचारवान् शिवयोगी स्वरूपशरीरं दर्शयन्ननुगृह्णातीति कायानुग्राहक इति सूत्रत्रयेण निरूपयति—

अनुगृह्णाति यल्लोकान् स्वकायं दर्शयन्नसौ ।
तस्मादेष समाख्यातः कायानुग्रहनामकः ॥ ५ ॥

असौ ज्ञानाचारसम्पन्नः शिवयोगी यद्यस्मात् कारणात् स्वकायं दर्शयन् सन् लोकान् प्राकृतान् (जनान्) अनुगृह्णात्यनुग्रहं करोति, तस्मादेष कायानुग्रहनामकः कायानुग्रह इत्यभिधानवानिति समाख्यात इत्यर्थः ॥ ५ ॥

(कायानुग्रहस्थल वर्णन)—यह अर्थात् ज्ञानाचारसम्पन्न शिवयोगी (परब्रह्म रूप) अपने शरीर का दर्शन कराते हुए जो लोगों के ऊपर अनुग्रह करते हैं इसलिये यह कायानुग्रह नामक स्थल कहा गया है ॥ ५ ॥

तत्कथमित्यत्र दृष्टान्तमाह—

यथा शिवोऽनुगृह्णाति मूर्तिमाविश्य देहिनः ।
तथा योगी शरीरस्थः सर्वानुग्राहको भवेत् ॥ ६ ॥

शिवो यथा चन्द्रशेखरादिमूर्तिमाविश्य देहिनः प्राणिनोऽनुग्रहं करोति, तथा योगी शरीरस्थः सन् शिवदीक्षासंस्कृतदिव्यशरीरस्थः सन् सर्वानुग्राहकः स्यादित्यर्थः ॥ ६ ॥

जिस प्रकार शिव (मूर्त्तियों के) शरीर अर्थात् विग्रह में आविष्ट होकर शरीरियों के ऊपर अनुग्रह करते हैं उसी प्रकार योगी भी (शिवदीक्षादि संस्कृत अपने) दिव्य शरीर में स्थित होकर सबका अनुग्राहक होता है ॥ ६ ॥

अथ शिववदसङ्गश्चेत्याह—

शिवः शरीरयोगेऽपि यथा सङ्गविवर्जितः ।
तथा योगी शरीरस्थो निःसङ्गो वर्तते सदा ॥ ७ ॥

सुखदुःखादिसङ्गरहित इत्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ७ ॥

जिस प्रकार शिव (स्वयं) शरीर धारण कर भी (अपने उस शरीर के प्रति) आसक्ति से रहित होते हैं उसी प्रकार योगी भी शरीर धारण कर सदा (अपने शरीर के प्रति) अनासक्त रहता है ॥ ७ ॥

---

१. कै०उ० ५

एवं शिवयोगिनः शिवसमानत्वमुक्त्वा तस्य मायाप्रपञ्चदर्शनं नास्तीति शिव एवेति पञ्चभिः सूत्रैर्दृष्टान्तपूर्वकमुपपादयति—

शिवभावनया युक्तः स्थिरया निर्विकल्पया ।
शिवो भवति निर्धूतमायावेशपरिप्लवः ॥ ८ ॥

अत्र शिवयोगीति शेषः । भेदरहितया दृढया शिवोऽहंभावनया युक्तो निवारितमायावेशोपप्लवः सन् शिव एव भवतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

दृढ़ और विकल्परहित शिवभावना से युक्त अतएव माया के आवेश के उपद्रव से रहित वह शिव ही हो जाता है ॥ ८ ॥

ननु कथं तस्य मायावेशोपप्लवो नास्तीत्यत्राह—

चित्तवृत्तिषु लीनासु शिवे चित्सुखसागरे ।
अविद्याकल्पितं वस्तु नान्यत् पश्यति संयमी ॥ ९ ॥

ज्ञानानन्दयोः समुद्रस्थानापन्ने परमशिवे चित्तवृत्तिषु मनोव्यापारेषु लयं गतेषु सत्सु शिवयोगी मायाकल्पितवस्त्वन्तरं न पश्यतीत्यर्थः ॥ ९ ॥

चित् और आनन्द के समुद्र के समान शिव में चित्तवृत्तियों के लीन हो जाने के पश्चात् यह संयमी (शिवयोगी) अविद्या के द्वारा रचित किसी अन्य वस्तु को नहीं देखता (प्रत्युत सम्पूर्ण संसार उसे शिवमय शिवस्वरूप ही दिखाई देता है) ॥ ९ ॥

अत्र दृष्टान्तमाह—

नेदं रजतमित्युक्ते यथा शुक्तिः प्रकाशते ।
नेदं जगदिति ज्ञाते शिवतत्त्वं प्रकाशते ॥ १० ॥

उक्ते ज्ञात इत्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ १० ॥

'यह चाँदी नहीं है'—ऐसा कहने पर जैसे (द्रष्टा को) शुक्ति की प्रतीति होती है उसी प्रकार 'यह संसार नहीं है'—ऐसा ज्ञान होने पर शिव तत्त्व प्रकाशित होता है ॥ १० ॥

अथ पुनर्दृष्टान्तमाह—

यथा स्वप्नकृतं वस्तु प्रबोधेनैव शाम्यति ।
तथा शिवस्य विज्ञाने संसारं नैव पश्यति ॥ ११ ॥

एष शिवयोगीत्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ११ ॥

जैसे स्वप्न के द्वारा रची गयी वस्तु (मिथ्या होती है और) जागने पर नहीं रहती उसी प्रकार योगी शिव का ज्ञान होने पर संसार को नहीं देखता (यह संसार उसे स्वप्नगत विषय की भाँति मिथ्या प्रतीत होता है) ॥ ११ ॥

अथ पुनर्दृष्टान्तमाह—

अज्ञानमेव सर्वेषां संसारभ्रमकारणम् ।
तन्निवृत्तौ कथं भूयः संसारभ्रमदर्शनम् ॥ १२ ॥

यथा शुक्त्यज्ञानं रजतभ्रान्तिकारणम्, तथा शिवविषयकमज्ञानं संसारभ्रान्तिकारणम् । तन्निवृत्तौ शुक्त्यज्ञाननिवृत्तौ यथा रजतभ्रमो निवर्तते, तथा शिवविषयकाज्ञाननिवृत्तौ सांसारिकभेदभ्रान्तिदर्शनं नास्तीत्यर्थः । यथा शुक्तिरेव रजतम्, तथा शिव एव विश्वमिति भावः ॥ १२ ॥

समस्त जीवों के संसारभ्रम का कारण अज्ञान (= यथार्थ वस्तु का ज्ञान न होना) ही है । उस अज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर पुनः संसारभ्रम का दर्शन कैसे हो सकता है? ॥ १२ ॥

विशेष—जैसे शुक्तिकानुयोगिकरजतप्रतियोगिक सम्बन्ध की निवृत्ति होने पर शुक्ति का अवशिष्ट रह जाती है उसी प्रकार शिवतत्त्वानुयोगिक संसार प्रतियोगिक सम्बन्ध के निवृत्त होने पर शिव ही शेष बचता है ।

तस्मादयं शिवयोगी जीवन्मुक्त इति वदन् कायानुग्रहस्थलं समापयति—

गलिताहङ्कृतिग्रन्थिः क्रीडाकल्पितविग्रहः ।
जीवन्मुक्तश्चरेद् योगी देहिवन्निरुपाधिकः ॥ १३ ॥

निवृत्तपरिच्छिन्नशरीराद्यहङ्कारवान् क्रीडार्थं स्वेच्छापरिकल्पितकलेवरः, अत एव निरुपाधिकः, प्रतिबन्धरहित इत्यर्थः । जीवन्मुक्तः सन् देहिवत् देहवानिव लोकानुग्रहार्थं सञ्चरेदित्यर्थः ॥ १३ ॥

जिसकी अहङ्कार नामक ग्रन्थि (= मैं यह शरीर हूँ मेरा नाम देवदत्त है इत्यादि रूप दृढ़ भावना) नष्ट हो गयी है और जिसने लोकलीला के लिये शरीर धारण किया है ऐसा उपाधिरहित योगी जीवन्मुक्त होकर संसार में व्यवहार और विचरण करता है ॥ १३ ॥

इति कायानुग्रहस्थलम्

अथेन्द्रियानुग्रहस्थलम्

अथ—'त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा सन्निवेश्य'[1] **इति श्वेताश्वतरश्रुत्यनुसारेण तस्या कायानुग्रहसम्पन्नस्य शिवयोगिन इन्द्रियविवेचनमेव सर्वेषामिन्द्रियानुग्रहस्थलमिति निरूपयति—**

दर्शनात् परकायस्य करणानां विवेकतः ।
इन्द्रियानुग्रहः प्रोक्तः सर्वेषां तत्त्ववेदिभिः ॥ १४ ॥

परकायस्य सर्वोत्कृष्टकायानुग्रहसम्पन्नस्य शिवयोगिनो दर्शनात्, करणानामिन्द्रियाणां विवेकतः सर्वेषां प्राकृतानामिन्द्रियानुग्रह इति तत्त्ववेदिभिस्तत्त्वज्ञानिभिः प्रोक्तः कथित इत्यर्थः ॥ १४ ॥

(इन्द्रियानुग्रहस्थल वर्णन)—परकाय योगी के दर्शन एवं समस्त इन्द्रियों के विवेक (= ये इन्द्रियाँ पृथक् कोई वस्तु नहीं है । ये शिव ही हैं—इस प्रकार के ज्ञान) को तत्त्ववेत्ता लोगों ने इन्द्रियानुग्रह कहा है ॥ १४ ॥

अथ तत्कथमित्यत्र तदिन्द्रयव्यापारं पञ्चभिः सूत्रैः प्रतिपादयति—

इन्द्रियाणां समस्तानां स्वार्थेषु सति सङ्गमे ।
रागो वा जायते द्वेषस्तौ योगी परिवर्जयेत् ॥ १५ ॥

लोके समस्तानां श्रोत्रादीन्द्रियाणां स्वस्वविषयेषु सम्बन्धे सति रागो वा द्वेषो वा जायते । योगी शिवयोगी तौ रागद्वेषौ परिवर्जयेत्, परित्यजेतेत्यर्थः ॥ १५ ॥

समस्त इन्द्रियों का स्वार्थ अर्थात् अपने-अपने विषय (= गन्ध रस रूप स्पर्श शब्द) के साथ सन्निकर्ष होने पर या तो राग उत्पन्न होता है या द्वेष । (विषयप्राप्ति के लिये राग और प्राप्ति में बाधक उपस्थित होने पर द्वेष उत्पन्न होता है) । योगी को चाहिये कि वह इन दोनों का त्याग करे ॥ १५ ॥

एवं च योगीन्द्रियव्यापारस्य लोकोत्तरत्वादनुग्रहकरत्वमिति भावः—

इन्द्रियाणां बहिर्वृत्तिः प्रपञ्चस्य प्रकाशिनी ।
अन्तः शिवे समावेशो निष्प्रपञ्चस्य कारणम् ॥ १६ ॥

स्पष्टम् ॥ १६ ॥

इन्द्रियों की बाह्य विषयों में प्रवृत्ति प्रपञ्च (अर्थात् संसार और उसके सुख दुःख) को उत्पन्न करती है । यदि वही वृत्ति अन्तःस्थित शिवसमावेश वाली हो तो निष्प्रपञ्च अर्थात् संसारराहित्य का कारण बनती है ॥ १६ ॥

---

१. श्वे०उ० २।८

एवं स्थिते—

क्षणमन्तः शिवं पश्यन् केवलेनैव चेतसा ।
बाह्यार्थानामनुभवं क्षणं कुर्वन् दृगादिभिः ॥ १७ ॥
सर्वेन्द्रियनिरूढोऽपि सर्वेन्द्रियविहीनवान् ।
शिवाहितमना योगी शिवं पश्यति नापरम् ॥ १८ ॥

अन्तः अन्तर्मुखः सन् केवलेन चेतसा बाह्येन्द्रियसङ्गरहितेन चित्तेन, क्षणं शिवं पश्यन्, दृगादिभिश्चक्षुरादिबाह्येन्द्रियैः, बाह्यार्थानां शब्दादिबाह्य-विषयाणाम् अनुभवं क्षणं कुर्वन्, शिवाहितमना योगी शिवे निवेशितचित्तः परयोगी, सर्वेन्द्रियानिरूढोऽपि सर्वेन्द्रियासक्तोऽपि, सर्वेन्द्रियविहीनवान् सन् शिवं पश्यति अन्तर्बहिश्च शिवमेव पश्यति, अपरं तदन्यं न पश्यतीति तदिन्द्रियविवेचनमनुग्रहकरमिति भावः ॥ १७-१८ ॥

केवल चित्त के द्वारा एक क्षण के लिये शिव का अपने अन्दर साक्षात्कार करने वाला तथा बाह्य विषयों का नेत्र आदि से एक क्षण अनुभव करने वाला योगी समस्त इन्द्रियों पर आरूढ हुआ भी सब इन्द्रियों से रहित होता हुआ शिव के प्रति समर्पित मन वाला होकर शिव को ही सर्वत्र देखता है किसी दूसरे पदार्थ को नहीं ॥ १७-१८ ॥

नन्वेवमन्तर्बहिश्च शिवं पश्यतः शिवयोगिनोऽपि प्राकृतजनवज्जरा-मरणादिदर्शनात् कथं लोकानुग्राहकत्वमित्यत्राह—

न जरा मरणं नास्ति न पिपासा न च क्षुधा ।
शिवाहितेन्द्रियस्यास्य निर्मानस्य महात्मनः ॥ १९ ॥

शिवाहितेन्द्रियस्य शिवनिवेशितेन्द्रियव्यापारवतो निर्मानस्य देहाद्यभिमान-शून्यस्य महात्मनो महापुरुषस्य अस्य शिवयोगिनो जरामरणं नास्ति, तयोः शरीरधर्मत्वात्, क्षुत्पिपासे च न स्तः, तयोः प्राणधर्मत्वादिति ॥ १९ ॥

शिव के प्रति समर्पित इन्द्रिय वाले अतएव दैहिक आदि अभिमान से रहित इस महात्मा को न जरा, न मृत्यु, न पिपासा और क्षुधा का कष्ट होता है क्योंकि जरा मृत्यु शरीर के और क्षुधा पिपासा प्राण के धर्म हैं ॥ १९ ॥

'सर्वेषु गात्रेषु शिरः प्रधानं सर्वेन्द्रियाणां नयनं प्रधानम्', 'इद्रियाणां मनो नाथो मनोनाथस्तु मारुतः' इति पुराणवचनानुसारेण सर्वेन्द्रियव्यापार-कारणीभूतमनोमारुतनिग्रहं सूत्रत्रयेण प्रकाशयति—

मनो यत्र प्रवर्तेत तत्र सर्वेन्द्रियस्थितिः ।

शिवे मनसि संल्लीने क्व चेन्द्रियविचारणा ॥ २० ॥

यत्र मनस्थितिः (तत्र) सर्वेन्द्रियस्थितिः, मनसि शिवे संल्लीने सति इन्द्रियविचारणा इन्द्रियव्यापारः क्व? नास्तीत्यर्थः ॥ २० ॥

जिस विषय में मन प्रवृत्त होता है इन्द्रियाँ भी उसी में स्थिति चाहती हैं। जब यह मन शिव में लीन हो गया तब (आधारहीन) इन्द्रियों का व्यवहार कहाँ ॥ २० ॥

यद्यत् पश्यन् दृशा योगी मनसा चिन्तयत्यपि ।
तत्तत् सर्वं शिवाकारं संविद्रूपं प्रकाशते ॥ २१ ॥

योगी शिवयोगी दृशा यद्यत् पश्यति मनसा चिन्तयति, तत्तत् सर्वं चिद्रूपं शिवाकारं सत् प्रकाशते मनुत इत्यर्थः ॥ २१ ॥

शिवयोगी नेत्रों से जिस-जिस वस्तु को देखता हुआ मन से उसका ध्यान करता रहता है वह-वह समस्त वस्तु उसको शिवाकार संवित् रूप में भासित होती है ॥ २१ ॥

अनेनान्तर्बाह्येन्द्रियनिग्रहप्रकारो दर्शितः । अथ प्राणनिग्रहप्रकारं दर्शयति—

करणैः सहितं प्राणं मनस्याधाय संयमी ।
योजयेत् स शिवः साक्षाद् यत्र नास्ति जगद्भ्रमः ॥ २२ ॥

करणैर्नेत्रादिकरणैः सहितं प्राणं प्राणवायुं मनस्याधाय संस्थाप्य यः संयमी शिवयोगी यत्र ब्रह्मणि योजयेत्, नेत्रादिकरणानां मन एव प्राणरूपम्, मनो वायुरूपं वेगवत्त्वात् लोके क्वचिल्लक्ष्ये नेत्रचञ्चलं चेत्, प्राणवायुनिरोध-द्वारा मनोलयस्यानुभूयमानत्वाच्च त्रयाणामैक्यात् सामरस्येन संयोजयेत्, स साक्षाच्छिव एव । तस्य जगद्भ्रमो विश्वभेदभ्रान्तिर्नास्ति, चित्तवृत्तिर्ब्रह्मणि लीना चेद् बाह्येन्द्रियव्यापारो निवर्तते, तदभावाद् विभेदभ्रान्तिर्नास्तीत्यर्थः ॥ २२ ॥

(नेत्र आदि) इन्द्रियों के साथ प्राण को मन में समाहित कर जो शिवयोगी जिसमें इनकी योजना करता है वह वस्तु साक्षात् शिवरूप (में प्रकाशित) होती है । उसमें संसार का भ्रम नहीं रहता ॥ २२ ॥

अथेन्द्रियानुग्रहस्थलं समापयति—

सर्वेन्द्रियप्रवृत्त्या च बहिरन्तः शिवं यजन् ।
स्वच्छन्दचारी सर्वत्र सुखी भवति संयमी ॥ २३ ॥

संयमी शिवयोगी सर्वेन्द्रियप्रवृत्त्या च अन्तर्बाह्येन्द्रियप्रवर्तनेन शिवम् इष्टप्राणरूपशिवलिङ्गं यजन् पूजयन् सर्वत्र स्वेच्छाचारी भूत्वा सुखी भवति सुखमनुभवन्नास्त इत्यर्थः ॥ २३ ॥

वह संयमी अर्थात् शिवयोगी सम्पूर्ण इन्द्रियों के द्वारा अपने अन्दर तथा बाह्य जगत् में सर्वत्र शिव की पूजा उनका ध्यान उनके लिये दान आदि करता है वह सर्वत्र निर्बाध भ्रमण करता और सुखी रहता है ॥ २३ ॥

इतीन्द्रियानुग्रहस्थलम्

अथ प्राणानुग्रहस्थलम्

अथ—'प्राणान् प्रपीड्येह स मुक्तचेष्टः क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत'[१] **इति श्वेतावतरश्रुत्यनुसारेणेन्द्रियानुग्रहसम्पन्नस्य शिवयोगिनस्तात्पर्यावलोकनमेव सर्वेषां प्राणानुग्रहस्थलं निरूपयति—**

शिवस्य परकायस्य यत् तात्पर्यावलोकनम् ।
तत्प्राणानुग्रहः प्रोक्तः सर्वेषां तत्त्वदर्शिभिः ॥ २४ ॥

परकायस्य इन्द्रियानुग्रहसम्पन्नस्य परब्रह्मकायस्य शिवस्य शिवयोगिनो यत्तात्पर्यावलोकनं प्राणवायुनिरोधेन यत्तात्पर्यावलोकनमस्ति, तत्सर्वेषां प्राणानुग्रह इति तत्त्वदर्शिभिस्तत्त्वज्ञानिभिः प्रोक्त इत्यर्थः ॥ २४ ॥

(प्राणानुग्रहस्थल वर्णन)—परकाय (अर्थात् इन्द्रियानुग्रहसम्पन्न) शिव (अर्थात् शिवयोगी) का जो तात्पर्यावलोकन (अर्थात् प्राणवायु का निरोध) है वह तत्त्वद्रष्टा मनीषियों के द्वारा सबका प्राणानुग्रह कहा गया है ॥ २४ ॥

अथ तत्तात्पर्यवलोकनं कीदृशमित्याह—

प्राणो यस्य लयं याति शिवे परमकारणे ।
कुतस्तस्येन्द्रियस्फूर्तिः कुतः संसारदर्शनम् ॥ २५ ॥

यस्य शिवयोगिनः प्राणः प्राणवायुः परमकारणे शिवे ब्रह्मादिकारणेशाना[२]**मपि कारणीभूते परशिवे लयं याति, तस्य शिवयोगिन इन्द्रियस्फूर्तिरिन्द्रियव्यापारः कुतः? नास्तीत्यर्थः । एवं च निष्प्रपञ्चशिवलिङ्गदर्शनं तत्तात्पर्यावलोकनमिति भावः ॥ २५ ॥**

जिस योगी का प्राण परमकारण अर्थात् पञ्चकारणों के भी कारणभूत शिव

१. श्वे०उ० २।९
२. ब्रह्मा विष्णू रुद्र ईश्वरः सदाशिवश्चेति पञ्चकारणेशाः ।

में लीन हो जाता है उसका इन्द्रियव्यापार कहाँ और संसारदर्शन कहाँ? ॥ २५ ॥

अथ तत्कथमित्यत्राह—

करणेषु निवृत्तेषु स्वार्थसङ्गात् प्रयत्नतः ।
तैः समं प्राणमारोप्य स्वान्ते शान्तमतिः स्वयम् ॥ २६ ॥

केवलकुम्भेन शिवे प्राणवायौ लयं गते सति करणेषु चक्षुरादिकरणेषु स्वार्थसङ्गात् शब्दादिस्वविषयसम्बन्धात् प्रयत्नतः स्वयमेव निवृत्तेषु सत्सु स्वान्ते मनसि तैरिन्द्रियैः समं प्राणमारोप्य संयोज्य शान्तमती रागद्वेषरहितः स्यात् ॥ २६ ॥

प्रयत्न अर्थात् कुम्भक आदि के द्वारा इन्द्रियों के अपने-अपने विषयों से निवृत्त होने पर उनके अर्थात् इन्द्रियों के साथ प्राण को भी एकरूप कर योगी स्वयं शान्तमना हो जाता है ॥ २६ ॥

एवं स्थिते—

शान्तत्वात् प्राणवृत्तीनां मनः शाम्यति वृत्तिभिः ।
तच्छान्तौ योगिनां किञ्चिच्छिवादन्यन्न दृश्यते ॥ २७ ॥

प्राणवृत्तीनां रेचकपूरकरूपप्राणवृत्तीनां शान्तत्वात् केवलकुम्भकेन निवृत्तत्वात्, मनो वृत्तिभिः सङ्कल्पविकल्परूपवृत्तिभिः समं शाम्यति, तच्छान्तौ सत्यां योगिनां शिवादन्यन्न किञ्चिदपि दृश्यत इत्यर्थः ॥ २७ ॥

प्राण की वृत्तियों (= श्वांस प्रश्वास अथवा रेचक पूरक) के शान्त होने पर मन भी उन वृत्तियों के साथ शान्त हो जाता है । उस अर्थात् मन के शान्त होने पर योगियों को शिव के अतिरिक्त दूसरा कुछ भी दिखायी नहीं देता ॥ २७ ॥

अथात्र शङ्कां सूत्रद्वयेनोद्भाव्य तृतीयेन निराकरोति—

प्राण एव मनुष्याणां देहधारणकारणम् ।
तदाधारः शिवः प्रोक्तः सर्वकारणकारणम्॥ २८ ॥

स्पष्टम् ॥ २८ ॥

प्राण ही मनुष्यों के शरीर धारण करने का कारण है और समस्त कारणों के कारण स्वरूप शिव उस (= प्राण) के कारण कहे गये हैं ॥ २८ ॥

अस्योत्तरम्—

निराधारः शिवः साक्षात् प्राणस्तेन प्रतिष्ठितः ।
तदाधारा तनुर्ज्ञेया जीवो येनैव चेष्टते ॥ २९ ॥

तदाधारा प्राणाधारेत्यर्थः ॥ २९ ॥

शिव तो निराधार हैं और प्राण उनसे प्रतिष्ठित है । शरीर को प्राण के आधार वाली समझना चाहिये । जीव इसी प्राण के कारण चेष्टा करता है ॥ २९ ॥

येनैव प्राणेनैव जीवश्चेष्टत इति सर्वसम्मतत्वेन शिवे प्राणस्य लीनत्वाद् देहः कथं तिष्ठतीति शङ्का? अस्योत्तरम्—

शिवे प्राणो विलीनोऽपि योगिनो योगमार्गतः ।
स्वशक्तिवासनायोगाद् धारयत्येव विग्रहम् ॥ ३० ॥

योगिनः शिवयोगिनो योगमार्गतः केवलकुम्भरूपयोगमार्गात् प्राणः शिवे विलीनोऽपि लयं गतोऽपि स्वशक्तिवासनायोगाद् निजशक्तिसंस्कारबलाद् विग्रहं शरीरं धारयत्येवेत्यर्थः ॥ ३० ॥

योगी के प्राण अपने योगमार्ग से शिव में विलीन होने पर भी अपने शक्ति के संस्कार के बल से शरीर का धारण करता ही है ॥ ३० ॥

तर्हि स कथं तिष्ठतीत्यत्र सूत्रद्वयेन कथयति—

स चाभ्यासवशाद् भूयः सर्वतत्त्वातिवर्तिनि ।
निष्कलङ्के निराकारे निरस्ताशेषविक्लवे ॥ ३१ ॥

स च जीवात्माश्रयीभूतप्राणवायुर्भूयोऽभ्यासवशात् सर्वतत्त्वातिवर्तिनि भूम्यादिशिवान्ततत्त्वोपरिवर्तिनि निष्कलङ्के जरामरणादिदोषरहिते निराकारे, अत एव प्राकृतनीलपीताद्याकाररहिते निरस्ताशेषविक्लवे निवृत्तसमस्त-बाधे ॥ ३१ ॥

चिद्विलासपरिस्फूर्तिपरिपूर्णसुखाह्वये ।
शिवे विलीनः सर्वात्मा योगी चलति न क्वचित् ॥ ३२ ॥

चिद्विलासबाहुल्येन परिपूर्णसुखाह्वये परिपूर्णानन्दस्वरूपेण द्वितीयशून्ये परमशिवे विलीनसर्वात्मा लयीभूतसर्वव्यापारवान् योगी शिवयोगी क्वचित् कुत्रचित् कदापि न चलति, न स्पन्दत इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

और वह प्राणवायु पुनः अभ्यास के द्वारा सर्वतत्त्वातिशायी निष्कलङ्क निराकार समस्त बाधारहित चिद् शक्ति के विकास के परिस्फुरण से परिपूर्ण आनन्दरूप अद्वितीय शिव में जब विलीन हो जाता है तब ऐसा सर्वात्मा योगी कहीं भी नहीं चलता (अर्थात् स्थिर होता हुआ सर्वव्यापी हो जाता है)[1] ॥ ३१-३२ ॥

अथ किमिव न चलतीत्यत्राह—

प्रध्वस्तवासनासङ्गात् प्राणवृत्तिपरिक्षयात् ।
शिवैकीभूतसर्वात्मा स्थाणुवद् भाति संयमी ॥ ३३ ॥

संयमी शिवयोगीश्वरः प्रध्वस्तवासनासङ्गाद् विनष्टविषयवासनासम्पर्कात् प्राणवृत्तिक्षयात् प्राकृतवैकृतरूपप्राणव्यापारनाशात् शिवैकीभूतसर्वात्मा शिवलिङ्गैकरसीभूतसर्वेन्द्रियव्यापारवान् सन् स्थाणुवत् काष्ठवद् निश्चलत्वेन भातीत्यर्थः ॥ ३३ ॥

वासना की आसक्ति के नष्ट हो जाने तथा प्राणवृत्ति का परिक्षय अर्थात् विराम हो जाने के कारण शिव के साथ एक हुआ सर्वात्मा योगी स्थाणु की भाँति प्रतीत होता है (अर्थात् निश्चल हो जाता है) ॥ ३३ ॥

इति प्राणानुग्रहस्थलम्

अथ कायार्पितस्थलम्

अथ—

यद्रा शिवाय स्वात्मानं दत्तवान् देशिकात्मने ।
तदा शैवो भवेद् देवि न ततोऽस्ति पुनर्भवः ॥

इति योगजागमवचनानुसारेण प्राणानुग्रहसम्पन्नस्य योग्यं कायार्पितस्थलं निरूपयति—

शिवस्य पररूपस्य सर्वानुग्राहिणोऽर्चने ।
त्यागो देहाभिमानस्य कायार्पितमुदाहृतम् ॥ ३४ ॥

सर्वानुग्राहिणः सर्वानुग्राहकस्य पररूपस्य परब्रह्मकायस्य प्राणानुग्रहसम्पन्नस्य परयोगिनः शिवस्यार्चने शिवलिङ्गपूजाविषये देहाभिमानस्य त्यागः कायार्पितमित्युदाहृतमित्यर्थः ॥ ३४ ॥

---

१. तैलङ्गस्वामी, भगवान् नित्यानन्द, बाबा नीबकरौरी, शिवस्वरूप बाबा हैडाखान इत्यादि इसी कोटि के अवतारी पुरुष थे ।

(कायार्पितस्थल वर्णन)—सबके ऊपर अनुग्रह करने वाले पररूप शिव की पूजा के समय देहाभिमान का त्याग कायार्पित कहा गया है ॥ ३४ ॥

अथ किमनेन भवतीत्यत्राह—

यदा योगी निजं देहं शिवाय विनिवेदयेत् ।
तदा भवति तद्रूपं शिवरूपं न संशयः ॥ ३५ ॥

तद्रूपं योगिनः स्वरूपं शिवरूपं भवतीत्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ३५ ॥

योगी जब अपने शरीर को शिव के लिये अर्पित कर देता है तब उसका वह रूप शिवरूप हो जाता है, इसमें कोई सन्देह नहीं ॥ ३५ ॥

ननु देहमात्रं समर्पणीयं वा यद्यन्यत्किञ्चिदस्ति वेत्यत्राह—

इन्द्रियप्रीतिहेतूनि विषयासङ्गजानि च ।
सुखानि सुखचिद्रूपे शिवयोगी निवेदयेत् ॥ ३६ ॥

इन्द्रियप्रीतिकारणीभूतविषयसम्बन्धोत्पन्नसुखं चिदानन्दरूपे शिवे निवेदयेदित्यर्थः ॥ ३६ ॥

योगी को चाहिये कि वह इन्द्रियों को आनन्द पहुँचाने के साधनभूत तथा विषयों के आसङ्ग (अर्थात् पूर्ण लिप्तता) से उत्पन्न सुखों को चिदानन्द रूप शिव को अर्पित कर दे ॥ ३६ ॥

अथ तत्कथमित्यत्राह—

दर्शनात् स्पर्शनाद् भुक्तेः श्रवणाद् घ्राणनादपि ।
विषयेभ्यो यदुत्पन्नं शिवे तत्सुखमर्पयेत् ॥ ३७ ॥

विषयेभ्य एतद्व्यतिरिक्तवस्त्राभरणादिविषयेभ्य इत्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ३७ ॥

योगी को चाहिये कि वह दर्शन स्पर्श भोजन श्रव ण एवं घ्राणन तथा धन जन आदि अन्य विषयों से उत्पन्न जो सुख उसे शिव को समर्पित कर दे ॥ ३७ ॥

अथ देहद्वारेण यद्यत्सुखं प्राप्तं तत्सर्वं शिवलिङ्गाय समर्पणीयमिति वदन् कायार्पितस्थलं समापयति—

देहद्वारेण यद्यत् स्यात् सुखं प्रासङ्गमात्मनः ।
तत्तन्निवेदयन् शम्भोर्योगी भवति निर्मलः ॥ ३८ ॥

देहद्वारेण देहसम्बद्धदशेन्द्रियद्वारेण यद्यत्सुखं स्वस्य प्रासङ्गं प्रसक्तं स्यात्,

तत्तत्सुखं शम्भोः शिवलिङ्गस्य निवेदयन् समर्पयन् सन् योगी शिवयोगी निर्मलो निर्लेपः सन् चरति सञ्चरतीत्यर्थः । कायिकसुखसमर्पणमेव कायार्पणमिति भावः ॥ ३८ ॥

देह के द्वारा जो-जो सुख आत्मा को प्राप्त होता है योगी उस-उस सुख को शिव को निवेदित करे । ऐसा योगी निर्मल हो जाता है ॥ ३८ ॥

इति कायार्पितस्थलम्

अथ करणार्पितस्थलम्

अथ—

यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः[1] ॥

इति कठवल्लीश्रुत्यनुसारेण कायार्पितसम्पन्नस्य करणार्पितस्थलं निरूपयति—

आसञ्जनं समस्तानां करणानां परात्परे ।
शिवे यत् तदिदं प्रोक्तं करणार्पितमागमे ॥ ३९ ॥

परात्परे विश्वस्मादुत्कृष्टपरशक्त्यपेक्षयोत्कृष्टे शिवे शिवलिङ्गे समस्तानाम् अन्तर्बाह्यवर्तिनां करणानां यदासञ्जनं संयोजनकर्तृत्वमस्ति, तदिदं करणार्पितमित्यागमे वीरशैवसिद्धान्ते प्रोक्तं कथितमित्यर्थः ॥ ३९ ॥

(करणार्पितस्थल वर्णन)—परात्पर शिवलिङ्ग में समस्त इन्द्रियों का जो संयोजन है वह शैवागम में करणार्पित कहा गया है ॥ ३९ ॥

अथ करणार्पकं कथयति—

यद्यत्करणमालम्ब्य भुङ्क्ते विषयजं सुखम् ।
तत्तच्छिवे समर्प्यैष करणार्पक उच्यते ॥ ४० ॥

यत्करणमालम्ब्य विषयजं सुखं यद् भुङ्क्ते तत्करणसम्बद्धं तद्विषयसुखं शिवलिङ्गे समर्प्य एष कायार्पितसम्पन्नः करणार्पक इत्युच्यत इत्यर्थः ॥ ४० ॥

(शिवयोगी) जिस-जिस इन्द्रिय को आधार बनाकर विषय से उत्पन्न सुख का अनुभव करता है उस-उस इन्द्रिय को शिव के लिये अर्पण करने वाला यह करणार्पक कहा जाता है ॥ ४० ॥

---

१. कठोप० १।३।६

अथ तत्प्रकारं पञ्चभिः सूत्रैः प्रतिपादयति—

अहङ्कारमदोद्रिक्तमन्तःकरणवारणम् ।
बध्नीयाद् यः शिवालाने स धीरः सर्वसिद्धिमान् ॥ ४१ ॥

अहङ्कारममकाररूपोर्ध्वाधोमदमत्तमनोबुद्धिचित्तलक्षणान्तःकरणगजं यः शिवालाने शिवलिङ्गरूपबन्धनस्तम्भे बध्नीयात्, सः सर्वसिद्धिमान् धीरः ॥ ४१ ॥

अहङ्कार रूपी मद से मत्त अन्तःकरण रूपी हाथी को जो शिवरूपी आलान (अर्थात् बन्धनशृङ्खला) में बाँधता है वह धीर पुरुष समस्त सिद्धियों को प्राप्त करता है (अथवा समस्त सिद्धियों का स्वामी वह धीर कहा जाता है) ॥ ४१ ॥

नन्विन्द्रियाणां बाहुल्यान्मनोमात्रबन्धनेन कथं धीरत्वमित्यत्राह—

इन्द्रियाणां समस्तानां मनः प्रथममुच्यते ।
वशीकृते शिवे तस्मिन् किमन्यैस्तद्वशानुगैः ॥ ४२ ॥

प्रथमं कारणमित्यर्थः, 'इन्द्रियाणां मनो नाथः' इति श्रुतेः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ४२ ॥

समस्त इन्द्रियों में मन प्रथम (अर्थात् प्रधान) इन्द्रिय कहा जाता है । उसके शिव के वश में होने पर उसके अधीन रहने वाली अन्य इन्द्रियों की क्या बात? (अर्थात् वे तो स्वयं शिव के वश में हो जाती हैं) ॥ ४२ ॥

नन्वेतावता किमित्यत्राह—

इन्द्रियाणां वशीकारो निवृत्तिरिति गीयते ।
लक्षीकृते शिवे तेषां कुतः संसारगाहनम् ॥ ४३ ॥

इन्द्रियवशीकरणमेव निवृत्तिरिति विद्वद्भिर्गीयते । तेषामिन्द्रियाणां शिवलिङ्गे लक्षीकृते सति संसारनिमज्जनं कुतः, नास्तीत्यर्थः ॥ ४३ ॥

इन्द्रियों का वश में होना या किया जाना निवृत्ति कही जाती है । जब वे इन्द्रियाँ शिव को समर्पित हो गयीं तब उनका संसार में डूबना कहाँ? (अर्थात् शिवार्पित होने पर वे भी शिवमय हो जाती हैं) ॥ ४३ ॥

नन्विन्द्रियवशीकारमात्रेण कथं संसारनिवृत्तिरित्यत्राह—

संसारविषकान्तारसमुच्छेदकुठारिका ।
उपशान्तिर्भवेत् पुंसामिन्द्रियाणां वशीकृतौ ॥ ४४ ॥

उपशान्तिर्निरपेक्षेत्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ४४ ॥

मनुष्यों की इन्द्रियों के वश में होने पर उनको संसाररूपी विषवृक्षों के जङ्गल को काटने के लिये कुल्हाणीरूपी उपशान्ति प्राप्त होती है ॥ ४४ ॥

ननु निरपेक्षामात्रेण कथं कर्मबन्धनिवृत्तिरित्यत्राह—

इन्द्रियैरेव जायन्ते पापानि सुकृतानि च ।
तेषां समर्पणादीशे कुतः कर्मनिबन्धनम् ॥ ४५ ॥

स्पष्टम् ॥ ४५ ॥

इन्द्रियों के ही द्वारा पाप और पुण्य दोनों होते हैं । उनको ईश्वर में समर्पित कर देने पर कर्मबन्धन कहाँ? (क्योंकि ऐसी स्थिति में उनके द्वारा किये गये कर्मों का उत्तरदायित्व शिव का हो जाता है) ॥ ४५ ॥

ननु शिवार्पितपदार्थैरभिवृद्धिश्रवणात् शिवे पुण्यपापसमर्पणेन तदभिवृद्धिः कस्मान्न भवतीत्यत्राह—

प्रकाशमाने चिद्वह्नौ बहिरन्तर्जगन्मये ।
समर्प्य विषयान् सर्वान् मुक्तवज्जायते जनः ॥ ४६ ॥

वह्निप्रक्षिप्तपदार्थानां नाशदर्शनाद् बहिरन्तर्भासमाने विश्वरूपे चिदग्निरूपशिवलिङ्गे समर्पितानां पदार्थानामपि नाशोऽवश्यमङ्गीकरणीय इत्यभिवृद्ध्यभावात् समस्तविषयान् तत्र समर्प्य जनो जननमरणपरिपीडितो देही मुक्तवज्जायत इत्यर्थः ॥ ४६ ॥

बाह्य और आभ्यन्तर जगत् वाली एवं प्रकाशमान चिदग्नि में सम्पूर्ण विषयों का समर्पण कर मनुष्य जीवन्मुक्त के समान हो जाता है ॥ ४६ ॥

ननु वह्निसमर्पणस्य होमरूपत्वात् किं तत्साधनमित्यत्राह—

चित्तद्रव्यं समादाय जगज्जातं महाहविः ।
चिद्वह्नौ जुह्वतामन्तः कुतः संसारविप्लवः ॥ ४७ ॥

जगतः पञ्चतन्मात्ररूपत्वेन शब्दादिविषयरूपं हविश्चित्तद्रव्यं सङ्गृह्य अन्तः हृदयकमलस्थचिद्वह्नौ जुह्वतां शिवयोगिनां संसारबाधः कुतः? नास्तीत्यर्थः ॥ ४७ ॥

पञ्चतन्मात्रात्मकसंसार (के अन्दर वर्त्तमान शब्द स्पर्श आदि विषय) समूह तथा चित्त रूपी (हवनीय) द्रव्य का अन्दर स्थित चैतन्यरूपी अग्नि में होम करने वालों के लिये संसार का उपद्रव कहाँ? ॥ ४७ ॥

नन्वेवंरूपविश्वहवनेन मुक्तवज्जायमानो जनः कीदृग्रूप इत्यत्राह—

आत्मज्योतिषि चिद्रूपे प्राणवायुनिबोधिते ।
जुह्वन् समस्तविषयान् तन्मयो भवति ध्रुवम् ॥ ४८ ॥

प्राणवायुप्रकाशिते चिद्रूपे आत्मज्योतिषि शिवाग्नौ तत्तत्करणजन्य-सुखादिविषयान् जुह्वन् अर्पयन् शिवयोगी तन्मयश्चिन्मयशिवस्वरूप एव भवति जायते (इति) ध्रुवं निश्चयः ॥ ४८ ॥

प्राणवायु से उद्‌बोधित चिद्‌रूप आत्मज्योति अर्थात् शिवाग्नि में समस्त विषयों का होम करने वाला निश्चित रूप से तन्मय अर्थात् चिन्मय अर्थात् शिवस्वरूप हो जाता है ॥ ४८ ॥

ननु करणानां प्राकृतत्वेन कथं तज्जन्यसुखादि शिवसमर्पणयोग्य-मित्यत्राह—

इन्द्रियाणि समस्तानि शरीरं भोगसाधनम् ।
शिवपूजाङ्गभावेन भावयन् मुक्तिमाप्नुयात् ॥ ४९ ॥

शरीरादीनां शिवपूजाङ्गत्वात् तज्जन्यसुखाद्यपि शिवसमर्पणयोग्यमेवेत्यर्थः। इदं करणार्पणं कायार्पणस्थले प्रसङ्गादुक्तमिति न पौनरुक्त्यम् ॥ ४९ ॥

समस्त इन्द्रियों तथा भोगसाधन शरीर की शिवपूजा के अङ्ग के रूप में भावना करने वाला मोक्ष प्राप्त करता है ॥ ४९ ॥

इति करणार्पितस्थलम्

अथ भावार्पितस्थलम्

अथ—

तस्मात् प्रपञ्चसम्बन्धभावं हित्वा शिवात्मकम् ।
भावमाश्रित्य यत्नेन कुर्याद् व्यापृतिमीश्वरे ॥

इति योगजागमवचनानुसारेण करणार्पितसम्पन्नस्य शिवयोगिनो विधीयमानं भावार्पणं निरूपयति—

शिवे निश्चलभावेन भावानां यत्समर्पणम् ।
भावार्पितमिदं प्रोक्तं शिवसद्‌भाववेदिभिः ॥ ५० ॥

शिवे शिवलिङ्गविषये निश्चलभावेन स्थिरभावेन भावानां यत्समर्पणम्, तदिदं भावार्पितमिति शिवसद्‌भाववेदिभिः प्रोक्तमित्यर्थः ॥ ५० ॥

(भावार्पितस्थल वर्णन)—शिवलिङ्ग के विषय में दृढ़ भावना के साथ जो भावों का समर्पण है, शिव सद्भाव के वेत्तागण इसको भावार्पित कहते हैं ॥ ५० ॥

अथ को नाम भाव इत्यत्राह—

चित्तस्थसकलार्थानां मननं यत्तु मानसे ।
तदर्पणं शिवे साक्षान्मानसो भाव उच्यते ॥ ५१ ॥

मानसो मनोविकारो भावो भाव इत्युच्यते, 'विकारो मानसो भावः' इत्यमरः । मानसे मनोविकारे भावे चित्तस्थसकलार्थानां चित्तनिष्ठसकलपदार्थानां यन्मननम् अनुभवरूपचिन्तनं यदस्ति, तत् साक्षात् प्रत्यक्षीभूते शिवे शिवलिङ्गे, अर्पणं अर्पितमित्युच्यते इत्यर्थः ॥ ५१ ॥

चित्त में स्थित सकल विषयों का मन में जो मनन होता है शिव में उसका साक्षात् अर्पण मानस भाव कहा जाता है ॥ ५१ ॥

अथ तद्भावस्वरूपं पञ्चभिः सूत्रैर्विशेषयति—

भाव एव हि जन्तूनां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
भावशुद्धौ भवेन्मुक्तिर्विपरीते तु संसृतिः ॥ ५२ ॥

स्पष्टम् ॥ ५२ ॥

भाव ही मनुष्यों के बन्धन और मोक्ष का कारण है । भावों के शुद्ध होने पर (अर्थात् शिवार्पित होने पर) मुक्ति और विपरीत स्थिति (अर्थात् अशुद्ध होने पर) संसार अर्थात् बन्धन होता है ॥ ५२ ॥

अथ का नाम भावशुद्धिरित्यत्राह—

भावस्य शुद्धिराख्याता शिवोऽहमिति योजना ।
विपरीतसमायोगे कुतो दुःखनिवर्तनम् ॥ ५३ ॥

शिवोऽहमिति स्वस्वरूपानुभवयोग एव भावस्य शुद्धिरिति विद्वद्भिराख्याता । विपरीतसमायोगे सति नाहं शिव इति विपरीतयोगे सति दुःखनिर्वतनं सांसारिकदुःखनिवृत्तिः कुतः? नास्तीत्यर्थः ॥ ५३ ॥

'मैं शिव हूँ'—ऐसी योजना (अर्थात् शिव के साथ सम्बन्ध) को भाव की शुद्धि कहा गया है । उससे विपरीत योजना (अर्थात् 'मैं शिव से भिन्न हूँ'—यह संसार शिव और मुझसे पृथक् है ऐसी योजना) होने पर दुःख कैसे दूर हो सकता है ॥ ५३ ॥

नन्विदमिति भासमानं विश्वं कथं भावनीयमित्यत्र—'भोक्ता भोज्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्म चैतत्'[१] इति श्वेताश्वतरश्रुत्यनुसारेण कथयति—

भोक्ता भोग्यं भोजयिता सर्वमेतच्चराचरम् ।
भावयन् शिवरूपेण शिवो भवति वस्तुतः ॥ ५४ ॥

भोक्ता जीवो भोग्यं भोगयोग्यं वस्तु अव्यक्तं भोजयिता भोगदः शिवः । चराचरमेतत्सर्वं जगज्जालं स्वनिजस्वभावभूतचित्क्रियाशक्तिकार्यत्वात् शिवरूपेण भावयन् शिवयोगी वस्तुतः परमार्थतः शिवो भवति, शिव एव भवतीत्यर्थः । अत्र वस्तुत इत्यनेनास्य मुख्यपक्षत्वं सूचितम् ॥ ५४ ॥

(जो साधक) भोक्ता अर्थात् जीव भोज्य अर्थात् विषय तथा भोजयिता = शिव तथा इस संमस्त चराचर की शिवरूप में भावना करता है (अर्थात् सबको शिव समझता है) वह वस्तुतः शिव हो जाता है ॥ ५४ ॥

अथ पक्षान्तेरण भावनां कथयति—

मिथ्येति भावयन् विश्वं विश्वातीतं शिवं स्मरन् ।
सत्तानन्दचिदाकारं कथं बद्धुमिहार्हति ॥ ५५ ॥

विश्वं स्वातिरिक्ताध्यासलक्षणाविद्याकार्यत्वाद् मिथ्येति भावयन् विश्वातीतं विश्वोत्तीर्णं शिवं सत्तानन्दचिदाकारं नित्यपरिपूर्णसच्चिदानन्दस्वरूपं स्मरन् मलमायादिपाशैर्बद्धुं कथमिहार्हति? न केनापि प्रकारेणार्हतीत्यर्थः ॥ ५५ ॥

जो विश्व को मिथ्या और शिव को विश्वातीत सच्चिदानन्द रूप समझता है। वह इस संसार में (माया आदि पाशों के) बन्धन में कैसे आ सकता है? ॥ ५५ ॥

अथ भावनान्तरमाह—

सर्वं कर्मार्चनं शम्भोर्वचनं तस्य कीर्तनम् ।
इति भावयतो नित्यं कथं स्यात् कर्मबन्धनम् ॥ ५६ ॥

क्रियमाणं सर्वं कर्म शम्भोः शिवलिङ्गस्यार्चनम्, कथ्यमानं सर्वं वचनं तस्य शिवलिङ्गस्य कीर्तनं स्तुतिः, इति नित्यं भावयतः कर्मकृतबन्धनं कथं स्यात्? न केनापि प्रकारेण भवेदित्यर्थः ॥ ५६ ॥

---

१. श्वे०उ० १।१२

समस्त कर्म शिव की पूजा है, समस्त वचन उनका नामसङ्कीर्तन[1] है—नित्य ऐसी भावना करने वाले को कर्म बन्धन कैसे हो सकता है? ॥ ५६ ॥

अथ जीवन्मुक्तिकरीं भावनां कथयन् भावार्पितस्थलं समापयति—

सर्वेन्द्रियगतं सौख्यं दुःखं वा कर्मसम्भवम् ।
शिवार्थं भावयन् योगी जीवन्मुक्तो भविष्यति ॥ ५७ ॥

श्रोत्रादिसर्वेन्द्रियगतं सौख्यं सुखं पापकर्मसम्भवं दुःखं वा शिवार्थं शिवलिङ्गार्पितपदार्थत्वेन भावयन् शिवयोगी जीवन्मुक्तः स्यादित्यर्थः ॥ ५७ ॥

समस्त इन्द्रियों में वर्तमान (अर्थात् सभी इन्द्रियों के द्वारा भोगे जाने वाले) सुख अथवा दुःख कर्म से उत्पन्न होते हैं । उन सभी दुःख सुखों को शिवलिङ्ग को अर्पित करने वाला योगी जीवन्मुक्त हो जाता है ॥ ५७ ॥

इति भावार्पितस्थलम्

अथ शिष्यस्थलम्

यथा सिद्धरसस्पर्शात् ताम्रं भवति काञ्चनम् ।
गुरूपदिष्टश्रवणाच्छिष्यस्तत्त्वमयस्तथा ॥

इति योगजागमवचनानुसारेण तद्भावार्पितसम्पन्नेन परयोगिना शिक्षणीय-शिष्यस्थलं कथयति—

शासनीयो भवेद्यस्तु परकायेन सर्वदा ।
तत्प्रसादात्तु मोक्षार्थी स शिष्य इति कीर्तितः ॥ ५८ ॥

परकायेन परब्रह्मकायेन भावार्पितसम्पन्नेन शिवयोगिना यः सर्वदा शासनीयः शिक्षणीयो भवेत्, तत्प्रसादात् तद्भावार्पितसम्पन्नस्य प्रसादात्, मोक्षार्थी परापरमोक्षापेक्षी सः शिष्य इति कीर्तितः कथित इत्यर्थः ॥ ५८ ॥

(शिष्यस्थल वर्णन)—परकाय अर्थात् परब्रह्मशरीर वाले शिवयोगी के द्वारा जो सर्वदा शासन करने योग्य है तथा उस अर्थात् शिवयोगी की कृपा से मोक्ष चाहने वाला है, वह शिष्य कहा जाता है ॥ ५८ ॥

---

१. तुलनीय—
आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहं
पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः ।
सञ्चारः पदयो प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वा गिरः
यद्यत् कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम् ॥

अथ प्रकारान्तरेण तल्लक्षणमाह—

भावो यस्य स्थिरो नित्यं मनोवाक्कायकर्मभिः ।
गुरौ निजे गुणोदारे स शिष्य इति गीयते ॥ ५९ ॥

यस्य भावो गुणोदारे ज्ञानवैराग्यादिगुणोन्नते निजे गुरौ श्रीगुरौ मनोवाक्कायकर्मभिर्ध्यानस्तोत्रपूजारूपकर्मभिर्नित्यं स्थिरो दृढो भवेत्, स शिष्य इति गीयते कथ्यत इत्यर्थः ॥ ५९ ॥

जिसकी भावना अपने गुणोदार (अर्थात् ज्ञान वैराग्य आदि के कारण उन्नत) गुरु के विषय में मन वाणी और कर्म से सदा स्थिर है (अर्थात् जो मन वाणी और कर्म से सदा गुरु के प्रति भक्तिभावपूर्ण है) वह शिष्य कहा जाता है ॥ ५९ ॥

अथ मुख्यशिष्यलक्षणमाह—

शान्तो दान्तस्तपश्शीलः सत्यवाक् समदर्शनः ।
गुरौ शिवे समानस्थः स शिष्याणामिहोत्तमः ॥ ६० ॥

यः शान्तः अन्तरिन्द्रियनिग्रहवान्, दान्तो बाह्येन्द्रियनिग्रहवान्, तपश्शीलो यमनियमाद्यष्टा[1]ङ्गलक्षणतपोयोगनिष्ठः सन्, सत्यवाग् यथार्थवादी सन्, समदर्शनो लोष्टसुवर्णादिषु समानबुद्धिमान् सन्, श्रीगुरौ शिवलिङ्गे च समदर्शनवान् सन् वर्तते, स इह लोके शिष्याणामुत्तमः श्रेष्ठ इत्यर्थः ॥ ६० ॥

शान्त (अर्थात् अपने मन का नियन्त्रक), दान्त (बाह्य इन्द्रियों को वश में रखने वाला), तपस्वी, अर्थात् यमनियम आदि आठ योगाङ्गों का अभ्यासी सदा सत्य बोलने वाला, समदर्शी, गुरु और शिव के प्रति समान भाव रखने वाला व्यक्ति इस संसार में शिष्यों में उत्तम कहा गया है ॥ ६० ॥

अथ शिष्याचारं सूत्रद्वयेन कथयति—

गुरुमेव शिवं पश्येच्छिवमेव गुरुं तथा ।
नैतयोरन्तरं किञ्चिद्विजानीयाद्विचक्षणः ॥ ६१ ॥

विचक्षणः शिष्य इत्यर्थः ॥ ६१ ॥

विद्वान् शिष्य को चाहिये कि वह गुरु को शिव के रूप में और शिव को गुरु के रूप में देखे । वह इन दोनों में कोई अन्तर न समझे ॥ ६१ ॥

---

१. यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि (पा०यो०सू० २।२९)

शिवाचारे शिवध्याने शिवज्ञाने च निर्मले ।
गुरोरादेशमात्रेण परां निष्ठामवाप्नुयात् ॥ ६२ ॥

निष्ठां विश्वासं प्राप्नुयादित्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ६२ ॥

(उक्त गुणों से युक्त शिष्य) शिवाचार शिवध्यान और निर्मल शिवज्ञान के विषय में गुरु के केवल आदेश से श्रेष्ठ विश्वास एवं श्रद्धा को प्राप्त करता है ॥ ६२ ॥

अथ श्रीगुरुकृपाकटाक्षमहत्त्वं सूत्रद्वयेन कथयति—

ब्रह्माण्डबुद्बुदोद्भूतं मायासिन्धुं महत्तरम् ।
गुरोः कवलयत्याशु कटाक्षवडवानलः ॥ ६३ ॥

ब्रह्माण्डरूपबुद्बुदानाम् उद्भूतमुद्भवनं यस्मिन् स ब्रह्माण्डबुद्बुतोद्भूत इत्यर्थः । तादृशं महत्तरं मायासिन्धुं गुरोः कटाक्षवडवानलो झटिति कवलयति ग्रसतीत्यर्थः । नेत्रस्य तैजसत्वाद् वडवानलत्वेन वर्णनम् ॥ ६३ ॥

गुरु का कृपाकटाक्षरूपी वडवानल ब्रह्माण्डरूपी बुदबुद से उत्पन्न विशाल मायारूपी समुद्र को शीघ्र निगल जाता है ॥ ६३ ॥

गुरोः कटाक्षवेधेन शिवो भवति मानवः ।
रसवेधाद् यथा लोहो हेमतां प्रतिपद्यते ॥ ६४ ॥

मानवः शिष्यजन इत्यर्थः । सम्यगावेशो वेध इत्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ६४ ॥

जिस प्रकार रस अर्थात् पारा के द्वारा विद्ध होने पर लोहा सोना बन जाता है उसी प्रकार गुरु के कटाक्षवेध से मनुष्य शिव हो जाता है ॥ ६४ ॥

अथैवं गुरुमहत्त्वज्ञानी गुरोराज्ञां न लङ्घयेदित्याह—

न लङ्घयेद् गुरोराज्ञां ज्ञानमेव प्रकाशयन् ।
शिवासक्तेन मनसा सर्वसिद्धिमवाप्नुयात् ॥ ६५ ॥

शिवासक्तेन शिवध्याननिष्ठेन मनसा ज्ञानं शिवाद्वैतज्ञानमित्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ६५ ॥

गुरु की आज्ञा का उल्लङ्घन नहीं करना चाहिये । इस प्रकार आज्ञाधारक शिष्य शिव में तल्लीन मन के द्वारा शिवाद्वैत ज्ञान को प्राप्त करता है तथा समस्त सिद्धियों को भी प्राप्त करता है ॥ ६५ ॥

अथ गुरूपदेशरहस्यं सूचयति—

शिवादन्यज्जगन्मिथ्या शिवः संवित्स्वरूपकः ।
शिवस्त्वमिति निर्दिष्टो गुरुणा मुक्त एव सः ॥ ६६ ॥

जगत् शिवादन्यदिति मिथ्या, शिवस्वरूपमेवेत्यर्थः । तत्कथमित्यत्राह— शिवः संवित्स्वरूपक इति । विश्वस्य चिदन्तर्गतत्वात्तरङ्गादिवच्चिन्मयत्वम्, अन्यथा चिद्बाह्यत्वेनास्तीत्यत्र मानाभावादसदेव स्यादिति भावः । शिवस्त्वमिति चिद्रूपत्वादिति भावः, 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो'[१] इति छान्दोग्यश्रुतेः । इति यः शिष्यः श्रीगुरुणोपदिष्टः, स मुक्त व जीवन्मुक्त एवेत्यर्थः ॥ ६६ ॥

शिव से भिन्न जगत् मिथ्या है । शिव संवित्स्वरूप है तुम भी शिव ही हो ऐसा गुरु के द्वारा निर्दिष्ट साधक मुक्त ही हो जाता है ॥ ६६ ॥

अथ शिष्यस्थलं समापयति—

गुरोर्लब्ध्वा महाज्ञानं संसारामयभेषजम् ।
मोदते यः सुखी शान्तः स जीवन्मुक्त एव हि ॥ ६७ ॥

यः शिष्योः गुरोः श्रीगुरोः संसारामयभेषजं भवरोगस्यौषधं महाज्ञानं लब्ध्वा सुखी शिवसुखी सन् मोदते सुखमनुभवन्नास्ते, स शान्तो रागद्वेषरहितो जीवन्मुक्त एवेति हि प्रसिद्ध इत्यर्थः ॥ ६७ ॥

जो गुरु से संसाररूपी रोग की महाऔषधि रूप महाज्ञान को प्राप्त कर लेता है वह सुखी शान्त और जीवन्मुक्त हो जाता है ॥ ६७ ॥

इति शिष्यस्थलम्

अथ शुश्रूषुस्थलम्

अथ—

तस्मादुपश्रितात् सम्यक् सहजं प्राप्य सद्गुरोः ।
अनायासेन सततमात्माभ्यासरतो भवेत् ॥

इति योगजागमवचनानुसारेण स शिष्य एव गुरुसेवातत्परः सन् रहस्यार्थजिज्ञासुः शुश्रूषुरिति सूत्रत्रयेण कथयति—

बोध्यमानः स गुरुणा परकायेन सर्वदा ।

---

१. छा०उ०६।९।४

तच्छुश्रूषारतः शिष्यः शुश्रूषुरिति कीर्त्यते ॥ ६८ ॥

परब्रह्मकायेन श्रीगुरुणा सदा बोध्यमानः स शिष्यः, तच्छुश्रूषारतस्तस्माच्छ्रोतुमिच्छायां लम्पटः सन् शुश्रूषुरिति कीर्त्यते कथ्यत इत्यर्थः ॥ ६८ ॥

(शुश्रूषुस्थल वर्णन)—परकाय गुरु के द्वारा सर्वदा उपदिष्ट होने वाला तथा उनकी सेवा में निरत शिष्य शुश्रूषु कहा जाता है ॥ ६८ ॥

अथ तत्प्रश्नप्रकारं प्रदर्शयति—

किं सत्यं किं न वा सत्यं क आत्मा कः परः शिवः ।
इति श्रवणसंसक्तो गुरोः शिष्यो विशिष्यते ॥ ६९ ॥

सत्यं नित्यं किम्, असत्यम् अनित्यं किम्, आत्मा जीवः कः, परः शिवः परमात्मा क इति गुरोः श्रीगुरोः सकाशात् श्रवणसंसक्त उत्तरवाक्यश्रवणतत्परः शिष्यः शुश्रूषुः शिष्यो विशिष्यते, केवलसेवासक्तशिष्यापेक्षया विशिष्यत इत्यर्थः ॥ ६९ ॥

क्या सत्य है?, क्या असत्य?, कौन आत्मा है?, परशिव कौन हैं?, इस प्रकार गुरु से उपदेश ग्रहण करने में लगा हुआ शिष्य केवल सेवा करने वाले शिष्य की अपेक्षा विशेष (कृपा पात्र होता) है ॥ ६९ ॥

ननु कथं श्रेष्ठ इत्यत्राह—

श्रुत्वा श्रुत्वा गुरोर्वाक्यं शिवसाक्षात्क्रियावहम् ।
उपशाम्यति यः स्वान्ते स मुक्तिपदमाप्नुयात् ॥ ७० ॥

यः शुश्रूषुः शिष्यः शिवप्रत्यक्षीकरणक्रियावहं श्रुतिसम्मतोपदेशवाक्यं श्रीगुरोः श्रुत्वा श्रुत्वा, असकृदित्यर्थः, स्वान्ते चित्ते उपशाम्यति शान्तो भवति, स मुक्तिपदमाप्नुयाद् लभेतेत्यर्थः ॥ ७० ॥

गुरु के शिवसाक्षात्कार कराने वाले वाक्य को सुन-सुनकर जो शिष्य अपने मन में शान्तिलाभ करता है वह मुक्तिपद को प्राप्त करता है ॥ ७० ॥

ननु सेवामात्रेण गुरोर्मुक्तः किं न स्याच्छिष्य इत्यत्राह—

न बुध्यति गुरोर्वाक्यं विना शिष्यस्य मानसम् ।
तेजो विना सहस्रांशोः कथं स्फुरति पङ्कजम् ॥ ७१ ।

गुरूपदेशवाक्यं विना शिष्यस्य मानसं हृत्कमलं न बुध्यति न विकसति । तत्र दृष्टान्तः—सहस्रांशोः सूर्यस्य तेजो विना पङ्कजं कथं स्फुरति विकसति, न कथञ्चिदपि विकसति, तथेत्यर्थः ॥ ७१ ॥

गुरु के (उपदेश) वाक्य के विना शिष्य का मन प्रबुद्ध नहीं होता । सूर्य के तेज के विना कमल कैसे खिल सकता है? ॥ ७१ ॥

पुनश्च दृष्टान्तान्तरमाह—

सूर्यस्योदयमात्रेण सूर्यकान्तः प्रकाशते ।
गुरोरालोकमात्रेण शिष्यो बोधेन भासते ॥ ७२ ॥

गुरूपदेशवाक्यान्नालोकमात्रेणेत्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ७२ ॥

(जैसे) सूर्य के केवल उदय से सूर्यकान्त मणि प्रकाश करने लगती है । (उसी प्रकार) गुरु के (उपदेश रूपी) आलोक से शिष्य ज्ञान के कारण चमकने लगता है ॥ ७२ ॥

अथ—'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्'[1] इति मुण्डकश्रुतिवाक्यानुसारेण तच्छ्रवणार्थं गुरुसमर्पणप्रकारमाह—

अद्वैतपरमानन्दप्रबोधैकप्रकाशकम् ।
उपायं शृणुयाच्छिष्यः सद्गुरुं प्राप्य साञ्जलिः ॥ ७३ ॥

उपायनपाणिः सद्गुरुमधिगम्य साञ्जलिः मुकुलितकरयुगलः सन् अप्रतियोगिपरमानन्दप्रबोधस्य मुख्यतया प्रकाशकम् उपायम् उपदेशरहस्यरूपोपायं शिष्यः शृणुयात् प्रश्नपूर्वकं शृणुयादित्यर्थः ॥ ७३ ॥

शिष्य उत्तम गुरु को प्राप्त कर (उनके सामने) हाथ जोड़कर (अर्थात् श्रद्धावनत होकर) अद्वैत परमानन्द ज्ञान का एकमात्र प्रकाशक उपाय सुने ॥ ७३ ॥

अथ प्रश्नप्रकारमुपपादयति—

किं तत्त्वं परमं ज्ञेयं केन सर्वे प्रतिष्ठिताः ।
कस्य साक्षात्क्रिया मुक्तिः कथयेति समासतः ॥ ७४ ॥

भो श्रीगुरो ज्ञेयं परमं तत्त्वं किम्, केन वस्तुना सर्वे चराचराः प्रतिष्ठिताः, कस्य साक्षात्कारेण मुक्तिर्मोक्षो भवेत्, एतत्सर्वं समासतः संग्रहेण कथय उपदिशेत्यर्थः ॥ ७४ ॥

(शिष्य गुरु के कहे कि हे गुरुदेव!) कौन सा तत्त्व परम अर्थात् श्रेष्ठ अतएव ज्ञेय है? किसके कारण समस्त चराचर स्थित है? किसका साक्षात्कार मुक्ति कहा जाता है, इसको आप संक्षेप में बतलाइये ॥ ७४ ॥

---

१. मुं०उ० १।१२

अथ—

तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक्
प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय ।
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं
प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्[१] ॥

इति मुण्डकश्रुत्यनुसारेण तत्प्रश्नोत्तरं पञ्चभिः सूत्रैः कथयति—

इति प्रश्ने कृते पूर्वं शिष्येण नियतात्मना ।
ब्रूयात् तत्त्वं गुरुस्तस्मै येन स्यात् संसृतेर्लयः ॥ ७५ ॥

नियतात्मना एकाग्रचित्तेनेत्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ७५ ॥

नियतात्मा अर्थात् एकाग्रचित्त वाले शिष्य के द्वारा इस प्रकार का प्रश्न करने पर गुरु उस शिष्य को (उस) तत्त्व का उपदेश दे जिससे संसार का लय हो जाय (अर्थात् बन्धन कट जाय) ॥ ७५ ॥

अथ कृतप्रश्नस्य क्रमेणोत्तरं वक्ति—

शिव एव परं तत्त्वं चिदानन्दसदाकृतिः ।
स यथार्थस्तदन्यस्य जगतो नास्ति नित्यता ॥ ७६ ॥

सच्चिदानन्दस्वरूपः शिव एव परं तत्त्वं ज्ञातुं योग्यं परतत्त्वम् । स यथार्थः, नित्य इत्यर्थः । तदन्यस्य चिद्विजातीयत्वेन भासमानस्य जगतो विष्ण्वादिविश्वस्य नित्यत्वं शिववत् सनातनत्वं नास्तीत्यर्थः ॥ ७६ ॥

(इसके बाद गुरु कहे) सत् चित् आनन्द स्वरूप शिव ही परम (अर्थात् अन्तिम और श्रेष्ठतम) तत्त्व है । वही यथार्थ है । उससे भिन्न संसार नित्य नहीं है ॥ ७६ ॥

अथ केन सर्वे प्रतिष्ठिता इत्यस्योत्तरमाह—

अयथार्थप्रपञ्चोऽयं प्रतितिष्ठति शङ्करे ।
सदात्मनि यथा शुक्तौ रजतत्वं व्यवस्थितम् ॥ ७७ ॥

अयथार्थः, अनित्य इत्यर्थः । तत्र दृष्टान्तः—सदात्मनि ज्ञानकर्मलक्षणोभयेन्द्रियज्ञानगोचरीभूतत्वाद् व्यावहारिकसद्रूपे शुक्तौ शुक्तिकाशकले रजतत्वं ज्ञानेन्द्रियमात्रगोचरत्वेनोत्तरक्षणबाध्यमानप्रातीतिकरजतत्वं व्यवस्थितं यथा तिष्ठति, तथा सनातने शङ्करेऽनित्यप्रपञ्चस्तिष्ठतीत्यर्थः ॥ ७७ ॥

१. मुं० उ० १।१३

यह मिथ्या प्रपञ्च सत्स्वरूप शिव में उसी प्रकार स्थित है जैसे शुक्ति में रजत स्थित रहता है ॥ ७७ ॥

अथ कस्य साक्षात्कारेण मुक्तिरित्यस्योत्तरमाह—

शिवोऽहमिति भावेन　शिवे साक्षात्कृते स्थिरम् ।
मुक्तो　भवति　संसारान्मोहग्रन्थेर्विभेदतः ॥ ७८ ॥

शिवोऽहमिति भावेन दृढभावेन शिवे प्रत्यक्षीकृते सति विभेदतो विशेषभेदतः संसारात् संसाररूपाद् मोहग्रन्थेरज्ञानग्रन्थेर्मुक्तो भवतीत्यर्थः ॥ ७८ ॥

'मैं शिव हूँ' इस भाव से शिव का साक्षात्कार होने पर संसाररूपी मोहग्रन्थि का भेदन होने से साधक निश्चित रूप से मुक्त हो जाता है ॥ ७८ ॥

अथैवमुक्तार्थे शिष्यं नियोजयति—

शिवं भावय चात्मानं शिवादन्यं न चिन्तय ।
एवं स्थिरे शिवाद्वैते जीवन्मुक्तो　भविष्यसि ॥ ७९ ॥

भो शिष्य, त्वम् आत्मानं त्वां शिवं सन्तं भावय, शिवशिवभक्तयोरात्मत्वाविशेषादिति भावः । इदमिति भासमानं विश्वमपि शिवादन्यं न चिन्तय, शिवस्वभावभूतचित्क्रियान्तर्गतत्वाज्जलतरङ्गन्यायेन शिवस्वरूपमेवेति चिन्तयेत्यर्थः । एवं शिवाद्वैते स्थिरे सति जीवन्मुक्तो जीवन्नपि मुक्तो भविष्यसीत्यर्थः ॥ ७९ ॥

'अपने को शिव समझो, शिव से अन्य को अपने विचार का विषय मत बनाओ इस प्रकार शिवाद्वैत में स्थिर भावना होने पर जीवन्मुक्त हो जाओगे' ॥ ७९ ॥

अथ शुश्रूषुस्थलं समापयति—

एवं प्रचोदितः शिष्यो　गुरुणा गुणशालिना ।
शिवमेव जगत् पश्यन्　जीवन्मुक्तोऽभिजायते ॥ ८० ॥

एवमनेन प्रकारेण ज्ञानवैराग्यादिगुणसम्पन्नेन श्रीगुरुणा प्रकर्षेण बोधितः शिष्यो जगज्जालं शिवमेव पश्यन् शिवातिरिक्ताविद्यामयमित्यपश्यन् शिवस्वभावभूतचित्क्रियाशक्तिमयत्वाच्छिवात्मकमेव पश्यन् सन् जीवन्मुक्तोऽभिजायत इत्यर्थः ॥ ८० ॥

गुणवान् गुरु के द्वारा उपदेश प्राप्त करने वाला शिष्य संसार को शिवस्वरूप देखता हुआ जीवन्मुक्त हो जाता है ॥ ८० ॥

इति शुश्रूषुस्थलम्

अथ सेव्यस्थलम्

अथ—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे[1] ॥

इति मुण्डकोपनिषद्वचनानुसारेण, 'दृष्टिः स्थिरा यस्य विनैव दृश्यं वायुः स्थिरो यस्य विना प्रयत्नम् । चित्तं स्थिरं यस्य विनावलम्बं स एव योगी स गुरुः स सेव्यः ॥' इति योगजागमवचनानुसारेण च गुरूपदेशसिद्धशुश्रूषुरेव सेव्य इति तदीयस्थलं निरूपयति—

गुरुवाक्यामृतास्वादात् प्राप्तबोधमहाफलः ।
शुश्रूषुरेव सर्वेषां सेव्यत्वात् सेव्य उच्यते ॥ ८१ ॥

गुरूपदेशवाक्यरूपामृतरसास्वादनेन सम्प्राप्तशिवाद्वैतज्ञानमहाफलवान् शुश्रूषुरेव सर्वैः सेव्यत्वात् सेव्य इत्युच्यते इत्यर्थः ॥ ८१ ॥

(सेव्यस्थल वर्णन)—गुरु के उपदेशवाक्यरूपी अमृत को ग्रहण करने से जिसे बोध (अर्थात् शिवाद्वैत ज्ञानरूपी) महाफल प्राप्त हो गया ऐसा शुश्रूषु ही समस्त सामान्य जनों का सेव्य होने के कारण सेव्य कहा जाता है ॥ ८१ ॥

अथ स सेव्य एव गुरुवत् पूजनीय इति सूत्रत्रयेणाह—

गुरूपदिष्टे विज्ञाने चेतसि स्थिरतां गते ।
साक्षात्कृतशिवः शिष्यो गुरुवत् पूज्यते सदा ॥ ८२ ॥

विज्ञाने शिवाद्वैतलक्षणविशेषज्ञान इत्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ८२ ॥

गुरु के द्वारा उपदिष्ट विज्ञान (= विशिष्ट ज्ञान अर्थात् शिवाद्वैत ज्ञान) जब चित्त में स्थिर हो जाता है तब शिव का साक्षात्कार करने वाला शिष्य सर्वदा गुरु के समान पूजित होता है ॥ ८२ ॥

ननु स सेव्यः पूजनीयोऽस्तु, गुरुवत् कस्मात् पूजनीय इत्यत्राह—

ज्ञानादाधिक्यसम्पत्तिर्गुरोर्यस्मादुपस्थिता ।
तस्माज्ज्ञानागमाच्छिष्यो गुरुवत् पूज्यतां व्रजेत् ॥ ८३ ॥

श्रीगुरोर्यस्माद् ज्ञानाद् अधिकसम्पत्तिरुपस्थिता समागता, तस्माद्

---

१. मुं०उ० २।२।८

ज्ञानागमात् शिष्यः श्रीगुरुरिव पूज्यतां व्रजेद् गच्छेदित्यर्थः ॥ ८३ ॥

जिस कारण (शिष्य के अन्दर) गुरु से अधिक ज्ञानसम्पदा उपस्थित हो जाती है। इस कारण उस ज्ञानागम से शिष्य गुरु के समान पूज्य हो जाता है ॥ ८३ ॥

अथ हेत्वन्तरमाह—

शिवोऽहमिति भावस्य नैरन्तर्याद् विशेषतः ।
शिवभावे समुत्पन्ने शिववत् पूज्य एव सः ॥ ८४ ॥

शिवोऽहमिति भावस्य नैरन्तर्याद् निरवकाशरूपाद् विशेषाद् अभ्यासविशेषात् शिवभावे शिवत्वे समुत्पन्ने स्फुटीभूते सति स शुश्रूषुः शिववत् पूज्य एवेत्यर्थः ॥ ८४ ॥

'मैं शिव हूँ' इस भावना के निरन्तर होने के कारण (शिष्य के अन्दर) जब शिवभाव विशेष रूप से उत्पन्न होता है तब वह शिव के समान पूज्य हो जाता है ॥ ८४ ॥

नन्वस्य ससङ्गत्वात् शिवस्यासङ्गत्वात् कथं शिववत् पूजनीयत्वमित्यत्राह—

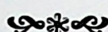
विषयासक्तचित्तोऽपि विषयासङ्गवर्जितः ।
शिवभावयुतो योगी सेव्यः शिव इवापरः ॥ ८५ ॥

अत्र शिवभावयुत इति हेतुगर्भविशेषणम् । योगी शुश्रूषुः शिवयोगी विषयनिष्ठचित्तवानपि विषयसङ्गवर्जित एव शिवभावदार्ढ्याद् द्वितीयः शिव इव सेव्यः पूजनीय इत्यर्थः ॥ ८५ ॥

(ऐसा शिष्य) विषयों में आसक्त मन वाला होकर भी विषय की आसक्ति से रहित होता है (क्योंकि शरीर धर्म के कारण वह विषय का सेवन करता है किन्तु सर्वत्र शिवदृष्टि होने के कारण वह विषयों के उपभोगजन्य पाप या पुण्य से लिप्त नहीं होता अत एव) शिवभाव से युक्त योगी दूसरे शिव के समान पूजनीय होता है ॥ ८५ ॥

मुक्तः संशयपाशतः स्थिरमना बोधे च मुक्तिप्रदे
मोहं देहभृतां दृशा विघटयन् मूलं महासंसृतेः ।
सत्तानन्दचिदात्मके निरुपमे शैवे परस्मिन् पदे
लीनात्मा क्षयितप्रपञ्चविभवो योगी जनैः सेव्यते ॥ ८६ ॥

इति श्रीमत्षट्स्थलब्रह्मिणा शिवयोगिनाम्ना रेणुकाचार्येण विरचिते वीरशैवधर्मनिर्णये सिद्धान्तशिखामणौ प्रसादिस्थलाश्रित-नवलिङ्गप्रसङ्गो नाम सप्तदशः परिच्छेदः ॥ १७ ॥



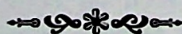
संशयपाशतः अहं शिवो वा न वेति सन्देहपाशतो मुक्तो विमुक्तो मुक्तिप्रदे परापरमुक्तिप्रदे बोधे च शिवाद्वैतज्ञाने स्थिरमनाः स्थिरचित्तो महासंसृतेः संसारस्य मूलं मूलकारणीभूतं देहभृतां मोहं देहिनामज्ञानं दृशा कृपादृष्ट्या विघटयन् निवारयन्, सच्चिदानन्दस्वरूपे उपमातीते शैवे परस्मिन् पदे लीनात्मा तदेकलोलीभूतनिजस्वरूपवान् योगी शिवयोगी क्षयितप्रपञ्चविभवः सन् स्वशक्तिलीनीकृतविश्वप्रपञ्चवैभवः सन् जनैः सेव्यते पूज्यत इत्यर्थः । अस्य प्रसादिनोऽङ्गत्रयस्यैतल्लिङ्गत्रयं क्रमेण संयोजनीयमिति सम्प्रदायः ॥ ८६ ॥

इति श्रीमत्पदवाक्यप्रमाणपारावारधुरीणश्रीमरितोण्टदार्येण विरचितायां तत्त्वप्रदीपिकाख्यायां सिद्धान्तशिखामणिव्याख्यायां प्रसादिस्थला-श्रितनवलिङ्गप्रसङ्गनामा सप्तदशः परिच्छेदः ॥ १७ ॥



संशयरूपी पाश से मुक्त, मुक्तिप्रद ज्ञान के विषय में दृढ़ मति वाला, महासंसार के मूल कारण देहधारियों के मोह को अपने कृपाकटाक्ष से नष्ट करने वाला, तथा सत् चित् आनन्द रूप निरूपम शिवपद में लीन अतएव प्रपञ्च के विस्तार को नष्ट करने वाला योगी सर्वदा लोगों के द्वारा सेवित होता है ॥ ८६ ॥

इस प्रकार श्रीसिद्धान्तशिखामणि के प्रसादिस्थलाश्रितनवलिङ्गप्रसङ्ग-नामा सप्तदश परिच्छेद की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदीकृत 'ज्ञानवती' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ १७ ॥



अष्टादशः परिच्छेदः

(अथात्मस्थलम्)

अथ प्राणलिङ्गिस्थलभेदाः कथ्यन्ते । अथागस्त्यप्रश्नः—

प्रसादिस्थलसम्बद्धाः स्थलभेदाः प्रकीर्तिताः ।
प्राणलिङ्गिस्थलारूढान् स्थलभेदान् वदस्व मे ॥ १ ॥

स्थलभेदान् अवान्तरभेदानित्यर्थः । वदस्व उपदिशेत्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ १ ॥

अगस्त्य ने कहा—(हे आचार्य! आपने) प्रसादि स्थल से सम्बद्ध स्थलों के भेदों का वर्णन किया । अब प्राणलिङ्गी स्थल के अन्तर्गत आने वाले स्थलभेदों को मुझे बतलाइये ॥ १ ॥

अथ श्रीरेणुकस्तद्भेदं सूत्रत्रयेण निरूपयति—

स्थलानां नवकं प्रोक्तं प्राणलिङ्गिस्थलाश्रितम् ।
आदावात्मस्थलं प्रोक्तमन्तरात्मस्थलं ततः ॥ २ ॥
परमात्मस्थलं पश्चान्निर्देहागमसंज्ञकम् ।
निर्भावागमसंज्ञं च ततो नष्टागमस्थलम् ॥ ३ ॥
आदिप्रसादनामाथ ततोऽप्यन्त्यप्रसादकम् ।
सेव्यप्रसादकं चाथ शृणु तेषां च लक्षणम् ॥ ४ ॥

स्पष्टम् ॥ २-४ ॥

श्री रेणुकाचार्य ने कहा—प्राणलिङ्गी स्थल में नव स्थल कहे गये हैं । पहला आत्मस्थल उसके बाद अन्तरात्मस्थल फिर परमात्मस्थल इसके बाद निर्देहागमस्थल, निर्भावागमस्थल तत्पश्चात् नष्टागमस्थल, फिर आदिप्रसादिस्थल तथा अन्त्यप्रासादिस्थल और अन्त में सेव्यप्रसादिस्थल है । अब इनके लक्षण सुनो ॥ २-४ ॥

अथ—'एष आत्मा अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः'[१] इति छान्दोग्यश्रुत्युसारेणायं सेव्य एवात्मेत्यात्मस्थलं निरूपयति—

जीवभावं परित्यज्य यदा तत्त्वं विभाव्यते ।
गुरोश्च बोधयोगेन तदात्मायं प्रकीर्तितः ॥ ५ ॥

अयं सेव्य एव श्रीगुरोः शिवज्ञानसम्बन्धेन जीवभावं जीवत्वं परित्यज्य यदा परतत्त्वं विभाव्यते, तदा आत्मेति परिकीर्तित इत्यर्थः ॥ ५ ॥

(आत्मस्थल वर्णन)—यह अर्थात् सेव्यस्थल गुरु के द्वारा प्रवर्त्तित बोध के कारण जब जीवभाव का त्याग कर तत्त्व के रूप में जाना जाता है तब वह आत्मा कहा जाता है ॥ ५ ॥

अथ कोऽयं जीव इत्यत्र—

वालाग्रशतभागेन शतधा कल्पितेन तु ।
भाग आत्मा स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्प्यते ॥

इति श्वेताश्वतरश्रुत्यनुसारेण जीवस्वरूपं पञ्चभिः सूत्रैः प्रतिपादयति—

वालाग्रशतभागेन सदृशो हृदयस्थितः ।
अनश्नन् कर्मफलं सर्वमात्मा स्फुरति दीपवत् ॥ ६ ॥

वालाग्रेति केशाग्रशतभागेन सदृशः सन् स्वार्जितकर्मफलं भुञ्जन् सन् हृदये हृदयकमले स्थितः, तिष्ठतीत्यर्थः । नन्वेवं चेत्, शरीरैकदेशनिष्ठत्वेन पादे मे वेदना, शिरसि सुखमिति सर्वाङ्गीणचैतन्योपलब्धिः कथमित्याशङ्क्याह—दीपवदिति । दीपस्य गृहैकदेशनिष्ठत्वेऽपि स्वप्रभया सम्पूर्णगृहं व्याप्य तदन्तर्गतसकलवस्तुप्रकाशकत्वं यथा, तद्वद् जीवस्य शरीरैकदेश- निष्ठत्वेऽपि 'प्रज्ञया शरीरं समारुह्य' इति श्रुतेस्तद्बुद्धेर्व्यापकत्वेन सर्वं शरीरं व्याप्य सर्वाङ्गीणचैतन्यमनुभवन् आत्मा जीवात्मा स्फुरति प्रकाशत इत्यर्थः ॥ ६ ॥

बाल के अग्रभाग के सौवें भाग के बराबर[२] यह हृदय में स्थित हुआ कर्मफल का भोग न करता हुआ आत्मा दीपक के समान प्रकाशित होता है और प्रकाश करता है ॥ ६ ॥

---

१. छा०उ० ८।१।४

२. तुलनीय—
वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ॥ (श्वे०उ० ५।९)

नन्वेवंविधरूपं जीवस्य स्वाभाविकं किमित्यत्राह—

आत्मापि सर्वभूतानामन्तःकरणमाश्रितः ।
अणुभूतो मलासङ्गादादिकर्मनियन्त्रितः ॥ ७ ॥

सर्वभूतानां पञ्चभूतानाम् आत्मापि परमार्थतो व्यापकत्वाश्रयोऽपि मलासङ्गाद् आणवादिमलव्यापनाद् अणुभूतः परमणुदतिसूक्ष्मः सन् आदिकर्मनियन्त्रितः प्राचीनकर्मपाशबद्धः सन् अन्तःकरणमाश्रितोऽहङ्कारमाश्रितवानित्यर्थः ॥ ७ ॥

समस्त प्राणियों के अन्त:करण में स्थित आत्मा भी मल से संसक्त होने के कारण आदि अर्थात् प्राचीनतम कर्म से नियन्त्रित हुआ अणु बनकर रहता है । (अथवा समस्त पञ्च महाभूतों का आत्मा अर्थात् आश्रय परमेश्वर भी मल के संसर्ग से अनादि कर्मवासना से नियन्त्रित होकर अणु अर्थात् जीव के रूप में तत्तत् अन्त:करण में स्थित रहता है) ॥ ७ ॥

अथैवमहङ्कारसम्बन्धाद् देहसम्बन्धोऽपि प्राप्त इत्यत्राह—

जपायोगाद्यथा रागः स्फटिकस्य मणेर्भवेत् ।
तथाऽहङ्कारसम्बन्धादात्मनो देहमानिता ॥ ८ ॥

परिमिताहङ्कारसम्बन्धाद् देहसम्बन्धः प्राप्त इत्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ८ ॥

जिस प्रकार स्वच्छ स्फटिक मणि जपाकुसुम (गुडहल के फूल) के साथ संयुक्त होने पर लाल रङ्ग का हो जाता है उसी प्रकार अहङ्कार के सम्बन्ध से आत्मा भी देहाभिमानी हो जाता है (अर्थात् देह को ही अपना स्वरूप समझने लगता है) ॥ ८ ॥

ननु सर्वदोषरहितस्यात्मनः कथमुक्तप्रकारेण शरीरसम्बन्ध इत्यत्राह—

अशरीरोऽपि सर्वत्र व्यापकोऽपि निरञ्जनः ।
आत्मा मायाशरीरस्थः परिभ्रमति संसृतौ ॥ ९ ॥

परापरमोक्षकारणीभूतशुद्धविद्याशरीरवत्त्वेनाशरीरोऽपि, अपरिच्छिन्नत्वाद्, व्यापकोऽपि, दोषरहितत्वान्निरञ्जनोऽपि, कलादिक्षितिपर्यन्तत्रिंशत्तत्त्वकारणीभूतस्वकीयाधोमायाशक्तिपरिकल्पितचन्द्रकलाविशिष्टशरीरवान् सन् संसारे परिभ्रमतीत्यर्थः ॥ ९ ॥

शरीररहित होता हुआ भी सर्वत्र विद्यमान, व्यापक होता हुआ भी निरञ्जन अर्थात् दोषरहित यह आत्मा माया के द्वारा कल्पित शरीर में स्थित होकर

संसार में भ्रमण करता रहता है ॥ ९ ॥

अथैवंरूपजीवस्यात्मत्वप्राप्तिप्रकारमाह—

आत्मस्वरूपविज्ञानं देहेन्द्रियविभागतः ।
अखण्डब्रह्मरूपेण तदात्मप्राप्तिरुच्यते ॥ १० ॥

देहेन्द्रियविभागत उक्तलक्षणमायिकप्राकृतसत्त्वादिगुणकार्यरूप-शरीरेन्द्रियादिव्यतिरिक्तत्वेन अखण्डब्रह्मरूपेण अपरिच्छिन्नब्रह्मरूपेण आत्म विज्ञानं स्वस्वरूपज्ञानं यदा भवति, तदात्मप्राप्तिरात्मत्वलाभ उच्यते, 'आत्मलाभान्न परं विद्यते । नेति सति न हृद्यः' **इति श्रुतेरित्यर्थः ॥ १० ॥**

जब देह और इन्द्रिय के विभाग से (अर्थात् आत्मा देह और इन्द्रिय से भिन्न है ऐसे विचार से) अखण्ड ब्रह्म के रूप मे आत्मस्वरूप का ज्ञान हो जाता है तब आत्मप्राप्ति कही जाती है ॥ १० ॥

नन्वपरिच्छिन्नं ब्रह्म परिच्छिन्नशरीरविशिष्टं किमर्थं जातमित्यत्राह—

न चास्ति देहसम्बन्धो निर्देहस्य स्वभावतः ।
अज्ञानकर्मयोगेन देही भवति भुक्तये ॥ ११ ॥

अशरीरस्य परमात्मनः परमार्थतः शरीरसम्बन्धो नास्त्येव, तथापि भुक्तये—

यथा नृपः सार्वभौमप्रभावामोदबृहितः ।
क्रीडन् करोति पादातिधर्म तद्धर्मधर्मितः ॥

इति शिवदृष्टिशास्त्रोक्तदृष्टान्तेन अखण्डरसास्वादपरिबृंहितोऽपि खण्डरसा-स्वादनार्थमिच्छायामज्ञानकर्मयोगेन स्वातन्त्र्यपरिकल्पिताणवादिमलसम्बन्धेन देही भवति, घृतकाठिन्यन्यायेनांशतः शरीरी भवति । तस्मादंशीभूतस्य ज्ञानादिमलसम्बन्धान्नृप इवाहं शिव इति ज्ञानं नास्तीति बोध्यम् । अस्मिन्नर्थे— 'स वै नैव रेमे । तस्मादेकाकी न रमते । स द्वितीयमैच्छत् । स एतावानास[1] ।[2] तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् । तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्'[3] **इति श्रुतिः ।** 'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्'[4] **इति,** 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः'[5] **इति भगवदुक्तिश्च । शिवस्य निरंशत्वेऽपि स्वतन्त्रत्वात् स्वातन्त्र-**

---

१. शि०दृ० १।३७-३८ २. बृ०उ० १।४।३
३. तै०उ० ६।४ ४. भ०गी० १०।४२।५
५. भ०गी० १५।७

परिकल्पितांशभावः सम्भवति, वत्सापहरणदृष्टान्तात् । क्रिया हि कर्मण्येव विश्राम्येन्न तु कर्तरीति न्यायान्नात्मनो बन्धः । वस्तुतस्तु—'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्'[१] **इति श्रुतेः,** 'कला सप्तदशी देवी स्वान्तर्लीनचराचरा' **इत्यागमोक्तेः—**

इदं पूर्वं जगत्सर्वं प्रलये पारमेश्वरे ।
मायाभिन्ने स्वमायाख्यकारणाभेदरूपतः ॥
वर्तते वासनारूपेणैव नाभावरूपतः ।

इति पाराशरोपपुराणवचनाच्च सर्वं विश्वमण्डरसन्यायेनात्मसमवेतचित्क्रियासामरस्यलक्षणचिदम्बरशक्तौ तादात्म्येनास्तीति परमात्मस्थले वक्ष्यमाणरीत्या वह्निर्विस्फुलिङ्गानिव स्वतादात्म्यापन्नान् चित्कणान् तत्तत्कर्मानुसारेण सृजत्यवति संहरति तिरयतेऽनुगृह्णातीति न काचिदनुपपत्तिः ॥ ११ ॥

जो स्वभावतः देहरहित है उसका देह से सम्बन्ध कदापि नहीं होता । अज्ञान और उससे जन्य अपने कर्म के योग से (यह आत्मा) भोग करने के लिये शरीरधारी बनता है ॥ ११ ॥

विशेष—वस्तुतः परमात्मा अशरीरी है । किन्तु लीला की इच्छा से वह अपने स्वातन्त्र्यवश देह धारण करता है । इस विषय में टीकाकार 'शिवदृष्टि' नामक ग्रन्थ से श्लोक उद्धृत करते हैं । अपने स्वातन्त्र्यवश वह अंशी हो जाते हैं । 'अंशे नाना व्यपदेशात्' ब्रह्मसूत्र भी है । आनन्द के लिये एकत्व समर्थ नहीं होता अतः वह देहयुक्त होता है । जीव उसी का अंश है । पराशरउपपुराण का भी कथन है कि प्रलयकाल में यह सब अण्डरसन्यायेन परमेश्वर में प्रच्छन्न रूप से स्थित रहता है । सिसृक्षा के अनन्तर अग्नि से स्फुलिङ्ग के समान जीव अविर्भूत होता है ।

तर्ह्यसौ जीवः किंनामक इत्यत्राह—

नासौ देवो न गन्धर्वो न यक्षो नैव राक्षसः ।
न मनुष्यो न तिर्यक्च न च स्थावरविग्रहः ॥ १२ ॥

तत्तच्छरीरयोगेन तत्तन्नाम्ना विराजितः । स्पष्टम् ॥ १२ ॥

(यह आत्मा) न देव, न गन्धर्व, न यक्ष, न राक्षस है । साथ ही यह न मनुष्य, न तिर्यक् अर्थात् पक्षी और न स्थावर शरीर वाला वृक्ष आदि है ॥ १२ ॥

---

१. ऐ०उ० १।१

तर्ह्ययं कीदृश इत्यत्र—'स्वस्वकृतदुष्कर्मणा परमेश्वरप्रेरणया बद्धाः संसारिणो जीवाः' **इति वृद्धजाबालश्रुत्यनुसारेण दृग्युगैक्यावलोकमिव द्वैताद्वैत-सामरस्यात्मनः शिवस्य स्वातन्त्र्यपरिकल्पितजीवोपाधिना नानारूपाः सन्तः शिवस्य क्रीडाभाजनरूपा इत्याह**—

नानाकर्मविपाकाश्च नानायोनिसमाश्रिताः ।
नानायोगसमापन्ना नानाबुद्धिविचेष्टिताः ॥ १३ ॥
नानामार्गसमारूढा नानासङ्कल्पकारिणः ।
अस्वतन्त्राश्च किञ्चिज्ज्ञाः किञ्चित्कर्तृत्वहेतवः ।
लीलाभाजनतां प्राप्ताः शिवस्य परमात्मनः ॥ १४ ॥

नानाविधप्राचीनकर्मविपाकवशाद् 'देवाः षोडशलक्षाणि' **इत्युदाहृत-वचनानुसारेण देवतिर्यङ्मनुष्यादिनानायोनिसमापन्ना नानाविधस्वर्गभोगोपाय-चिन्तका नानाविधबुद्ध्याक्रान्ताः सन्तो नानाविधवैष्णवादिदर्शनमार्गप्रविष्टा नानासङ्कल्पकारिणः किञ्चिज्ज्ञाः किञ्चित्कर्तृत्वकारणीभूताः स्वातन्त्र्यशून्या जीवाः परमात्मनः शिवस्य लीलाभाजनतां गताः, क्रीडाभाण्डरूपा इत्यर्थः ॥ १३-१४ ॥**

(ये जीव) नाना कर्मविपाक वाले अतएव देव मनुष्य पशु पक्षी आदि नाना योनियों में उत्पन्न होते हैं । इसके अनन्तर नाना प्रकार के सुख दुःखात्मक भोगों को प्राप्त कर अनेक प्रकार का विचार और चेष्टायें करते हैं। ये जीव जैन बौद्ध वैष्णव आदि अनेक धर्ममार्गों का आश्रयण कर अनेक प्रकार के विचार करते रहते हैं । अस्वतन्त्र, अल्पज्ञ, अल्पकर्तृत्व से युक्त ये परमात्मा शिव के द्वारा अभिनीत लीला के पात्र के समान है ॥ १३-१४ ॥

अथैते किं यान्तीत्यत्राह—

चोदिताः परमेशेन स्वस्वकर्मानुरूपतः ।
स्वर्ग वा नरकं वापि प्राणिनो यान्ति कर्मिणः ॥ १५ ॥

स्पष्टम् ॥ १५ ॥

ये कर्म करने वाले प्राणी परमेश्वर के द्वारा अपने-अपने कर्मों के अनुसार प्रेरित होकर स्वर्ग अथवा नरक को प्राप्त होते हैं ॥ १५ ॥

अथ स्वर्गनरकयोर्वा तेषां स्थैर्यमस्ति किमित्यत्राह—

पुनः कर्मविशेषेण जायन्ते गर्भकोटरात् ।
जाता मृताः पुनर्जाताः पुनर्मरणभाजिनः ।

भ्रमन्ति घोरसंसारे विश्रान्तिकथया विना ॥ १६ ॥

विश्रान्तिकथया स्वस्वरूपाविश्रान्तिवार्ताव्यतिरेकेणेत्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ १६ ॥

पुनः भोग से अवशिष्ट कर्म के कारण ये जीव गर्भ से उत्पन्न होते हैं (कुछ काल तक इस संसार में रहते हैं । फिर) मर जाते हैं । पुनः जन्म लेते है और पुनः मृत्यु के पात्र बनते हैं । ये इस घोर संसार में अनवरत भ्रमण करते रहते हैं ॥ १६ ॥

नन्वेवं चेत्, संसारचक्रपरिभ्रमणं शाश्वतं किमित्यत्राह—

जीवत्वं दुःखसर्वस्वं तदिदं मलकल्पितम् ।
निरस्यते गुरोर्बोधाज्ज्ञानशक्तिः प्रकाशते ॥ १७ ॥

जीवत्वमाणवादिमलकल्पितम्, अज्ञानादिमलकल्पितमित्यर्थः । तस्माद् दुःखसर्वस्वरूपम् । तदिदं दुःखसर्वस्वरूपं जीवत्वं गुरोर्बोधात् श्रीगुरूपदिष्ट-शिवाद्वैतबोधात्, निरस्यते निवार्यते, ज्ञानशक्तिः स्वस्वरूपज्ञानशक्तिसामर्थ्यं प्रकाश्यत इत्यर्थः ॥ १७ ॥

जीव होना ही दुःख का सर्वस्व है और यह जीवत्व मलकल्पित है । गुरु के द्वारा प्रदत्त बोध से यह दूर होता है और (जीव को) ज्ञानशक्ति प्राप्त होती है ॥ १७ ॥

इत्यात्मस्थलम्

अथान्तरात्मस्थलम्

अथ—

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न
लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न
लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः[1] ॥

इति कठवल्लीश्रुत्यनुसारेण निराकृतजीवभावस्यात्मनोऽन्तरात्मत्वं भवतीति निरूपयति—

यदा निरस्तं जीवत्वं भवेद् गुर्वनुबोधतः ।
तदान्तरात्मभावोऽपि निरस्तस्य भवेद् ध्रुवम् ॥ १८ ॥

१. कठोप० २।५।११

गुर्वनुबोधतो गुरूपदेशाज्जीवत्वं जीवभावो यदा निरस्तं भवेत्, तदा निरस्तस्य निरस्तजीवभाववत आत्मनोऽन्तरात्मभावो भवेत् स्यात्, ध्रुवं निश्चय इत्यर्थः ॥ १८ ॥

(अन्तरात्मस्थल वर्णन)—गुरु के उपदेश से जब साधक का जीवभाव निरस्त हो जाता है तो निरस्त जीवभाव वाले उस मनुष्य का निश्चित रूप से आन्तरात्म भाव भी हो जाता है ॥ १८ ॥

अथान्तरात्मस्वरूपं सूत्रत्रयेण कथयति—

देहस्थितोऽप्ययं जीवो देहसङ्गविवर्जितः ।
बोधात् परात्मभावित्वादन्तरात्मेति कीर्तितः ॥ १९ ॥

अयं जीवो देहस्थितोऽपि देहसङ्गरहितः सन् बोधात् स्वस्वरूपज्ञानात् परात्मभावित्वात् परमात्मनो भाववत्त्वाद् अन्तरात्मेति कथ्यत इत्यर्थः ॥ १९ ॥

देह के अन्दर स्थित भी यह जीव जब देह के प्रति आसक्ति से रहित हो जाता है तब बोध के कारण तथा परात्मभाव से युक्त होने से वह अन्तरात्मा कहा गया है ॥ १९ ॥

अथ प्रकारान्तरेणोपपादयति—

आत्मान्तरालवर्तित्वाज्जीवात्मपरमात्मनोः ।
योगादुभयधर्माणामन्तरात्मेति कीर्तितः ॥ २० ॥

आत्मा निरस्तजीवभाववान् सेव्यः, शिष्योपदेशसमये जीवात्मपरमात्मनोरन्तरालवर्तित्वात्, मध्यवर्तित्वादित्यर्थः । तदा शिष्यबुद्धिशिक्षकत्वेन तदन्तर्यामितया शिवधर्मयोगात् आहारव्याहारदेर्विद्यमानत्वेन जीवधर्मयोगात् । एवमुभयधर्माणां योगाद् अन्तरात्मेति कीर्तित इति ॥ २० ॥

जीवात्मा और परमात्मा के बीच का होने के कारण आत्मा उक्त दोनों के धर्मों से युक्त होने से अन्तरात्मा कहा गया है ॥ २० ॥

अथ प्रकारान्तरेणाह—

अहङ्कारस्य सम्बन्धान्मनुष्यत्वादिविभ्रमः ।
न स्वभाव इति ज्ञानादन्तरात्मेति कथ्यते ॥ २१ ॥

परिच्छिन्नस्वरूपाहंभाववशाद् मनुष्यत्वादिविभ्रमः स्यात्, न स्वभावत इति ज्ञानात् परिच्छिन्नस्वरूपत्वं न स्वाभाविकमिति ज्ञानाद् अन्तरात्मेति कथ्यत इत्यर्थः ॥ २१ ॥

अहङ्कार के सम्बन्ध के कारण (जीव को) मनुष्यत्व आदि का भ्रम होता है। (मनुष्यत्व) आत्मा का स्वभाव नहीं है ऐसा ज्ञान होने से साधक अन्तरात्मा कहा जाता है ॥ २१ ॥

अथास्य शरीरसम्बन्धोऽस्ति न वेत्यत्र दृष्टान्तपूर्वकं सूत्रत्रयेणाह—

यथा पद्मपलाशस्य न सङ्गो वारिणा भवेत् ।
तथा देहजुषोऽप्यस्य न शरीरेण सङ्गतिः ॥ २२ ॥
नीडस्थितो यथा पक्षी नीडादि्भन्नः प्रदृश्यते ।
देहस्थितस्तथात्मायं देहादन्यः प्रकाश्यते ॥ २३ ॥

स्पष्टम् ॥ २२-२३ ॥

जिस प्रकार कमल के पत्ते का जल के साथ सम्बन्ध नहीं होता उसी प्रकार देह के साथ संयुक्त भी इस जीव की देह के साथ सङ्गति नहीं होती। घोंसले में स्थित भी पक्षी जैसे घोंसले से भिन्न दिखायी देता है उसी प्रकार यह आत्मा देह में रहता हुआ भी देह से अन्य के रूप में प्रकाशित होता है ॥ २२-२३ ॥

अथ पुनर्दृष्टान्तमाह—

आच्छाद्यते यथा चन्द्रो मेघैरासङ्गवर्जितैः ।
तथात्मा देहसङ्घातैरसङ्गपरिवेष्टितः ॥ २४ ॥

चन्द्र आसङ्गवर्जितैः स्वस्य सर्वत्र सङ्गरहितैर्मेघैर्यथा आच्छाद्यते, तथा आत्मा निवृत्तजीवभावः सेव्यो देहसङ्घातैः स्थूलादिदेहसमूहैः, असङ्गः सन् परिवेष्टित इत्यर्थः ॥ २४ ॥

जिस प्रकार चन्द्र सम्बन्धरहित बादलों से आच्छादित हो जाता है उसी प्रकार आत्मा भी सम्बन्ध न रहते हुए देहसमूहों से आवृत होता है ॥ २४ ॥

तर्ह्ययं कं पश्यन्नास्त इत्यत्राह—

निर्ममो निरहङ्कारो निरस्तोपाधिविक्लवः ।
देहस्थोऽपि सदा ह्यात्मा शिवं पश्यति योगतः ॥ २५ ॥

विक्लवो बाधः । योगो योगसामर्थ्यम् । शिष्टं स्पष्टम् ॥ २५ ॥

ममकार एवं अहङ्कार से रहित तथा शरीर इन्द्रिय आदि समस्त उपाधियों से वर्जित आत्मा देह में स्थित रहकर भी योग के सामर्थ्य से शिव का साक्षात्कार करता है ॥ २५ ॥

तर्हि शिवं पश्यन्नयं तथा भासत इत्यत्राह—

भोक्तृभोज्यपरित्यागात् प्रेरकस्य प्रसादतः ।
भोक्तृताभावगलितः स्फुरत्यात्मा स्वभावतः ॥ २६ ॥

भोक्तृभोज्यपरित्यागाद् भोक्तृजीवेन भोज्यविषयपरित्यागात् प्रेरकस्येश्वरस्य प्रसन्नतावशाद् भोक्तृताभावगलितः सन् भोक्तृलक्षणजीवभाववियुक्तः सन् स्वभावतो जीवेश्वरसंाधारणीभूतात्मत्वस्वरूपतः स्फुरति, प्रकाशत इत्यर्थः ॥ २६ ॥

भोक्ता और भोज्य के परित्याग से, प्रेरक अर्थात् ईश्वर की कृपा से भोक्तृत्वभाव से रहित होकर आत्मा अपने स्वभाव के अनुसार प्रकाशित होता है ॥ २६ ॥

अथान्तरात्मस्थलं समापयति—

सर्वेषां प्रेरकत्वेन शम्भुरन्तःस्थितः सदा ।
तत्परिज्ञानयोगेन योगी नन्दति मुक्तवत् ॥ २७ ॥

स्पष्टम् ॥ २७ ॥

भगवान् शिव सबके अन्दर प्रेरक के रूप में स्थित हैं । इस प्रकार के परिपूर्ण ज्ञान के कारण योगी मुक्त की भाँति आनन्द का अनुभव करता है ॥ २७ ॥

इत्यन्तरात्मस्थलम्

अथ परमात्मस्थलम्

अथ—

एवं विदित्वा परमात्मरूपं
गुहाशयं निष्कलमद्वितीयम् ।
समस्तसाक्षिं सदसद्विहीनं
प्रयाति शुद्धं परमात्मरूपम्[1] ॥

इति कैवल्यश्रुत्यनुसारेण अयमन्तरात्मैव निर्मलत्वेन परमात्मेति निरूपयति—

---

१. कै०उ० २।२२-२३

निर्धूते तत्प्रबोधेन मले संसारकारणे ।
सामरस्यात् परात्मस्थात् परमात्मायमुच्यते ॥ २८ ॥

अयमन्तरात्मा संसारकारणे मलेऽज्ञाने तत्प्रबोधेन तच्छिवाद्वैतज्ञानेन निर्धूते सति निवारिते सति परात्मस्थात् परमात्मस्थात् सामरस्यात् समरसभावात् परमात्मेत्युच्यत इत्यर्थः ॥ २८ ॥

(परमात्मस्थल वर्णन)—शिवाद्वैत ज्ञान के द्वारा संसार के कारणभूत मल के नष्ट होने पर परात्मा में स्थित सामरस्य के कारण यह जीव परमात्मा कहा जाता है ॥ २८ ॥

अथ कोऽयं परमात्मेत्यत्राह—

सर्वेषामात्मभेदानामुत्कृष्टत्वात् स्वतेजसा ।
परमात्मा शिवः प्रोक्तः सर्वगोऽपि प्रकाशवान् ॥ २९ ॥

स्वतेजसा निजतेजसा सर्वगोऽपि सर्वव्यापकोऽपि प्रकाशवान् शिवः सर्वेषामात्मभेदानाम् उत्कृष्टत्वात् परमात्मेति प्रोक्त उच्यते इत्यर्थः ॥ २९ ॥

अपने तेज के कारण सर्वव्यापी और प्रकाशमान शिव समस्त आत्मभेदों में उत्कृष्ट होने के कारण परमात्मा कहे गये हैं ॥ २९ ॥

अथ प्रकारान्तरेण तल्लक्षणमाह—

ब्रह्माण्डबुद्बुदस्तोमा यस्य मायामहोदधौ ।
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति परमात्मा स उच्यते ॥ ३० ॥

स्पष्टम् ॥ ३० ॥

जिसकी मायारूप समुद्र में ब्रह्माण्डरूपी बुलबुलों के स्तोम अर्थात् समूह डूबते और उतराते रहते हैं वह परमात्मा कहा जाता है ॥ ३० ॥

अथ तत्स्वरूपमेव दृष्टान्तपूर्वकं सूत्रत्रयेण कथयति—

यस्मिन् ज्योतिर्गणाः सर्वे स्फुलिङ्गा इव पावकात्।
उत्पत्य विलयं यान्ति तद्रूपं परमात्मनः ॥ ३१ ॥

यस्मिन् वस्तुनि सर्वे ज्योतिर्गणाः समस्तजीवतेजःसमूहा वह्नेर्जाता विस्फुलिङ्गा इव उत्पत्य विलयं यान्ति, तत्परमात्मनो रूपं स्वरूपमित्यर्थः ॥ ३१ ॥

जिस प्रकार अग्नि से स्फुलिङ्ग (अर्थात् चिनगारी) उसी प्रकार जिसमें

ज्योतिर्गण उत्पन्न होकर विलीन हो जाते हैं[1] वही परमात्मा का रूप है ॥ ३१ ॥

अथ प्रकारान्तरेणाह—

यस्मिन् समस्तवस्तूनि कल्लोला इव वारिधौ ।
सम्भूय लयमायान्ति तद्रूपं परमात्मनः ॥ ३२ ॥

यस्मिन् वस्तुनि भूम्यादिसमस्ततत्त्वानि समुद्रे बृहत्तरङ्गा इव सम्भूय लयमायान्ति, तत्परमात्मनो रूपम् ॥ ३२ ॥

जिस प्रकार समुद्र में लहरें उसी प्रकार समस्त वस्तुयें जिसमें उत्पन्न होकर लीन हो जाती है ।[2] वही परमात्मा का रूप है ॥ ३२ ॥

पुनः प्रकारान्तरेणाह—

निरस्तमलसम्बन्धं निःशेषजगदात्मकम् ।
सर्वतत्त्वोपरि प्रोक्तं स्वरूपं परमात्मनः ॥ ३३ ॥

निवारिताणवादिमलसम्बन्धं नामरूपात्मकसकलजगज्जीवनभूतं परमात्मनः स्वरूपं भूम्यादिशिवान्तसकलतत्त्वोपरि प्रोक्तम् ॥ ३३ ॥

परमात्मा का स्वरूप समस्त प्रकार के मलों से असम्बद्ध तथा सम्पूर्ण संसारात्मक होते हुए भी समस्त तत्त्वों से परे कहा गया है ॥ ३३ ॥

अथ परमात्मा कथं प्रकाशत इत्यत्राह—

यथा व्याप्य जगत्सर्वं स्वभासा भाति भास्करः ।
तथा स्वशक्तिभिर्व्याप्य परमात्मा प्रकाशते ॥ ३४ ॥

भास्करः स्वकान्त्या जगत्सर्वं व्याप्य यथा वर्तते, तथा परमात्मा धूमावत्यादिस्वकीयपञ्चशक्तिभिर्विश्वं व्याप्य प्रकाशत इत्यर्थः । तथाहि— सृज्यस्य पाञ्चभौतिकत्वाद् भूम्यां धूमावत्यपरपर्याया तिरोधानशक्तिः, जले पुष्टिलक्षणा पालनशक्तिः, तेजसि विश्वप्रकाशकतालक्षणा सृष्टिशक्तिः, वायौ शोषकतालक्षणा संहारशक्तिः, नभसि व्यापकशिवैकीकरणप्रवीणानु-

---

१. तुलनीय—
यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिङ्गाः सहस्रं प्रभवन्ते सरूपाः ।
तथाऽक्षराद् विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ॥
(मुं०उ० २।१)

२. तुलनीय—जन्माद्यस्य यतः । (ब्र०सू० १।२)

ग्रहात्मिका विभुताशक्तिः । एवं पञ्चभिर्विश्वं व्याप्य वर्तत इत्यर्थः । उक्तोऽयमर्थः पञ्चाशिकाशास्त्रे—

धूमावती पृथिव्यां ह्लादाप्सु शुचौ तु भास्वती प्रथते ।
वायौ स्पन्दा विभ्वी नभसि व्याप्तं जगत् ताभिः ॥
धूमावती तिरोधौ भास्वत्यवभासनेऽध्वनां शक्तिः ।
क्षोभे स्पन्दा व्याप्तौ विभ्वी ह्लादा च पुष्टौ स्यात् ॥

इति । एवं स्वशक्तिभिर्विश्वं व्याप्य वर्तत इत्यर्थः । अत्र स्वकान्त्या विश्वं व्याप्य भासमानस्य सूर्यस्य यथाऽभेदः, तथा शिवाद्विश्वस्याभेदो नाशङ्कनीयः, भूम्यादेः शक्तिरूपत्वात्, शक्तीनां शिवस्वभावत्वात् । नैवं विश्वं सारतेजोरूपम्, किन्तु सम्बन्धमात्रम्, सर्वांशे दृष्टान्ताभावाद् व्याप्तावेव दृष्टान्त इति ॥ ३४ ॥

जिस प्रकार सूर्य अपने तेज सें सम्पूर्ण संसार को व्याप्त कर प्रकाशित होता है उसी प्रकार अपनी शक्तियों से (समस्त संसार को) व्याप्त कर परमात्मा प्रकाश करता है ॥ ३४ ॥

विशेष—संसार पञ्च महाभूतों से रचित है । इन भूतों में परमात्मा की पाँच शक्तियाँ समवेत रहकर कार्य करती है । उनका विवरण इस प्रकार है— पृथ्वी-धूमावतीशक्ति, जल-ह्लादिनी, तेज-भास्वती, वायु-स्पन्दा, आकाश-विभ्वी । इसके अरिरिक्त तिरोधन में धूमावती, आवभासन में भास्वती, क्षोभ में स्पन्दा, व्याप्ति में विभ्वी तथा पुष्टि में ह्लादिनी शक्ति काम करती है । इस प्रकार परमेश्वर अपनी शक्तियों से विश्व को व्याप्त कर स्थित है ।

नन्वेवं विश्वव्यापकत्वेन भासमानत्वादीश्वरस्य विश्वविकारत्वं कस्मान्न सम्भवति इत्याक्षेपस्योत्तरं वदन् परमात्मस्थलं समापयति—

विश्वतो भासमानोऽपि विश्वमायाविलक्षणः ।
परमात्मा स्वयंज्योतीरूपो जीवात्मनां भवेत् ॥ ३५ ॥

परमात्मा विश्वस्मिन् सर्वत्र भासमानोऽपि विश्वमायाविलक्षणो विश्वोपादानकारणीभूतो व्योमवद् विश्वगतषड्भावविकार[1]दोषरहितः सन् सच्चिदानन्दस्वरूपेण जीवात्मानां संसारहेयबुद्धिसम्पन्नानां ज्योतीरूपो बुद्धिप्रकाशको भवतीति ॥ ३५ ॥

---

१. जायतेऽस्ति वर्द्धते विपरिणमतेऽपक्षीयते नश्यति इति षड्भावविकारा निरुक्त उक्ताः ।

परमात्मा सम्पूर्ण विश्व में भासमान होते हुए भी विश्वमाया से विलक्षण है। वह जीवात्माओं के लिये स्वप्रकाशरूप है ॥ ३५ ॥

इति परमात्मस्थलम्

अथ निर्देहागमस्थलम्

अथ—

आश्रयो द्वन्द्वमित्युक्तं द्वन्द्वत्यागात् परो दमः ।
जीवन्मुक्तः सदा योगी देहत्यागाद्विमुच्यते ॥

इति देवीकालोत्तरवचनानुसारेण देहधर्मं निराकृत्य परमात्मस्वरूपभावनावतः शिवयोगिनो निर्देहगमस्थलं निरूपयति—

देहिनोऽपि परात्मत्वभाविनोनिरहङ्कृतेः ।
निरस्तदेहधर्मस्य निर्देहागम उच्यते ॥ ३६ ॥

परमात्मत्वभाविनोऽहङ्कारममकारशून्यस्य निरस्तदेहधर्मस्य निरस्तस्थूलत्वादिदेहधर्मवतो देहिनो देहवतः शिवयोगिनो निर्देहागमो निर्देहप्राप्तिरुच्यते, कथ्यत इत्यर्थः ॥ ३६ ॥

(निर्देहागमस्थल वर्णन)—अहङ्काररहित परमात्मभाव से युक्त शिवयोगी जब देहधर्म से रहित हो जाता है तब वह निर्देहागम कहा जाता है ॥ ३६ ॥

अथ परमात्मभाववतः शिवयोगिनो देहसम्बन्धो नास्तीति षड्भिः सूत्रैः प्रतिपादयति—

गलिते ममताहन्ते संसारभ्रमकारणे ।
पराहन्तां प्रविष्टस्य कुतो देहः कुतो रतिः ॥ ३७ ॥

शरीरः प्रीतिश्च कुत इत्यर्थः ॥ ३७ ॥

संसार के भ्रम का कारणभूत ममकार और अहङ्कार के नष्ट होने पर पराहन्ता में प्रविष्ट शिवयोगी का देह कहाँ और (उस देह में) प्रीति कहाँ (अर्थात् पराहन्ता में प्रविष्ट योगी को शरीर में न तो ममकार भावना रहती है और न उसके प्रति प्रेम रहता है) ॥ ३७ ॥

केवले निष्प्रपञ्चौघे गम्भीरे चिन्महोदधौ ।
निमग्नमानसो योगी कथं देहं विचिन्तयेत् ॥ ३८ ॥

निवृत्तचराचरप्रपञ्चसमूहवति अगाधे चित्समुद्रे निमग्नचित्तः शिवयोगी देहं

केन प्रकारेण चिन्तयेत्? न केनापीत्यर्थः ॥ ३८ ॥

केवल अर्थात् अद्वितीय, प्रपञ्चों से रहित, गम्भीर, चैतन्यरूप समुद्र में डूबे हुए मन वाला योगी देह के बार में क्यों चिन्ता करेगा? ॥ ३८ ॥

अपरिच्छेद्यमात्मानं चिदम्बरमिति स्मरन् ।
देहयोगेऽपि देहस्थैर्विकारैर्न विलिप्यते ॥ ३९ ॥

स्वात्मानं परिच्छेदरहितचिदाकाशं स्मरन् शिवयोगी देहे सत्यपि देहस्थेन्द्रियविकारैर्न लिप्यत इत्यर्थः ॥ ३९ ॥

अपने को असीम और चिदाकाश रूप समझने वाला योगी शरीर से सम्बद्ध रहने पर भी देह में स्थित (काम क्रोध लोभ आदि) विकारों से लिप्त नहीं होता ॥ ३९ ॥

अखण्डसंविदाकारमद्वितीयं सुखात्मकम् ।
परमाकाशमात्मानं मन्वानः कुत्र मुह्यति ॥ ४० ॥

स्वात्मानमखण्डाद्वितीयचिदानन्दाकारं परमाकाशं सन्तं मन्वानः 'आकाशशरीरं ब्रह्म सत्यात्म प्राणारामं मन आनन्दं शान्तिसमृद्धम्' इति छान्दोग्य (तैत्तिरीय)[1] श्रुत्यनुसारेण जानन् शिवयोगी कुत्र कस्मिन्नधिकरणे शरीर्यहमिति मुह्यति? न कुत्रापि, ब्रह्मातिरिक्तदेशाभावादित्यर्थः ॥ ४० ॥

अपने को अखण्ड, चिदाकार, अद्वितीय, सुखस्वरूप परमाकाश समझने वाला कहीं भी मोहग्रस्त नहीं होता ॥ ४० ॥

नन्वाकाशास्यापि घटाद्युपाधिना परिमितिर्दृश्यत इत्यत्राह—

उपाधिविहिता भेदा दृश्यन्ते चैकवस्तुनि ।
इति यस्य मतिः सोऽयं कथं देहमितो भवेत् ॥ ४१ ॥

स्पष्टम् ॥ ४१ ॥

एक ही वस्तु में जो भेद दिखायी देते हैं वे उपाधि के द्वारा रचित होते हैं—ऐसी जिसकी बुद्धि होती है वह देह में सीमित कैसे हो सकता है? ॥४१ ॥

अथ तत्कुत इत्यत्राह—

भेदबुद्धिः समस्तानां परिच्छेदस्य कारणम् ।
अभेदबुद्धौ जातायां परिच्छेदस्य का कथा ॥ ४२ ॥

---

१. तै०उ० १।६।२

घटाकाशदृष्टान्तेन भेदस्तावदौपाधिक इति ज्ञाते, अभेदबुद्धौ दृढायां वस्तुपरिच्छेदकारणीभूतभेदबुद्धेः शिथिलत्वात् परिच्छेदवार्ता न कापीत्यर्थः ॥ ४२ ॥

समस्त परिच्छेदों अर्थात् परिसीमनों का कारण भेदबुद्धि होती है । अभेद बुद्धि (अर्थात् 'सर्वं शिवमयम्' ऐसी बुद्धि) होने पर परिच्छेद की क्या बात? (अर्थात् वह सम्भव नहीं है) ॥ ४२ ॥

अथ तदद्वैतं प्रकटीकृत्य निर्देहागमस्थलं समापयति—

शिवोऽहमिति यस्यास्ति भावना सर्वगामिनी ।
तस्या देहेन सम्बन्धः कथं स्यादमितात्मनः ॥ ४३ ॥

शिवोऽहमिति सर्वव्यापकीभूता शिवाद्वैतभावना यस्य शिवयोगिनोऽस्ति, तस्य अपरिमितात्मनः परिच्छिन्नशरीरेण सम्बन्धः कथं स्यात् ?न कथञ्चिदपीत्यर्थः ॥ ४३ ॥

'मैं शिव हूँ'—ऐसी जिसकी सर्वव्यापिनी भावना है अमितात्मा उस योगी का देह से सम्बन्ध कैसे हो सकता है? ॥ ४३ ॥

इति निर्देहागमस्थलम्

अथ निर्भावागमस्थलम्

अथ—

नैवोर्ध्वं धारयेच्चित्तं न मध्यं नाप्यधः क्वचित् ।
अन्तर्भावविनिर्मुक्तं सदा कुर्यान्निराश्रयम् ॥

इति देवीकालोत्तरवचनानुसारेण निर्देहागमसम्पन्नस्य शिवयोगिनो निर्भावागमस्थलं निरूपयति—

व्यतिरेकात् स्वरूपस्य भावान्तरनिराकृतेः ।
भावो विकारनिर्मुक्तो निर्भावागम उच्यते ॥ ४४ ॥

स्वरूपस्य निर्देहस्वरूपस्य व्यतिरेकाद् व्यतिरिक्तत्वाद् भावान्तरनिराकृतेरन्यभावनिराकरणाद् विकारनिर्मुक्त इन्द्रियविकारविनिर्मुक्तो भावो मनोभावो निर्भावागम इत्युच्यत इत्यर्थः ॥ ४४ ॥

(निर्भावागमस्थल वर्णन)—अपने निर्देह स्वरूप से भिन्न तथा अन्य भाव के निराकरण से विकाररहित भाव निर्भावागम कहा जाता है ॥ ४४ ॥

अथ तन्निर्भावलक्षणं पञ्चभिः सूत्रैः प्रतिपादयति—

अहं ब्रह्मेति भावस्य वस्तुद्वयसमाश्रयः ।
एकीभूतस्य चिद्व्योम्नि तदभावो विनिश्चितः ॥ ४५ ॥

अहं ब्रह्मेति भावस्याहमिति ब्रह्मेति वस्तुद्वयाक्षेपो भवेत्, चिद्व्योम्नि एकीभूतस्य समरसीभूतस्य भावस्य तदभावो वस्तुद्वयाक्षेपाभावो विनिश्चितो विशेषेण निश्चित इत्यर्थः ॥ ४५ ॥

'मैं ब्रह्म हूँ' यह भाव दो वस्तुओं ('मैं' और 'ब्रह्म') पर आधृत है । चिदाकाश में एक अर्थात् समरस हुए उसका (अर्थात् द्वित्व का) अभाव निश्चित है ॥ ४५ ॥

अथाहं ब्रह्मास्मीति भावस्य कोटिद्वयावगाहित्वेन विकल्पघटितत्वाद् अहमित्येकभावस्य विकल्पशून्यत्वाद् एकभावेन स्थितस्य मायिकजातिभेदादिवासना नास्तीत्याह—

एकभावनिरूढस्य निष्कलङ्के चिदम्बरे ।
क्व जातिवासनायोगः क्व देहित्वं परिभ्रमः ॥ ४६ ॥

निरञ्जने चिदाकाशे तादात्म्येनारूढस्य शिवयोगिनो जातिवृर्णाश्रमवासनासम्बन्धः क्व? देहित्वं शरीरवत्त्वं क्व? संसारचक्रपरिभ्रमणं च क्वेत्यर्थः ॥ ४६ ॥

निष्कलङ्क चिदाकाश में एक भाव रखने वाले को कहाँ जातिवासना का योग, कहाँ देही की भावना और कहाँ संसार के जन्म-मृत्यु का चक्कर? ॥ ४६ ॥

नन्वेवं चेद् ध्यानादीनां का गतिरित्यत्राह—

शून्ये चिदम्बरे स्थाने दूरे वाङ्मानसाध्वनः ।
विलीनात्मा महायोगी केन किं वाऽपि भावयेत् ॥ ४७ ॥

'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'[१] इति श्रुतेर्वाङ्मनोमार्गागोचरे नीलपीताद्याकारशून्ये चिदाकाशस्थाने तादात्म्यापन्नः शिवयोगी केन प्रकारेण किं वा वस्तु भावयेत्? केनापि प्रकारेण किमपि वस्तु भावनायोग्यं न सम्भवतीत्यर्थः ॥ ४७ ॥

वाणी और मन के मार्ग से दूर अर्थात् परे शून्य चिदाकाश में विलीन आत्म वाला महायोगी किसके द्वारा और किसकी भावना करे? ॥ ४७ ॥

---

१. तै०उ० २।४।१

ननु विधिनिषेधवासनाशून्यत्वे निन्दाप्राप्तिर्भवेदित्यत्राह—

अविशुद्धे विशुद्धे वा स्थले दीप्तिर्यथा रवेः ।
पतत्येवं सदाद्वैती सर्वत्र समवृत्तिमान् ॥ ४८ ॥

रवेः सूर्यस्य दीप्तिः प्रकाशो विशुद्धस्थलेऽविशुद्धस्थले च यथा पतति, एवं शिवाद्वैती सदा सर्वत्र समवृत्तिमान् समानबुद्धिवृत्तिमान् सन् सञ्चरतीत्यर्थः ॥ ४८ ॥

जिस प्रकार सूर्य की किरणें शुद्ध अशुद्ध सभी वस्तुओं के ऊपर पड़ती हैं उसी प्रकार अद्वैती सर्वत्र समदृष्टि वाला होता है ॥ ४८ ॥

कथं सञ्चरतीत्यत्राह—

न बिभेति जरामृत्योर्न क्षुधाया वशं व्रजेत् ।
परिपूर्णनिजानन्दं समास्वादन् महासुखी ॥ ४९ ॥

महासुखी भूत्वा सञ्चरतीत्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ४९ ॥

ऐसा शिवयोगी जरा और मृत्यु से नहीं डरता । वह भूख और प्यास के वश में नहीं होता । परिपूर्ण निजानन्द का आस्वादन करता हुआ वह महासुखी रहता है ॥ ४९ ॥

इति निर्भावागमस्थलम्

अथ नष्टागमस्थलम्

अथैवं निर्भावागमसम्पन्नस्य भेदज्ञानाभावेन तन्नष्टागमस्थलं प्रकाशयति—

भेदशून्ये महाबोधे ज्ञात्रादित्रयहीनकः ।
ज्ञानस्य नष्टभावेन नष्टागम इहोच्यते ॥ ५० ॥

द्वैतशून्ये महाशिवज्ञाने ज्ञातृज्ञानज्ञेयात्मकत्रिपुटीमयप्रपञ्चशून्यत्वाद् इह निर्भावागमसम्पन्नशिवयोगिविषये ज्ञानस्य भेदज्ञानस्य नष्टभावेन नष्टत्वेन नष्टागम इत्युच्यत इत्यर्थः ॥ ५० ॥

(नष्टागमस्थल वर्णन)—भेद से शून्य महाबोध के होने पर ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेय इन तीनों से रहित ज्ञानसम्पन्न उस निर्भावागम योगी का ज्ञान के स्वयं नष्ट होने पर[1] नष्टागम कहा जाता है । (अर्थात् ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय रूप

---

१. तुलनीय— त्यज धर्ममधर्मं च उभे सत्यानृते त्यज ।
उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तत्त्यज ॥ (पञ्चदशी)

त्रिपुटी का नाश होने के बाद मेरा यह त्रिपुटी ज्ञान नष्ट हो गया यह ज्ञान भी नष्ट हो जाना चाहिये ऐसी स्थिति नष्टागम कही जाती है) ॥ ५० ॥

ननु शिवयोगिनः कथं त्रिपुटीमयप्रपञ्चशून्यत्वमित्यत्राह—

अद्वैतवासनाविष्टचेतसां परयोगिनाम् ।
पश्यतामन्तरात्मानं ज्ञातृत्वं कथमन्यथा ॥ ५१ ॥

अन्यथा ज्ञातृत्वं स्वातिरिक्तपदार्थान्तरज्ञातृत्वमित्यर्थः । अन्तः स्वहृदय इत्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ५१ ॥

अद्वैतवासना से परिपूर्ण चित्त वाले तथा अन्तरात्मा का निरन्तर साक्षात्कार करने वाले पर योगियों को अन्य प्रकार की ज्ञातृता कहाँ? (अर्थात् वे अन्तरात्मा से भिन्न विषय का ज्ञान कैसे कर सकते हैं?) ॥ ५१ ॥

ननु तस्यान्यथा ज्ञातृत्वाभावे किं प्रकाशत इत्यत्राह—

अकर्ताऽहमवेत्ताऽहमदेहोऽहं निरञ्जनः ।
इति चिन्तयतः साक्षात् संविदेव प्रकाशते ॥ ५२ ॥

एवं चिन्तयतः शिवयोगिनः 'ज्ञातृज्ञानज्ञेयविहीनोऽपि सदाज्ञानम्' इति श्रुतेस्त्रिपुटीमयप्रपञ्चनाशं कृत्वा विशिष्टशिवाद्वैतज्ञानमेव प्रकाशते । अयमेव नष्टागमप्रकाश इति भावः ॥ ५२ ॥

'मैं कर्त्ता नहीं हूँ', 'मैं ज्ञाता नहीं हूँ', 'मैं देह नहीं हूँ', 'मैं निरञ्जन हूँ'—ऐसा चिन्तन करने वाले (शिवयोगी) को साक्षात् संवित् का ही प्रकाश होता है ॥ ५२ ॥

अथ तस्य ज्ञेयान्तरं च नास्त्येवेत्याह—

निरस्तभेदजल्पस्य निरीहस्य प्रशाम्यतः ।
स्वे महिम्नि विलीनस्य किमन्यज्ज्ञेयमुच्यते ॥ ५३ ॥

निरस्तभेदजल्पस्य 'द्वितीयाद्भयमेव पश्यन्ति' इति बृहदारण्यकश्रुतेर्युक्त्या च निराकृतद्वैतवाक्यस्य प्रशाम्यतो रागद्वेषरहितस्य स्वे महिम्नि स्वविमर्शे विलीनस्य तदेकनिष्ठस्य निरीहस्य विरक्तस्य शिवयोगिनो ज्ञेयं ज्ञातुं योग्यम् अन्यत् किम्? न किमपीत्यर्थः । नन्वत्र युक्तिः किमिति चेत्, उच्यते—भेदो नाम किमन्योन्याभावो वा वैधर्म्यं वा वस्तुस्वरूपं वेति त्रेधा विकल्पः । आद्ये तत्रान्यत्वं भावस्वभावो वा भेदनिबन्धनः कश्चिदुपाधिर्वेति द्विधा विकल्पः । तत्र नाद्यः, भावस्याभावत्वप्रसङ्गात्, अन्यत्वस्य

भावस्वभावत्वात्, भावादन्योऽभाव इति प्रसिद्धत्वात् । ननु भावानां बाहुल्याद् भावस्य भावान्तरान्यत्वं स्वभाव इति चेत्, अस्तु, तस्य विशेषघटितत्वात् । इह तु भेदसामान्यलक्षणप्रविष्टान्यत्वस्य प्रश्नविषयत्वेन न तदुत्तरं भवितुमर्हति, तस्य भेदसिद्ध्यनन्तरभावित्वात् । किञ्च, भावस्य भावान्तरान्यत्वं स्वभाव इति नियमस्तत्तद्भावकृतो वा तद्व्यतिरिक्तमहापुरुषकृतो वा? नाद्यः, घटादिभावस्य जडत्वेन कर्तृत्वाभावात् । न द्वितीयः, कल्पनायाः प्रागनन्यत्वेनान्तरालिक-तयान्यत्वस्य तत्स्वभावत्वासम्भवात् । ननु न केनापि कृतः, किन्तु स्वतःसिद्ध इति चेत्, तर्हि स्वप्रकाशोऽपि भवेत्, ब्रह्मवत् स्वतःसिद्धत्वात् । ननु ब्रह्मापि मानान्तरसिद्धमिति न स्वतःसिद्धमिति वाच्यम्, नित्यत्वेन कारकव्यापारा-सम्भवात्, स्वप्रकाशत्वेन ज्ञापकव्यापारासम्भवात्, अन्यथा जडत्वप्रसङ्गात् । नाप्यन्यत्वं भेदनिबन्धनः कश्चिदुपाधिः, आत्माश्रयादिदोषप्रसङ्गात् । नापि द्वितीयः, घटे पटत्वं नास्ति पटे घटत्वं नास्ति वैधर्म्यम्, एवंविधनिश्चयस्य घटपटभेदसिद्ध्यनन्तरभावित्वात् । न च घटपटयोस्तन्तुमयत्वमृण्मयत्वाभ्यां भेदः सिद्ध एवेति वाच्यम्, घट एव मृण्मयत्वं पटे (च) तन्तुमयत्व-मित्यसाधारणप्रतीतेर्घटपटभेदसिद्ध्यधीनत्वात्, तस्या अद्यापि साध्यकोटि-प्रविष्टत्वात् । किञ्च, तन्तुमयत्वमृण्मयत्वयोर्भेदस्तत्र तदवयवभेदादिति परमाणुपर्यालोचनायां निरवयवत्वेन भेदाग्रहाद् मूलक्षयकारिण्यनवस्था स्यादिति । नापि तृतीयः, वस्तुस्वरूपं हि वस्त्वन्तरस्वरूपाननुगामीत्यङ्गी-करणीयम्, अन्यथा स्वरूपसाङ्कर्यापत्तेः, एवं चेदं रजतमित्यत्र शुक्तिरेव रजताकारेण निश्चीयत इति भ्रान्तिज्ञानोच्छेदप्रसङ्गात् । दूरत्वादिदोषवशात् तथा निश्चीयत इति चेत्, तर्हि इङ्गलादिकमपि रजतत्वेन कुतो न निश्चीयते? न च विशेषदर्शनसामग्री प्रतिबन्धिकेति वाच्यम्, शुक्तिकायामपि विशेषादर्शनसामग्रीसत्त्वेनानारोपप्रसङ्गात् । अविशेषदर्शनसामग्रीप्राबल्यादारोपः सम्भवतीति चेन्न, वस्त्वन्तरे वस्त्वन्तरस्वरूपमनुप्रविष्टमित्यङ्गीकरणीयत्वेनाननु-प्रविष्टमिति वक्तुमशक्यत्वेन स्वरूपसाङ्कर्यापत्तेरनिवार्यत्वेन भेदवादोच्छेद-प्रसङ्गात्, पूर्वोक्तदोषप्रसङ्गाच्च । किञ्च, वस्तुनि भासमानो भेदस्तद् वस्तुस्वरूपाभिन्नो वा भिन्नो वा स्यात्? नाद्यः, अत्यन्तविरोधाद् भेदस्याभेदतासम्भवात् । न द्वितीयः, सोऽपि भेदः कीदृश इत्युपर्युपरि विचार्यमाणोऽनवस्थामेवोपस्थापयतीति विश्रान्त्यभावात् । नाप्यभेदात्यन्ताभावो भेदः, आत्माश्रयप्रसङ्गात् । नास्त्यैक्यप्रतियोगी, एकत्वस्य प्रतियोग्यभावात्, द्वित्वादीनां तन्मूलकत्वात् । नापि विभागः, तस्य संयोगपूर्ववत्त्वेन पूर्वापरदिशोः पूर्वपश्चिमाचलयोश्च कदापि संयोगाभावेन भेदाभावप्रसङ्गात् । तस्माद्

गत्यन्तराभावेन भेदव्यवहारसिद्ध्यर्थं सकलसामरस्यात्मनो महेश्वरस्येच्छावशात् सागरतरङ्गन्यायेनाभेदपर्यवसायित्वेन कल्पितविभागो भेद इत्यङ्गीकरणीयत्वेनाप्यभेद एव सिद्ध्यतीति शिवाद्वैतसिद्धान्तवादिनां युक्तिरीदृशीति विचक्षणैर्विमर्शनीयेति ॥ ५३ ॥

भेदवाक्य को दूर करने वाले, इच्छारहित शम दमादि युक्त तथा अपनी महिमा में विलीन (शिवयोगी) के लिये दूसरा क्या ज्ञेय कहा जाय ॥ ५३ ॥

विशेष—परमात्मा में किसी प्रकार का भी भेद सम्भव नहीं है । इसलिये सिद्धान्त यही है कि सामरस्यस्वरूप परमेश्वर के स्वातन्त्र्यवश सागरतरङ्गन्यायेन उसमें भेद किञ्चित्कालावच्छेदेन प्रतीत होता है । यह भेद कल्पना भी उसकी इच्छाशक्ति के कारण है ।

अथोक्तसूत्रत्रयार्थमेव विशेषयति—

एकीभूते निजाकारे संविदा निष्प्रपञ्चया ।
केन किं वेदनीयं तद्वेत्ता कः परिभाष्यते ॥ ५४ ॥

निजाकारे स्वस्वरूपे निष्प्रपञ्चया संविदा शिवाद्वैतज्ञानेन एकीभूते सति सामरस्ये सति केन किं वस्तु वेदनीयं ज्ञेयं स्यात्, तद्वेत्ता ज्ञानेन ज्ञेयवेत्ता च क इति परिभाष्यते, 'नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित्' **इति श्रुतेः,** 'वेदितव्यं न किञ्चन' **इत्यागमोक्तेश्चान्योन्याभावनिबन्धनभेदघटितमायिकत्रिपुटीमयप्रपञ्चदर्शनं शिवयोगिनां नास्तीत्यर्थः ॥ ५४ ॥**

अपने स्वरूप के निष्प्रपञ्च संविदाकार के साथ एकरूप हो जाने पर किसके द्वारा क्या वेदनीय होगा? और उसका वेत्ता किसे कहा जायेगा? ॥ ५४ ॥

तर्हि कीदृशं प्रपञ्चदर्शनं स्यादित्यत्र वदन् नष्टागमस्थलं समापयति—

महासत्ता महासंविद् विश्वरूपा प्रकाशते ।
तद्भिना नास्ति वस्त्वेकं भेदबुद्धिं विमुञ्चतः ॥ ५५ ॥

महासत्ता गगनकुसुममित्यादौ अर्थवत्पदयोरेव सम्मेलनरूपसंयोगात् तदुपरि विभक्तियोगाच्चार्थवत्त्वाद् गगनकुसुममङ्गीकरणीयमिति सदसत्सकलवस्तुव्यापकत्वान्महासत्तेत्युच्यते, हृदयोल्लेखं विना गगनकुसुममिति व्यवहारासम्भवान्महासंविदित्युच्यते । एवं स्वशिरच्छायानुल्लङ्घनमिव[1] सदसद्विश्व-

---

१. तुलनीय— स्वपदा स्वशिरश्छायां यद्वल्लङ्घितुमीहते ।
पादोद्देशे शिरो न स्यात्तथेयं बैन्दवी कला ॥

व्यापकीभूतं ब्रह्मचैतन्यमेव जगद्रूपेण भासते, न तद्व्यतिरिक्तं किञ्चिदिति भेदबुद्धिं विमुञ्चतः शिवयोगिनो महासत्तास्फुरत्ताकचैतन्यं विना एकं वस्तु अन्यद्वस्तु नास्ति, सागरतरङ्गन्यायेन तद्बुद्धेरभेदविश्रान्तत्वादिति ॥ ५५ ॥

महासत्ता महासंवित् विश्व के रूप में प्रकाशित हो रही है । भेदबुद्धि से रहित योगी के लिये उसके विना दूसरी वस्तु नहीं है ॥ ५५ ॥

इति नष्टागमस्थलम्

अथादिप्रसादिस्थलम्

अथ—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो
वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तं महादेवमात्मबुद्धिप्रकाशं
मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥[1]

इति श्वेताश्वतरमन्त्रानुसारेण नष्टागमसम्पन्नशिवयोग्येव सर्वादिभूत-शिवप्रसादवानित्यादिप्रसादीत्युच्यत इति तदीयस्थलं प्रतिपादयति—

सर्वाधिष्ठातृकः शम्भुरादिस्तस्य प्रसादतः ।
आदिप्रसादीत्युक्तोऽयं निर्विकारपदे स्थितः ॥ ५६ ॥

विश्वाधारभूमित्वात्तन्नियामकत्वाच्छम्भुरादिः सृष्ट्यादिपञ्चकृत्यमूल-कारणम् । तस्य सर्वादिभूतस्य शम्भोः प्रसादतो निर्विकारपदे विकाररहितनष्टागमस्थले स्थितोऽयं शिवयोगी आदिप्रसादी आदिप्रसादवा-नित्यर्थः ॥ ५६ ॥

(आदिप्रसादीस्थल वर्णन)—सबके अधिष्ठाता शिव आदि (अर्थात् सृष्टि आदि प्रपञ्च के मूल कारण) हैं । उनकी कृपा से निर्विकार पद में प्रतिष्ठित योगी आदिप्रसादी कहा जाता है ॥ ५६ ॥

अथ तस्य महत्त्वं चतुर्भिः सूत्रैः प्रतिपादयति—

अनेकजन्मशुद्धस्य निरहङ्कारभाविनः ।
अप्रपञ्चस्यादिदेवः प्रसीदति विमुक्तये ॥ ५७ ॥

अनेकजन्मभिः शुद्धात्मनः परिच्छिन्नदेहाद्यभिमानशून्यस्य अप्रपञ्चस्य

---

१. श्वे०उ० ६।१८

प्रापञ्चिकभेदरहितस्य शिवयोगिन आदिदेवः सर्वादिदेवः शिवो विमुक्तये परमोक्षाय प्रसीदति प्रसन्नो भवतीत्यर्थः ॥ ५७ ॥

जो अनेक जन्मों से शुद्ध है, अहङ्कार भावना से रहित है तथा प्रपञ्च से हीन है ऐसे मनुष्य के लिये मुक्त्यर्थ भगवान् शिव प्रसन्न होते हैं[1] ॥ ५७ ॥

शिवप्रसादसम्पत्त्या शिवभावमुपेयुषि ।
शिवादन्यज्जगज्जालं दृश्यते न च दृश्यते ॥ ५८ ॥

शिवप्रसादप्राप्त्या शिवत्वमुपेयुषि विषये जगज्जालं जगत्समूहं शिवादन्यदिति दृश्यते, इदन्त्वेन दृश्यं सन्न च दृश्यते । भेदस्य निराकृतत्वात् सागरतरङ्गन्यायेनाभेदेन दृश्यत इत्यर्थः ॥ ५८ ॥

शिव के अनुग्रह की प्राप्ति के द्वारा शिवभाव को प्राप्त करने वाले (योगी) के लिये यह संसार शिव से भिन्न दिखलायी पड़ता भी है और नहीं भी दिखलायी पड़ता (अर्थात् यह योगी की इच्छा पर निर्भर करता है कि वह व्यवहार जगत् में उतर कर संसार को ईश्वर से भिन्न देखे या संसार से परे स्वभाव में स्थित होकर जगत् को शिवस्वरूप या आत्मस्वरूप देखे) ॥ ५८ ॥

शम्भोः शिवप्रसादेन संसारच्छेदकारिणा ।
मोहग्रन्थिं विनिर्भिद्य मुक्तिं यान्ति विवेकिनः ॥ ५९ ॥

नित्यानित्यविवेकिनः संसारच्छेदकारिणा शिवप्रसादेनैव अज्ञानग्रन्थिं विदार्य परमोक्षं यान्तीत्यर्थः ॥ ५९ ॥

नित्यानित्य का भेद जानने वाले लोग भगवान् शिव के संसार का छेदन करने वाले कल्याणमय कृपाकटाक्ष से मोहग्रन्थि का भेदन कर मुक्ति को प्राप्त होते हैं ॥ ५९ ॥

ननु शिवप्रसादेन विना मुक्तिर्नास्ति वेत्यत्राह—

विना प्रसादमीशस्य संसारो न निवर्तते ।
विना सूर्योदयं लोके कुतः स्यात् तमसो लयः ॥ ६० ॥

स्पष्टम् ॥ ६० ॥

ईश्वर की कृपा के विना संसार की निवृत्ति नहीं होती । विना सूर्योदय के संसार में अन्धकार का लय कैसे होगा? ॥ ६० ॥

---

१. तुलनीय—अनेकजन्मसंसिद्धिस्ततो याति परां गतिम् ॥
(भ०गी० ६।४५)

अथ शिवस्य सर्वात्मस्वपक्षपातेन कृपाप्रसादं संसूच्यादिप्रसादिस्थलं समापयति—

सर्वानुग्राहक: शम्भु: केवलं कृपया प्रभु: ।
मोचयेत् सकलान् जन्तून् न किञ्चिदिह कारणम् ॥ ६१ ॥

प्रभु: स्वतन्त्र: सर्वानुग्राहक: सर्वहितोऽपि शम्भु: शिव: केवलं कृपयैव सकलान् जन्तून् प्राणिनो मोचयेत् पाशमुक्तान् कुर्यात्, इह पाशमोचनविषये शम्भो: किञ्चित्कारणं च नास्ति, सर्वानुग्रहकृत्यस्य तत्स्वभावत्वादिति ॥ ६१ ॥

प्रभु अर्थात् सर्वतन्त्रस्वतन्त्र अतएव सबके ऊपर कृपा करने वाले भगवान् शिव अपनी कृपा के द्वारा समस्त प्राणियों को मुक्त करा देते हैं । इस मोक्ष के विषय में कोई दूसरा कारण नहीं है ॥ ६१ ॥

इत्यादिप्रसादिस्थलम्

अथान्त्यप्रसादिस्थलम्

अथ—

अणोरणीयान् महतो महीयाना-
त्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।
तमक्रतुं पश्यति वीतशोको
धातु: प्रसादान्महिमानमीशम् ॥[1]

इति कठवल्लीश्रुत्युक्तप्रकारेण तदादिप्रसाद्येव सर्वाश्रय: सन् अन्त्यस्य शिवस्यानुभवप्रसादवानित्यन्त्यप्रसादिस्थलं निरूपयति—

लय: सर्वपदार्थानामन्त्य इत्युच्यते बुधै: ।
प्रसादोऽनुभवस्तस्य तद्वानन्त्यप्रसादवान् ॥ ६२ ॥

सर्वपदार्थानां भूम्यादिशिवान्तपदार्थानां लयो लयाश्रय: परशिव एवान्त्य: सर्वान्त्य इति बुधैरुच्यते । तस्य सर्वान्त्यस्य शिवस्य अनुभव: साक्षात्कार एव प्रसाद:, तद्वान् तदनुभवते, आदिप्रसाद्येवान्त्यप्रसादवानित्युच्यत इत्यर्थ: ॥ ६२ ॥

(अन्त्यप्रसादीस्थल वर्णन)—विद्वान् लोग समस्त पदार्थों के लय को अन्त्य कहते हैं । उस लय का अनुभव प्रसाद कहलाता है । यह प्रसाद जिसके पास हो वह अन्त्यप्रसादी होता है ॥ ६२ ॥

---

१. कठोप० १।२।२०

अथ सर्वपदार्थलयप्रकारं सूत्रद्वयेन कथयति—

देवतिर्यङ्मनुष्यादिव्यवहारविकल्पना ।
मायाकृता परे तत्त्वे तल्लये तत्क्षयो भवेत् ॥ ६३ ॥

तल्लये मायालय इत्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ६३ ॥

देवता, तिर्यक् अर्थात् पक्षी, मनुष्य आदि के व्यवहार की विकल्पना माया के द्वारा रचित है । पर तत्त्व में उसका लय होने पर उसका अर्थात् माया का भी क्षय हो जाता है ॥ ६३ ॥

अयं कथं मायाक्षय इत्यत्राह—

साक्षात्कृते परे तत्त्वे सच्चिदानन्दलक्षणे ।
क्व पदार्थपरिज्ञानं कुतो ज्ञातृत्वसम्भवः ॥ ६४ ॥

सच्चिदानन्दस्वरूपे परब्रह्मणि प्रत्यक्षीकृते सति मायाया निवृत्तत्वात् तत्कल्पितपदार्थपरिज्ञानं क्व? ज्ञातृत्वसम्भवो ज्ञेयज्ञानातिरिक्तज्ञातृत्वस्य आविर्भावश्च क्व? ज्ञेयाद्यपेक्षया ज्ञातृत्वस्य कल्पितत्वादिति भावः ॥ ६४ ॥

सत् चित् आनन्द रूप पर तत्त्व का साक्षात्कार होने पर पदार्थ का ज्ञान कहाँ? और ज्ञाता की सम्भावना कहाँ? (अर्थात् ये दोनों सम्भव नहीं क्योंकि ये मायीय स्तर पर ही अनुभूत होते हैं । माया का लय होने पर इनका अस्तित्व अपने आप मिट जाता है) ॥ ६४ ॥

अत्र दृष्टान्तमाह—

सुषुप्तस्य यथा वस्तु न किञ्चिदपि भासते ।
तथा मुक्तस्य जीवस्य न किञ्चिद्वस्तु दृश्यते ॥ ६५ ॥

मुक्तस्य जीवस्य जीवन्मुक्तस्येत्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ६५ ॥

जिस प्रकार गाढ़ निद्रा में सोये व्यक्ति को कुछ भी प्रतीत नहीं होता उसी प्रकार मुक्त जीव को कोई भी वस्तु भासित नहीं होती (क्योंकि वह अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है) ॥ ६५ ॥

अत्र जीवन्मुक्तस्य पदार्थदर्शनमस्तीति नाशङ्कनीयम्, शिवाभेदेनैव दर्शनात् प्राकृतत्वेन किमपि न दृश्यत इति । अथ जीवन्मुक्तस्वरूपं कीदृशमित्यत्र सूत्रद्वयेन कथयति—

यथाकाशमविच्छिन्नं निर्विकारं स्वरूपतः ।
तथा मुक्तस्य जीवस्य स्वरूपमवशिष्यते ॥ ६६ ॥

अवशिष्यते प्रकाशत इत्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ६६ ॥

जिस प्रकार आकाश स्वरूपतः निर्विकार और अविच्छिन्न है उसी प्रकार मुक्त जीव का स्वरूप अवशिष्ट होता है ॥ ६७ ॥

अथ स जीवन्मुक्तः किं जानन् किं कुर्वन् कथं तिष्ठतीत्यत्राह—

न किञ्चिंदपि मुक्तस्य दृश्यं कर्तव्यमेव वा ।
सुखस्फूर्तिस्वरूपेण निश्चला स्थितिरुच्यते ॥ ६७ ॥

स्पष्टम् ॥ ६७ ॥

मुक्त जीव के लिए न कोई दर्शनीय पदार्थ है और न कोई कर्त्तव्य कार्य। आनन्द के स्फुरण रूप से उसकी निश्चल स्थिति रहती है ॥ ६७ ॥

अथ जीवन्मुक्तस्य दृश्यं कर्तव्यं कुतो नास्तीत्यत्र वदन्नन्त्यप्रसादिस्थलं समापयति—

शिवाद्वैतपरिज्ञानशिथिलाशेषवस्तुनः ।
केवलं संविदुल्लासदर्शिनः केन को भवेत् ॥ ६८ ॥

शिवाद्वैतपरिज्ञानेन निवृत्तसकलभेदवस्तुनः अत एव केवलं चिद्विलासं पश्यतः शिवयोगिनो ज्ञानेन्द्रियव्यापारेण कर्मेन्द्रियव्यापारेण वा केनापि किं भवेत्, किं प्रयोजनं स्यात्, न किञ्चिदित्यनयोराद्यन्तप्रसादयोरुपक्रमोप-संहारन्यायेनैक्यं विमर्शनीयम् ॥ ६८ ॥

शिवाद्वैत के परिज्ञान के कारण वस्तुओं में भेदभाव न रखने वाले तथा केवल संवित् शक्ति का उल्लास देखने वाले शिवयोगी का किस (इन्द्रिय व्यापार या किस वस्तु) से क्या लाभ होगा? ॥ ६८ ॥

इत्यन्त्यप्रसादिस्थलम्

अथ सेव्यप्रसादिस्थलम्

अथ—

अन्तःशरीर एवायं बाह्ये एव न संस्थितः ।
महानन्दप्रसादोऽयं सर्वत्रैवावभासते ॥

इति सर्वज्ञानोत्तरवचनानुसारेण सेव्यशिवगुरुप्रसादसम्पन्नोऽन्त्यप्रसाद्येव सेव्यप्रसादीति सूत्रत्रयेण कथयति—

सेव्यो गुरुः समस्तानां शिव एव न संशयः ।

प्रसादोऽस्य परानन्दप्रकाशः परिकीर्त्यते ॥ ६९ ॥

समस्तानां सेव्यः श्रीगुरुः शिव एवात्र सन्देहो नास्ति । अस्य प्रसादः श्रीगुरुरूपशिवप्रसाद एव परानन्दप्रकाश इति कीर्त्यते ॥ ६९ ॥

(**सेव्यप्रसादीस्थल वर्णन**)—सब लोगों के लिये शिव ही सेव्य गुरु हैं । इन (सेव्य गुरु) का प्रसाद अर्थात् अनुग्रह ही परानन्दप्रकाश कहा जाता है ॥ ६९ ॥

सेव्यो गुरुः स्मृतो ह्यस्य प्रसादोऽनुभवो मतः ।
तदेकावेशरूपेण तद्वान् सेव्यप्रसादवान् ॥ ७० ॥

गुरुः शिवस्वरूपश्रीगुरुरेव सेव्य इति स्मृतः । अस्य शिवरूपस्य श्रीगुरोरनुभव उपदेशानुभव एव प्रसाद इति सम्मतः । तदेकावेशरूपेण तयोर्गुरुप्रसादयोरेकीभावेन तद्वान् तत्प्रसादवानन्त्यप्रसाद्येव सेव्यप्रसादवान् सेव्यप्रसादीति हि प्रसिद्ध इत्यर्थः ॥ ७० ॥

शिवयोगी सेव्य गुरु कहे गये हैं । इनका अनुभव प्रसाद कहा गया है । जो उन दोनों अर्थात् गुरु और प्रसाद को एक मानने वाला है वह सेव्यप्रसादवान् कहा गया है ॥ ७० ॥

गुरुदेवः परं तत्त्वं परतत्त्वं गुरुः स्मृतः ।
तदेकत्वानुभावेन न किञ्चिदवशिष्यते ॥ ७१ ॥

गुरुशिवयोः शक्तिशक्तिमद्भावेन तयोरैक्यानुसन्धानेन ज्ञातव्यं न किञ्चिदवशिष्यते, सर्वस्यापि विश्वस्य शिवशक्तिमयत्वादिति ॥ ७१ ॥

गुरुदेव पर तत्त्व हैं । पर तत्त्व ही गुरु हैं । उन दोनों को एक समझने के बाद शेष कुछ नहीं बचता ॥ ७१ ॥

अथ परमानन्दवतः सेव्यप्रसादिनः क्वापि प्रीतिर्नास्तीति सूत्रत्रयेण कथयति—

अपरिच्छेद्यमात्मस्थमवाङ्मनसगोचरम् ।
आनन्दं पश्यतां पुंसां रतिरन्यत्र का भवेत् ॥ ७२ ॥

परिच्छेदरहितं वाङ्मानसयोरगोचरं स्वस्वरूपं परमानन्दम् अपरोक्षेण पश्यतां शिवयोगिनामन्यत्र विषयेषु रतिरभिलाषो न क्वापि स्यादित्यर्थः ॥ ७२ ॥

असीम आत्मा के अन्दर रहने वाला, वाणी और मन की पहुँच से परे,

आनन्द का साक्षात् अनुभव करने वाले मनुष्यों की अन्य विषयों में क्या प्रीति हो सकती है? ॥ ७२ ॥

ज्ञानामृतेन तृप्तस्य किमन्यैर्भोज्यवस्तुभिः ।
ज्ञानादेव परानन्दं प्रकाशयति सच्छिवः ॥ ७३ ॥

ज्ञानामृतेन सन्तुष्टस्य शिवयोगिनोऽन्यैश्चित्पीयूषव्यतिरिक्तैर्भोज्यपदार्थैः किम्? न किञ्चित् इत्यर्थः । सच्छिवोऽग्नेरुष्णत्वप्रकाशकत्वादय इव शिवस्य सच्चिदानन्दाः स्वभावास्तादृशः शिवो ज्ञानादेव निजज्ञानादेव परानन्दं स्वस्वभावभूतनित्यानन्दं प्रकाशयतीति ॥ ७३ ॥

ज्ञानामृत से तृप्त मनुष्य के लिये अन्य भोज्य पदार्थों से क्या प्रयोजन? सदाशिव ज्ञान से ही परानन्द का प्रकाश करते हैं ॥ ७३ ॥

अथ तदेव विशदयति—

मुक्तिरेव परा तृप्तिः सच्चिदानन्दलक्षणा ।
नित्यतृप्तस्य मुक्तस्य किमन्यैर्भोगसाधनैः ॥ ७४ ॥

नित्यतृप्तस्य सर्वज्ञताद्युपलक्षितनित्यतृप्तिमतो मुक्तस्य परममुक्तिमतः शिवयोगिन इत्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ७४ ॥

सच्चिदानन्दस्वरूप मुक्ति ही अन्तिम एवं सर्वोत्कृष्ट तृप्ति है । जो नित्यतृप्त एवं नित्यमुक्त है उसको भोग के अन्य साधनों से क्या लेना देना? ॥ ७४ ॥

अथ तस्य परमुक्तस्यान्तर्बहिः किमपि कर्म नास्तीति निरूपयति—

न बाह्यं कर्म तस्यास्ति न चान्तर्नैव कुत्रचित् ।
शिवैक्यज्ञानरूढस्य देहभ्रान्तिं विमुञ्चतः ॥ ७५ ॥

स्वरूपहानिवृद्धिव्यतिरेकेण सजातीयसमानसमरसभावेन शिवैक्यज्ञानमारुह्य देहभ्रान्तिं विमुञ्चतस्तस्य सेव्यप्रसादिनो बहिरङ्गविधीयमानपूजाकर्म नास्ति, अन्तश्चान्तरङ्गे विधीयमानध्यानादिकर्म नास्ति, कुत्रचित् क्वापि बिन्दुतिरोभावमलमायाद्युपलक्षितकर्मपाशोऽपि नास्तीत्यर्थः ॥ ७५ ॥

जो शिवैक्य ज्ञान से रूढ़ अर्थात् पूर्ण और दृढ़ शिवैक्य ज्ञान वाला तथा देहभ्रम (अर्थात् देह को आत्मा समझने के भ्रम) से रहित है ऐसे मुक्त पुरुष के लिये कहीं भी न तो कोई बाह्य और न कोई आन्तर कर्म करणीय होता है ॥ ७५ ॥

अथ प्रसादिस्थलं समापयति—

न कर्मबन्धे न तपोविशेषे
　　न मन्त्रयोगाभ्यसने तथैव ।
ध्याने न बोधे च तथात्मतत्त्वे
　　मनःप्रवृत्तिः परयोगभाजाम् ॥ ७६ ॥

इति श्रीमत्षट्स्थलब्रह्मिणा शिवयोगिनाम्ना रेणुकाचार्येण विरचिते वीरशैवधर्मनिर्णये सिद्धान्तशिखामणौ प्राणलिङ्गिस्थलविषयनवविधलिङ्गप्रसङ्गो नामाष्टादशः परिच्छेदः ॥ १८ ॥



परयोगभाजां सर्वोत्कृष्टपरशिवयोगभाजां सेव्यप्रसादिनां मनःप्रवृत्तिश्चित्तवृत्तिर्मन्त्रयोगाभ्यसनेऽजपागायत्रीरूपसोऽहंमन्त्रयोगाभ्यासे न नास्तीत्यर्थः । तथैव कर्मबन्धे षट्कर्मबन्धत्रयरूपहठयोगेऽपि न, तपोविशेषे योगानां विशिष्टराजयोगेऽपि न, ध्यानेऽनाहतब्रह्मध्यानरूपलययोगेऽपि न, किन्तु तथात्मतत्त्वे तद्योगचतुष्टयचैतन्यस्वरूपे बोधे स्वस्वरूपज्ञाने मनःप्रवृत्तिः स्यादित्यर्थः । अयं भावः—देशिकोपदेशेनापरदेहपाणिपादगुह्यानि प्रथमं संशोध्य बन्धयित्वा तदनन्तरं परापश्यन्तीमध्यमावैखरीस्वरूपरुद्रविष्णुब्रह्मेन्द्रादिदैवतलयराजहठमन्त्रयोगात् क्रमेण पूर्वकायस्य कर्णाक्षिनासारसनासु संयोज्यानन्तरं पूर्वापरकायकीलकभूतबिन्दुमायाकार्यरूपवाक्त्वचौ निश्चलीकृत्य सर्वयोगज्ञानजननक्षेत्रभूताविमुक्तक्षेत्रे परब्रह्मपरशिवपरलिङ्गापरपर्यायनामभिः संसेव्य स्वस्वरूपसेवितसेव्यप्रसादीत्यर्थः । एतल्लिङ्गत्रयं प्राणलिङ्गिनोऽङ्गत्रयस्य क्रमेण सम्बन्धयेदिति सेव्यप्रसादिस्थलम् ॥ ७६ ॥

इति श्रीमत्पदवाक्यप्रमाणपारावारधुरीणश्रीमरितोण्डदार्येण विरचितायां तत्त्वप्रदीपिकाख्यायां सिद्धान्तशिखामणिव्याख्यायां प्राणलिङ्गिस्थलविषयनवविधलिङ्गप्रसङ्गो नामाष्टादशः परिच्छेदः ॥ १८ ॥



जो परयोग में उच्चस्तर को प्राप्त है उसके मन की प्रवृत्ति कर्मबन्धन, विशिष्टतप, मन्त्रयोगाभ्यास, ध्यान, बोध में नहीं होती किन्तु आत्मतत्त्व में अवश्य होती है ॥ ७६ ॥

विशेष—आचार्य के द्वारा उपदिष्ट होने पर पहले अपर देह हाथ पैर आदि का शोधन होता है । इसके बाद मूलबन्ध उड्डीयान बन्ध वज्राली

आदि के द्वारा परा पश्यन्ती मध्यमा वैखरी स्वरूप रुद्र विष्णु ब्रह्मा इन्द्र आदि देवताओं का लय होने के बाद पूर्वकाय को कान आँख नाक जिह्वा में जोड़कर बाद में पूर्वकाय अपरकाय दोनों के कीलक स्वरूप बिन्दु माया के कार्यभूत वाणी और त्वचा को निश्चल करने के पश्चात् सर्म्पूण योगज्ञान के जनन का क्षेत्रभूत अविमुक्त क्षेत्र अर्थात् पराशिव का सेवन करने वाला सेव्यप्रसादी होता है ।

इस प्रकार श्रीसिद्धान्तशिखामणि के प्राणलिङ्गिस्थल विषय नवविधलिङ्ग-प्रसङ्ग नामक अष्टादश परिच्छेद की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदीकृत 'ज्ञानवती' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ १८ ॥



एकोनविंशः परिच्छेदः

अथ शरणस्थलम्

(अथ दीक्षापादोदकस्थलम्)

अथागस्त्य प्रश्नः, अगस्त्य उवाचेतिः—

स्थलभेदाः समाख्याताः प्राणलिङ्गिस्थलाश्रयाः ।
कथय स्थलभेदं मे शरणस्थलसंश्रितम् ॥ १ ॥

स्पष्टम् ॥ १ ॥

(शरणस्थल वर्णन)—अगस्त्य ने कहा—(हे आचार्य! आपने) प्राणलिङ्गी स्थल के अन्तर्गत गणनीय स्थलभेदों को बतलाया । अब शरणस्थल में आने वाले स्थलभेदों को बतलाइये ॥ १ ॥

अथ श्रीरेणुकस्य उत्तरं वक्ति रेणुक उवाचेति—

शरणस्थलमाश्रित्य स्थलद्वादशकं मया ।
उच्यते नाम सर्वेषां स्थलानां शृणु तापस ॥ २ ॥

स्थलानामवान्तरस्थलानामित्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ २ ॥

श्री रेणुकाचार्य ने कहा—हे तपस्विन्! शरणस्थल के आश्रित बारह स्थल हैं। मैं उन सब स्थलों का नाम बतला रहा हूँ । सुनो ॥ २ ॥

अत तानि स्थलानि सूत्रत्रयेणोद्दिशति—

दीक्षापादोदकं पूर्वं शिक्षापादोदकं ततः ।
ज्ञानपादोदकं चाथ क्रियानिष्पत्तिकं ततः ॥ ३ ॥
भावनिष्पत्तिकं चाथ ज्ञाननिष्पत्तिकं ततः ।
पिण्डाकाशस्थलं चाथ बिन्द्वाकाशस्थलं ततः ॥ ४ ॥
महाकाशस्थलं चाथ क्रियायाश्च प्रकाशनम् ।

भावप्रकाशनं पश्चात् ततो ज्ञानप्रकाशनम् ।
स्वरूपं पृथगेतेषां कथयामि यथाक्रमम् ॥ ५ ॥

स्पष्टम् ॥ ३-५ ॥

पहले दीक्षापादोदक फिर शिक्षापादोदक तत्पश्चात् ज्ञानपादोदक उसके बाद क्रियानिष्पत्ति पुनः भावनिष्पत्ति और ज्ञाननिष्पत्ति नामक स्थल हैं । पिण्डाकाश स्थल, बिन्द्वाकाश स्थल, महाकाश स्थल, क्रियाप्रकाश स्थल, भावप्रकाश स्थल तथा अन्त में ज्ञानप्रकाश स्थल हैं । अब इनके पृथक्-पृथक् स्वरूप को क्रम से बतलाऊँगा ॥ ३-५ ॥

अथ—'आचार्यः पूर्वरूपं अन्तेवास्युत्तररूपं विद्यासन्धिः'[1] **इति श्रुत्युक्त-प्रकारेण,**

अस्मात् प्रविततताद् बन्धात् परसंस्थानिरोधकात् ।
दीक्षैनं मोचयेत् पूर्वं शैवं धाम नयत्यपि ॥

इति स्वायम्भुववचनानुसारेण चास्य सेव्यप्रसादिनः सुलभदीक्षापादोदक-स्थलं निरूपयति—

दीक्षयाऽपगतद्वैतं यज्ज्ञानं गुरुशिष्ययोः ।
आनन्दस्यैक्यमेतेन दीक्षापादोदकं स्मृतम् ॥ ६ ॥

गुरुशिष्ययोः सेव्यगुरुशिष्ययोरानन्दस्यैक्यं निजानन्दैकीभूतं दीक्षयाऽपगतद्वैतं ज्ञानदानमलक्षयरूपचित्क्रियादीक्षानिवारितद्वैतं यज्ज्ञानमस्ति, एतेनानेन ज्ञानेन दीक्षापादोदकं सेव्यप्रसादिनः सुलभभूतदीक्षापादोदकमिति स्मृतम् । शिवदीक्षागतद्वैतज्ञानवद्गुरुशिष्यनिजानन्दैक्यमेव दीक्षापादोदकमित्यर्थः ॥ ६ ॥

(दीक्षापादोदकस्थल वर्णन)—दीक्षा के द्वारा द्वैतरहित हुआ जो ज्ञान और उसके कारण गुरु और शिष्य के आनन्द का जो ऐक्य उसे दीक्षापादोदक कहा गया है । (तात्पर्य यह है कि पहले गुरु के द्वारा दीं गयी दीक्षा से शिष्य के अन्दर स्थित द्वैतज्ञान नष्ट हो जाता है और उसके अन्दर मात्र परानन्द स्थित रहता है । गुरु के अन्दर परानन्द पहले से वर्त्तमान है क्योंकि वह अपने गुरु के द्वारा पहले से दीक्षित है । अतः अब दोनों का आनन्द एक हो जाता है। सच पूछा जाय तो आनन्द एक ही है । गुरु और शिष्य रूपी उपाधि के भेद से यह दो प्रतीत होता है । इस उपाधि के विगलित होने पर ऐक्य भासित होता है) ॥ ६ ॥

---

१. तै०उ० ३।२-३

अथ दीक्षासञ्जातगुरुशिष्यैक्यमेव दीक्षापादोदकमिति पक्षान्तरेणाह—

अथवा पादशब्देन गुरुरेव निगद्यते ।
शिष्यश्चोदकशब्देन तयोरैक्यं तु दीक्षया ॥ ७ ॥

अथवा तत्र चेत्, पादशब्देन श्रीगुरुरेव कथ्यते, उदकशब्देन शिष्यो निगद्यते, दीक्षया निजकरसञ्जातशिष्यमूर्ध्नि ग्राणस्वरूपदीक्षाविशेषेण तयोरैक्यं तु पादोदकशब्दवाच्यगुरुशिष्यैक्यं दीक्षापादोदकमिति स्मृतमित्यर्थः ॥ ७ ॥

अथवा 'पाद' शब्द से गुरु कहा जाता है । 'उदक' शब्द से शिष्य का कथन होता है । दोनों का ऐक्य दीक्षा के द्वारा होता है ॥ ७ ॥

अथ दीक्षाप्रकाशितसत्यज्ञानानन्दैक्यमेव दीक्षापादोदकमिति पक्षान्तरेण कथयति—

परमानन्द एवोक्तः पादशब्देन निर्मलः ।
ज्ञानं चोदकशब्देन तयोरैक्यं तु दीक्षया ॥ ८ ॥

पादशब्देन मलरहितपरब्रह्मानन्द उच्यते, उदकशब्देन ब्रह्मस्वरूपज्ञानमुच्यते, दीक्षया हृत्कमलमध्यस्थचिद्दीक्षया तयोरैक्यं तु, 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'[1] इति श्रुतेः । धर्मधर्मिस्वरूपानन्दज्ञानैक्यं दीक्षापादोदकमिति स्मृतमित्यर्थः ॥ ८ ॥

'पाद' शब्द से निर्मल परमानन्द कहा गया है एवं 'उदक' शब्द से ज्ञान का निर्वचन होता है । इन दोनों का ऐक्य दीक्षा से होता है ॥ ८ ॥

अथ—

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन ॥[2]

इति ब्रह्मो(तैत्तिरीयो)पनिषद्वाक्यानुसारेण तज्ज्ञानानन्दमेव विशेषयति—

परसंवित्प्रकाशात्मा परमानन्दभावनाम् ।
अधिगम्य महायोगी न भेदं क्वापि पश्यति ॥ ९ ॥

महायोगी तत्पादोदकदीक्षासम्पन्नः शिवयोगी परसंवित्प्रकाशात्मा परब्रह्मस्वरूपज्ञानप्रकाशस्वरूपवान् सन् परमानन्दभावनाम् अधिगम्य भेदं नित्यपरिपूर्णज्ञानानन्दभेदं क्वापि न पश्यति, तद्बाह्यदेशाभावादिति ॥ ९ ॥

१. बृ०उ० ३।९।२८　　२. तै०उ० २।४।९

महायोगी परासंवित् प्रकाशरूप होकर परमानन्द की भावना को प्राप्त होने के बाद कहीं भी भेद नहीं देखता ॥ ९ ॥

अत एव नान्यत् काङ्क्षतीत्याह—

देशकालाद्यवच्छेदविहीनं नित्यनिर्मलम् ।
आनन्दं प्राप्य बोधेन नान्यत् काङ्क्षति संयमी ॥ १० ॥

संयमी शिवयोगी देशकालाद्यवच्छेदविहीनं देशकालाकारेषु विच्छेद-राहित्येन विद्यमानं नित्यनिर्मलमानन्दं ब्रह्मानन्दं बोधेन ब्रह्मज्ञानस्वरूपेणैव प्राप्य अन्यन्न काङ्क्षति, तद्व्यतिरिक्तवस्त्वन्तराभावादिति ॥ १० ॥

संयमशील[1] योगी देश काल आदि (अर्थात् आकार) की सीमा से परे नित्य निर्मल आनन्द की बोध के द्वारा प्राप्ति कर किसी अन्य वस्तु की इच्छा नहीं करता ॥ १० ॥

अथ दीक्षापादोदकस्थलं समापयति—

ज्ञानामृतमपि स्वच्छं गुरुका(यैक)[2]सम्भवम् ।
आस्वाद्य रमते योगी संसारामयवर्जितः ॥ ११ ॥

गुरुकृपोद्भूतं निर्मलं ब्रह्मज्ञानामृतमास्वाद्य दीक्षापादोदकसम्पन्नः शिवयोगी भवरोगमुक्तः सन् स्वस्वरूपे क्रीडत इत्यर्थः ॥ ११ ॥

(केवल) गुरु की कृपा से प्राप्त अत्यन्त निर्मल ज्ञानामृत का आस्वादन कर योगी संसार रूपी आमय अर्थात् रोग से रहित हुआ आत्म स्वरूप में रमण करता है ॥ ११ ॥

इति दीक्षापादोदकस्थलम्

अथ शिक्षापादोदकस्थलम्

अथ—

मायामय(मात्र)मिदं द्वैतमद्वैतंपरमार्थतः ।
विकल्पो विनिवर्तेत कल्पितो यदि केनचित् ॥
उपदेशादयं वादो ज्ञाते द्वैतं न विद्यते ॥

---

१. ध्यान, धारणा और समाधि तीनों का एक नाम है—संयम ।
त्रयमेकसंयमः (पा०यो०सू० ३।४)

२. मां०क० ३।१७

इति मुण्डकश्रुत्यनुसारेण तद्दीक्षापादोदकसम्पन्नस्य शिवयोगिनः शिक्षापादोदकं सूत्रद्वयेन कथयति—

गुरुशिष्यमयं ज्ञानं शिक्षा योगिनमीर्यते ।
तयोः समरसत्वं हि शिक्षापादोदकं स्मृतम् ॥ १२ ॥

या शिक्षा गुरुशिष्यमयं ज्ञानं पूर्ववत्पादोदकशब्दवाच्यगुरुशिष्ययोस्तन्मयीभूतज्ञानं योगिनं तद्दीक्षापादोदकसम्पन्नशिवयोगिनम् ईर्यते प्रेरयति, तयोस्तच्छिक्षाज्ञानयोः समरसत्वं हि सामरस्यं हि शिक्षापादोदकमिति स्मृतमित्यर्थः ॥ १२ ॥

(शिक्षापादोदकस्थल वर्णन)—शिक्षा अर्थात् पूर्वोक्त ज्ञान का मनन और गुरुशिष्यमय अर्थात् गुरु और शिष्य की एकरूपता का ज्ञान जिनसे योगी को प्रेरणा मिलती है, उन दोनों अर्थात् शिक्षा और ज्ञान की समरसता शिक्षापादोदक कहा जाता है ॥ १२ ॥

अथैवंरूपज्ञानामृतं कैः केन कस्माल्लभ्यत इत्यत्राह—

मथिताच्छास्त्रजलधेर्युक्तिमन्थानवैभवात्[1] ।
गुरुणा लभ्यते बोधसुधा सुमनसां गणैः ॥ १३ ॥

युक्तिमन्थानवैभवाद् युक्तिरूपमन्थनदण्डसामर्थ्याद् मथितात्, शास्त्रजलधेर्निगमागमात्मकवीरशैवशास्त्रसमुद्राद् गुरुणा शिक्षाचार्येण बोधसुधा शिवाद्वैतज्ञानामृतं सुमनसां गणैर्दीक्षापादोदकस्वीकारेण शुद्धचित्तानां शिवयोगिनां समूहैर्लभ्यते, यथा सुरगुरोः समुद्रमथनविचारेण सुराणां सुधा प्राप्ता, तथेत्यर्थः ॥ १३ ॥

तर्करूपी मन्थनदण्ड से गुरु के द्वारा मथित निगमागमशास्त्ररूपी समुद्र से निकली हुई शिवाद्वैतरूपी बोधसुधा विद्वज्जनो के द्वारा प्राप्त की जाती है ॥ १३ ॥

अथ तस्य शिवयोगिनो धर्मधर्मिस्वरूपचिदानन्दयोस्तत्त्वं सूत्रत्रयेण विशेषयति—

ज्ञानचन्द्रसमुद्भूतां परमानन्दचन्द्रिकाम् ।

---

१. तुलनीय— घृतमिव पयसि निगूढं भूते भूते च वसति विज्ञानम् ।
सततं मन्थयितव्यं मनसा मन्थानभूतेन ।
(ब्र०बि०उ० २०)

पश्यन्ति परमाकाशे मुक्तिरात्रौ महाधियः ॥ १४ ॥

महाधियः सूक्ष्मदृशः शिवयोगिनो मुक्तिरात्रौ परमुक्तिलक्षणगाढान्धकारवति परमाकाशे परब्रह्मणः सद्रूपहृदयाकाशे ज्ञानचन्द्रसमुद्भूतां चिच्चन्द्रभित्तौ आविर्भूतां परमानन्दमयीं चन्द्रिकां ज्योत्स्नां पश्यन्ति, स्वस्वरूपत्वेन परामृशन्तीत्यर्थः ॥ १४ ॥

(चकोररूपी) महाबुद्धिमान् योगी मुक्ति की रात्रि में ज्ञानरूपी चन्द्रमा से उत्पन्न परम आनन्दरूपी चन्द्रिका का परमाकाश अर्थात् चिदाकाश में साक्षात्कार करते हैं ॥ १४ ॥

अथैवमपारपरमानन्दचन्द्रिकायां दृष्टायामन्यद् द्रष्टव्यं श्रोतव्यं च नास्तीत्याह—

दृष्टे तस्मिन् परमानन्दे देशकालादिवर्जिते ।
द्रष्टव्यं विद्यते नान्यच्छ्रोतव्यं ज्ञेयमेव वा ॥ १५ ॥

देशकालाद्यखण्डिते तस्मिन् परानन्दे दृष्टे सति, अन्यद् द्रष्टव्यं चक्षुषा द्रष्टव्यं श्रोतव्यं श्रवणेन श्रोतव्यं ज्ञेयमेव वा ज्ञातुं योग्यं वा न (किमपि) विद्यते, सर्वस्यापि पदार्थस्य तत्कार्यत्वेन तदभिन्नत्वादित्यर्थः ॥ १५ ॥

देश काल आदि से रहित उस परानन्द का साक्षात्कार हो जाने के बाद शिवयोगी के लिये कुछ भी श्रवणीय अथवा ज्ञेय नहीं रह जाता ॥ १५ ॥

अथ नान्यच्च काङ्क्षतीत्याह—

आत्मानन्देन तृप्तस्य का स्पृहा विषये सुखे ।
गङ्गाजलेन तृप्तस्य कूपतोये कुतो रतिः ॥ १६ ॥

आत्मानन्देन निजानन्देनेत्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ १६ ॥

आत्मानन्द से तृप्त (शिवाचार्य) की वैषयिक सुख में क्या इच्छा हो सकती है? (क्योंकि विषयसुख परिणाम में दुःखदायी होता है और आत्मानन्द नित्य निरन्तर सुख है) । जो गङ्गाजल से तृप्त है उसकी कुयें के जल में आसक्ति कैसे हो सकती है? ॥ १६ ॥

ननु निजानन्देन तृप्तस्य परयोगिनः परिमितिरस्ति न वेत्यत्राह—

यस्मिन्नप्राप्तकल्लोले सुखसिन्धौ निमज्जति ।
सामरस्यान्महायोगी तस्य सीमा कुतो भवेत् ॥ १७ ॥

स्पष्टम् ॥ १७ ॥

(राग, द्वेष, काम, क्रोध आदि) लहरों से रहित जिस सुखसमुद्र में सामरस्य के साथ महायोगी डूबा रहता है उस समुद्र की या उस आनन्द की सीमा कैसे हो सकती है? अर्थात् उस आनन्द को परिच्छिन्न नहीं किया जा सकता ॥ १७ ॥

नन्वस्य योगिनः कदाचित् कुत्रचिद्वा भेदभ्रान्तिः सम्भवति किमित्यत्र वदन् शिक्षापादोदकस्थलं समापयति—

गुरुप्रसादचन्द्रेण निष्कलङ्केन चारुणा ।
यन्मनःकुमुदं नित्यबोधितं तस्य को भ्रमः ॥ १८ ॥

नित्यबोधितं निरन्तरविकसितमित्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ १८ ॥

निष्कलङ्क अत एव सुन्दर गुरु के अनुग्रहरूपी चन्द्र से जो मनरूपी कुमुद नित्य प्रकाशित रहता है उस मन में भेद की भ्रान्ति कैसे हो सकती है? ॥ १८ ॥

इति शिक्षापादोदेकस्थलम् अथ ज्ञानपादोदकस्थलम्

अथ—

नाध्यक्षं नापि तल्लैङ्गं न शब्दमपि शाङ्करम् ।
ज्ञानमाभाति विमलं सर्वथा सर्ववस्तुषु ॥

इति मृगेन्द्रवचनानुसारेण तच्छिक्षापादोदकसम्पन्नस्य सुलभं ज्ञानपादोदकं प्रकाशयति—

तदैक्यसम्पदानन्दज्ञानं ज्ञानगुरुर्मतः ।
तत्सामरस्यं शिष्यस्य ज्ञानपादोदकं विदुः ॥ १९ ॥

आनन्दज्ञानम् 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'[१] **इति श्रुतिप्रसिद्धपादोदकशब्दवाच्यानन्दज्ञानमेव ज्ञानगुरुरिति मतः सम्मतः, तदैक्यसम्पदा तदानन्दज्ञानयोरैक्यसम्पत्त्या तत्सामरस्यं तयोः समरस(ी)भावः शिष्यस्य शिक्षापादोदकसम्पन्नस्य शिवयोगिनो ज्ञानपादोदकं सद् विदुर्जानन्तीत्यर्थः ॥ १९ ॥**

(ज्ञानपादोदकस्थल वर्णन)—(विद्वान् लोग) आनन्द के ज्ञान को ज्ञानगुरु मानते हैं । उसके ऐक्य की सम्पत्ति के साथ शिष्य के उस ज्ञान का सामरस्य ज्ञानपादोदक माना गया है ॥ १९ ॥

अथ तज्ज्ञानचन्द्रप्रकाशं सूत्रत्रयेणोपदिशति—

अविद्याराहुनिर्मुक्तो ज्ञानचन्द्रः सुनिर्मलः ।

---

१. बृ०उ० ३।९।२८

प्रकाशते पराकाशे परानन्दमहाद्युतिः ॥ २० ॥

अज्ञानलक्षणराहुस्पर्शरहितोऽत्यन्तनिर्मलो मलवासनालेशतोऽप्यसंस्पृष्ट इति यावत्, ज्ञानचन्द्रः शिवाद्वैतज्ञानचन्द्रः परानन्दमहाद्युतिः परमानन्दरूपमहाकलाप्रकाशवान् सन् पराकाशे सर्वोत्कृष्टहृदयाकाशे प्रकाशते राजत इत्यर्थः ॥ २० ॥

अविद्यारूपी राहु से निर्मुक्त अत एव अत्यन्त स्वच्छ तथा परानन्दरूपी महाद्युति वाला ज्ञानचन्द्र पराकाश अर्थात् चिदाकाश में प्रकाशित होता है ॥ २० ॥

तर्ह्ययं ज्ञानचन्द्रः किं वर्धयतीत्यत्राह—

अज्ञानमेघनिर्मुक्तः पूर्णज्ञानसुधाकरः ।
आनन्दजलधेर्वृद्धिमनुपश्यन् विभासते ॥ २१ ॥

नाहं शिव इत्यज्ञानावरणनिर्मुक्तोऽण्डरसन्यायेनाहमिति विश्वतः परिपूर्णज्ञानचन्द्रः स्वतन्त्रतालक्षणनिजानन्दसमृद्धस्य वृद्धिमनुपश्यन् विभातीत्यर्थः ॥ २१ ॥

अज्ञानरूपी मेघ से निर्मुक्त पूर्णज्ञानरूपी चन्द्रमा आनन्दरूपी समुद्र की वृद्धि को देखता हुआ विशेष रूप से चमकता है ॥ २१ ॥

अथैवंविधज्ञानचन्द्रोदये के किं पश्यन्तीत्यत्राह—

ज्ञानचन्द्रोदये जाते ध्वस्तमोहतमोभराः ।
पश्यन्ति परमां काष्ठां योगिनः सुखरूपिणीम् ॥ २२ ॥

शिवज्ञानचन्द्रोदये जाते सति विनष्टाज्ञानान्धकारभराः शिवयोगिनः परमानन्दस्वरूपिणीं परमां काष्ठां स्वस्वरूपस्थितिं पश्यन्तीत्यर्थः ॥ २२ ॥

ज्ञानरूपी चन्द्रमा का उदय होने पर मोहान्धकारसमूह के नाश वाले योगी सुखरूपी पराकाष्ठा (अर्थात् आनन्द की अन्तिम सीमा) को देखते हैं ॥ २२ ॥

एवं चन्द्रत्वेन वर्णितं शिवज्ञानं सूर्यत्वेन वर्णयन् विचित्रं दर्शयति—

मायारजन्या विरमे बोधसूर्ये प्रकाशिते ।
निरस्तसर्वव्यापारश्चित्रं स्वपिति संयमी ॥ २३ ॥

लोके तावन्निशावसाने सूर्योदये जाते सति सर्वोऽपि लोको विनिद्रः सन् सव्यापारो भवति, मायारूपनिशावसाने चिदादित्ये प्रकाशिते सति संयमी

योगिजनो निरस्तव्यापारः सन् स्वपितीति चित्रम् । उक्तोऽयमर्थः श्रीभगवद्गीतायाम्—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥[1]

इति ॥ २३ ॥

मायारूपी रात्रि के समाप्त एवं ज्ञानरूपी सूर्य के उदित होने पर संयमी अर्थात् योगी सम्पूर्ण व्यवहार से रहित होकर सोते अर्थात् सुषुप्तिस्थ जीव के समान परमानन्द का अनुभव करते रहते हैं—यह आश्चर्य है (क्योंकि सामान्य जन का समस्त व्यवहार रात्रि में नहीं बल्कि दिन में होता है) ॥ २३ ॥

अथ तस्य परानन्दाविर्भावस्तदेत्यत्राह—

अनाद्यविद्याविच्छित्तिवेलायां परयोगिनः ।
प्रकाशते परानन्दः प्रपञ्चेन विना कृतः ॥ २४ ॥

अनाद्यविद्याविच्छित्तिवेलायां मायारजन्या विरम एव प्रपञ्चेन विना कृतो निरुपाधिकपरमानन्दाविर्भाव इत्यर्थः ॥ २४ ॥

अनादि अविद्या की निवृत्ति के समय पर योगी को प्रपञ्चरहित परानन्द[2] का भान होता है ॥ २४ ॥

ननु शिवयोगिनः प्रपञ्च एव सन्तीति कथं निरुपाधिकानन्दाविर्भाव इत्यत्राह—

नित्यानन्दे निजाकारे विमले परतेजसि ।
विलीनचेतसां पुंसां कुतो विश्वविकल्पना ॥ २५ ॥

नित्यानन्दस्वरूपे विमले निर्मले निजाकारे निजस्वरूपवति परतेजसि चिदादित्ये विलीनचित्तानां पुंसां सत्पुरुषाणां शिवयोगिनां विश्वकल्पना कुत

---

१. भ०गी० २।६९

२. (आनन्द दो प्रकार का होता है—सप्रपञ्चानन्द और निष्प्रपञ्चानन्द । सप्रपञ्चानन्द विषयानन्द का दूसरा नाम है । निष्प्रपञ्चानन्द भी अपर और पर भेद से दो प्रकार का होता है । अपर आनन्द ब्रह्मा विष्णु रुद्र एवं सदाशिव पद में स्थित प्राणियों के अनुभव का विषय होता है । शक्ति अथवा शिव स्वरूप के समावेश से प्राप्त आनन्द परानन्द कहलाता है) ।

इत्यर्थः ॥ २५ ॥

नित्य आनन्दस्वरूप निर्मल निजस्वरूप पर तेज में लीन चित वाले पुरुषों के लिये विश्व की कल्पना कहाँ ॥ २५ ॥

अथ ज्ञानपादोदकसम्पन्नस्य शिवयोगिनः पूर्णानन्दस्य ब्रह्मादीनामप्यानन्दो न सम इति सूत्रद्वयेन कथयति—

कुतो ब्रह्मा कुतो विष्णुः कुतो रुद्रः कुतो रविः ।
साक्षात्कृतपरानन्दज्योतिषः साम्यकल्पना । २६ ॥

ब्रह्मादीनामानन्दस्य साक्षात्कृतपरानन्दज्योतिषः शिवयोगिन आनन्दांश-लेशत्वादिति भावः, 'अस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' इति श्रुतेः, योगिशिवयोरभेदादिति ॥ २६ ॥

कहाँ ब्रह्मा, कहाँ विष्णु, कहाँ रुद्र और कहाँ सूर्य? जिसने परानन्द तेज का साक्षात्कार कर लिया है उसकी समानता की कल्पना (किसी से भी नहीं हो सकती) ॥ २६ ॥

इममर्थमेव स्फुटयति—

अपरोक्षपरानन्दविलासस्य महात्मनः ।
ब्रह्मविष्ण्वादयो देवा विशेषाः सुखबिन्दवः ॥ २७ ॥

महात्मनो ज्ञानपादोदकसम्पन्नस्य शिवयोगिन इत्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ २७ ॥

जो अपरोक्ष परानन्द के विलास से परिपूर्ण है ऐसे महात्मा की (तुलना में) ब्रह्मा विष्णु आदि देवगण सुख के विशिष्ट बिन्दु सदृश हैं ॥ २७ ॥

अथ तज्ज्ञानानन्दमेव विशिष्य ज्ञानपादोदकस्थलं समापयति—

यन्मात्रासहितं लोके वाञ्छन्ति विषयं नराः।
तदप्रमेयमानन्दं परमं को न वाञ्छति ॥ २८ ॥

नरा जना लोके इह लोके यन्मात्रासहितं यस्य चिदानन्दस्यांशेन सहितं विषयसुखं वाञ्छन्ति, तदप्रमेयं तस्य विषयज्ञानसुखस्य अप्रमेयमपरिमितं परानन्दं ब्रह्मानन्दं को न वाञ्छति, सर्वेऽपि वाञ्छन्तीत्यर्थः ॥ २८ ॥

इस संसार में मनुष्य लोग जिसकी एक मात्रा अर्थात् जिसके एक अंश वाले आनन्द की कामना करते हैं उस परम अप्रमेय आनन्द को कौन नहीं चाहता? ॥ २८ ॥

इति ज्ञानपादोदकस्थलम्

अथ क्रियानिष्पत्तिस्थलम्

अथ—

अद्वैतभक्तियुक्तस्य योगिन: सकला क्रिया ।
आस्ते दग्धपटन्यायात् क्रियामात्रं हि न क्रिया ॥

इति वीरतन्त्रवचनानुसारेण एष ज्ञानपादोदकसम्पन्न एव रज्जुसर्पन्यायेन कल्पितक्रियानिष्पत्तिमानिति क्रियानिष्पत्तिस्थलं विशदयति—

परकाये क्रियापत्तिः कल्पितैव प्रकाशते ।
रज्जौ भुजङ्गवद् यस्मात् क्रियानिष्पत्तिमानयम् ॥ २९ ॥

परब्रह्मकाये ज्ञानपादोदकसम्पन्ने शिवयोगिनि क्रियानिष्पत्ती रज्जौ सर्पत्ववद् यस्मात् कारणात् कल्पितैव प्रकाशते, तस्मादयं ज्ञानपादोदकसम्पन्नः शिवयोगी क्रियानिष्पत्तिमानित्यर्थः ॥ २९ ॥

(क्रियानिष्पत्तिस्थल वर्णन)—चूँकि परकाय अर्थात् परब्रह्म शरीर वाले शिवयोगी के अन्दर क्रिया की स्थिति कल्पित होकर दृष्ट होती है इसलिये रस्सी में सर्प की भाँति यह क्रिया करने वाला होता है । (अर्थात् शिवयोगी के शरीर में क्रिया का दर्शन भ्रममात्र है वस्तुत: वह शिवस्वरूप होने के कारण 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्' हो जाता है) ॥ २९ ॥

अत एव ज्ञानिनः कर्मफलं नास्तीति षड्भिः सूत्रैः प्रतिपादयति—

ज्ञानिनां यानि कर्माणि तानि नो जन्महेतवः ।
अग्निदग्धानि बीजानि यथा नाङ्कुरकारणम् ॥ ३० ॥

ज्ञानिनां कर्मबीजानि ज्ञानाग्निदग्धानीति वह्निदग्धबीजवन्नाङ्कुरकारणमित्यर्थः ॥ ३० ॥

ज्ञानियों के जो कर्म होते हैं वे जन्म के हेतु नहीं बनते जैसे कि आग में जले हुए बीज अङ्कुर के कारण नहीं होते ॥ ३० ॥

अस्मिर्थे—'ज्ञानाग्नि: सर्वकर्माणि भस्मासातकुरुतेऽर्जुन'[१] **इति भगवदुक्तिः । तस्माद् ज्ञानिनः कृतेनापि कर्मणा प्रयोजनं नास्तीत्याह—**

कर्मणा किं कृतेनापि ज्ञानिनो निरहङ्कृतेः ।

१. भ०गी० ४।३७

विक्रिया प्रतिबिम्बस्था किं करोति हिमद्युतेः ॥ ३१ ॥

अहं करोमीति मूलाहङ्कारशून्यस्य शिवज्ञानिनः कृतेनापि कर्मणा प्रयोजनं नास्ति, यथा प्रतिबिम्बस्थविकारो बिम्बरूपस्य चन्द्रस्य नास्ति, ज्ञानिनोऽप्रतिबिम्बचैतन्यरूपत्वादिति भावः ॥ ३१ ॥

अहङ्काररहित ज्ञानी के द्वारा किये गये कर्म से क्या होता है? (अर्थात् उन कर्मों का ज्ञानी पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता) हिमद्युति अर्थात् चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब में घटित होने वाले विकार से क्या होता है? ॥ ३१ ॥

अथ ज्ञानिनि प्रतीयमाना क्रिया कल्पितेत्यत्र दृष्टान्तमाह—

चन्द्रस्य मेघसम्बन्धाद् यथा गमनकल्पना ।
तथा देहस्य सम्बन्धादारोप्या स्यात् क्रियात्मनः ॥ ३२ ॥

स्पष्टम् ॥ ३२ ॥

जिस प्रकार मेघ के साथ सम्बन्ध होने से चन्द्रमा चल हुआ प्रतीत होता है (जबकि वस्तुतः बादल ही इधर-उधर घूमते हैं न कि चन्द्रमा) उसी प्रकार देह के साथ सम्बन्ध होने से आत्मा के ऊपर क्रिया आरोपित होती है (आत्मा तो 'निष्क्रियं निश्चलं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्' है) ॥ ३२ ॥

अथ कर्म कुर्वतोऽपि ज्ञानिनः कर्मलेपो नास्तीत्यत्र दृष्टान्तमाह—

ज्ञानी कर्मनिरूढोऽपि लिप्यते न क्रियाफलैः ।
घृतादिना यथा जिह्वा भोक्त्री चापि न लिप्यते ॥ ३३ ॥

निरूढस्तत्पर इत्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ३३ ॥

जिस प्रकार (घृत आदि) का भोग करने वाली जिह्वा घृत आदि से उपलिप्त नहीं होती उसी प्रकार ज्ञानी कर्म करता हुआ भी उनके फलों से उपलिप्त (अर्थात् प्रभावित) नहीं होता ॥ ३३ ॥

ननु जिह्वाया जलतत्त्वमयत्वेनाङ्गुल्यादिवद् घृतादिलेपो नास्ति, ज्ञानिनः कस्मात् कर्मफललेपो नास्तीत्यत्र चाह—

निरस्तोपाधिसम्बन्धे जीवे या या क्रियास्थितिः ।
सा सा प्रतीतिमात्रेण निष्फला चात्र लीयते ॥ ३४ ॥

निवृत्तमूलाहङ्कारसम्बन्धे चिद्रूपे जीवन्मुक्ते या या क्रियास्थितिरस्ति, सा सा दग्धरज्जुन्यायेन प्रतीतिमात्रेण स्थित्वा निष्फला सती स्वात्मन्येव लीयत इत्यर्थः । कर्मलेपस्याहङ्कारो मूलमिति शिवज्ञानिनस्तदभावात् कर्मलेपो

नास्तीति भावः ॥ ३४ ॥

(अहङ्कार एवं ममकार रूप) उपाधि के सम्बन्ध से रहित हुए जीव में जो-जो क्रिया होती है वह-वह प्रतीति मात्र अर्थात् निष्फल होकर इस आत्मा में विलीन हो जाती है ॥ ३४ ॥

ननु ज्ञानिनः कर्मलेपो यथा नास्तीत्युच्यते, तथा तस्य कर्मैव नास्तीति कुतो नोच्यत इत्यत्राह—

गच्छंस्तिष्ठन् स्वपन् वापि न निष्कर्मास्ति कश्चन ।
स्वभावो देहिनां कर्म ज्ञानिनां तत्तु निष्फलम् ॥ ३५ ॥

अनेन रज्जुभुजङ्गन्यायेन शिवयोगिनि क्रियानिष्पत्तिरारोपितेत्येतत्परास्तम्, कर्म देहिनां स्वभाव इत्युक्तत्वादिति ॥ ३५ ॥

चलते बैठते और सोते हुए भी कोई शरीरी कर्मरहित नहीं होता (अर्थात् सब लोग सब अवस्था में कर्म करते ही रहते हैं क्योंकि जिन्होंने देह का धारण किया है कर्म करना उनका स्वभाव है । अन्तर इतना ही है कि अज्ञानी जनों के कर्म कालान्तर में फल देते हैं किन्तु) ज्ञानियों के कर्म फल नहीं देते ॥ ३५ ॥

अथ क्रियानिष्पत्तेः सर्वदेहस्वभावत्वेऽपि ज्ञानिनः कर्मलेपो नास्तीति वदन् क्रियानिष्पत्तिस्थलं समापयति—

परिपूर्णमहानन्दभाविनः शुद्धचेतसः ।
न भवेत् कर्मकार्पण्यं नानाभोगफलप्रदम् ॥ ३६ ॥

निर्मलान्तःकरणस्य नित्यपरिपूर्णपरानन्दानुभाविनः शिवयोगिनो नानाविधभोगफलप्रदं पुण्यपापलक्षणकर्मपीडनं न भवेन्न स्यादित्यर्थः ॥ ३६ ॥

जो शुद्ध चित्त वाले अत एव परिपूर्ण महानन्द की भावना से ओत प्रोत हैं उनको अनेक भोगरूपी फल देने वाला कर्म कार्पण्य (अर्थात् कर्म जन्य दुःख) नहीं होता ॥ ३६ ॥

इति क्रियानिष्पत्तिस्थलम्

अथ भावनिष्पत्तिस्थलम्

अथ—

चिरेण साध्यमानस्य भावुकैर्विगतक्रमैः ।
स्थिरभावो हि भावस्य भावनिष्पत्तिरुच्यते ॥

इति किरणतन्त्रवचनानुसारेण तत्क्रियानिष्पत्तिमान् शिवयोगी शुक्तिरजतन्यायेन भावनिष्पत्तिमानिति प्रतिपादयति—

भावः प्रतीयमानोऽपि परकाये तु कल्पितः ।
शुक्तौ रजतवद् यस्माद् भावनिष्पत्तिमानयम् ॥ ३७ ॥

परकाये क्रियानिष्पत्तिमति चित्काये प्रतीयमानो भावो यस्मात् शुक्तिरजतवत् कल्पितः; तस्मादयं क्रियानिष्पत्तिमान् शिवयोगी भावनिष्पत्तिमानित्यर्थः ॥ ३७ ॥

(भावनिष्पत्तिस्थल वर्णन)—परकाय अर्थात् परब्रह्मशरीरधारी शिवयोगी के अन्दर प्रतीत होने वाला भाव भी कल्पित होता है (वास्तविक नहीं) । यह शुक्ति में रजत की भाँति (भ्रमात्मक होता है) । इस कारण वह योगी भावनिष्पत्तिमान् होता है ॥ ३७ ॥

अथ ज्ञानयोगिनो भावसम्बन्धाभावेऽपि सच्चिदानन्दाकारे परशिवे भावः स्थापनीय इति पञ्चभिः सूत्रैः प्रतिपादयति—

भावेन नास्ति सम्बन्धः केवलज्ञानयोगिनः ।
तथापि भावं कुर्वीत शिवे संसारमोचके ॥ ३८ ॥

स्पष्टम् ॥ ३८ ॥

यद्यपि केवल ज्ञानयोगी का भाव के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता तथापि योगी को चाहिये कि वह संसारबन्धन से मुक्ति दिलाने वाले शिव के प्रति (आराध्य की) भावना करे ॥ ३८ ॥

ननु परिपूर्णज्ञानिनः किं भावेनेत्यत्राह—

परिपूर्णप्रबोधेऽपि भावं शम्भौ न वर्जयेत् ।
भावो हि निहितस्तस्मिन् भवसागरतारकः ॥ ३९ ॥

परिपूर्णसदानन्दबोधस्वरूपे शम्भौ भावं न वर्जयेत् । कुतः? इत्यत्राह— तस्मिन् शम्भौ स्थापितो भावः संसारसागरतारक इति हि प्रसिद्ध इत्यर्थः ॥ ३९ ॥

प्रबोध के परिपूर्ण होने पर भी शिव के प्रति सेव्यसेवक भाव का त्याग नहीं करना चाहिये क्योंकि भावसागर से पार करने वाला भाव उस शिव में निहित रहता है ॥ ३९ ॥

अनेनास्य भावस्यार्थक्रियाकारित्वेन शुक्तिरजतवैलक्षण्यं सूचितम् ।

तस्माच्छम्भौ भावः स्थिरीकरणीय इति भावः । तर्हि स भावो नित्यः किमित्यत्राह—

निवर्त्य जन्मजं दुःखं भावः शैवो निवर्तते ।
यथा काष्ठादिकं दग्ध्वा स्वयं शाम्यति पावकः ॥ ४० ॥

जन्मजं दुःखं भवरोगमित्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् । अनेन नित्यमुक्तो भवति ॥ ४० ॥

(शैवभाव की आवश्यकता जन्मजन्य दुःख की निवृत्ति तक ही होती है) जन्महेतुक दुःख का निवारण करने के बाद शैव भाव उसी प्रकार शान्त हो जाता है, जैसे—काष्ठ आदि को जलाने के बाद अग्नि स्वयं भी शान्त हो जाता है ॥ ४० ॥

अथ भवरोगनिवृत्त्यनन्तरं भावस्य प्रयोजनं नास्ति वेत्यत्राह—

प्रकाशिते शिवानन्दे तद्भावैः किं प्रयोजनम् ।
सिद्धे साध्ये चिरेणापि साधनैः किं प्रयोजनम् ॥ ४१ ॥

भवरोगनिवृत्त्यनन्तरं नित्यानन्दे प्रकाशिते सति शिवभावैः प्रयोजनं नास्ति । तत्र दृष्टान्तः—बहुकाले साध्ये सिद्धे सति साधनैर्यथा प्रयोजनं नास्ति, तथेत्यर्थः ॥ ४१ ॥

शिवानन्द के प्रकट होने पर उसके भावों (अर्थात् शिव के प्रति आराध्य-आराधक आदि भावों) का क्या प्रयोजन? (अर्थात् वे निष्फल हो जाते हैं) बहुत विलम्ब से भी साध्य के सिद्ध होने पर साधनों का क्या प्रयोजन? ॥ ४१ ॥

तर्हि भावलयानन्तरं योगी कथं भासत इत्यत्राह—

एकीकृते शिवे भावे ज्ञानेन सह संयमी ।
विस्मितात्मसमावेशः शिवभावे विभासते ॥ ४२ ॥

कार्यनाशः कारणात्मनाशस्थितिरेवेति भावे वृत्तिज्ञानेन सह शिवैकलोलीभूते सति भावनिष्पत्तिमान् शिवयोगी आश्चर्यसङ्कल्पितस्वस्वरूपसमावेशवान् सन् शिवोऽहमिति भावे प्रकाशत इत्यर्थः ॥ ४२ ॥

ज्ञान के साथ शिवभावना के एक होने पर अपने शिवसमावेश से आश्चर्यचकित संयमी शिव के रूप में विशेष रूप से प्रकाशित होता है ॥ ४२ ॥

अथ भावज्ञानयोरभेदमुपपाद्य भावनिष्पत्तिस्थलं समापयति—

न भावेन विना ज्ञानं न भावो ज्ञानमन्तरा ।
मोक्षाय कारणं प्रोक्तं तस्मादुभयमाश्रयेत् ॥ ४३ ॥

भावेन विना वृत्तिज्ञानं नास्ति, तेन (वृत्तिज्ञानेन) विना भावो नास्तीति भावज्ञानयोरन्योन्यकारणत्वं प्रोक्तम् । तस्मान्मोक्षाय तदुभयमाश्रयेदिति ॥ ४३ ॥

भाव के विना ज्ञान नहीं होता और ज्ञान के विना भाव नहीं होता इसलिये मोक्ष के प्रति कारणभूत दोनों का आश्रयण करना चाहिये[1] ॥ ४३ ॥

इति भावनिष्पत्तिस्थलम्

अथ ज्ञाननिष्पत्तिस्थलम्

अथ—

यथा मनः परे तत्त्वे लब्धलक्ष्यं विलीयते ।
तथा ह्यशेषविज्ञानं विनाशमुपगच्छति ॥

इति निश्वासकारिकानुसारेण सोऽयं भावनिष्पन्न एव स्वप्नवद् ज्ञाननिष्पत्तिमानिति कथयति—

ज्ञानस्य व्यवहारेऽपि ज्ञेयाभावात् स्वभावतः ।
स्वप्नवज्ज्ञाननिष्पत्त्या ज्ञाननिष्पन्न इत्यसौ ॥ ४४ ॥

व्यवहारे विश्वव्यावहारिकज्ञानस्य स्वभावतः स्थिरत्वेन ज्ञेयाभावाद् विषयाभावाद् असौ भावनिष्पत्तिमान् शिवयोगी अस्थिरस्वप्नसदृशज्ञाननिष्पत्त्या ज्ञाननिष्पत्तिमानिति प्रोच्यत इत्यर्थः ॥ ४४ ॥

(ज्ञाननिष्पत्तिस्थल वर्णन)—(शिवज्ञान से सम्पन्न शिवयोगी के) व्यवहार में भी उसके ज्ञान का विषय स्वभावतः कुछ नहीं होता (क्योंकि शिव के

---

१. यद्यपि ज्ञान और भाव अन्योऽन्याश्रित हैं तथापि ज्ञान की प्राप्ति के लिये सर्वप्रथम भाव की आवश्यकता होती है । यह भाव पर कोटि का न होकर अवर कोटि का होता है । अवर कोटि के भाव से ज्ञान और ज्ञान से परकोटि का भाव आता है शिवसामरस्य होता है । उसके बाद यह योगी की इच्छा पर निर्भर करता है कि वह पुनः आनन्द का अनुभव करने के लिये पर भाव के स्तर पर अवरोहण करे या न करे क्योंकि भगवद्भक्ति मोक्ष से भी बढ़कर है ऐसा कुछ सिद्ध महात्माओं का सिद्धान्त है इसीलिये बाली आदि ने भगवान् से जन्म-जन्म में भक्ति की याचना की ।

अतिरिक्त उसे कुछ प्रतीत नहीं होता) फलस्वरूप उसके ज्ञान की निष्पत्ति स्वप्नवत् होती है ऐसा शिवयोगी ज्ञाननिष्पन्न कहा जाता है ॥ ४४ ॥

अथ तदेवोपपादयति—

स्वप्नजातं यथा ज्ञानं सह स्वार्थैर्निवर्तते ।
तथात्मनि प्रकाशे तु ज्ञानं ज्ञेयं निवर्तते ॥ ४५ ॥

स्वप्नोत्पन्नं ज्ञानं यथा स्वविषयैः सह निवर्तते, तथा स्वस्वरूपे प्रकाशिते सति जाग्रद्दशाज्ञानेन सह ज्ञेयं विश्वं निवर्तत इत्यर्थः ॥ ४५ ॥

जिस प्रकार स्वप्न में उत्पन्न ज्ञान अपने घट पट आदि विषयों के साथ नष्ट हो जाता है उसी प्रकार आत्मस्वरूप का प्रकाश होने पर ज्ञान और ज्ञेय दोनों निवृत्त हो जाते हैं ॥ ४५ ॥

ननु स्वरूपे प्रकाशिते ज्ञेयं कस्मान्निवर्तत इत्यत्राह—

परिपूर्णे महानन्दे परमाकाशलक्षणे ।
शिवे विलीनचित्तस्य कुतो ज्ञेयान्तरे कथा ॥ ४६ ॥

स्पष्टम् ॥ ४६ ॥

परिपूर्ण महानन्दस्वरूप अत एव परमाकाश लक्षण वाले शिव में विलीन-चित्त वाले शिवयोगी के लिये दूसरे ज्ञेय की क्या चर्चा? (अर्थात् उसके लिये दूसरा ज्ञेय होता ही नहीं) ॥ ४६ ॥

ननु ज्ञाननिष्पत्तिसम्पन्नस्य शिवयोगिनो ज्ञानं कीदृशमित्यत्राह—

अखण्डानन्दसंवित्तिस्वरूपं ब्रह्म केवलम् ।
मिथ्या तदन्यदित्येषा स्थितिर्ज्ञानमिहोच्यते ॥ ४७ ॥

ब्रह्म परशिवाख्यं ब्रह्म केवलाखण्डानन्दसंवित्स्वरूपम् । तदन्यद् तद्व्यतिरिक्तं मिथ्यैवेदमिति भासमानं जगज्जालं मृषेत्येषा स्थितिर्ज्ञानमिहोच्यते ज्ञाननिष्पत्तिस्थलं कथ्यत इत्यर्थः ॥ ४७ ॥

अखण्ड आनन्द और (अखण्ड) ज्ञान स्वरूप ब्रह्म ही केवल (अर्थात् एकमात्र सत्य है) उससे अन्य सब कुछ मिथ्या है—ऐसी स्थिति इस संसार अथवा इस विषय में ज्ञान कही जाती है ॥ ४७ ॥

अथ विशेषलक्षणं दर्शयति—

सत्तात्मनाऽनुवृत्तं यद् घटादिषु परं हि तत् ।

व्यावर्तमाना मिथ्येति स्थितिर्ज्ञानमिहोच्यते ॥ ४८ ॥

'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्'[१] इति श्रुतेः सत्तात्मना सद्रूपब्रह्मणा परम्, अव्ययत्वात् परेषु घटादिषु अनुवृत्तमनुगतं यन्नामरूपमस्ति, तद् मिथ्येति व्यावर्तमाना निवार्यमाणा स्थितिरिह ज्ञानमित्युच्यत इत्यर्थः ॥ ४८ ॥

जो घट आदि में सत्ता के रूप में अनुवृत्त है (अर्थात् व्याप्त है—'घटोऽस्ति' 'पटोऽस्ति' 'मठोऽति' सर्वत्र 'अस्ति' के रूप में भासित होता है) वह परतत्त्व अर्थात् शिव है । जो व्यावर्त्तमान् है (अर्थात् एक के होने पर दूसरे नहीं रहते जैसे घट के रहने पर पट नहीं) वे मिथ्या हैं । ऐसी स्थिति ज्ञान कही जाती है ॥ ४८ ॥

नन्वेवं चेदाविद्यकब्रह्माद्वैतापेक्षयास्य स्वतन्त्रशिवाद्वैतस्य को विशेष इत्यत्राह—

अकारणमकार्यं यदशेषोधिवर्जितम् ।
तद्ब्रह्म तदहं चेति निष्ठा ज्ञानमुदीर्यते ॥ ४९ ॥

यद्वस्तु 'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते'[२] **इति श्वेताश्वतरश्रुतेः कार्यकारणशून्यं सदशेषोपाधिवर्जितम्, तद्ब्रह्म तत् तद्ब्रह्मैव, अहं च चिरादिदमिति भासमानं पाञ्चभौतिकम्, एवं चराचरमयं विश्वमिति निष्ठादार्ढ्यं ज्ञानमित्युत्कृष्टत्वेनोच्यत इत्यर्थः ॥ ४९ ॥**

जो न कारण है न कार्य तथा जो समस्त उपाधियों से रहित है वह ब्रह्म है और मैं भी वहीं हूँ—ऐसी दृढ़ धारणा ज्ञान कही जाती है ॥ ४९ ॥

अथैवं चिद्रूपब्रह्मणि सामरस्यज्ञाननिष्पत्तिमतः शिवयोगिनः स्वातिरेकेण त्रिपुटीमयप्रपञ्चव्यवहारो नास्तीति वदन् ज्ञाननिष्पत्तिस्थलं समापयति—

ज्ञाताप्यहं ज्ञेयमिदमिति व्यवहृतिः कुतः ।
अभेदब्रह्मस्वारस्ये निरस्ताखिलवस्तुनि ॥ ५० ॥

'नेह नानास्ति किञ्चन'[३] **इति श्रुतेर्निरस्तसमस्तप्रापञ्चिकभेदवदद्वितीय-ब्रह्मसामरस्ये सत्यहं ज्ञाता ज्ञेयमिदमिति व्यवहृतिः कुतः? व्यवहारः कस्मात्? न कस्मादपीत्यर्थः ॥ ५० ॥**

समस्त सांसारिक प्रपञ्च से रहित अभेद ब्रह्म के सामरस्य में 'मैं ज्ञाता हूँ'

---

१. छा०उ० ६।२।९ २. श्वे०उ० ६।८

३. वृ०उ० ४।४।१९

'यह ज्ञेय है' ऐसा व्यवहार कहाँ सम्भव है ॥ ५० ॥

इति ज्ञाननिष्पत्तिस्थलम्

अथ पिण्डाकाशस्थलम्

अथ—

एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥[1]

इत्यमृतबिन्दूपनिषद्वचनानुसारेण ज्ञाननिष्पत्तिसम्पन्नस्य सुलभीभूत-पिण्डाकाशस्वरूपं सूत्रत्रयेण निरूपयति—

यथा पिण्डस्थ आकाशस्तथात्मा पूर्ण उच्यते ।
एतदर्थविवेको यः पिण्डाकाशस्थलं विदुः ॥ ५१ ॥

पूर्ण आकाशो यथा पिण्डे तिष्ठति, तथा पिण्डस्थ आत्मा पूर्ण उच्यते, अस्येति शेषः । अस्य ज्ञाननिष्पत्तिसम्पन्नस्य शिवयोगिन एतदर्थविवेकोऽस्ति, तत्पिण्डाकाशस्थलं सद् जानन्तीत्यर्थः ॥ ५१ ॥

(पिण्डाकाशस्थल वर्णन)—जिस प्रकार इस पिण्ड अर्थात् शरीर में स्थित आकाश पूर्ण कहा जाता है[2] उसी प्रकार इस पिण्ड में स्थित आत्मा भी पूर्ण कहा जाता है—इस अर्थ का जो विशिष्ट ज्ञान वह पिण्डाकाशस्थल कहा जाता है ॥ ५१ ॥

अथ व्यतिरेकमुखेनाह—

घटोपाधिर्यथाकाशः परिपूर्णः स्वरूपतः ।
तथा पिण्डस्थितो ह्यात्मा परिपूर्णः प्रकाशते ॥ ५२ ॥

घटोपाधिविशिष्ट आकाशो यथा स्वस्वरूपतः पूर्णः, तथा शरीरस्थ आत्मा स्वसच्चिदानन्दस्वरूपतः परिपूर्णः सन् प्रकाशत इत्यर्थः ॥ ५२ ॥

जिस प्रकार घटरूप उपधि से युक्त आकाश स्वरूपतः परिपूर्ण होता है उसी प्रकार शरीर में स्थित आत्मा परिपूर्ण होकर प्रकाशित होता है ॥ ५२ ॥

अथ पिण्डाकाशविवेकवन्तं कथयति—

---

१. ब्र०वि०उ० १२

२. तुलनीय—यावान् वा एष बाह्याकाशस्तावान् वा एष आभ्यन्तराकाशः (छा०उ० ८।१।३)

अन्तःस्थितं पराकाशं शिवमद्वैतलक्षणम् ।
भावयेद् यः सुमनसा पिण्डाकाशः स उच्यते ॥ ५३ ॥

हृदयाकाशस्थितं महाचिदाकाशस्वरूपम्, 'एक एव रुद्रो न द्वितीयाय तस्थे (तस्थुः)'[१] **इति श्रुतेरद्वितीयम्, 'शिव एको ध्येयः' इत्यथर्वशिखाश्रुति-प्रसिद्धपरशिवं निरालम्बेन मनसा यो ध्यायेत्, स पिण्डाकाशस्वरूप इत्युच्यत इत्यर्थः ॥ ५३ ॥**

अद्वैत लक्षण शिव की जो अन्तःस्थित पराकाश के रूप में शुद्ध मन से भावना करता है वह पिण्डाकाश कहा जाता है ॥ ५३ ॥

अथ—

देहः शिवालयः साक्षात्तत्रासते परमः शिवः ।
इति निश्चयसद्भावः पिण्डज्ञं लिङ्गमुच्यते ॥

इति वातुलोत्तरवचनानुसारेणैवं ध्यायतः शरीरमेव शिवागारम्, तस्य शिवो भासत इति सूत्रद्वयेन कथयति—

शिवागारमिदं प्रोक्तं शरीरं बोधदीपितम् ।
षट्त्रिंशत्तत्त्वघटितं सुमनःपद्मपीठकम् ॥ ५४ ॥

शिवादिभूम्यन्तषट्त्रिंशत्तत्त्वमयस्तम्भकुड्यादिनिर्मितं हृत्कमललक्षणपद्म-पीठेन युक्तं ज्ञानदीपेन प्रकाशमानमिदं शरीरमेव शिवागारमिति प्रोक्त-मित्यर्थः ॥ ५४ ॥

छत्तीस तत्त्वों से रचित शुद्ध मन रूपी कमलपीठ से युक्त तथा बोध अर्थात् शिवज्ञान से दीपित (अर्थात् प्रकाशित) यह शरीर शिव का आगार (अर्थात् आवासस्थल) कहा जाता है ॥ ५४ ॥

पराकाशस्वरूपेण प्रकाशः परमेश्वरः ।
हृदाकाशगुहालीनो दृश्यतेऽन्तः शरीरिणाम् ॥ ५५ ॥

चिदाकाशस्वरूपेण प्रकाशमानः परमेश्वरः प्राणिनां हृद्गुहाविलीनः सन् उपदेशसिद्धैर्दृश्यत इत्यर्थः ॥ ५५ ॥

पराकाशरूप से प्रकाशमान परमेश्वर जीवों के अन्दर हृदयाकाशरूपी गुफा में लीन दिखलायी पड़ता है ॥ ५५ ॥

---

१. श्वे० उ० ३।२

कथं दृश्यत इत्यत्र पक्षान्तरेण कथयति—

एतच्छिवपुरं प्रोक्तं सप्तधातुसमावृतम् ।
अत्र हृत्पङ्कजं वेश्म सूक्ष्माम्बरमनोहरम् ॥ ५६ ॥
तत्र सन्निहितं साक्षात् सच्चिदानन्दलक्षणम् ।
नित्यसिद्धः प्रकाशात्मा जलस्थाकाशवच्छिवः ॥ ५७ ॥

सप्तधातुभिः पूर्यत इत्येतच्छरीरमेव शिवपुरं पत्तनमित्यर्थः । अत्र पिण्डलक्षणशिवराजधान्यां सूक्ष्मभूतान्तराकाशरम्यं हृत्कमलमेवान्तःपुरम् । तत्र नित्यपरिपूर्णत्वेन सिद्धः सन् सच्चिानन्दस्वरूपपरशिवो हृदयस्य स्वच्छत्वेन जलान्तर्गताकाशवत् साक्षात्प्रकाशरूपः सन् तिष्ठतीत्यर्थः ॥ ५६-५७ ॥

सात धातुओं[१] से समावृत (अर्थात् निर्मित्त) यह शरीर शिव का पुर कहा गया है । इसमें सूक्ष्म आकाश से युक्त अत एव मनोहर हृदयकमल शिव का अन्तःपुर है । उसमें साक्षात् सच्चिदानन्द स्वरूप नित्य सिद्ध प्रकाशमान् शिव जल में स्थित आकाश के समान विराजमान है ॥ ५६-५७ ॥

नन्वपरिच्छिन्नः परमेश्वरः कथं परिच्छिन्नहृत्कमले तिष्ठतीत्यत्र वदन् पिण्डाकाशस्थलं समापयति—

अन्तराकाशबिम्बस्थमशेषोपाधिवर्जितम् ।
घटाकाश इव च्छिन्नं भावयेच्चिन्मयं शिवम् ॥ ५८ ॥

हृदयाकाशस्थानस्थं समस्तोपाधिरहितं चिन्मयं शिवं घटाकाश इव विच्छिन्नं विभावयेदित्यर्थः ॥ ५८ ॥

(योगी को चाहिये कि वह) हृदयाकाश बिम्ब में स्थित समस्त उपाधियों से रहित, चिन्मय शिव की घटाकाश के समान परिच्छिन्न रूप में भावना करे (अर्थात् जैसे महाकाश घट से अवच्छिन्न होकर भी आकाश ही है वैसे ही शिव हृदय से अवच्छिन्न होकर भी शिव ही है—ऐसी भावना करे) ॥ ५८ ॥

इति पिण्डाकाशस्थलम्

अथ बिन्द्वाकाशस्थलम्

अथ—

सदाशिवादितत्त्वानां कारणं व्यापकः परः ।
बिन्दुरूपः शिवो ध्येयो बिन्द्वाकाश इतीर्यते ॥

१. अन्न रस, रुधिर, माँस, चर्बी, अस्थि, मज्जा और वीर्य ।

इति किरणागमवचनानुसारेण तत्पिण्डाकाशस्थलसम्पन्नस्य सुलभीभूत-बिन्द्वाकाशस्थलं निरूपयति—

यथाकाशो विभुर्ज्ञेयः सर्वप्राण्युपरि स्थितः ।
तथात्मेत्युपमानार्थं बिन्द्वाकाशस्थलं विदुः ॥ ५९ ॥

सर्वप्राण्युपरिवर्त्याकाशो यथा विभुः सन् ज्ञातुं योग्यः, तथास्य पिण्डाकाशस्थलसम्पन्नस्य शिवयोगिन आत्मा सर्वप्राण्युपरिवर्त्याकाशवद् व्यापकीभूतः सन् विज्ञातुं योग्य इत्युपमानार्थमेव बिन्द्वाकाशस्थलं विदुर्जानन्तीत्यर्थः ॥ ५९ ॥

(बिन्द्वाकाशस्थल वर्णन)—समस्त प्राणियों के ऊपर स्थित आकाश जैसे व्यापक जाना जाता है उसी प्रकार आत्मा भी (समस्त प्राणियों के शरीर के अन्दर परिच्छिन्न रूप में रहकर भी व्यापक है) इस तुलना के अर्थ को विद्वान् लोग बिन्द्वाकाशस्थल कहते हैं ॥ ५९ ॥

अथ—

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहु(हि)श्च ॥

इति कठवल्लीश्रुत्युक्तदृष्टान्तपूर्वकं चतुर्भिः सूत्रैस्तदेव प्रतिपादयति—

यथैको वायुराख्यातः सर्वप्राणिगतो विभुः ।
तथात्मा व्यापकः साक्षात् सर्वप्राणिगतः स्वयम् ॥ ६० ॥

समस्तप्राणिनां प्राणरूपं गतो वायुरेक एव व्यापकः सन्नाख्यातः, तथाहमिति स्वयं साक्षात् सर्वप्राणिगत आत्मा व्यापक इत्यर्थः ॥ ६० ॥

जिस प्रकार एक ही वायु समस्त प्राणियों में रहता है और व्यापक है उसी प्रकार एक आत्मा साक्षात् स्वयं समस्त प्राणियों में रहता है और व्यापक है[१] (अर्थात् प्राणियों के अन्दर और बाहर सर्वत्र स्थित है) ॥ ६० ॥

यथा वह्निरमेयात्मा सर्वत्रैकोऽपि भासते ।
तथा शम्भुः समस्तात्मा परिच्छेदविवर्जितः ॥ ६१ ॥

अपरिमितस्वरूपवानेकोऽग्निर्यथासारवैद्युतपार्थिववाडवकालाग्निरूपेण

---

१. तुलनीय— वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥
(कठोप० २।५।१०)

विश्वव्यापक: सन् भासते, तथा सर्वचैतन्यात्मकश्चिद्वह्निरूपपरमेश्वर एक एव देवदानवमानवतिर्यक्स्थावररूपचराचरप्राणिष्वहमिति व्यक्ताव्यक्तरूपेण व्यापक: सन् विराजत इत्यर्थ: ॥ ६१ ॥

जैसे अपरिमेय अग्नि एक होते हुए भी सर्वत्र भासित होता है उसी प्रकार सबके आत्मस्वरूप शिव भी (एक होते हुए) अपरिसीम है[1] ॥ ६१ ॥

सर्वेषां देहिनामन्तश्चित् ततोऽयं प्रकाशते ।
तस्मिन् प्रतिफलत्यात्मा शिवो दर्पणवद् विभु: ॥ ६२ ॥

समस्तदेहिनामन्त: 'चित्तं तु चेतो हृदयं कमलं सलिलं जलम्' इत्यभिधानकोशप्रसिद्धहृदयकमलं दर्पणवत् प्रकाशते । तस्मिन् चित्तदर्पणे व्यापकीभूत: शिव आत्मा सन् प्रतिफलतीत्यर्थ: ॥ ६२ ॥

सभी जीवों के अन्दर चित्तरूपी जल प्रकाशित होता है । जिस प्रकार दर्पण में उसी प्रकार उस (चित्तरूपी जल) में आत्मारूपी शिव प्रतिबिम्बित होते हैं (अथवा शिव आत्मा के रूप में प्रतिबिम्बित होते हैं किन्तु चित्त को दर्पण या शुद्ध जल की भाँति स्वच्छ होना चाहिये) ॥ ६२ ॥

एको वशीकृत: संवित्प्रकाशात्मा परात्पर: ।
सर्वप्राणिगतो भाति तथापि विभुरुच्यते ॥ ६३ ॥

विश्वोत्कृष्टपराशक्त्यपेक्षया श्रेष्ठश्चित्प्रकाशात्मा शिव एक एव सर्वप्राणिहृदयकमलं गत्वा तत्परिमित: सन् भाति, तथा सर्वानुस्यूतत्वाद्विभुरित्युच्यत इत्यर्थ: ॥ ६३ ॥

परात्पर अत एव अवशीकृत अर्थात् किसी के नियन्त्रण में न रहने वाला अर्थात् सर्वतन्त्रस्वतन्त्र प्रकाशस्वरूप परमेश्वर समस्त प्राणियों में प्रकाशित हो रहा है (अर्थात् अव्यापक जैसा दिख रहा है) तो भी वह व्यापक कहा जाता है (उसकी दृश्यमान अव्यापकता उपाधिहेतुकी है) ॥ ६३ ॥

अथ बिन्द्वाकाशस्थलं समापयति—

एक एव यथा सूर्यस्तेजसा भाति सर्वग: ।
तथात्मा शक्तिभेदेन शिव: सर्वगतो भवेत् ॥ ६४ ॥

---

१. तुलनीय— अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥
(कठोप० २।५।९)

सूर्य एक एव स्वकीयवृष्टिहिमोष्णकिरणतेजसा व्यापकः सन् यथा भाति, तथा शिवस्वरूप आत्मा स्वकीयेच्छाज्ञानादिशक्तिभिर्विश्वव्यापकः सन्नास्त इत्यर्थः ॥ ६४ ॥

जैसे एक ही सूर्य अपने तेज से सर्वगामी भासित होता है उसी प्रकार परमात्मा शिव भी अपने शक्तिभेद से सर्वव्यापी है ॥ ६४ ॥

इति बिन्द्वाकाशस्थलम्

अथ महाकाशस्थलम्

अथ—

व्योमाकारं महासूक्ष्मं व्यापकं यो न भावयेत् ।
संसारी स भवेल्लोके बीजकोशक्रिमिर्यथा ॥

इति देवीकालोत्तरवचनानुसारेणोक्तलक्षणबिन्द्वाकाशस्थलसम्पन्नस्य सुलभं महाकाशस्थलं सूत्रद्वयेन कथयति—

पिण्डाण्डस्थं यथाकाशं न भिन्नं तद्वदात्मनः ।
अभिन्नः परमात्मेति महाकाशस्थलं विदुः ॥ ६५ ॥

ब्रह्माण्डपिण्डाण्डगतमाकाशं यथा न भिन्नम्, तथास्य बिन्द्वाकाश-सम्पन्नस्य शिवयोगिन आत्मनश्चैतन्यात् परमात्मा भिन्नो नेत्यभिन्नमेव महाकाशस्थलं सद् जानन्तीत्यर्थः ॥ ६५ ॥

(महाकाशस्थल वर्णन)—जिस प्रकार पिण्ड अर्थात् शरीर एवं अण्ड अर्थात् ब्रह्माण्ड (या प्राकृताण्ड अथवा मायाण्ड) में स्थित आकाश परस्पर भिन्न नहीं होता उसी प्रकार (जीवात्मा से) परमात्मा अभिन्न है इसको जानना महाकाशस्थल कहा गया है ॥ ६५ ॥

यथा न भिन्नमाकाशं घटेषु च मठेषु च ।
तथाण्डेषु च पिण्डेषु स्थितो ह्यात्मा न भिद्यते ॥ ६६ ॥

स्पष्टम् ॥ ६६ ॥

जिस प्रकार घटों अथवा मठों में स्थित अर्थात् उनसे अवच्छिन्न आकाश भिन्न नहीं होता उसी प्रकार ब्रह्माण्डों और (ब्रह्माण्ड के अन्दर रहने वाले) व्यष्टि शरीरों में स्थित आत्मा भी भिन्न नहीं है ॥ ६६ ॥

अथ महालिङ्गमेव महाकाशमिति सूत्रत्रयेण कथयति—

अनिर्देश्यमनौपम्यमवाङ्मनसगोचरम् ।
सर्वतोमुखसम्पन्नं सत्तानन्दं चिदात्मकम् ॥ ६७ ॥
कालातीतं कलातीतं क्रमयोगादिवर्जितम् ।
स्वानुभूतिप्रमाणस्थं ज्योतिषामुदयस्थलम् ॥ ६८ ॥
शिवाख्यं परमं ब्रह्म परमाकाशलक्षणम् ।
लिङ्गमित्युच्यते सद्भिर्यद्विना न जगत्स्थितिः ॥ ६९ ॥

कलातीतमष्टत्रिंशत्कलातीतं क्रमयोगविवर्जितम् उत्पत्त्यादिक्रमयोगरहितं ज्योतिषामुदयस्थलम् अर्कादिज्योतिषामुत्पत्तिस्थानम् अहमिति स्वानुभूति-प्रमाणगम्यमित्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ६७-६९ ॥

अनिर्देश्य, अतुलनीय, वाणी और मन का विषय न होने वाले सर्वतोमुखी, सत् चित् आनन्दस्वरूप, काल से परे, कलातीत अर्थात् अँड़तीस कलाओं से रहित, उत्पत्ति आदि क्रम से रहित, अपना अनुभव ही जिसमें प्रमाण है ऐसे, नक्षत्र आदि (= सूर्य चन्द्र आदि) की के उत्पत्ति के मूल कारण, परमाकाशस्वरूप शिव नामक परब्रह्म को सत्पुरुषों के द्वारा लिङ्ग कहा जाता है । उनके विना संसार की सत्ता सम्भव नहीं ॥ ६७-६९ ॥

अथोक्तमर्थमेव सूत्रद्वयेन विशेषयति—

परमाकाशमव्यक्तं प्रबोधानन्दलक्षणम् ।
लिङ्गं ज्योतिर्मयं प्राहुर्लीयन्ते यत्र योगिनः ॥ ७० ॥

यत्र महाकाशे शिवयोगिनो लीयन्त इति तं महाकाशमव्यक्तं मन्दभाग्यैर्गन्तुमशक्यं सच्चिदानन्दलक्षणं ज्योतिर्मयं लिङ्गमिति सन्तः प्राहुरित्यर्थः ॥ ७० ॥

जिसमें योगी लोग लीन हो जाते हैं उस परमाकाश अव्यक्त, चित् आनन्द स्वरूप ज्योतिर्मय तत्त्व को विद्वज्जन लिङ्ग कहते हैं ॥ ७० ॥

संविदेव परा काष्ठा परमानन्दरूपिणी ।
तामाहुः परमाकाशं मुनयो मुक्तसंशयाः ॥ ७१ ॥

विगतसंशया वसिष्ठादिमुनयो यं महाकाशमाहुः । किमित्याहुरित्यत्र तन्महाकाशं परमानन्दरूपिणी सर्वोत्कृष्टा चितिरेवेत्याहुरित्यर्थः ॥ ७१ ॥

परमानन्दरूपिणी संवित् ही पराकाष्ठा (अर्थात् अन्तिम सीमा) है । संशय-रहित मुनिगण उसे परमाकाश कहते हैं ॥ ७१ ॥

अथ तस्मिन् महाकाशे जगज्जालस्याभेदं दृष्टान्तपूर्वकं दर्शयति—

तरङ्गादि यथा सिन्धोः स्वरूपान्नातिरिच्यते ।
तथा शिवाच्चिदाकाशाद् विश्वमेतन्न भिद्यते ॥ ७२ ॥

स्पष्टम् ॥ ७२ ॥

जिस प्रकार (समुद्र में उठने वाली) लहरें आदि समुद्र के स्वरूप से भिन्न नहीं होती उसी प्रकार चिदाकाशरूपी शिव से उत्पन्न होने वाला यह विश्व शिव से भिन्न नहीं है ॥ ७२ ॥

अथ पुनर्दृष्टान्तान्तरमाह—

यथा पुष्पपलाशादि वृक्षरूपान्न भिद्यते ।
तथा शिवात् पराकाशाज्जगतो नास्ति भिन्नता ॥ ७३ ॥

स्पष्टम् ॥ ७३ ॥

जिस प्रकार (वृक्ष के पुष्प पत्र) वृक्ष के रूप से भिन्न नहीं होते उसी प्रकार जगत् पराकाशरूप शिव से भिन्न नहीं है ॥ ७३ ॥

ननु चिदाकाशस्य निरवयवत्वात् कथं तत्र विश्वं स्थितं सत्प्रकाशत इत्यत्राह—

यथा ज्योतींषि भासन्ते भूताकाशे पृथक् पृथक् ।
तथा भान्ति पराकाशे ब्रह्माण्डानि विशेषतः ॥ ७४ ॥

ज्योतींषि नक्षत्राणीत्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ७४ ॥

जिस प्रकार भूताकाश[1] में नक्षत्रगण पृथक्-पृथक् प्रकाशित होते हैं उसी प्रकर पराकाश में ब्रह्माण्ड विशेष रूप से (अर्थात् असंख्य रूप से) घूमते रहते हैं ॥ ७४ ॥

अथ तमेवाथ बन्ध्यविशेष्यमहाकाशस्थलं समापयति—

निरस्तोपाधि[2]सम्बन्धं निर्मलं संविदात्मकम् ।
पराकाशं जगच्चित्रविलासालम्बभित्तिकम् ॥ ७५ ॥

---

१. आकाश एक होते हुए भी तीन प्रकार का है—भूताकाश, चित्ताकाश और चिदाकाश । आँख बन्द करने पर जो अँधेरा दिखायी पड़ता है वह भूताकाश का रूप है ।

२. कादाचित्कत्वे सतीतरव्यावर्त्तकत्वमुपाधित्वम्

उक्तविशेषणविशिष्टपराकाशं जगज्जालरूपचित्रविलासस्याधारभूतमित्यर्थः । एतत्पिण्डाकाशादिलिङ्गत्रयं शरणस्याङ्गत्रयस्य संयोजनीयम् ॥ ७५ ॥

उपाधि संम्बन्ध से रहित निर्मल संवित्स्वरूप आकाश जगत् के चित्रविचित्र विलास अर्थात् विस्तार की आधारभित्ति है ॥ ७५ ॥

इति महाकाशस्थलम्

अथ क्रियाप्रकाशस्थलम्

अथ—'क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः' **इति मुण्डकश्रुत्यनुसारेण,**[1] 'मोक्षप्रदं चैहिकसौख्यदं च सर्वोत्तरं शाङ्करकर्म सत्यम्' **इति योगजागम-वचनानुसारेण च महाकाशस्वरूपशिवयोग्येव तत्स्वरूपानुसन्धानरूपक्रिया-प्रकाशवानिति कथयति—**

शिवस्य परिपूर्णस्य चिदाकाशस्वरूपिणः ।
आत्मत्वेनानुसन्धानात् क्रियाद्योतनवान् यमी ॥ ७६ ॥

महाकाशस्वरूपः शिवयोगी परिपूर्णचिदाकारमहाकाशस्वरूपिणः शिवस्य स्वात्मत्वेनानुसन्धानरूपक्रियावानिति क्रियाप्रकाशनवानित्युच्यत इत्यर्थः ॥ ७६ ॥

(क्रियाप्रकाशस्थल वर्णन)—चिदाकाशस्वरूप परिपूर्ण शिव का आत्मा के रूप में अनुसन्धान करने से संयमी क्रियाप्रकाशवान् होता है ॥ ७६ ॥

अथ—'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च'[2] **इति श्वेताश्वतरश्रुत्यनुसारेण—**

ज्ञानक्रियात्मिका सापि सत्या नित्योदितप्रभा ।
अनन्या स्याच्छिवात् सैव वस्तुतो मूर्तिरिश्वरी ॥

इति पौष्करवचनानुसारेण च तदनुसन्धानक्रियामेव सूत्रत्रयेणोपपादयति—

निष्कलङ्कचिदानन्दगगनोपमरूपिणः ।
शिवस्य परिपूर्णस्य वृत्तिश्चैतन्यरूपिणी ॥ ७७ ॥

एवमुक्तरूपस्य शिवस्य वृत्तिः, अस्मीति क्रियारूपा स्थितिः, चैतन्यरूपिणी शिववच्चित्स्वरूपिणीत्यर्थः ॥ ७७ ॥

निष्कलङ्क चिदानन्द आकाशरूप परिपूर्ण शिव की वृत्ति (अर्थात् 'मैं शिव

---

१. मु०उ० ३।२।१०　　　　　२. श्वे०उ० ६।८

हूँ'—यह भावना) चित्स्वरूप है ॥ ७७ ॥

अथ शिवयोगिनः स्वरूपामर्शनक्रियापि तादृशीत्याह—

निष्कलङ्के निराकारे नित्ये परमतेजसि ।
विलीनचित्तवृत्तस्य तथा शक्तिः क्रियोच्यते ॥ ७८ ॥

उक्तरूपे परशिवतेजसि विलीनचित्तव्यापारस्य शिवयोगिनोऽनुसन्धानरूपा या क्रियाशक्तिः, सा तथा परशिवतेजोरूपिणीत्युच्यत इत्यर्थः ॥ ७८ ॥

निष्कलङ्क निराकार नित्य एवं परमतेज:स्वरूप शिव में विलीन चित्तवृत्ति वाले (शिवयोगी) की उसी प्रकार की शक्ति क्रिया कही जाती है ॥ ७८ ॥

ननु किं तदनुसन्धानेनेत्यत्राह—

सर्वज्ञः सर्वकर्ता च सर्वगः परमेश्वरः ।
तदैक्यचिन्तया योगी तादृशात्मा प्रकाशते ॥ ७९ ॥

'सर्वज्ञः पञ्चकृत्यसम्पन्नः सर्वेश्वर ईश्वरः' **इति वृद्धजाबालश्रुतेः परमेश्वरः सर्वज्ञः सर्वकर्ता सर्वव्यापक इति बुद्ध्वा योगी शिवयोगी समानसमरसैक्यध्यानेन तादृगात्मा तत्प्रकारस्वरूपवान् प्रकाशत इत्यर्थः ॥ ७९ ॥**

परमेश्वर सर्वज्ञाता सर्वकर्त्ता और सर्वव्यापी है । उसके साथ ऐक्यभावना के द्वारा योगी तादृशात्मा (अर्थात सर्वज्ञाता सर्वकर्त्ता अदि के रूप में) प्रकाशित होता है ॥ ७९ ॥

ननु शिवयोगिन इन्द्रियव्यापारस्य विद्यमानत्वात् कथं शिवं पश्यतीत्याह—

सर्वेन्द्रियाणां व्यापारे विद्यमानेऽपि संयमी ।
प्रत्युन्मुखेन मनसा शिवं पश्यन् प्रमोदते ॥ ८० ॥

प्रत्युन्मुखेन पश्चिमचक्राभिमुखेन मनसेत्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ८० ॥

संयमी शिवयोगी अपने समस्त इन्द्रियों के समस्त व्यापार के विद्यमान होने पर भी प्रत्युन्मुख (अर्थात् उससे विपरीत स्थिति में स्थित) मन के द्वारा शिव का साक्षात्कार करता हुआ प्रमुदित होता रहता है ॥ ८० ॥

अथ कीदृशं शिवं कथं पश्यन् मोदत इत्यत्राह—

कूटस्थमचलं प्राज्ञं गुणातीतं गुणोत्तरम् ।
शिवतत्त्वं स्वरूपेण पश्यन् योगी प्रमोदते ॥ ८१ ॥

गुणोत्तरं ज्ञानवैराग्यादिगुणैः श्रेष्ठं प्राज्ञं कुशलिनं कूटस्थं तुर्यसाक्षिकप्रत्यगात्मादिसंज्ञितं गुणातीतं मायिकसत्त्वादिगुणातीतम् अचलं शिवतत्त्वं स्वरूपेण स्वस्वरूपेण पश्यन् शिवयोगी प्रमोदत इत्यर्थः ॥ ८१ ॥

कूटस्थ अचल प्रकृष्ट ज्ञानवान् गुणों से परे एवं गुणोत्तर (अर्थात् पूर्ण ज्ञान वैराग्य आदि गुणों से उत्कृष्ट) शिव तत्त्व को स्वरूपेण देखता हुआ (अर्थात् उक्त गुणों वाला शिव मैं ही हूँ—ऐसा समझने वाला योगी आनन्दयुक्त रहता है) ॥ ८१ ॥

अथ चित्क्रियारूपस्वरूपसम्पन्नस्य शिवयोगिनो गगनतलभासमानगन्धर्वनगरीव सर्वा क्रिया तावदस्थिरेति वदन् प्रकाशत इति प्रोक्तं क्रियाप्रकाशस्थलं समापयति—

परात्मनि क्रिया सर्वा गन्धर्वनगरीमुखा ।
प्रकाशत इति प्रोक्तं क्रियायास्तु प्रकाशनम् ॥ ८२ ॥

परात्मनि परशिवस्वरूपशिवयोगिविषये सर्वा क्रिया व्योम्नि गन्धर्वनगरीव प्रकाशत इति क्रियायाः प्रकाशनं तु क्रियाप्रकाशनस्थलमिति प्रोक्तमित्यर्थः ॥ ८२ ॥

जब परमात्मा में घटित होने वाली समस्त क्रियायें गन्धर्वनगरी के समान (तुच्छ) होकर प्रकाशती हैं तो इसको क्रियाप्रकाशन कहा गया है ॥ ८२ ॥

इति क्रियाप्रकाशनस्थलम्

अथ भावप्रकाशस्थलम्

अथ—

स्वदयापूर्णभावस्य स्वेनैवापचितस्य च ।
तस्यैव भासते भावे सोऽयमादिमहेश्वरः ॥

इति योगजागमवचनानुसारेण तत्क्रियाप्रकाशनसम्पन्नस्य शिवयोगिनः सुलभं भावप्रकाशस्थलं निरूपयति—

तरङ्गाद्या यथा सिन्धौ न भिद्यन्ते तथात्मनि ।
भावा बुद्ध्यादयः सर्वे यत्तद् भावप्रकाशनम् ॥ ८३ ॥

तरङ्गफेनादयो भावा यथा समुद्रे न भिद्यन्ते, तथा सर्वे बुद्ध्यादयो भावा आत्मनि क्रियाप्रकाशसम्पन्ने शिवयोगिचैतन्ये न भिद्यन्त इति यत्, तद्भावप्रकाशनं स्यादित्यर्थः ॥ ८३ ॥

(**भावप्रकाशनस्थल वर्णन**)—जिस प्रकार समुद्र में उठने वाली लहरें आदि (समुद्र से) भिन्न नहीं होतीं उसी प्रकार आत्मा में उठने वाले बुद्धि आदि सब भाव (आत्मा से भिन्न नहीं—यह) जो है वह भावप्रकाशन होता है ॥ ८३ ॥

अथ तद्भावनां पञ्चभिः सूत्रैर्विशेषयति—

शिव एव जगत्सर्वं शिव एवाहमित्यपि ।
भावयन् परमो योगी भवदोषैर्न बाध्यते ॥ ८४ ॥

सर्वं जगच्छिव एव, तस्मादहमपि शिव एवेति भावयन् महाशिवयोगी सांसारिकदोषैर्न बाध्यत इत्यर्थः ॥ ८४ ॥

'यह सम्पूर्ण संसार शिव ही हैं । मैं भी शिव ही हूँ'—ऐसी भावना करने वाला परमयोगी संसार अथवा जन्म के दोषों से उपलिप्त नहीं होता ॥ ८४ ॥

शिवभावे स्थिरे जाते निर्लेपस्य महात्मनः ।
ये ये भावाः समुत्पन्नास्ते ते शिवमयाः स्मृताः ॥ ८५ ॥

निर्लेपस्य विषयेषु लेपरहितस्येत्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ८५ ॥

(सांसारिक विषय वासनाओं से) निर्लिप्त महात्मा शिवयोगी के अन्दर जो-जो भाव उत्पन्न होते हैं वे सब के सब शिवमय माने गये हैं ॥ ८५ ॥

अथ ते के भावा इत्यत्राह—

अद्वितीयशिवाकारभावनाध्वस्तकर्मणा ।
न किञ्चिद् भाव्यते साक्षात् शिवादन्यन्महात्मना ॥ ८६ ॥

एवं रूपेण शिवयोगिना यद्यद् भव्यते, तत्सर्वं शिवमयमिति भावः ॥ ८६ ॥

अद्वितीय शिवाकार की भावना से समस्त कर्मों का नाश करने वाले महात्मा शिवयोगी को प्रत्यक्षतः शिव से अतिरिक्त न तो कुछ भी दिखायी देता और न अनुभूत होता ॥ ८६ ॥

अथ तत्कथमित्यत्राह—

गलिताज्ञानबन्धस्य केवलात्मानुभाविनः ।
यत्र यत्रेन्द्रियासक्तिस्तत्र तत्र शिवात्मता ॥ ८७ ॥

उक्तरूपस्य योगिनो यत्र यत्र भावरूपेन्द्रियासक्तिस्तत्र तत्र भावमयशिवात्मतेत्यर्थः ॥ ८७ ॥

जिसका अज्ञानबन्धन नष्ट हो गया है ऐसे केवलात्मा का अनुभव करने वाले शिवयोगी की जिन-जिन विषयों में इन्द्रियसक्ति होती है उस-उस विषय में शिवत्व ही अनुभूत होता है[1] (तथा उसके लिये अथवा योगी की इच्छा होने पर सब के लिये उसमें शिव ही दिखाई पड़ता है) ॥ ८७ ॥

ननु रागद्वेषादिभावानां बन्धहेतुत्वात् कथं शिवमयत्वमित्यत्राह—

रागद्वेषादयो भावाः संसारक्लेशकारणम् ।
तेषामुपरमो यत्र तत्र भावः शिवात्मकः ॥ ८८ ॥

यत्र शिवयोगिनि बन्धकारणीभूतरागद्वेषादिभावानामुपरमोऽस्ति, तत्र तस्मिन् शिवयोगिनि भावः शिवात्मक इत्यर्थः ॥ ८८ ॥

राग द्वेष आदि भाव संसाररूपी कलेश के कारण होते हैं । जिसमें वे नष्ट या शान्त हो गये उसमें शिवात्मक भाव आ जाता है ॥ ८८ ॥

तस्मादीदृशं शिवयोगिनं तामसी शक्तिर्नाक्रामतीति वदन् भावप्रकाश-स्थलं समापयति—

यथा सूर्यसमाक्रान्तौ न शक्नोति तमः सदा ।
तथा प्रकाशमात्मानं नाविद्याक्रमति स्वयम् ॥ ८९ ॥

अन्धकारो यथा सूर्यमावरितुं न समर्थः, तथा प्रकाशमात्मानं स्वच्छ-प्रकाशरूपं शिवयोगिनमज्ञानलक्षणं तम आवरितुं न समर्थमित्यर्थः ॥ ८९ ॥

जिस प्रकार सूर्य के निकलने पर अन्धकार नहीं ठहर सकता उसी प्रकार प्रकाशमान् आत्मा के समक्ष अविद्या का स्वयं आक्रमण नहीं होता ॥ ८९ ॥

इति भावप्रकाशनस्थलम्

अथ ज्ञानप्रकाशनस्थलम्

अथ—

गवामनेकवर्णानां क्षीरस्याप्येकवर्णता ।
क्षीरवत् पश्यते ज्ञानं लिङ्गिनस्तु गवां यथा ॥[2]

---

१. मीराबाई के पति राजा रत्नसिंह ने मीरा की कृष्णभक्ति से रुष्ट होकर उन्हें मारने के लिये पिटारा में साँप बन्द कर भेजा था । स्नान करने के बाद मीरा ने जब पिटारा खोला तो उसमें उसे शालिग्राम की मूर्त्ति मिली ।

२. ब्र०बि०उ० १९

इत्यमृतबिन्दूपनिषद्वचनानुसारेण—

शिवादिस्मरणं ज्ञानं ज्ञानात् सत्ता प्रकाशते ।
सत्तयानन्दसम्प्राप्तिरानन्दाच्चैव सिद्धिदः ॥

इति योगजागमवचनानुसारेण च तद्भावप्रकाशनसम्पन्नस्य शिवयोगिनः सुलभं ज्ञानप्रकाशं निरूपयति—

मुख्यार्थेऽसम्भवे जाते लक्षणायोगसंश्रयात् ।
तज्ज्ञानयोजनं यत्तदुक्तं ज्ञानप्रकाशनम् ॥ ९० ॥

मुख्यार्थेऽङ्गलिङ्गयोर्मुख्यार्थे, असम्भवे जाते सति, अघटिते जाते सति, लक्षणायोगसंश्रयात् कार्यकारणोपाधिविशिष्टजीवेश्वरसंज्ञकाङ्गलिङ्गयोर्लक्षणायोगसमाश्रयणेन तज्ज्ञानयोजनं यत् तदङ्गलिङ्गनिष्ठज्ञानद्वयस्य समानसमरसभावेन संयोजनं यदस्ति, तत् तस्य भावप्रभावप्रकाशनसम्पन्नस्य शिवयोगिनो ज्ञानप्रकाशनमित्युक्तं भवति । अयं भावः—घटावच्छिन्नाकाशमहाकाशवत् कूटस्थपरचैतन्यस्य नित्यसम्बन्ध एव लक्षणार्थः । घटजलावच्छिन्नाकाशमेघजलावच्छिन्नाकाशयोरिवाङ्गलिङ्गयोरुपाधिरेव मुख्यार्थः । तच्चैतन्यसामरस्यज्ञानमेव ज्ञानप्रकाश इति ॥ ९० ॥

(ज्ञानप्रकाशस्थल वर्णन)—वाच्यार्थ के असम्भव अर्थात् बाधित होने पर

---

१. 'तत्त्वमसि' महावाक्य में 'तत्' पद का वाच्य ब्रह्म और 'त्वम्' पद का वाच्य जीव होता है । चूँकि 'तत्' एवं 'त्वम्' दोनों पद प्रथमाविभक्त्यन्त है अतः दोनों में अभेद सम्बन्ध माना जाता है । 'तत्' पद का वाच्यार्थ ब्रह्म सर्वज्ञाता सर्वशक्तिमान् सर्वकर्त्ता आदि है जबकि 'त्वम्' पद का वाच्य जीव अल्पज्ञ, अल्प शक्तिमान् एवं अल्पकर्तृत्व से युक्त है । ऐसी स्थिति में दोनों में अभेद कैसे सम्भव है? इस प्रश्न के उत्तर में यहाँ भागत्याग लक्षणा का आश्रयण करना पड़ता है। दोनों पदों के वाच्यार्थ के एक भाग 'सर्व' एवं 'अल्प' का त्याग कर देने पर केवल 'ज्ञ' अर्थात् चैतन्य शेष बचता है और इस प्रकार लक्षणा के द्वारा 'तत्' एवं 'त्वम्' में अभेद हो जाता है । इसी प्रकार—कार्योपाधिरयं जीवः करणोपाधिरीश्वरः ।

कार्यकारणातां हित्वा पूर्णबोधोऽवशिष्यते ॥

के अनुसार कार्योपाधि जीव की तथा कारणोपाधि ईश्वर की उपाधियों का त्याग करने पर पूर्णबोध अर्थात् पूर्ण चैतन्य शेष रहता है जो कि एक और अद्वितीय है ।

लक्षणा[१] की सहायता से उस ज्ञान अर्थात् अङ्गलिङ्ग के ज्ञान की जो योजना वह ज्ञानप्रकाशन कहा गया है ॥ ९० ॥

अथ तदेव सूत्रत्रयेण विशेषयति—

मुक्तस्य ज्ञानसम्बन्धो ज्ञेयाभावः स्वभावतः ।
उपाधिसहितं ज्ञानं न भेदमतिवर्तते ॥ ९१ ॥

मुक्तस्य परमुक्तस्य लक्षणार्थकज्ञानसम्बन्धः स्वभावतो ज्ञेयाभाव आत्माश्रयादिदोषराहित्येन ज्ञेयशून्यो वेद्यशून्य इत्यर्थः । उपाधिसहितं ज्ञानं तस्य परमुक्तस्य मुख्यार्थभूतलिङ्गाङ्गोपाधिविशिष्टज्ञानं भेदं नातिवर्तते भेदमनतिक्रम्य वर्तते, उपाधिनाश एव ज्ञानसामरस्यमित्यर्थः ॥ ९१ ॥

जीवमुक्त का ज्ञानसम्बन्ध अर्थात् लक्ष्यार्थरूप ज्ञान से समन्वय स्वाभाविक है । फलत: ज्ञेय का अभाव भी स्वाभाविक है । जो ज्ञान उपाधिसहित होता है उसमें भेद का अभाव नहीं रहता अर्थात् भेद रहता ही है ॥ ९१ ॥

ज्ञानमित्युच्यते सद्भिः परिच्छेदोऽपि वस्तुनः ।
परात्मन्यपरिच्छेदे कुतो ज्ञानस्य सम्भवः ॥ ९२ ॥

वस्तुनो लिङ्गाङ्गरूपवस्तुनः परिच्छेदः खण्डितत्वं ज्ञानमिति द्वैतज्ञानमिति सद्भिः सत्पुरुषैरुच्यते । अपरिच्छेदेऽखण्डिते परात्मनि निरुपाधिकमहाचैतन्ये हि द्वैतप्रसिद्धस्य ज्ञानस्य सम्भव उद्भवः कुतः? नास्तीत्यर्थः ॥ ९२ ॥

विद्वान् लोग वस्तु के परिच्छेद को भी ज्ञान कहते हैं (घटत्वावच्छिन्न घट में घटत्वावच्छेद ही ज्ञान है । वही घट को अवच्छिन्न या परिच्छिन्न करता है) परमात्मा परिच्छेद से रहित है उसमें विषयविषयी भाव अर्थात् सम्बन्ध कैसे सम्भव हो सकता है ॥ ९२ ॥

ज्ञानस्याविषये तत्त्वे शिवाख्ये चित्सुखात्मनि ।
आत्मैकत्वानुसन्धानं ज्ञानमित्युच्यते बुधैः ॥ ९३ ॥

ज्ञानस्य स्वप्रकाशत्वात् स्वातिरिक्तसंविदन्तरस्याऽविषयेऽगोचरे चित्सुखात्मनि चिदानन्दस्वरूपे शिवाख्ये परशिवाख्ये तत्त्वे वस्तुनि, आत्मैकत्वानुसन्धानं स्वात्मन एकत्वानुसन्धानं ज्ञानमिति बुधैर्विद्वद्भिरुच्यत इत्यर्थः ॥ ९३ ॥

ज्ञान के अविषयभूत चिदानन्दस्वरूप शिव नामंक तत्त्व के साथ आत्मा के एकत्व के अनुसन्धान को विद्वान् लोग ज्ञान कहते हैं ॥ ९३ ॥

तच्छिवज्ञानमेव ब्रह्मज्ञानमिति सूत्रत्रयेण कथयति—

अपरिच्छिन्नमानन्दं सत्ताकारं जगन्मयम् ।
ब्रह्मेति लक्षणं ज्ञानं ब्रह्मज्ञानमिहोच्यते ॥ ९४ ॥

सत्तामनतिक्रान्तत्वाद्विश्वस्य तन्मयत्वमित्यर्थः । स्वरूपतो ह्यसतः सत्तासम्बन्धासम्भवात्, स्वरूपतः सतः सत्तान्तरानपेक्षणात् सद्रूपत्वमेवेति निष्कर्षः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ९४ ॥

ब्रह्म अखण्ड आनन्द रूप, सत्ताकार अर्थात् सद् रूप तथा जगन्मय अर्थात् विश्वरूप है इस लक्षण वाला जो ज्ञान है वही इस संसार में ब्रह्मज्ञान कहा जाता है ॥ ९४ ॥

ब्रह्मज्ञाने समुत्पन्ने विश्वोपाधिविवर्जिते ।
सर्वं संविन्मयं भाति तदन्यन्नैव दृश्यते ॥ ९५ ॥

विश्वोपाधिविवर्जिते विश्वभेदरहिते ब्रह्मज्ञाने समुत्पन्ने आविर्भूते सति सर्वं विश्वं संविन्मयं भाति चिच्छक्तिमयमिति भाति । तदन्यत् शिवशक्त्योरभेदात् तदन्यद् ब्रह्मातिरिक्तं न दृश्यत इत्यर्थः ॥ ९५ ॥

विश्वरूप उपाधि से रहित ब्रह्मज्ञान के उत्पन्न होने पर सब कुछ चिन्मय अर्थात् ज्ञानस्वरूप भासित होता है । उससे भिन्न कुछ नहीं दिखायी देता ॥ ९५ ॥

तस्मादद्वैतविज्ञानमपवर्गस्य कारणम् ।
भावयन् सततं योगी संसारेण न लिप्यते ॥ ९६ ॥

तस्मादपवर्गस्य परापरमोक्षस्य कारणं शिवाद्वैतज्ञानं सततं भावयन् शिवयोगी संसारेण न लिप्यत इत्यर्थः ॥ ९६ ॥

इस कारण 'अद्वैत विज्ञान अपवर्ग अर्थात् मोक्ष का कारण है'—ऐसी निरन्तर भावना करने वाला योगी संसार से लिप्त नहीं होता ॥ ९६ ॥

अथ ज्ञानप्रकाशस्थलं समापयति—

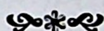
नित्ये निर्मलसत्त्वयोगिषु परे निर्वासने निष्कले
सर्वातीतपदे चराचरमये सत्तात्मनि ज्योतिषि ।
संविद्व्योम्नि शिवे विलीनहृदयस्तद्भेदवैमुख्यतः
साक्षात् सर्वगतो विभाति विगलद्विश्वः स्वयं संयमी ॥ ९७ ॥

इति श्रीमत्षट्स्थलब्रह्मिणा शिवयोगिनाम्ना रेणुकाचार्येण विरचिते

वीरशैवधर्मनिर्णये सिद्धान्तशिखामणौ शरणस्थलविषयद्वादश-विधलिङ्गप्रसङ्गो नामैकोनविंशः परिच्छेदः ॥ १९ ॥

नित्ये निरन्तरे निर्मलसत्त्वयोगिषु परे शुद्धसत्त्वगुणवत्सु प्राधान्येन वर्तमाने निर्वासने वेद्यवासनारहिते निष्कले निरवयवे सर्वातीतपदे सर्वोत्तीर्णस्थानभूते चराचरमये चराचरप्रपञ्चोपादानकारणीभूतचित्क्रियालक्षणचिदम्बरशक्ति-स्वरूपे सत्तात्मनि परमार्थिकसत्तारूपिणि ज्योतिषि भासमाने संविद्व्योम्नि शिवे चिदाकाशरूपपरशिवे विलीनहृदयः, तद्भेदवैमुख्यतः शिवादन्यत्वे विमुखीभूतत्वात् सर्वगतो विश्वव्यापकः संयमी शिवयोगी विगलद्विश्वः सन् विगलितविश्वभेदविभवः सन् स्वयं साक्षाद्विशेषेण भाति प्रकाशत इत्यर्थः । शिवशरणयोः सतिपतित्वादेस्तल्लिङ्गत्रयं शरणस्याङ्गत्रयस्य योज्यम् ॥ ९७ ॥

इति ज्ञानप्रकाशनस्थलम्



इति श्रीमत्पदवाक्यप्रमाणपारावारधुरीणश्रीमरितोण्डदार्येण विरचितायां तत्त्वप्रदीपिकाख्यायां सिद्धान्तशिखामणिव्याख्यायां शरणस्थलविषय-द्वादशविधलिङ्गप्रसङ्गो नामैकोनविंशः परिच्छेदः ॥ १९ ॥

...

नित्य, निर्मल सत्त्वयोगियों में पर अर्थात् प्रधान, वासनारहित, निष्कल, सर्वातीत, चराचरमय, सत्स्वरूप, तेजोमय, चिदाकाशरूपी शिव में विलीनहृदय वाला, भेद-भावना से रहित, संसार को तिरस्कृत करने वाला, संयमी अर्थात् शिवयोगी स्वयं साक्षात् सर्वव्यापी के रूप में प्रकाशित होता है ॥ ९७ ॥

इस प्रकार श्रीसिद्धान्तशिखामणि के शरणस्थलविषयकद्वादशविधलिङ्गप्रसङ्ग नामक एकोनविंश परिच्छेद की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदीकृत 'ज्ञानवती' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ १९ ॥



विंशः परिच्छेदः

(अथैक्यस्थलम्)

अथागस्त्यप्रश्नः—

स्थलभेदास्त्वया प्रोक्ताः शरणस्थलसंश्रिताः ।
ऐक्यस्थलगतान् ब्रूहि स्थलभेदान् गणेन्द्र मे ॥ १ ॥

स्थलभेदा अवान्तरस्थलभेदा इत्यर्थः । अग्रेऽपि तथा । शिष्टं स्पष्टम् ॥ १ ॥

(ऐक्यस्थल वर्णन)—अगस्त्य ने कहा—हे गणेश्वर! आपने शरणस्थल में आने वाले (अवान्तर) स्थलभेदों को बतलाया । अब मुझे ऐक्यस्थल में आने वाले स्थलभेदों को बतलाइये ॥ १ ॥

अथास्य प्रश्नस्योत्तरं वक्ति—

स्थलानां नवकं चैक्यस्थलेऽस्मिन् परिकीर्त्यते ॥ २ ॥

स्पष्टम् ॥ २ ॥

अथ तदवान्तरस्थलभेदं सूत्रत्रयेणोद्दिशति—

तत्स्वीकृतप्रसादैक्यस्थलमादौ प्रकीर्तितम् ।
शिष्टोदनस्थलं चाथ चराचरलयस्थलम् ॥ ३ ॥
भाण्डस्थलं ततः प्रोक्तं भाजनस्थलमुत्तमम् ।
अङ्गालेपस्थलं पश्चात् स्वपराज्ञास्थलं ततः ॥ ४ ॥
भावाभावविनाशं च ज्ञानशून्यस्थलं ततः ।
तदेषां क्रमशो वक्ष्ये शृणु तापस लक्षणम् ॥ ५ ॥

स्पष्टम् ॥ ३-५ ॥

रेणुकाचार्य ने कहा—इस ऐक्यस्थल में नव स्थलों की चर्चा की जाती

है। पहला स्वीकृतप्रसादैक्यस्थल कहा गया है । फिर शिष्टौदनस्थल, चराचरलयस्थल, भाण्डस्थल फिर भाजनस्थल कहा गया । उसके पश्चात् अङ्गालेपस्थल फिर स्वपराज्ञास्थल पुनः भावाभावविनाशस्थल और अन्त में ज्ञानशून्यस्थल वर्णित है । हे तपस्विन्! अब इनका क्रम से लक्षण बतला रहा हूँ । सुनो ॥ २-५ ॥

अथ ऐक्यस्थलगतस्वीकृतप्रसादैक्यस्थलम्

अथ—'ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः'[1] इति मुण्डकश्रुत्यनुसारेण—

ज्ञानोत्पत्तिनिमित्तिं तु क्रिया चर्या प्रकीर्तिता ।
योगं सालम्बनं त्यक्त्वा निष्प्रपञ्चं विचिन्तयेत् ॥[2]

इति देवीकालोत्तरवचनानुसारेण च तज्ज्ञानप्रकाशसम्पन्नः शिवयोग्येव ज्ञानप्रसादस्वीकारात् स्वीकृतप्रसादीति निरूपयति—

मुख्यार्थो लक्षणार्थश्च यत्र नास्ति चिदात्मनि ।
विशृङ्खलतया तस्य प्रसादः स्वीकृतो भवेत् ॥ ६ ॥

चिदात्मनि यत्र ज्ञानप्रकाशसम्पन्ने शिवयोगिनि मुख्यार्थो जीवेश्वरवियोग-रूपमुख्यार्थो नास्ति, लक्षणार्थश्च निरुपाधिकशिवात्मनोर्नित्यावियोग-रूपलक्षणार्थश्च नास्ति, तस्य शिवयोगिनो विशृङ्खलतया निरङ्कुशत्वेन प्रसादः पूर्णज्ञानप्रसादः स्वीकृतोऽङ्गीकृतो भवेदित्यर्थः ॥ ६ ॥

(स्वीकृतप्रसादैक्यस्थल वर्णन)—चिदात्मा अर्थात् ज्ञानप्रकाशसम्पन्न जिसमें मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ विशृङ्खलतया अर्थात् पृथक्-पृथक् नहीं है (अर्थात् दोनों अर्थ एक हो गये हैं) उसका प्रसादपूर्ण ज्ञानप्रसाद के रूप में स्वीकृत होता है ॥ ६ ॥

अथैतदर्थमेव सूत्रद्वयेन विशदयति—

मातृमेयप्रमाणादिव्यवहारे विहारिणीम् ।
संवित्साक्षात्कृतिं लब्ध्वा योगी स्वात्मनि तिष्ठति ॥ ७ ॥

मातृमानप्रमेयादित्रिपुटीमयप्रपञ्चप्रथमव्यवहारे रममाणां पूर्णचित्साक्षात्कृतिं लब्ध्वा योगी ज्ञानप्रकाशसम्पन्नः शिवयोगी स्वात्मनि स्वीकृतप्रसादवति स्वस्वरूपे तिष्ठतीत्यर्थः ॥ ७ ॥

---

१. मु०उ० ३।१।८ २. दे०का० २५

प्रमाता प्रमेय और प्रमाण आदि के व्यवहार में रमण करने वाली संवित् का साक्षात्कार प्राप्त कर ज्ञानप्रकाशसम्पन्न शिवयोगी अपने स्वरूप में स्थित होता है ॥ ७ ॥

अथैवंरूपस्य शिवयोगिनः पाशबन्धनं नास्तीत्यत्राह—

अद्वैतबोधनिर्धूतभेदावेशस्य योगिनः ।
साक्षात्कृतमहासंवित्प्रकाशस्य क्व बन्धनम् ॥ ८ ॥

शिवाद्वैतबोधनिवारिताङ्गलिङ्गलक्षणजीवेश्वरभेदावेशवतः, अपरोक्षीकृत-निर्मलचित्प्रकाशस्य शिवयोगिनः पाशपञ्चकाद् भूतबन्धनं कुतः? नास्तीत्यर्थः ॥ ८ ॥

अद्वैत बोध के द्वारा द्वैत आवेश को हटाने वाले तथा महासंवित् प्रकाश का साक्षात्कार करने वाले योगी का बन्धन कहाँ? (अर्थात् वह मुक्त हो जाता है) ॥ ८ ॥

अथ तस्य पूर्णज्ञानिनः प्रपञ्चदर्शनं नास्तीति सूत्रत्रयेण सदृष्टान्तं कथयति—

चिदात्मनि शिवे न्यस्तं जगदेतच्चराचरम् ।
ज्ञायते तन्मयं सर्वमग्नौ काष्ठादिकं यथा ॥ ९ ॥

अग्नौ न्यस्तं काष्ठादिकं यथाग्निमयं सद् दृश्यते, तथा शिवे स्थापितं विश्वं चिन्मयमेव दृश्यते, शिवस्य चिदग्निरूपत्वादिति भावः ॥ ९ ॥

जिस प्रकार अग्नि में डाला गया काष्ठ आदि तन्मय (अर्थात् अग्नि-स्वरूप) हो जाता है उसी प्रकार चित्स्वरूप शिव को समर्पित यह समस्त चराचर जगत् (शिवमय हो जाता है) ॥ ९ ॥

ननु वह्नौ काष्ठमिव शिवे विश्वं न केनापि न्यस्तम्, शिवेनैव कल्पितम्, तत्कथं तन्मयं सद्भातीत्यत्राह—

न भाति पृथ्वी न जलं न तेजो नैव मारुतः ।
नाकाशो न परं तत्त्वं शिवे दृष्टे चिदात्मनि ॥ १० ॥

मृत्तिकायां ज्ञातायां घटशरावादिकं सर्वं यथा मृण्मयमेव[१], न तद्व्यतिरिक्तमिति ज्ञायते, तथा चिदात्मनि शिवे दृष्टे सति तत्कार्यत्वाद्

---

१. तुलनीय— यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् । (छा०उ० ६।१।४)

भूम्यादिकं तद्भिन्नत्वेन न भाति, तदात्मकत्वेनैव भातीत्यर्थः ॥ १० ॥

चिदात्मा शिव का साक्षात्कार होने पर पृथिवी जल तेज वायु आकाश या परतत्त्व (अर्थात् अन्य पदार्थ) भात नहीं होते (अर्थात् शिव से भिन्न रूप में नहीं दिखते) ॥ १० ॥

एवं शिवात्मकं विश्वं तत्रैव लीनं चिन्तयन् योगी न लिप्यत इत्यत्राह—

ज्योतिर्लिङ्गे चिदाकारे ज्वलत्यन्तर्निरन्तरम् ।
विलीनं निखिलं तत्त्वं पश्यन् योगी न लिप्यते ॥ ११ ॥

अन्तः हृद्रूपाष्टदलकमलमध्ये निरन्तरं चिद्रूपे ज्योतिर्लिङ्गे महालिङ्गे ज्वलति सति प्रकाशिते सति तस्मिन् महालिङ्गे शिवयोगी निखिलं तत्त्वं शिवादिभूम्यन्तं विलीनं लयीभूतं पश्यन् सन् न लिप्यते तनुकरणभुवनभोगात्मक-षट्त्रिंशत्तत्त्वैर्न लिप्यत इत्यर्थः ॥ ११ ॥

(अपने हृदय के) अन्दर चित्स्वरूप ज्योतिर्लिङ्ग के निरन्तर प्रकाशित रहने पर समस्त तत्त्वों को विलीन देखने वाला योगी (सांसारिकता के मूलभूत छत्तीस तत्त्वों से) लिप्त नहीं होता ॥ ११ ॥

अथैतदर्थमेव होमरूपेण विशेषयति—

अन्तर्मुखेन मनसा स्वात्मज्योतिषि चिन्मये ।
सर्वानप्यर्थविषयान् जुह्वन् योगी प्रमोदते ॥ १२ ॥

अन्तर्मुखेन मनसा प्रत्युन्मुखेन मनसा चिन्मये स्वस्वरूपवह्निप्रकाशे समस्तपदार्थान् जुह्वन् तादात्म्येन समर्पयन् शिवयोगी प्रमोदत इत्यर्थः ॥ १२ ॥

चिन्मय आत्मरूपी तेज अर्थात् अग्नि में समस्त विषयों का अन्तर्मुखी मन से हवन करने वाला योगी आनन्दित होता रहता है ॥ १२ ॥

अथ स्वीकृतप्रसादिस्थलं समापयति—

सच्चिदानन्दजलधौ शिवे स्वात्मनि निर्मलः ।
समर्प्य सकलान् भुङ्क्ते विषयान् तत्प्रसादतः ॥ १३ ॥

निर्मलः शिवयोगी सच्चिदानन्दानां समुद्रभूते स्वात्मनि स्वप्रकाशात्मनि शिवे सकलान् शब्दादिपदार्थान् समर्प्य तत्प्रसादतस्तत्प्रसादरूपेण भुङ्क्त इति ॥ १३ ॥

निर्मल योगी सत् चित् आनन्द स्वरूप स्वात्मशिव में सम्पूर्ण विषयों का समर्पण कर उस (शिव) की कृपा से उनका भोग करता है ॥ १३ ॥

इति स्वीकृतप्रसादिस्थलम्

अथ शिष्टोदनस्थलम्

अथ—'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्'[१] इति श्रुत्यनुसारेण—

ग्रन्थिजन्यं कलाकालविद्यारागनृमातरः ।
गुणधीगर्वचित्ताक्षमात्राभूतान्यनुक्रमात् ॥[२]

इति मृगेन्द्रवचनानुसारेण च तच्चित्प्रसादस्वीकारवतः शिवयोगिनो मायातत्त्वमेव शिष्टोदनमिति सूत्रचतुष्टयेन कथयति—

प्रकाशते या सर्वेषां माया सैवोदनाकृतिः ।
लीयते तत्र चिल्लिङ्गे शिष्टं तत्परिकीर्तितम् ॥ १४ ॥

या माया मिश्रा शुद्धाध्वनिवासिनां तनुकरणभुवनभोगरूपिणी अधोमायाऽस्ति, सैव सर्वेषां प्रकाशते लीयते च । तत् कलादिभूम्यन्तत्रिंशत्तत्त्वात्मकमायातत्त्वमेव चिल्लिङ्गे ज्ञानचिह्ने तत्र विषये तत्स्वीकृतप्रसादिविषये शिष्टोदनाकृतिरवशिष्टोदनाकारवदिति प्रकीर्तितमित्यर्थः ॥ १४ ॥

(शिष्टोदनस्थल वर्णन)—जो माया समस्त (अर्थात् विज्ञानाकल प्रलयाकल आदि सकल जीवों) को प्रकाशित होती है (अर्थात् तत्तत् शरीर इन्द्रिय रूप में व्यवहार का विषय बनती है) वह ओदन अर्थात् चावल सदृश है । उसका जो उस चित्स्वरूप शिवलिङ्ग में लय होना है वह शिष्ट कहा गया है ॥ १४ ॥

जगदङ्गे परिग्रस्ते मायापाशविजृम्भिते ।
स्वात्मज्योतिषि बोधेन तदेकमवशिष्यते ॥ १५ ॥

मायापाशविजृम्भिते कलादिक्षित्यन्तत्रिंशत्तत्त्वात्मकमायापाशनिबद्धे जगदङ्गे विश्वशरीरवति स्वात्मज्योतिषि स्वस्वरूपज्ञाने बोधेन स्वात्मज्ञानेन परिग्रस्ते सति आक्रान्ते सति तदेकं तन्मायातत्त्वमेकमेवावशिष्यत इत्यर्थः ॥ १५ ॥

माया के पाश अर्थात् माया के कला विद्या राग काल नियति रूप पाँच कञ्चुक तथा उससे उत्पन्न प्रकृति से लेकर भूमि तक के तीस तत्त्वरूपी पाश से बँधे जगद्रूपी शरीर के आत्मज्योति में विलीन हो जाने पर एकमात्र माया तत्त्व शेष रह जाता है ॥ १५ ॥

ननु शारीरिकस्वरूपस्य बोधाक्रान्तत्वात् कथं मायातत्त्वमवशिष्यत इत्यत्राह—

१. श्वे०उ० ४।१० २. मृ०तं०वि०पा० १०.१

अखण्डसच्चिदानन्दपरब्रह्मस्वरूपिणः ।
जीवन्मुक्तस्य धीरस्य माया कैङ्कर्यवादिनी ॥ १६ ॥

अखण्डसच्चिदानन्दलक्षणपरब्रह्मैव यस्य स्वरूपं तादृशस्य जीवन्मुक्तस्य धीरस्य जितेन्द्रियस्य शिवयोगिनो माया कैङ्कर्यवादिनी दासभावं वदन्ती सत्यास्त इत्यर्थः ॥ १६ ॥

यह माया अखण्ड सत् चिद् आनन्द रूप परब्रह्म हुए धीर एवं जीवन्मुक्त शिवयोगी की दासी बनकर रहती है ॥ १६ ॥

एवंरूपायां स्थितौ—

विश्वसम्मोहिनी माया बहुशक्तिनिरङ्कुशा ।
शिवैकत्वमुपेतस्य न पुरः स्थातुमीहते ॥ १७ ॥

जगन्मोहिनी माया बहुविधशक्तिभिरनर्गलापि शिवे समानसमरसभावमुपेतस्य शिवयोगिनः पुरतो मोहकत्वेन स्थातुं नेहते नेच्छतीत्यर्थः ॥ १७ ॥

संसार को मोह में डालने वाली तथा असीम शक्ति से सम्पन्न होने के कारण निरङ्कुशा माया शिवैकत्व को प्राप्त योगी के सामने टिकने का साहस नहीं करती ॥ १७ ॥

अथ तस्य शिवैक्यस्य विषयनाशं सूत्रत्रयेण कथयति—

ज्योतिर्लिङ्गे चिदाकारे निमग्नेन महात्मना ।
भुज्यमाना यथायोगं नश्यन्ति विषयाः स्वतः ॥ १८ ॥

स्पष्टम् ॥ १८ ॥

चिद्रूप ज्योतिर्लिङ्ग में निमग्न महात्मा शिवयोगी के द्वारा यथायोग (अर्थात् अपनी योग्यता एवं क्रम के अनुसार) भोग किये जाने वाले विषय स्वयं नष्ट हो जाते हैं (अर्थात् योगी के अन्दर विलीन हो जाते हैं) ॥ १८ ॥

अथ कथं लयं गच्छन्तीत्यत्राह—

शब्दादयोऽपि विषया भुज्यमानास्तदिन्द्रियैः ।
आत्मन्येव विलीयन्ते सरितः सागरे यथा ॥ १९ ॥

कारणान्तरव्यतिरेकेण नदीसागरन्यायेन[1] स्वत एव लयं गच्छन्तीत्यर्थः ।

---

१. जिस प्रकार नदी स्वभावतः सागर में मिलती है उसी प्रकार शिवयोगी की सागरस्वरूप आत्मा में विषय स्वयं उपभुक्त होकर लीन हो जाते हैं ।

स्वीकृतप्रसादस्तैलवत् सारभूतचिदानन्दः, शिष्टोदनस्तु पिण्याकवन्निःसारा मायेति तद्भोगो निःसारः सन् नश्यतीति भावः ॥ १९ ॥

शब्द आदि (= रूप रस गन्ध स्पर्श) विषय योगी की इन्द्रियों के द्वारा भुज्यमान होकर आत्मा में उसी प्रकार विलीन हो जाते हैं जैसे नदियाँ समुद्र में मिलकर (विलीन हो जाती है) ॥ १९ ॥

अथैवं विनष्टविषयसमूहवान् शिवयोगी कथमास्त इत्यत्र वदन् शिष्टोदनस्थलं समापयति—

अर्थजातमशेषं तु ग्रसन् योगी प्रशाम्यति ।
स्वात्मनैवास्थितो भानुस्तेजोजालमशेषतः ॥ २० ॥

शिवयोगी अशेषं पदार्थसमूहं स्वस्वरूपेण ग्रसन् तेजोजालं स्वकिरणसमूहम् अशेषतो निशेषं यथा भवति तथा ग्रसन्नुपसंहरन् आस्थितो भानुरिव अस्तं गच्छन् भानुरिव शाम्यति स्वस्थो भवतीत्यर्थः ॥ २० ॥

योगी सम्पूर्ण विषयग्राम का उपभोग कर आत्मा में स्थित हो जाता है जैसे कि सूर्य (सबको प्रकाशित कर अपने तेजोजाल को समेटकर स्वयं शान्त हो जाता है) ॥ २० ॥

इति शिष्टोदनस्थलम्

अथ चराचरलयस्थलम्

अथ—'सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य'[१] इति मुण्डकश्रुत्यनुसारेण—

विषसम्बन्धिनी शक्तिर्यथा मन्त्रैर्निरुध्यते ।
यथा न तदिति क्षीणमेवं पुसो मलक्षयः ॥

इति किरणागमवचनानुसारेण च केवलचित्प्रसादस्वीकारेणावशिष्टमायोदनः शिवयोगी चराचरे प्रत्येकं परिपक्वानुसारेण व्याप्तमलशक्तिं परिपक्वानुसारेण विनाशकरणेन चराचरविनाशक इति कथयति—

लिङ्गैक्ये तु समापन्ने चरणाचरणे गते ।
निर्देही स भवेद्योगी चराचरविनाशकः ॥ २१ ॥

चरणाचरणे गते चराचरप्रपञ्चगते लिङ्गैक्ये महालिङ्गतादात्म्ये समापन्ने प्राप्ते सति स योगी शिष्टोदनसम्पन्नः शिवयोगी निर्देही भूत्वा चराचर-

---

१. मु०उ० २।१।१०

विनाशको जङ्गमस्थावरगतमलशक्तिविनाशको भवेदित्यर्थः ॥ २१ ॥

(चराचरलयस्थल वर्णन)—चर तथा अचर जब लिङ्ग के साथ एक हो जाते हैं तब वह योगी देहरहित होता हुआ चराचर का विनाशक हो जाता है ॥ २१ ॥

अथ स शिवयोगी चराचरव्याप्तमलशक्तिनिवारणेन मायाप्रपञ्चं न पश्यतीति षड्भिः सूत्रैः प्रतिपादयति—

अनाद्यविद्यामूला हि प्रतीतिर्जगतामियम् ।
स्वात्मैकबोधात् तन्नाशे कुतो विश्वप्रकाशनम् ॥ २२ ॥

इदमेतादृगिति प्रतिनियतविश्वभुवनप्रतीतिर्लीलाशक्त्यनादिकल्पितमायैव मूलकारणवती स्वात्मैकबोधात् स्वात्मैवेति बोधात् स्वात्मप्रधानीभूतज्ञानात् तन्नाशे मलशक्तिनाशे विश्वप्रकाशनं तन्मूलकजगद्दर्शनं कुतो नास्तीत्यर्थः ॥ २२ ॥

जगत् का यह भान अनादि अविद्या के कारण है । (संसार का) अपनी आत्मा (अर्थात् शिव) के साथ ऐक्य का ज्ञान होने पर उस अविद्या का नाश होने के पश्चात् विश्व का आभासन कहाँ ॥ २२ ॥

नन्विदं विश्वं कुत्र लयं गच्छतीत्यत्राह—

यथा मेघाः समुद्भूता विलीयन्ते नभस्तले ।
तथात्मनि विलीयन्ते विषयाः स्वानुभाविनः ॥ २३ ॥

नभःस्थले मेघाः सम्भूय विलीयन्ते, तथा स्वस्वरूपानुभाविनः शिवयोगिन आत्मनि चैतन्ये विषयाः शब्दादिविषयाः समुद्भूता उत्पन्नाः सन्तो विलीयन्त इत्यर्थः ॥ २३ ॥

जिस प्रकार आकाश में उत्पन्न मेघ आकाश में ही विलीन हो जाते हैं उसी प्रकार स्वस्वरूप का अनुभव करने वाले शिवयोगी की आत्मा में सारे विषय विलीन हो जाते हैं ॥ २३ ॥

अथेदं विश्वं स्वात्मैकबोधात् कथं नश्यतीत्यत्राह—

स्वप्ने दृष्टं यथा वस्तु प्रबोधे लयमश्नुते ।
तथा सांसारिकं सर्वमात्मज्ञाने विनश्यति ॥ २४ ॥

आत्मज्ञाने सतीत्यर्थः । नन्वेवं चेद्विश्वस्य स्वप्नसादृश्याङ्गीकारान्मिथ्यात्वप्रसङ्ग इति नाशङ्कनीयम्, स्वप्नेनापि फलाफ लदर्शनात्, रेतःपातादिदर्शनाच्च

सत्यत्वमेवेति । शिष्टं स्पष्टम् ॥ २४ ॥

जिस प्रकार स्वप्न में देखी गयी वस्तु जागने पर लीन हो जाती है उसी प्रकार संसार का सब कुछ पदार्थ आत्मज्ञान होने पर लुप्त हो जाता है ॥ २४ ॥

पुनश्च कारणान्तरमाह—

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिभ्यः परावस्थामुपेयुषः ।
किं वा प्रमाणं कि ज्ञेयं किं वा ज्ञानस्य साधनम् ॥ २५ ॥

परावस्थां तनुत्रयाश्रितजाग्रदाद्यवस्थातीतबोधखेचरीमुद्रासुलभसर्वोत्कृष्ट-तुरीयावस्थाम् उपेयुषो गतस्य शिवयोगिनः किं वा प्रमाणं किं ज्ञेयं किं वा ज्ञानस्य साधनम्? त्रिपुटीमयप्रपञ्चोत्तीर्णत्वात् तद्दर्शनं नास्तीति भावः ॥ २५ ॥

जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति से परे अर्थात् तुरीय एवं तुरीयातीत अवस्था को प्राप्त होने वाले शिवयोगी के लिये क्या प्रमाण?, क्या ज्ञेय? और क्या ज्ञान का साधन? (अर्थात् ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेय यह त्रिपुरी ज्ञान नष्ट हो जाता है) ॥ २५ ॥

अथ तत्तुर्यातीतपदं विशदयति—

तुर्यातीतपदं यत्तद् दूरं वाङ्मनसाध्वनः ।
अनुप्रविश्य तद्योगी न भूयो विश्वमीक्षते ॥ २६ ॥

यत्तुर्यातीतपदं मौनान्तमुद्रासुलभतुर्यातीतस्थानमस्ति, वाङ्मनसाध्वनो दूरं स्तुतिध्यानयोरविषयं तत्तुर्यातीतस्थानम् अनुप्रविश्य तद्योगी तुर्यस्थानयोगवान् शिवयोगी भूयो विश्वं नेक्षते न पश्यतीत्यर्थः ॥ २६ ॥

जो तुरीयातीत अवस्था है वह वाणी एवं मन की पहुँच से परे है । उसमें प्रवेश कर योगी विश्व की ओर नहीं देखता ॥ २६ ॥

कुत इत्यत्राह—

नान्यत् पश्यति योगीन्द्रो नान्यज्जानाति किञ्चन ।
नान्यच्छृणोति सन्दृष्टे चिदानन्दमये शिवे ॥ २७ ॥

चिदानन्दस्वरूपे शिवे संदृष्टे सतीति शेषः । अपरोक्षीकृते सति योगीन्द्रो निजस्वरूपस्थः शिवयोगीश्वरः, अन्यत् स्वातिरिक्तं रूपं न पश्यति, तादृशं शब्दजालं न शृणोति, किमपि तदन्यं न जानातीत्यर्थः । मलशक्तिक्षयाद्

मायिकरूपादिदर्शनं नास्तीति भावः ॥ २७ ॥

शिवयोगी जब चिदानन्दमय शिव का सम्यक् दर्शन (अर्थात् साक्षात्कार) कर लेता है तब वह (शिव के अतिरिक्त अथवा अपने से भिन्न) किसी अन्य को न देखता, न जानता और न सुनता है अर्थात् मलशक्ति का क्षय हो जाने से उसे मायिक रूप रस आदि का अनुभव नहीं होता ॥ २७ ॥

अथोक्तार्थं स्फुटयन् चराचरमलनाशस्थलं समापयति—

असदेव जगत् सर्वं सदिव प्रतिभासते ।
ज्ञाते शिवे तदज्ञानं स्वरूपमुपपद्यते ॥ २८ ॥

सर्वं जगद् असदेव शिवातिरेकेण नास्त्येव, सदिव प्रतिभासते मलशक्तिवशात् तद्व्यतिरेकेण सदिव भासते, शिवे सच्चिदानन्दलक्षणे परशिवे ज्ञाते साक्षात्कृते सति तदज्ञानं भेदप्रतीतिकारणं तन्मूलाज्ञानं नष्टं सत् स्वरूपं कारणीभूतचिच्छक्त्याकारम्, उपपद्यते गच्छतीत्यर्थः । तस्मात् शिवातिरेकेण स्वविमर्शनं शिवयोगिनो नास्तीत्यर्थः ॥ २८ ॥

(शिवज्ञान के पहले) यह सम्पूर्ण असत् जगत् सत् जैसा प्रतीत होता है, शिव का ज्ञान होने पर वह अज्ञान (अर्थात् असत् को सत् समझने की बुद्धि अथवा भेदात्मकज्ञान) स्वरूप को प्राप्त हो जाती है क्योंकि स्वरूप स्वयं चित् रूप है ॥ २८ ॥

इति चराचरमललयस्थलम्

अथ भाण्डस्थलम्

अथ—

'ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः ।
तदेव शुक्लं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ॥

तस्मिन् लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन ।' **इति कठवल्लीश्रुत्यनुसारेण—**

यथा कुण्डलिनीशक्तिर्मायाकर्मानुसारिणी ।
नादबिन्द्वादिकं कार्यं तस्या इति जगत्स्थितिः ॥[१]

इत विश्वसारोत्तरवचनानुसारेण च चराचरमलशक्तिविनाशकस्य

---

१. क०उ० ६।१

शिवयोगिनो विचाररूपः परबिन्दुरेव भाण्डस्थलमिति निरूपयति—

ब्रह्माण्डशतकोटीनां सर्गस्थितिलयान् प्रति ।
स्थानभूतो विमर्शो यस्तद्भाण्डस्थलमुच्यते ॥ २९ ॥

अनेककोटिब्रह्माण्डसृष्टिस्थितिलयान् प्रत्याधारभूतो यो विमर्शः, अस्य चराचरमलविनाशकस्य शिवयोगिनः शब्दब्रह्मरूपविचारोऽस्ति, तद भाण्डस्थलमित्युच्यत इत्यर्थः ॥ २९ ॥

(**भाण्डस्थल वर्णन**)—सैकड़ों करोड़ ब्रह्माण्डों की सृष्टि स्थिति और प्रलय के प्रति जो स्थानभूत अर्थात् आधार स्थल विमर्श है उसको भाण्डस्थल कहा जाता है ॥ २९ ॥

अथ तद्विमर्शस्वरूपं विशदयति—

विमर्शाख्या पराशक्तिर्विश्वोद्भासनकारिणी ।
साक्षिणी सर्वभूतानां समिन्धे सर्वतोमुखी ॥ ३० ॥

षडध्वस्फारलक्षणशब्दार्थविचारपरत्वेन विमर्शाख्या पराशक्तिः शुद्धमाया विश्वोद्भासनकारिणी स्वकार्यरूपज्ञानादिभिर्विश्वप्रकाशिनी सर्वतत्त्वानां साक्षिणी सर्वतोमुखी सती समिन्धे शुद्धाध्ववासिनां परशक्तिसदाशिवेश्वर-विद्यातत्त्वलक्षणतनुकरणभुवनभोगरूपेण प्रकाशत इत्यर्थः ॥ ३० ॥

(ईश्वर की) विमर्श नामक पराशक्ति जो कि विश्व की रचना का कारण है, समस्त भूतों की साक्षिणी बनकर सर्वतोमुखी होती हुई (अर्थात् सम्पूर्ण एवं नाना रूपों में) प्रकाशित हो रही है ॥ ३० ॥

अथ तामेव विमर्शकलां विशेषयति—

विश्वं यत्र लयं याति विभात्यात्मा चिदाकृतिः ।
सदानन्दमयः साक्षात् सा विमर्शमयी कला ॥ ३१ ॥

स्पष्टम् ॥ ३१ ॥

जिसमें सम्पूर्ण विश्व लीन हो जाता है, जिसके कारण आत्मा चित् एवं आनन्दमय स्वरूप में भासित होता है वह साक्षात् विमर्शमयी कला है ॥ ३१ ॥

अथ भाण्डस्थलार्थं सूचयन् तत्त्वप्रसिद्धलिङ्गाङ्गरूपशिवजीवयोः स विमर्श एवाश्रय इति सूत्रद्वयेन प्रतिपादयति—

पराहन्तासमावेशपरिपूर्णविमर्शवान् ।
सर्वज्ञः सर्वगः साक्षी सर्वकर्ता महेश्वरः ॥ ३२ ॥

महेश्वर: परमेश्वर: पराहन्तासमावेशपरिपूर्णविमर्शवान् शिवजीवसाधारणीभूतात्मतत्त्वाक्रमणेन परिपूर्णविमर्शवान् सन् सर्वज्ञ: सर्वकर्ता सर्वग: सर्वव्यापक: कर्मसाक्षी भवेत्, अन्यथा स्फटिकादिप्रकाशवज्जडो[1] भवेदिति भाव: ॥ ३२ ॥

महेश्वर पराहन्ता के समावेश से परिपूर्ण विमर्श वाला, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी साक्षी और सबका रचयिता हो जाता है ॥ ३२ ॥

अथ किं तस्य स्वरूपमित्यत्राह—

विश्वाधारमहासंवित्प्रकाशपरिपूरितम् ।
पराहन्तामयं प्राहुर्विमर्शं परमात्मन: ॥ ३३ ॥

परमात्मन: 'अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाभि:'[2] **इति श्रुते:,** 'अहमादिर्हि देवानाम्'[3], 'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्त: सर्वं प्रवर्तते'[4] **इति भगवदुक्तेश्च परसंविद्रूपस्याहमात्मन: शिवस्य महासंवित्प्रकाशपरिपूरितं महाचित्प्रकाशपरिपूर्णं विश्वाधारं विश्वरूपाविद्यालक्षणाधोमायाधारं पराहन्तामयम्, यथा घटस्य कम्बुग्रीवादिमत्त्वं तदनतिरिक्तम्, तथा अहमो भावोऽहन्तेति 'पॄ पालनपूरणयो:' इति धातुगत्याण्डरसन्यायेनाशुद्धमिश्रशुद्धाध्वलक्षणसकलविश्वत: पूर्णजीवनभूतपराहन्तामयोर्ध्वमायारूपं विमर्शं सन्तं प्राहु: शिवाद्वैतशास्त्रप्रवीणा: प्रकर्षेणाहुरित्यर्थ: । अयं भाव:—**'पादोऽस्य विश्वा भूतानि'[5] **इति श्रुतेश्चराचरप्रपञ्चस्य माहेश्वरीयचित्क्रियालक्षणचरविस्ताररूपत्वात् तत्प्रतिस्फुरणायमानोर्ध्वमायारूपा विमर्शशक्तिरेव घृतकीटन्यायेनैकदेशविकारीभूता—**

वागीश्वरी परा विद्या कुटिला कुण्डली परा ।
शुद्धमायापरो बिन्दु: शब्दब्रह्मेति कथ्यते ॥

---

१. तुलनीय—
प्रागिवार्थोऽप्रकाश: स्यात् प्रकाशात्मतया विना ।
न च प्रकाशो भिन्न: स्यादात्मार्थस्य प्रकाशता ॥ (ई०प्र० १।५।२)
तथा
स्वभावमवभासस्य विमर्शं विदुरन्यथा ।
प्रकाशोऽर्थोपरक्तोऽपि स्फटिकादिजडोपम: ॥ (ई०प्र० १।५।११)

२. तै०उ० ३।१०।६		३. भ०गी० १०।२।४
४. भ०गी० १०।८		५. ऋ०सं० ८।४।१७

इति पौष्करवचनप्रसिद्धपर्यायनामवती षडध्वजननीति देशिकोपदेशेन विज्ञेया । अस्याश्चिद्रूपत्वेन निरंशत्वेऽप्यघटनघटनापटीयस्त्वेन स्वातन्त्र्यकल्पितांशभेदसम्भवान्न काचिदनुपपत्तिरिति ॥ ३३ ॥

विश्व की आधारभूता जो महासंवित् उसके प्रकाश से परिपूर्ण विमर्श को विद्वान् लोग पराहन्तामय कहते हैं (अथवा जो विश्व की आधारभूत महासंवित् के प्रकाश से परिपूर्ण तथा पराहन्तामय है विद्वान् लोग उसे परमात्मा का विमर्श कहते हैं) ॥ ३३ ॥

विमर्श—'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते' इस मुण्डक श्रुति के अनुसार तथा 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि' ऋचा के परिप्रेक्ष्य में यह चराचर समस्त प्रपञ्च माहेश्वरीय चित्क्रिया का विस्तार स्वरूप है । यह चित्क्रिया ही विमर्श के नाम से प्रसिद्ध है । धृतकीट न्यास से यह समस्त विकार परमात्मा का ही अंशभूत है । यही पराविद्या षडध्वा की जनयित्री है ।

विमर्शभाण्डविन्यस्तविश्वतत्त्वविजृम्भणः ।
अनन्यमुखसम्प्रेक्षी मुक्तः स्वात्मनि तिष्ठति ॥ ३४ ॥

मुक्तो मायापाशपटलनिर्मुक्तः शिवयोगी विमर्शभाण्डस्थापितशक्त्यादिपृथिव्यन्तसमस्ततत्त्वबुद्बुदः सन् स्वात्मन्येवोन्मुखः सन् स्वस्वरूपेण तिष्ठतीत्यर्थः ॥ ३४ ॥

विश्व तत्त्व की विजृम्भा अर्थात् विस्तार को विमर्शरूपी भाण्ड अर्थात् पात्र में रख देने वाला, अनन्यमुखसम्प्रेक्षी (अर्थात् दूसरे की अपेक्षा न करने वाला) मुक्त शिवयोगी अपने स्वरूप में स्थित रहता है ॥ ३४ ॥

इति भाण्डस्थलम्

अथ भाजनस्थलम्

अथ—

परास्य शक्तिर्विपुला विकर्ता (र्त्री)
स्वाभाविकी रुद्रसमानधर्मिणी ।
ज्ञानक्रियेच्छादिसहस्ररूपा
तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥[1]

इति शिवसङ्कल्पश्रुत्यनुसारेण—

---

१. वाजसवेय संहितायामिदं सूक्तं नोपलभ्यते ।

या सा माहेश्वरी शक्तिः सर्वानुग्राहिका शिवा ।
धर्मानुवर्तनादेव पाश इत्युपचर्यते ॥[1]

इति मृगेन्द्रवचनानुसारेण च तद्भाण्डस्थलसम्पन्नस्य शिवयोगिनो विमर्शस्याश्रयीभूता तिरोभावशक्तिरेव भाजनमिति सूत्रद्वयेन निरूपयति—

समस्तजगदण्डानां सर्गस्थित्यन्तकारणम् ।
विमर्शो भासते यत्र तद् भाजनमिहोच्यते ॥ ३५ ॥

समस्तभुवनाण्डसृष्ट्यादिकारणीभूतविमर्शपरबिन्दुर्यत्र तिरोधानरूपशिवसमवेतशक्तौ भासते, तत् तच्छक्तिस्वरूपम्, इह भाण्डस्थलसम्पन्नशिवयोगिविषये भाजनमित्युच्यते । अयं भावः—पञ्चकञ्चुकयुक्तचैतन्यस्य पुरुष इत्यभिधानवतः पाशत्रयानुसारिण्याः शिवशक्तेस्तिरोभाव इत्युपचारः ॥ ३५ ॥

(भाजनस्थल वर्णन)—समस्त जगदण्डों अर्थात् ब्रह्माण्डों की सृष्टि स्थिति एवं संहार का कारणभूत विमर्श जिसमें भासित होता है इस संसार में उसको भाजन कहते हैं (अर्थात् कलाविद्या राग काल नियति नामक पाँच कञ्चुक से आवृत चैतन्य रूप पुरुष के तीन मल जब समाप्त हो जाते हैं तब वह भाजन कहलाता है) ॥ ३५ ॥

विमर्शाख्या परा शक्तिर्विश्ववैचित्र्यकारिणी ।
यस्मिन् प्रतिष्ठिता ब्रह्म तदिदं विश्वभाजनम् ॥ ३६ ॥

विश्ववैचित्र्यकारिणी विमर्शाख्या परकुण्डलिनी शक्तिर्यस्मिन् तिरोभावशक्तेर्दृक्क्रियास्वरूपे प्रतिष्ठिता, ब्रह्म ब्रह्मस्वरूपं तदिदं वह्न्युष्णत्वशुक्लपटन्यायेन[2] स्वसमवेततिरोभावशक्तिदृक्क्रियास्वरूपं विश्वभाजनमित्यर्थः ॥ ३६ ॥

विश्व की विचित्र रचना करने वाली विमर्श नामक शक्ति जिसमें स्थिति है वह ब्रह्म विश्व का भाजन कहा जाता है ॥ ३६ ॥

अथ तिरोभावविमर्शयोः किञ्चिन्मिश्रीभावं सूत्रद्वयेन प्रकाशयति—

अन्तःकरणरूपेण जगदङ्कुररूपतः ।

---

१. मृ०तं०वि०पा० ७।११

२. यथा वह्नेरुष्णत्वं वह्नेः पृथङ्न भवति अथवा शुक्लपटस्य शौक्ल्यं पटादन्यन्न भवति तथा शक्तिः शक्तिमतो भिन्ना न भवति ।

यस्मिन् विभाति चिच्छक्तिर्ब्रह्मभूतः स उच्यते ॥ ३७ ॥

चिच्छक्तिः स्थूलवेद्यतिरोभावलक्षणा समवेतशक्तिर्जगदङ्कुररूपतो जगदङ्कुरकारणीभूतेन अन्तःकारणरूपेण मूलाहङ्काररूपेण यस्मिन् परबिन्दौ भाति, स विमर्शाख्यपरबिन्दुरेव ब्रह्मभूतः परब्रह्माख्यपरशिव इत्युच्यते । तच्चिद्व्यक्तिमत्परबिन्दुरेव महालिङ्गमित्यर्थः ॥ ३७ ॥

(परमशिव में समवेत) चित्शक्ति जगत् के अङ्कुर के रूप से अन्तःकरण अर्थात् मूल अहङ्कार के रूप में जिसमें भासित होता है वह (परशिव) ब्रह्म भूत कहा जाता है ॥ ३७ ॥

नन्वहङ्कारमिश्रवान्मिथ्याभूतः किमित्यत्राह—

यथा चन्द्रे स्थिरा ज्योत्स्ना विश्ववस्तुप्रकाशिनी ।
तथा शक्तिर्विमर्शात्मा प्रकारे ब्रह्मणि स्थिता ॥ ३८ ॥

चन्द्रे स्थिरा ज्योत्स्ना चन्द्रिका विश्ववस्तु सर्वविश्वं प्रकारे एकदेशे यथा प्रकाशिनी प्रकाशयति, तथा ब्रह्मणि दृक्क्रियात्मकपरशिवे स्थिरा स्थिरेण स्थिता विमर्शशक्तिः परामर्शमयी पराशक्तिः, विश्ववस्तु सर्वं जगत् प्रकारे स्वस्वातन्त्र्यकल्पितांशे प्रकाशिनी प्रकाशयतीत्यर्थः । मनोवाचामगोचरत्वेन पशुजनानां तिरोहित्वात् तिरोधानशक्तिरिति प्रसिद्धा या अस्ति, तथ्यकर्मकस्फूर्तिरूपायाश्चिक्रियाशक्तेः परब्रह्मपरशिवपरलिङ्गादिनामानि मुख्यानि, महाबिन्द्वादीनां गौणानीति विवेकः ॥ ३८ ॥

चन्द्रमा में स्थित रहने वाली किरण जिस प्रकार समस्त वस्तुओं का प्रकाश करती है उसी प्रकार ब्रह्म में स्थित विमर्शरूपा शक्ति प्रकार अर्थात् विशेषण के रूप में स्थित होकर (विश्व का प्रकाशन) करती है ॥ ३८ ॥

ननु मुख्यप्रकाशात्मकं ब्रह्म शक्त्येकरूपं सत् कथमास्त इत्यत्राह—

अकारः शिव आख्यातो हकारः शक्तिरुच्यते ।
शिवशक्तिमयं ब्रह्म स्थितमेकमहंपदे ॥ ३९ ॥

'अक्षराणामकारोऽस्मि'[1] इति भगवदुक्तेः, 'अकारो वै सर्वा वाक्'[2] इति श्रुतेश्च अकारः सप्तदशीयः शिव इत्याख्यातः, हकारः शक्तिः, 'हकारोऽन्त्यः कलारूपः' इत्यागमोक्तेश्चैतन्यरूपिणी दृक्क्रियाशक्तिरित्युच्यते । शिवशक्तिमयम् एवं शिवशक्तिरूपं ब्रह्म परब्रह्म एकं सद् अहंपदे

१. भ०गी० १०।३३ २. ऐ०आ० २।३।६

अहमिति स्थाने स्वरूपे स्थितं कालत्रयेऽपि वर्तत इत्यर्थः । अनेनाहंरूपं ब्रह्मेति वदन्तो वैयासिकाः प्रत्युक्ताः, नित्यापरोक्षं ब्रह्मेत्यङ्गीकृतत्वे तद्व्यतिरिक्तस्य कथञ्चिदप्यदृश्यत्वादिति ॥ ३९ ॥

('अहं' पद में) अकार शिव का बोधक है, हकार शक्ति कहा जाता है। इस प्रकार 'अहम्' पद में शिवशक्तिमय एक ब्रह्म स्थित है ॥ ३९ ॥

विशेष—इससे 'यत् साक्षात् अपरोक्षाद् ब्रह्म' कहने वाले वेदान्ती का मत अपास्त हो जाता है क्योंकि विना शक्ति के ब्रह्म की अपरोक्षानुभूति नहीं हो सकती।

अथैवंरूपाहन्तां प्राप्य शिवयोगी विश्वरूपः सन् प्रतिभातीत्याह—

अहन्तां परमां प्राप्य शिवशक्तिमयीं स्थिराम् ।
ब्रह्मभूयङ्गतो योगी विश्वात्मा प्रतिभासते ॥ ४० ॥

परमां देशकालाकारोत्तीर्णां शिवशक्तिमयीं शिवाभिन्नशक्तिमयीम् अहन्तां सप्तदशीयचित्कलां प्राय स्वात्माभेदेन स्थिरां स्थिरीभूतां ज्ञात्वा विमृश्य ब्रह्मभूयङ्गतो ब्रह्मस्वरूपं गतः शिवयोगी विश्वात्मा जगद्रूपः सन् प्रतिभासते, प्रकाशत इत्यर्थः ॥ ४० ॥

परम अर्थात् पूर्ण अत एव स्थिर शिव-शक्तिमयी अहन्ता को प्राप्त कर योगी ब्रह्म स्वरूप हुआ विश्व के रूप में प्रकाशित होता है ॥ ४० ॥

अथ कथं विश्वरूपः सन् शिवयोगी भासत इत्यत्र—

यथा न्यग्रोधबीजस्थः शक्तिरूपो महाद्रुमः ।
तथा हृदयबीजस्थं जगदेतच्चराचरम् ॥

इति श्रीपरात्रिंशिकाशास्त्रोक्तप्रकारेण वदन् भाजनस्थलं समापयति—

वृक्षस्थं पत्रपुष्पादि वटबीजस्थितं यथा ।
तथा हृदयबीजस्थं विश्वमेतत् परात्मनः[1] ॥ ४१ ॥

वृक्षस्थं वटवृक्षस्थं पत्रपुष्पादि समस्तं यथा वटबीजे स्थितं तिष्ठतीत्यर्थः, तथा एतद् विश्वं समस्तं परात्मनः परब्रह्मरूपस्य भाजनस्थलसम्पन्नस्य शिवयोगिनो हृदयबीजस्थम्, 'कला सप्तदशी ज्ञेया स्वान्तर्लीनचराचरा'

---

१. तुलनीय—
यथा न्यग्रोधबीजस्थः शक्तिरूपो महाद्रुमः ।
तथा हृदयबीजस्थं जगदेतत् चराचरम् ॥ (परात्रीशिका २५)

इत्यागमोक्तेः,

अथाद्यास्तिथयः सर्वाः स्वरा बिन्द्ववसानकाः ।
तदन्तःकालयोगेन सोमसूर्यौ प्रकीर्तितौ ॥
पृथिव्यादीनि तत्त्वानि पुरुषान्तानि पञ्चसु ।
क्रमात् कादिषु वर्गेषु मकारान्तेषु सुव्रते ॥
वाय्वग्निसलिलेन्द्राणां धारणानां चतुष्टयम् ।
तदूर्ध्वे शादि विख्यातं पुरस्ताद् ब्रह्मपञ्चकम् ॥
अमूलात्तत्क्रमाज्ज्ञेया क्षान्ता सृष्टिरुदाहृता ।'[1]

इति श्रीपरात्रिंशिकाशास्त्रोक्तप्रकारेण आदिक्षान्तपञ्चाशद्वर्णानां देशकालाकाररूपत्वात्,

प्रत्यवमर्शात्मासौ चितिः स्वरसवाहिनी परा वाग् या ।
आद्यन्तप्रतयाहृतवर्णगणा सत्यहन्ता सा ॥[2]

इति पञ्चाशिकाशास्त्रस्थित्या क्षकारस्य कषयोगरूपत्वेन हकारस्यैवान्त्यत्वाद् देशकालाकारवाचकसकलमातृकार्णक्रोडीकारलक्षण-प्रत्याहृताकारहकाररूपशिवशक्तिसम्मेलनस्फुरिततदन्तर्गतवेद्यसंस्कारलक्षण-बिन्दुस्पन्दमयनरशक्तिशिवात्मकाऽहंपरामर्शरूपचित्क्रियासामरस्यलक्षणहृदय-बीजे तादात्म्येन तिष्ठतीत्यर्थः । अत्र अकारादिहकारान्तसूक्ष्मादिवाक्शक्तिरूपो विमर्शस्तदात्मकाहंपदे पशुजनागोचरत्वेन भासमानानाहतनादलक्षण-परावाक्शक्तिमयी चिच्छक्तिस्तिरोधानशक्तिरिति रहस्यम्

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन गम्यते (भासते) ॥[3]

इति वैयाकरणवचनानुसारादिति ॥ ४१ ॥

जिस प्रकार वृक्ष में स्थित पत्र पुष्प (अपनी स्फुट सत्ता के पहले) वट-बीज में प्रच्छन्न रूप में स्थित रहता है उसी प्रकार परात्मा अर्थात् भाजनस्थल सम्पन्न शिवयोगी के हृदय बीज में यह विश्व स्थित रहता है ॥ ४१ ॥

विशेष—यहाँ हृदय पद से विमर्श शक्ति को समझना चाहिये । इस विमर्श शक्ति में पृथिवी से लेकर पुरुष तक पचीस तत्त्व स्थित रहते हैं । यही

---

१. प० त्री० ५ २. वि०प० ९

३. वा०प० १।११५

नहीं उसके ऊपर रहने वाले माया आदि तथा पञ्चब्रह्म भी इसी में वर्त्तमान हैं। यह विमर्श शक्ति अकारादि हकारान्त अर्थात् 'अहं' रूप में स्थित है ।

इति भाजनस्थलम्

अथ अङ्गालेपस्थलम्

अथ—'यथा पुष्पकरपलाश आपो न श्लिष्यन्ते, एवमेव पापकर्म न श्लिष्यते'[1] **इति छान्दोग्यश्रुत्यनुसारेण—**

एवंभूतस्य कर्माणि क्रियमाणानि योगिन: ।
प्रयान्ति नैव लिप्यन्ते पुण्यापुण्यानि संक्षयम्॥

इति योगजागमवचनानुसारेण च तिरोभावलक्षणदृक्क्रियाभाजनवत: शिवयोगिन: कर्माङ्गं लेपकं न भवतीत्यङ्गालेप इति सूत्रत्रयेण कथयति—

दिक्कालाद्यनवच्छिन्नं चिदानन्दमयं महत् ।
यस्य रूपमिदं ख्यातं सोऽङ्गालेप इहोच्यते ॥ ४२ ॥

दिग्देशकालत्रयेऽपि परिच्छेदरहितं चिदानन्दस्वरूपं बृहद् इदं प्रादुर्भूतदृक्क्रियारूपं यस्य तिरोभावभाजनसम्पन्नस्य शिवयोगिनो रूपं स्वरूपमिति ख्यातम्, स तद्भाजनस्थलसम्पन्न: शिवयोगी अङ्गकर्मलेपरहित इति इहोच्यत इत्यर्थ: ॥ ४२ ॥

(अङ्गालेपस्थल वर्णन)—जिसका देश काल आदि के अवच्छेद से रहित चिदानन्दमय महान् यह रूप कहा गया है वह यहाँ अङ्गालेप कहा जाता है ॥ ४२ ॥

अत्र दृष्टान्तमाह—

समस्तजगदात्माऽपि संविद्रूपो महामति: ।
लिप्यते नैव संसारैर्यथा धूमादिभिर्नभ: ॥ ४३ ॥

सकलजगच्चैतन्यात्मक: सन् चिद्रूपो महाधीमान् शिवयोगी धूममेघादिभिर्नभो यथा न लिप्यते, तथा संसारपापकर्मभिर्न लिप्यत इत्यर्थ: ॥ ४३ ॥

समस्त जगत्स्वरूप होता हुआ भी संविद्रूप महामतिमान् शिवयोगी सांसारिकता से उसी प्रकार प्रभावित नहीं होता जैसे कि धूम आदि से आकाश ॥ ४३ ॥

---

१. छा०उ० ४।१४।३

कुत इत्यत्राह—

न विधिर्न निषेधश्च न विकल्पो न वासना ।
केवलं चित्स्वरूपस्य गलितप्राकृतात्मनः ॥ ४४ ॥[1]

गलितेति निवृत्तप्राकृतकर्मप्रयत्नवतः केवलं चिद्रूपस्य शिवयोगिनो न विधिः विध्युक्तकर्म नास्ति, न निषेधश्च निषिध्यमानकर्मापि नास्ति, न विकल्पः अस्ति नास्तीति विकल्पो नास्ति, न वासना तद्वासनापि नास्तीत्यर्थः ॥ ४४ ॥

प्रकृति के समस्त गुणों से रहित केवल चित्स्वरूप योगी के लिये न विधि है और न निषेध । न विकल्प है न वासना ॥ ४४ ॥

अथ वासनारहितस्य शिवयोगिनोऽभेदज्ञानं सदृष्टान्तं सूत्रद्वयेन विशेषयति—

घटादिषु पृथग्भूतं यथाकाशं न भिद्यते ।
तथोपाधिगतं ब्रह्म नानारूपं न भिद्यते ॥ ४५ ॥

घटमठादिषु पृथग्भूतं व्योम यथा न भिन्नम् तथा देवदानवाद्युपाधिगतं ब्रह्म नानारूपमपि न भिद्यत इत्यर्थः ॥ ४५ ॥

जिस प्रकार घट आदि में पृथक् हुआ आकाश (घटाकाश मठाकाश आदि मूलरूप में) पृथक् नहीं होता उसी प्रकार (शरीर आदि अनेक) उपाधियों से अवच्छिन्न अत एव नाना रूप ब्रह्म भी भिन्न नहीं है (अर्थात् एक ही है) ॥ ४५ ॥

अनश्वरमनिर्देश्यं यथा व्योम प्रकाशते ।
तथा ब्रह्मापि चैतन्यमत्र वैशेषिकी कला ॥ ४६ ॥

व्योम नाशरहितमनुपमं सद् यथा प्रकाशते, तथा ब्रह्मापि प्रकाशते । अत्र ब्रह्मणि चैतन्यं दृक्क्रियारूपं वैशेषिकी कला जडभूतभूताकाशापेक्षया विशेषीभूतकलेति चिदाकाशरूपं ब्रह्मेत्यर्थः । अत्रानश्वरत्वं निरवयवत्वं न नित्यत्वमिति बोध्यम्, जडत्वादिति ॥ ४६ ॥

आकाश जिस प्रकार अनश्वर और अनिर्देश्य अर्थात् अतुलनीय होकर प्रकाशित होता है उसी प्रकार ब्रह्म भी है । चैतन्य इस ब्रह्म में विशेष कला है ॥ ४६ ॥

---

१. तुलनीय— न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च बाधकः ।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥
(पं०द० ६।३५)

अथ चिदाकाशरूप: शिवयोगी पूर्ण इत्युक्त्वा अङ्गालेपस्थलं समापयति—

न देवत्वं न मानुष्यं न तिर्यक्त्वं न चान्यथा ।
सर्वाकारत्वमाख्यातं जीवन्मुक्तस्य योगिन: ॥ ४७ ॥

जीवन्मुक्तस्य योगिन: कर्मपाशरहितत्वात् पुण्यकर्मसिद्धदेवत्वं नास्ति, पुण्यपापमिश्रतोद्भूतमानुष्यमपि नास्ति, पापजन्यतिर्यक्प्राणित्वं च नास्ति, तद्व्यतिरेकेण मायागर्भे मलमूर्च्छितत्वेन विद्यमानतापि नास्ति, किन्तु सर्वत्र परिपूर्णचिदाकाशरूपत्वमाख्यातम् । नित्यपरिपूर्णचित्प्रसादवत: शिवयोगिन: सिद्धान्तप्रसिद्धमायामलबिन्दुतिरोभावकर्मरूपपञ्चपाशबन्धो नास्तीति भाव: ॥ ४७ ॥

जीवन्मुक्त योगी न देव होता है न मनुष्य, न पक्षी और न अन्य कुछ । वह सर्वाकार कहा गया है ॥ ४७ ॥

इत्यङ्गालेपस्थलम्

अथ स्वपराज्ञस्थलम्

अथ—'यथा प्रियया (स्त्रिया) संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्, एवमेवायं पुरुष: प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्,'[१] इति बृहदारण्यकश्रुते:—

स्वयं स्वस्य परो नैव न पर: स्वस्य विद्यते ।
इति धार्येऽपि संलीने तस्मिन् ज्ञेयं न तस्य हि ॥

इति सर्वज्ञानोत्तरवचनाच्च अङ्गालेप: शिवयोगी प्राथमिकपञ्चस्थलप्रतिपादितपाशपञ्चकराहित्येन स्वं परं न जानातीति प्रतिपादयति—

अप्रमेये चिदाकारे ब्रह्मण्यद्वैतवैभवे ।
विलीन: किं नु जानाति स्वात्मानं परमेव वा ॥ ४८ ॥

अपरिमितेऽस्फुरणरूपे 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म'[२] इति श्रुते: स्वगतसजातीयविजातीयभेद[३]शून्ये परब्रह्मणि सामरस्यं गतोऽङ्गालेप: स्वात्मानं वा

१. बृ०उ० ४।३।२१ २. छा०उ० ६।२।१

३. एकस्मिन्नेव शरीरे इमौ हस्ताविमौ पादाविति स्वगतभेद: । एको गौरन्यस्माद् गो: भिन्न इति सजातीयो भेद: । गौरश्वाद् भिन्न इति विजातीयो भेद: ।

परं वा जानाति किम्? न जानातीत्यर्थः ॥ ४८ ॥

(स्वपराज्ञस्थल वर्णन)—अप्रमेय चित्स्वरूप अद्वितीय ब्रह्म में विलीन शिवयोगी न अपने को जानता है न परमात्मा शिव को ॥ ४८ ॥

अथ अमुमेवार्थं पञ्चभिः सूत्रैर्विशेषयति—

यत्र नास्ति भिदायोगादहं त्वमिति विभ्रमः ।
न संयोगो वियोगश्च न ज्ञेयज्ञातृकल्पना ॥ ४९ ॥
न बन्धो न च मुक्तिश्च न देवाद्यभिमानिता ।
न सुखं नैव दुःखं च नाज्ञानं ज्ञानमेव वा ॥ ५० ॥
नोत्कृष्टत्वं न हीनत्वं नोपरिष्टान्न चाप्यधः ।
न पश्चान्नैव पुरतो न दूरे किञ्चिदन्तरे ॥ ५१ ॥
सर्वाकारे चिदानन्दे सत्यरूपिणि शाश्वते ।
पराकाशमये तस्मिन् परे ब्रह्मणि निर्मले ॥ ५२ ॥
एकीभावमुपेतानां योगिनां परमात्मनाम् ।
परापरपरिज्ञानपरिहासकथा कुतः ॥ ५३ ॥

यत्र अद्वैतवैभववति ब्रह्मणि योगाद् दृग्द्वयवत् समानसमरसयोगाद् अहं त्वमिति भेदविभ्रमो नास्ति, उभयोरप्यहंप्रत्ययैकत्वविश्रान्तत्वात् । संयोग-वियोगौ च न स्तः, ज्ञेयज्ञातृकल्पना च यत्र नास्ति, बन्धो मुक्तिश्च यत्र नास्ति, देवत्वाद्यभिमानोऽपि यत्र नास्ति, न सुखं वैषयिकसुखं यत्र नास्ति, नैव तादृग् दुःखं नेन्द्रियजं ज्ञानं नाज्ञानं न श्रेष्ठत्वं न निकृष्टत्वं नोपरिभागो न चाधोभागो न पश्चाद्भागो न पूर्वभागश्च । तस्मिन्नदूरे किञ्चिद्दूरे सर्वस्वरूपे चिदानन्दसत्यरूपिणि शाश्वते निर्मले पराकाशमये ब्रह्मणि एकीभावं गतानाम् अत एव परब्रह्मस्वरूपाणां शिवयोगिनां परं स्वं च जानामीति परिहासप्रसङ्गः कुतः? व्यापकत्वादेकत्वान्नास्तीत्यर्थः ॥ ४९-५३ ॥

जहाँ भेद के साथ योग होने से (अर्थात् जीव और ब्रह्म में भेदबुद्धि होने से) 'अहम्' ऐसा भ्रम नहीं है (अथवा योग अर्थात् जीव और ब्रह्म का ऐक्य होने से जहाँ 'अहम्' ऐसा भेद अर्थात् भ्रम नहीं है), न संयोग है न वियोग, न ज्ञेय और ज्ञाता की कल्पना है । न बन्ध, न मोक्ष है और न (अपने विषय में या अन्यत्र) देवत्व आदि का अभिमान है । न सुख है न दुःख, न अज्ञान है न ज्ञान, न उत्कृष्टत्व और न अपकृष्टत्व है, न ऊपर न नीचे, न पीछे न आगे, न दूर और न निकट की स्थिति है । सर्वरूप चिदानन्द

सत्यस्वरूप शाश्वत पर आकाश अर्थात् चिदाकाशमय उस निर्मल ब्रह्म के साथ ऐक्यभाव को प्राप्त महात्मा योगियों के विषय में पर-अपर परिज्ञान रूप परिहास की चर्चा कैसे हो सकती है? ॥ ४९-५३ ॥

अथेममर्थमेव विशेषयन् स्वपराज्ञस्थलं समापयति—

देशकालानवच्छिन्नतेजोरूपसमाश्रयात् ।
स्वपरज्ञानविरहात् स्वपराज्ञस्थलं विदुः ॥ ५४ ॥

तेजोरूपं चित्प्रकाशरूपमित्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ५४ ॥

देश काल के अवच्छेद से परे तेजस् रूप परब्रह्म के आश्रयण अर्थात् सामरस्य तथा स्वपर ज्ञान के अभाव वाली शिवयोगी की अवस्था को विद्वज्जन स्वपराज्ञस्थल कहते है ॥ ५४ ॥

इति स्वपराज्ञस्थलम्

अथ भावाभावलयस्थलम्

अथ—

निद्रान्तं जागरितान्तं चोभौ यो वा न पश्यति ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥[1]

इति कठवल्लीश्रुत्यनुसारेण,

भावाभावद्वयातीतं स्वप्नजागरणातिगम् ।
मृत्युजीवननिर्मुक्तं तत्त्वं तत्त्वविदो विदुः ॥

इति योगजागमवचनानुसारेण च तत्स्वपरज्ञानशून्यस्य शिवयोगिनो भावाभावौ न स्त इति निरूपयति—

त्वन्ताहन्ताविनिर्मुक्ते शून्यकल्पे चिदम्बरे ।
एकीभूतस्य सिद्धस्य भावाभावकथा कुतः ॥ ५५ ॥

परिच्छिन्नशरीरविशिष्टत्वमहंभावरहिते शून्यसदृशे चिदाकाशे एकरसीभूतस्य स्वपरज्ञानशून्यस्य सिद्धस्य शिवयोगिनो भावाभावप्रसङ्गः कुतः? नास्तीत्यर्थः ॥ ५५ ॥

(भावाभावलयस्थल वर्णन)—'त्वम्' और 'अहम्' भाव से रहित शून्यकल्प चिदाकाश में एकीभूत सिद्ध शिवयोगी के लिये भाव और अभाव

---

१. क०उ० २।२१

की कथा कहाँ से हो सकती है (अर्थात् वहाँ न भाव है न अभाव) ॥ ५५ ॥

अथ तद्भावाभावलयस्वरूपं सूत्रद्वयेन प्रतिपादयति—

अहंभावस्य शून्यत्वादभावस्य तथात्मनः ।
भावाभावविनिर्मुक्तो जीवन्मुक्तः प्रकाशते॥ ५६ ॥

अहंभावराहित्याद् आत्मनः 'अयमात्मा ब्रह्म'[1] इति प्रसिद्ध-परमात्मनोऽभावस्य तथा शून्यत्वाज्जीवन्मुक्तः स्वपरज्ञानशून्यः सन् अमनस्कतन्द्रिमुद्रास्थितः शिवयोगी भावाभावविनिर्मुक्तः, अहमिति परिच्छिन्न-देहाहंभावः, आत्मा नास्तीत्यभावः, एवंरूपभावाभावशून्यः सन् स्वस्वरूपेण प्रकाशते । सकलदुःखभोक्ता सन् सुप्तिलयगामिमूलाहङ्कारोऽस्तीति भावेन सर्वसाक्षिकत्वेनावस्थात्रयेऽप्यवच्छेदेन भासमानचैतन्यं नास्तीत्यभावेन च विविक्त एव भावाभावरहित इत्यर्थः ॥ ५६ ॥

अहम् भाव तथा आत्मा के अभाव के शून्य होने के कारण भाव और अभाव से विनिर्मुक्त जीवन्मुक्त प्रकाशित होता है ॥ ५६ ॥

सुखदुःखादिभावेषु नाभावो भाव एव वा ।
विद्यते चित्स्वरूपस्य निर्लेपस्य महात्मनः ॥ ५७ ॥

उक्तलक्षणमूलाहङ्कारलेपरहितस्य चित्स्वरूपस्य महापुरुषस्य सुख-दुःखादिसम्बन्धेष्वभावो भाव एव वा न विद्यते, निर्लेपत्वेन व्यापकत्वा-दित्यर्थः ॥ ५७ ॥

निर्लेप अर्थात् पाप पुण्य आदि द्वन्द्वों से परे महान् आत्मा वाले चित्-स्वरूप शिवयोगी के लिये सुख दुःख आदि भावों के विषय में न भाव रहता है न अभाव ॥ ५७ ॥

एवं भावाभावशून्यस्य किमपि न दृश्यत इत्यत्राह—

यस्मिन् ज्योतिषि चिद्रूपे दृश्यते नैव किञ्चन ।
सद्रूपं वाप्यसद्रूपं भावाभावं विमुञ्चतः ॥ ५८ ॥

स्पष्टम् ॥ ५८ ॥

भाव और अभाव का त्याग करने वाले (अर्थात् इस द्वन्द्व से परे) चित्स्वरूप तेजोमय शिवयोगी को सद्रूप अथवा असद्रूप कुछ भी नहीं दिखलायी पड़ता ॥ ५८ ॥

---

१. ऐ०उ० ५।३

अथ भावाभावलयस्थलं समापयति—

प्रतीयमानौ विद्येते भावाभावौ न कुत्रचित् ।
लिङ्गैक्ये सति यत्तस्माद् भावाभावलयस्थलम् ॥ ५९ ॥

प्रकाशमानौ भावाभावौ शिवलिङ्गैकरसीभूतमहापुरुषविषये क्वचिदपि यस्मात् कारणान्न विद्येते न स्तः, तस्माद् भावाभावलयस्थलमित्युक्तमित्यर्थः ॥ ५९ ॥

जिस कारण शिवलिङ्ग के साथ एकत्व (अर्थात् सामरस्य) को प्राप्त शिवयोगी के लिये प्रतीयमान भाव-अभाव कहीं नहीं विद्यमान रहते उस कारण (वह दशा) भावाभावलयंस्थल कही जाती है ॥ ५९ ॥

इति भावाभावलयस्थलम

अथ ज्ञानशून्यस्थलम्

अथ—'अप अप्स्वग्निमग्नौ वायुं वायौ व्योम्नि व्योम लक्षयेत् । एवमन्तर्गतं चित्तं पुरुषो प्रतिमुच्यते' **इति मैत्रेयश्रुत्यनुसारेण—**

सर्वशून्यं निराभासं सामरस्यं तथा भवेत् ।
घृते घृतं यथा न्यस्तं क्षीरे क्षीरं यथैव च ॥

इति सर्वज्ञानोत्तरवचनानुसारेण च स्वपरज्ञानशून्यत्वेन भावाभावलयसम्पन्नस्य शिवयोगिनोऽभेदसुलभज्ञानशून्यस्थलं सूत्रत्रयेण निरूपयति—

परापरसमापेक्षभावाभावविवेचनम् ।
ज्ञानं ब्रह्मणि तन्नास्ति ज्ञानशून्यस्थलं विदुः ॥ ६० ॥

परापरज्ञानाभिलाषयुक्तभावाभावविवेकवज्ज्ञानं ब्रह्मणि परब्रह्मस्वरूपे भावाभावलयसम्पन्ने शिवयोगिनि नास्ति, तद् ज्ञानशून्यस्थलमिति विदुः, जानन्तीत्यर्थः ॥ ६० ॥

(ज्ञानशून्यस्थल वर्णन)—पर और अपर के अपेक्षी भाव और अभाव का विवेचन रूप ज्ञान ब्रह्म में (अर्थात् परब्रह्म स्वरूप शिवयोगी में) नहीं रहता। इस कारण यह (विद्वज्जनों के द्वारा) ज्ञानशून्यस्थल कहा गया है ॥ ६० ॥

तर्हि स कथं तिष्ठतीत्यत्राह—

जले जलमिव न्यस्तं वह्नौ वह्निरिवार्पितम् ।
परे ब्रह्मणि लीनात्मा विभागेन न दृश्यते ॥ ६१ ॥

जलमिश्रजलमिव वह्निस्थापितवह्निरिव परब्रह्मस्वरूपमहालिङ्गे लयीभूतभावाभावप्रयत्नवान् शिवयोगी भिन्नभावेन न दृश्यते, न तिष्ठतीत्यर्थः, ज्ञानशून्यत्वादिति । अत्र द्वैतज्ञानशून्यशिवाद्वैते जलवह्निदृष्टान्त आप्यतैजसस्थलरूपदृग्युगैक्यवत् समानसमरसरूपः, न तु स्वरूपहानिवृद्धिकरः, समुद्रजलवदिति ॥ ६१ ॥

जल में मिलाये गये जल, अग्नि में डाली गयी अग्नि के समान परब्रह्म में लीन आत्मा वाला शिवयोगी पृथक् नहीं दिखलायी पड़ता ॥ ६१ ॥

सर्वात्मनि परे तत्त्वे भेदशङ्काविवर्जिते ।
ज्ञात्रादिव्यवहारोत्थं कुतो ज्ञानं विभाव्यते ॥ ६२ ॥

स्पष्टम् ॥ ६२ ॥

भेद की शङ्का से रहित विश्वरूप परतत्त्व में ज्ञाता ज्ञेय और ज्ञान के व्यवहार से उत्पन्न (त्रिपुटी) ज्ञान का अनुभव कहाँ से होगा? ॥ ६२ ॥

अथ तदेव सूत्रत्रयेण विशेषयति—

निर्विकारं निराकारं नित्यं सीमाविवर्जितम् ।
व्योमवत् परमं ब्रह्म निर्विकल्पतया स्थितम् ॥ ६३ ॥
न पृथ्व्यादीनि भूतानि न ग्रहा नैव तारकाः ।
न देवा न मनुष्याश्च न तिर्यञ्चो न चापरे ॥ ६४ ॥
तस्मिन् केवलचिन्मात्रसत्तानन्दैकलक्षणे ।
त्वन्ताहन्तादिसंरूढं विज्ञानं केन भाव्यते ॥ ६५ ॥

मृदादिवद्विकाररहितं नीलपीताद्याकाररहितम् अवधिरहितं परं ब्रह्म व्योमवन्निर्विकल्पतया भेदराहित्येन स्थितं तिष्ठति । अत एव भिन्नतया प्रतीयमानभूम्यादिभूतानि न, आदित्यादिनवग्रहाश्च न, अश्विन्यादितारकाश्च न, विष्णवादिदेवाश्च न, मनुष्याश्च न, तिर्यक्प्राणिनश्च न, परे च न (भवन्ति) । तस्मात् केवलसच्चिदानन्दस्वरूपे ब्रह्मणि त्वमहमादिकव्यवहारोत्थविशेषज्ञानं केन भाव्यते? न केनापि भाव्यत इत्यर्थः ॥ ६३-६५ ॥

विकारों से शून्य, आकाररहित, नित्य, असीम, आकाश के समान सर्वव्यापी परम ब्रह्म निर्विकल्प रूप में वर्त्तमान है । पृथिवी आदि पञ्च महाभूत, चन्द्र सूर्य आदि (नव) ग्रह, (अश्विनी आदि) तारायें, देवता, मनुष्य, पक्षी अथवा अन्य सब ये प्रतीत नहीं होते । केवल सत् चित् आनन्द स्वरूप उस ब्रह्मरूप शिवयोगी में 'त्वम्' और अहम्' आदि की भावना से दृढ़ ज्ञान

(अर्थात् भेद ज्ञान) किसे अनुभूत हो सकता है अर्थात् किसी को नहीं ॥ ६३-६५ ॥

अथ—'एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नात: परं वेदितव्यं च किञ्चित्'[1] **इति श्वेताश्वतरश्रुत्यनुसारेण,** 'केवलं ज्ञेयमित्युक्तं वेदितव्यं च किञ्चन' **इति देवीकालोत्तरवचनानुसारेण च स्वस्वरूपज्ञानिनस्त्रिपुटीमयप्रपञ्चज्ञानं नास्तीति पञ्चभिः सूत्रैः प्रतिपादयति—**

ज्ञेयाभावाद्विशेषेण शून्यकल्पं विभाव्यते ।
ज्ञातृज्ञेयादिभिः शून्यं शून्यं ज्ञानादिभिर्गुणैः ॥ ६६ ॥
आदावन्ते च मध्ये च शून्यं सर्वत्र सर्वदा ।
द्वितीयेन पदार्थेन शून्यं शून्यं विभाव्यते ॥ ६७ ॥

ज्ञेयाभावात् सकलवस्तुविषयकज्ञानाभावेन ज्ञेयपदार्थशून्यत्वात्, 'संविदेव भगवती विषयसत्त्वोगमे शरणम्' इति प्राभाकरैरप्यङ्गीकृतत्वात्, शून्यकल्पं ज्ञानमिति शेषः, विभाव्यते । तस्माद् ज्ञातृज्ञेयादित्रिपुटीमय-प्रपञ्चशून्यं ज्ञानादिभिर्ज्ञानिच्छादिगुणैश्च शून्यम् आद्यन्तमध्येषु सर्वत्र सर्वदा शून्यम् । केनेत्यत्र द्वितीयेन पदार्थेन शून्यमिति । तस्मात् शून्यं शून्यज्ञानं विभाव्यते ॥ ६६-६७ ॥

विशेष रूप से ज्ञेय का अभाव होने के कारण शून्य ज्ञान का अनुभव होता है । यह अनुभव ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय आदि से शून्य तथा ज्ञान इच्छा आदि गुणों से शून्य होता है । यह आदि मध्य और अन्त में सर्वत्र सर्वदा शून्य होता है । यह शून्य (ब्रह्म से अतिरिक्त किसी) द्वितीय पदार्थ से शून्य अनुभूत होता है ॥ ६६-६७ ॥

अथ तत्किमित्यत्राह—

केवलं सच्चिदानन्दप्रकाशाद्वयलक्षणम् ।
शून्यकल्पं पराकाशं परब्रह्म प्रकाशते ॥ ६८ ॥

केवलसच्चिदानन्दप्रकाशाद्वितीयशून्यचिह्नम्, अत एव शून्यसदृशं परब्रह्म महाकाशरूपं सत् प्रकाशत इत्यर्थः ॥ ६८ ॥

केवल, सत् चित् आनन्द प्रकाश और अद्वितीय लक्षण वाला, शून्य-सदृश पराकाश परब्रह्म प्रकाशित होता है ॥ ६८ ॥

---

१. श्वे०उ० १।१२

अथैवंरूपे ब्रह्मणि तादात्म्यापन्नस्य विकल्पज्ञानोत्पत्तिर्न सम्भवतीत्यत्राह—

शून्यज्ञानादिसङ्कल्पे शून्यसर्वार्थसाधने ।
ज्योतिर्लिङ्गे चिदाकारे स्वप्रकाशे निरुत्तरे ।
एकीभावमुपेतस्य कथं ज्ञानस्य सम्भवः ॥ ६९ ॥

शून्यज्ञानेच्छादिसङ्कल्पवति शून्यसर्वार्थसाधने स्वस्मादुत्तररहिते परमशिवलिङ्गज्योतीरूपचिदाकारस्वप्रकाशे एकीभावं गतस्य शिवयोगिनो ज्ञानस्य सम्भवो वृत्तिज्ञानाविर्भावः कथं स्यात्? न कथञ्चिदपीत्यर्थः ॥ ६९ ॥

जो, ज्ञान आदि सङ्कल्प से शून्य, समस्त पुरुषार्थ साधनों से रहित निरुत्तर (अर्थात् सर्वोपरि), चित्स्वरूप, स्वप्रकाश ज्योतिर्लिङ्ग के साथ एक हो गया उसे ज्ञान कहाँ से होगा? (क्योंकि वह तो स्वयं ज्ञान स्वरूप हो गया) ॥ ६९ ॥

अथ—'नेति नेत्यस्थूलमनणवह्रस्वमदीर्घमप्लुतम्'[१] इति बृहदारण्यश्रुत्यनुसारेण,

अनाख्ये तु निरालम्बे ह्यग्राह्ये भाववर्जिते ।
निस्तत्त्वे योजितो मुक्त इति शास्त्रस्य निश्चयः॥

इति निश्वासकारिकातन्त्रानुसारेण,

पशुपशुपतियोगो दृग्युगैक्यप्रयोगो
गगनगगनदेशः सिन्धुसिन्धुप्रदेशः ।
समसमरसरूपो भिन्नभिन्नस्वरूपो निशि
समरसकान्तावल्लभाश्लेषकान्तः ॥

इति त्रयीतन्त्रयुक्तियुक्ताभियुक्तोक्त्यनुसारेण च परमुक्तलक्षणमुक्त्वा ज्ञानशून्यस्थलं समापयति—

यस्य कार्यदशा नास्ति कारणत्वमथापि वा ।
शेषत्वं नैव शेषित्वं स मुक्तः पर उच्यते ॥ ७० ॥

यस्य सर्वं नेति नेति निवार्य तत्त्वातीतस्य स्वस्वरूपसम्पन्नस्य कार्यावस्था नास्ति, अथापि वा तन्न चेत्कारणत्वं च नास्ति, यस्य परब्रह्मपरशिवलिङ्गादिपर्यायनामोच्चारवतः स्वस्वरूपसम्पन्नस्य शेषत्वम् अवशेषत्वं शेषित्वं शेषवत्त्वं च नास्ति, स नित्यपरिपूर्णः सच्चिदानन्दस्वरूपपरमुक्त

१. वृ०उ० ३।९।२६

एवेत्युच्यत इत्यर्थः । अयं भावः—'अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावाद् ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः'[१] **इति श्वेताश्वतरश्रुत्या,** 'पाशबद्धो भवेज्जीवः पाशमुक्तः परः शिवः' इति वीरागमवचनेन, देशिकोपदेशेन, स्वानुभवेन[२] **च मायामलबिन्दु-तिरोभावकर्मपाशविमुक्तपरशिवशब्दवाच्यस्वरूपाभिव्यक्तिरेव परमुक्तिरिति । एतल्लिङ्गत्रयं शिवलिङ्गैक्यस्याङ्गत्रयस्य क्रमेण संयोजनीयम् ॥ ७० ॥**

जिसकी न तो कार्यावस्था है न कारणावस्था । जो न शेष (अर्थात् अङ्ग) है न शेषी (अर्थात् अङ्गी) वह पर मुक्त (अर्थात् श्रेष्ठ मुक्त) है ॥ ७० ॥

इति ज्ञानशून्यस्थलम्

(अथोपदेशोपसंहारवर्णनम्)

अथैतच्छास्त्रसङ्ग्रहकृच्छिवाचार्यः स्वशिष्यप्रशिष्यान् प्रत्येतच्छास्त्रोपरमं सूचयन् रेणुकगणेश्वरो निरुत्तरः सन् तूष्णीं स्थित इति सूत्रद्वयेन कथयति—

एतावदुक्त्वा परमप्रबोधमद्वैतमानन्दशिवप्रकाशम् ।
देव्यै पुरा भाषितमीश्वरेण तूष्णीमभूद् ध्यानपरो गणेन्द्रः ॥ ७१ ॥

गणेन्द्रो रेणुकगणेश्वरः परमेश्वरेण देव्यै पार्वत्यै पुरा रहस्यं सद्भाषितं शिवानन्दप्रकाशकं शिवाद्वैतरूपं परमप्रबोधम् उपक्रमोपसंहारमध्यपरामर्शेष्वपि स्वस्वरूपप्रकाशकपिण्डादिवृत्तिज्ञानशून्यान्तवीरशैवशास्त्रमेतावदनेन प्रकारेणोक्त्वा कुम्भसम्भवायोपदिश्य स्वस्वरूपध्यानासक्तः सन् तूष्णीमभूद् मौनमुद्रावलम्बी बभूवेत्यर्थः ॥ ७१ ॥

(उपदेशोसंहार वर्णन)—गणेश्वर रेणुकाचार्य ईश्वर (अर्थात् शिव) के द्वारा पहले देवी पार्वती को गुप्त रूप से उपदिष्ट अद्वैत आनन्द शिव प्रकाश करने वाले परम प्रबोध अर्थात् उत्तम ज्ञान का इस प्रकार एवं इतना उपदेश देकर ध्यानस्थ होकर मौन हो गये ॥ ७१ ॥

एवमुक्त्वा समासीनं शिवयोगपरायणम् ।
रेणुकं तं समालोक्य बभाषे प्राञ्जलिर्मुनिः ॥ ७२ ॥

बभाषे स्तुतिमारब्धवानित्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ७२ ॥

ऐसा कहकर (आसन पर) विराजमान शिवयोगी उस रेणुकाचार्य को देखकर अगस्त्य मुनि हाथ जोड़कर बोले ॥ ७२ ॥

---

१. श्वे०उ० १।८

२. तुलनीय—शास्त्रतः गुरुतः स्वतः (तं०आ०)

अथ सप्तभिः सूत्रैः श्रीरेणुकस्तुतिं करोत्यगस्त्य उवाचेति—

शिवयोगविशेषज्ञ शिवज्ञानमहोदधे ।
समस्तवेदशास्त्रादिव्यवहारधुरन्धर ॥ ७३ ॥
आलोकमात्रनिर्धूतसर्वसंसारबन्धन ।
स्वच्छन्दचरितोल्लास स्वप्रकाशात्मवच्छिव ॥ ७४ ॥
अवतीर्णमिदं शास्त्रमनवद्यं त्वदाननात् ।
श्रुत्वा मे मोदते चित्तं ज्योतिः पश्ये शिवाभिधम् ॥ ७५ ॥

शिवध्यानयोगविशेषज्ञ, शिवज्ञानस्य समुद्र, समस्तवेदागमपुराणादिशास्त्रव्यवहारभारवाहक, दर्शनमात्रनिवारितसमस्तजनसंसारबन्ध, स्वेच्छाचाराविर्भाव, स्वप्रकाशेनैव चैतन्यवच्छिवस्वरूप, भो गणेन्द्र, त्वन्मुखादाविर्भूतं दोषरहितमिदं वीरशैवशास्त्रं श्रुत्वा मे मनो नन्दति शिवप्रकाशं पश्ये ॥ ७३-७५ ॥

हे शिवयोग के विशेषज्ञ! हे शिवज्ञान के महासागर! हे समस्त वेदशास्त्र आदि व्यवहार के धुरन्धर! हे आलोकमात्र से अपवारित समस्त संसाररूप बन्धन वाले! हे स्वच्छन्दचरित से उल्लासयुक्त! हे स्वप्रकाशरूप शिव! आपके मुख से निःसृत इस निर्मल शास्त्र को सुनकर मेरा चित्त आनन्द से भर गया। मैं शिव नामक ज्योति का साक्षात्कार कर रहा हूँ ॥ ७३-७५ ॥

अद्य मे सफलं जन्म गतो मे चित्तविभ्रमः ।
सञ्जाता पाशविच्छित्तिस्तपांसि फलितानि मे ॥ ७६ ॥

'अद्य मे' इति सर्वत्र सम्बन्धः ॥ ७६ ॥

आज मेरा जन्म सफल हो गया । मेरे मन का सन्देह दूर हो गया । पाश कट गये और मेरी तपस्यायें फलीभूत हो गयीं ॥ ७६ ॥

इदानीमेव मे जातं मुनिराजोत्तमोत्तमम् ।
इतः परं मया नास्ति सदृशो भुवनत्रये ॥ ७७ ॥

मुनीश्वराणाम् ऋषिश्रेष्ठानां उत्तमोत्तमत्वमित्यर्थः, धर्मधर्मिणोरभेदात् । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ७७ ॥

इसी समय मुझमें मुनिश्रेष्ठता आ गयी । इसके बाद तीनों भुवनों में मेरे सदृश कोई नहीं है ॥ ७७ ॥

शास्त्रं तव मुखोद्गीर्णं शिवाद्वैतपरम्परम् ।
मां विना कस्य लोकेषु श्रोतुमस्ति तपः शुभम् ॥ ७८ ॥

तपसां परिपाकेन शङ्करस्य प्रसादतः ।
आगतस्त्वं महाभाग मां कृतार्थयितुं गिरा ॥ ७९ ॥

उद्गीर्णं बहिर्निर्गतमित्यर्थः । शास्त्रं वीरशैवशास्त्रम् । महाभाग श्रेष्ठेत्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ७८-७९ ॥

आपके मुख से निकले हुए शिवाद्वयपरम्परा वाले शुभ शास्त्र को सुनने के लिये मेरे अतिरिक्त और किसकी तपस्या हो सकती है ॥ ७८ ॥

हे महाभाग! मेरी तपस्या के परिपाक से शङ्कर की कृपा के कारण आप अपनी वाणी से मुझे कृतकृत्य करने के लिये आये हैं ॥ ७९ ॥

अथ सङ्ग्रहकृच्छिवाचार्यः कुम्भसम्भवं श्रीरेणुकः स्तुतिं कृतवानित्याह—

इति स्तुवन्तं विनयादगस्त्यं मुनिपुङ्गवम् ।
आलोक्य करुणादृष्ट्या बभाषे स गणेश्वरः ॥ ८० ॥

विनयाद् भक्त्येत्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ८० ॥

इस प्रकार विनयपूर्वक स्तुति करते हुए मुनिश्रेष्ठ अगस्त्य को कृपामयी दृष्टि से देखकर गणेश्वर रेणुकाचार्य ने कहा ॥ ८० ॥

अगस्त्य मुनिशार्दूल तपःसिद्धमनोरथ ।
त्वां विना शिवशास्त्रस्य कः श्रोतुमधिकारवान् ॥ ८१ ॥

एकोत्तरशतं प्रोक्ता दीक्षाभेदा मया पुरा ।
दीक्षितस्तासु गुरुणा भक्तोऽस्मिन्नधिकारवान् ॥

इति योगजागमवचनाद् अस्मिन् शास्त्रे त्वां विना अधिकारी नास्तीत्यर्थः ॥ ८१ ॥

हे तपस्या के द्वारा सिद्धमनोरथ वाले मुनिश्रेष्ठ अगस्त्य! आपके विना शिवशास्त्र को सुनने का अधिकारी दूसरा कौन हो सकता है? ॥ ८१ ॥

पात्रं शिवप्रसादस्य भवानेको न चापरः ।
इति निश्चित्य कथितं मया ते तन्त्रमीदृशम् ॥ ८२ ॥

ईदृशं वीरशैवतन्त्रमित्यर्थः ॥ ८२ ॥

'शिव की कृपा के पात्र एक आप ही हैं दूसरा कोई नहीं'—ऐसा निश्चय कर मैने इस प्रकार के तन्त्र का आपको उपदेश दिया ॥ ८२ ॥

स्थाप्यतां सर्वलोकेषु तन्त्रमेतत् त्वया मुने ।
ईदृशं शिवबोधस्य साधनं नास्ति कुत्रचित् ॥ ८३ ॥

स्पष्टम् ॥ ८३ ॥

हे मुने! आप इस तन्त्र का सब लोगों में (अथवा समस्त लोको में) प्रचार प्रसार और स्थापन कीजिये । शिवज्ञान का ऐसा साधन कहीं नहीं है ॥ ८३ ॥

रहस्यमेतत् सर्वज्ञः सर्वानुग्राहकः शिवः ।
अवादीत् सर्वलोकानां सिद्धये पार्वतीपतिः ॥ ८४ ॥

सिद्धये भोगमोक्षसिद्धय इत्यर्थः । एतद्रहस्यं वीरशैवरहस्यमित्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ८४ ॥

सर्वज्ञ सर्वानुग्रहकर्त्ता पार्वतीपति शिव ने सब लोगों की सिद्धि के लिये इस रहस्य (तन्त्रोपनिषत्) को बतलाया ॥ ८४ ॥

तदिदं शिवसिद्धान्तसाराणामुत्तमोत्तमम् ।
वेदवेदान्तसर्वस्वं विद्याचारप्रवर्तकम् ॥ ८५ ॥
वीरमाहेश्वरग्राह्यं शिवाद्वैतप्रकाशकम् ।
परीक्षितेभ्यो दातव्यं शिष्येभ्यो नान्यथा क्वचित् ॥ ८६ ॥

तदिदं वीरशैवषट्स्थलशिवयोगमार्गप्रतिपादकं तदिदं शास्त्रं कामिकादि-वातुलान्ताष्टाविंशतिदिव्यागमसाराणामुत्तमोत्तमं चतुर्वेदद्वात्रिंशदुपनिषत्सर्वस्वं ज्ञानक्रियाप्रकाशकं वीरमाहेश्वरैरङ्गीकरणीयं परशिवाद्वैतप्रतिपादकमिदं शास्त्रम् 'तावत्यः संहिता अन्तेवासिने ब्रूयान्नासंवत्सरवासिने न प्रवक्तयिताचार्यः' इत्यैतरेयश्रुतेः—

भक्तस्यैवात्मशिष्यस्य विरक्तस्य महामतेः ।
गुरुणा ज्ञानिना देयमानन्दरसनिर्भरम् ॥

इति योगजागमवचनाच्च परीक्षितेभ्यः शिष्येभ्यो देयम्, अनधिकारिणे न ब्रूयादिति भावः ॥ ८५-८६ ॥

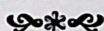
अट्ठाईस शैवागमों के तत्त्वों में उत्तम, वेद एवं वेदान्त का सर्वस्व, विद्याचार का प्रवर्त्तक, वीर माहेश्वरों के द्वारा स्वीकार्य, शिवाद्वैत का प्रकाशक यह शास्त्र परीक्षित शिष्यों को ही देना चाहिये । अन्य प्रकार के लोगों को कभी नहीं ॥ ८५-८६ ॥

एतच्छ्रवणमात्रेण सर्वेषां पापसंक्षयः ।

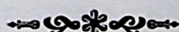
अवतीर्णं मया भूमौ शास्त्रस्यास्य प्रवृत्तये ।
प्रवर्तय शिवाद्वैतं त्वमपि ज्ञानमीदृशम् ॥ ८७ ॥

इति श्रीमत्षट्स्थलब्रह्मिणा शिवयोगिनाम्ना रेणुकाचार्येण विरचिते वीरशैवधर्मनिर्णये सिद्धान्तशिखामणौ शिवैक्यस्थलविषय-नवविधलिङ्गप्रसङ्गो नाम विंशः परिच्छेदः ॥ २० ॥

स्पष्टम् ॥ ८७ ॥



इति श्रीमत्पदवाक्यप्रमाणपारावारधुरीणश्रीमरितोण्डदार्येण विरचितायां तत्त्वप्रदीपिकाख्यायां सिद्धान्तशिखामणिव्याख्यायां शिवैक्यस्थल-विषयनवविधलिङ्गप्रसङ्गो नाम विंशः परिच्छेदः ॥ २० ॥



केवल इसके सुनने से सब लोगों के पाप का क्षय हो जाता है । इस शास्त्र के प्रवर्त्तन के लिये मैने इस पृथिवी पर अवतार लिया । आप भी इस प्रकार के शिवाद्वैत ज्ञान का प्रचार कीजिये ॥ ८७ ॥

इस प्रकार श्रीसिद्धान्तशिखामणि के शिवैक्यस्थलविषयनवविधलिंङ्गप्रसङ्ग नामक विंश परिच्छेद की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदीकृत 'ज्ञानवती' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ २० ॥

एकविंशः परिच्छेदः

विभीषणाभीष्टदानम्

अथ रेवणसिद्धेश्वरेण कुम्भसम्भवाय पिण्डादिवृत्तिज्ञानशून्यान्तोपदिष्टं वीरशैवसङ्ग्रहं शिवयोगिसंज्ञकाचार्यः स्वशिष्यप्रशिष्येषु प्रख्यातं कृत्वा अनन्तरं रेणुकविभीषणसंवादं रेवणसिद्धेश्वरैक्यं च पञ्चपञ्चाशत्सूत्रैः सङ्गृह्याह—

इत्युक्त्वा पश्यतस्तस्य पुरस्तादेव रेणुकः ।
अन्तर्दधे महादेवं चिन्तयन्नन्तरात्मना ॥ १ ॥

स्पष्टम् ॥ १ ॥

(विभीषण को अभीष्टदान)—ऐसा कहकर रेणुकगणेश्वर अपनी अन्तरात्मा में महादेव का ध्यान करते हुए उन अगस्त्य के सामने ही अन्तर्हित हो गये ॥ १ ॥

य इदं शिवसिद्धान्तं वीरशैवमतं परम् ।
शृणोति शुद्धमनसा स याति परमां गतिम् ॥ २ ॥

यः पुरुषो वीरशैवमतमङ्गलिङ्गषट्स्थलरूपं सद् वीरशैवधर्मनिर्णयसम्मतं परं सर्वोत्कृष्टम् इदं शिवसिद्धान्तं श्रुतिसम्मतमेतच्छिवसिद्धान्तं शुद्धमनसा निर्मलचित्तेन शृणोति, स परमां गतिं परमुक्तिं यातीत्यर्थः ॥ २ ॥

जो इस वीरशैवधर्मसम्मत शिवसिद्धान्त को शुद्ध मन से सुनता है वह परमगति को प्राप्त होता है ॥ २ ॥

अथान्तर्हितो रेणुको लङ्कां प्रविष्टवानित्याह—

स्वच्छन्दाचाररसिकः स्वेच्छानिर्मितविग्रहः ।
आससाद पुरीं लङ्कां रेणुको गणनायकः ॥ ३ ॥

निर्मलस्वेच्छाचाररसिक इत्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ३ ॥

स्वच्छन्द आचरण में आनन्द का अनुभव करने वाले तथा अपनी इच्छानुसार शरीर धारण करने वाले गणेश्वर रेणुक (अन्तर्हित होने के बाद) लङ्का पहुँच गये ॥ ३ ॥

तमागतं महाभागं सर्वागमविशारदम् ।
विभीषणः समालोक्य गेहं प्रावेशयन्निजम् ॥ ४ ॥

महाभागः श्रेष्ठः सर्वागमविशारदः कामिकादिवातुलान्तदिव्यागमकुशल इत्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ४ ॥

कामिक से लेकर वातुल पर्यन्त समस्त दिव्य आगमों में विशारद उन महाभाग रेणुकाचार्य को आया हुआ देखकर विभीषण ने उनको अपने घर में प्रविष्ट कराया ॥ ४ ॥

भद्रासने निजे रम्ये निवेश्य गणनायकम् ।
अर्घ्यपाद्यादिभिः सर्वैरुपचारैरपूजयत् ॥ ५ ॥

निजे भद्रासने स्वकीयसिंहासन इत्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ५ ॥

अपने रमणीय सिंहासन पर गणेश्वर को बैठाकर (विभीषण ने) अर्घ्यपाद्य आदि समस्त उपचारों से उनकी पूजा की ॥ ५ ॥

पूजितेन प्रसन्नेन रेणुकेन निरूपितः ।
निषसाद तदभ्याशे स निजासनमाश्रितः ॥ ६ ॥

स विभीषणः पूजाप्रसन्नेन श्रीरेणुकेनाज्ञापितः सन् तत्समीपे स्वकीयासनान्तरमाश्रितवान् सन् निषसाद उपविष्टवानित्यर्थः ॥ ६ ॥

पूजित अत एव प्रसन्न रेणुकाचार्य के द्वारा आदेश को प्राप्त कर वे विभीषण उनके पास अपने आसन पर बैठ गये ॥ ६ ॥

अथ विभीषणः—

आबभाषे गणेन्द्रं तं कृताञ्जलि विभीषणः ।
मानुषाकारसम्पन्नं साक्षाच्छिवमिवापरम् ॥ ७ ॥

विभीषणो मानुषाकृतिं साक्षादपरं शिवमिव स्थितमिति शेषः । तं गणेन्द्रं रेणुकं कृताञ्जलि कृतमञ्जलिपुटं यस्मिन् कर्मणि यथा भवति तथा आबभाषे विज्ञापनवचनं प्रयुक्तवानित्यर्थः ॥ ७ ॥

इसके बाद मनुष्य का आकार धारण किये हुए साक्षात् दूसरें शिव के समान उन गणेश्वर से विभीषण ने हाथ जोड़कर कहा ॥ ७ ॥

रेणुक त्वं गणाधीश शिवज्ञानपरायण ।
अवतीर्णं महीमेनामिति सम्यक् श्रुतं मया ॥ ८ ॥

भो शिवज्ञानपरायण गणाधीश श्रीरेणुक, त्वामेनां महीं भूलोकं प्रत्यवतीर्णं सन्तं मया सम्यग् इति लोकवार्तया श्रुतमित्यर्थः ॥ ८ ॥

हे शिवज्ञानपरायण गणेश्वर रेणुक! आप इस धराधाम पर अवतार लिये हैं ऐसा मैंने भलीभाँति सुना है ॥ ८ ॥

मद्भाग्यगौरवादद्य समायास्त्वं पुरीमिमाम् ।
कथं भाग्यविहीनानां सुलभाः स्युर्भवादृशाः ॥ ९ ॥

स्पष्टम् ॥ ९ ॥

मेरे महाभाग्य से आज आप इस नगरी (लङ्का) में आये हैं । भाग्यहीन लोगों को आप जैसे लोग कैसे सुलभ हो सकते हैं ॥ ९ ॥

मत्समो नास्ति लोकेषु भाग्यातिशयवत्तया ।
यस्य गेहं स्वयं प्राप्तो भवान् साक्षान्महेश्वरः ॥ १० ॥

भो रेणुक, भूलोकगतप्रत्यक्षमहेश्वरो भवान् स्वयमेव यस्य मे राजालयं प्राप्तोऽसि, ततो भाग्यातिशयत्त्वेन लोकेषु मत्समः कोऽपि नास्तीत्यर्थः ॥ १० ॥

इस संसार में मेरे समान अतिशय भाग्यशाली कोई नहीं है । जिसके घर साक्षात् महेश्वरस्वरूप आप स्वयं पधारे हैं ॥ १० ॥

अथ न तावन्मात्रमित्यत्राह—

कृतार्था मे पुरी ह्येषा कृतार्थो राक्षसान्वयः ।
जीवितं च कृतार्थं मे यस्य त्वं दृष्टिगोचरः ॥ ११ ॥

भो रेणुक, त्वं यस्य मे दृष्टिगोचरः, तस्मात् मे ममैषा लङ्कापुरी कृतार्थेत्यादि ॥ ११ ॥

जिसके सामने आप दिखलायी पड़ रहे हैं वह मेरी लङ्कापुरी और यह राक्षसकुल तथा मेरा जीवन (आज) कृतकृत्य हो गया ॥ ११ ॥

इति ब्रुवाणं कल्याणं राक्षसेन्द्रं गणेश्वरः ।
बभाषे सस्मितो वाणीं विश्वोल्लासकरीं शुभाम् ॥ १२ ॥

सस्मितः, मन्दस्मितेन युक्तः सन्नित्यर्थः । विश्वोल्लासकरीं सर्वेषामानन्दकरीमित्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ १२ ॥

ऐसा कहने वाले कल्याणयुक्त (अथवा ऐसा कल्याणयुक्त वचन कहने वाले) राक्षसेन्द्र से गणेश्वर मन्दहास के साथ विश्वोल्लासकारिणी शुभ वाणी बोले ॥ १२ ॥

अथ तत्प्रकारं चतुर्भिः श्लोकैर्वर्णयति—

विभीषण महाभाग जाने त्वां धर्मकोविदम् ।
त्वां विना कस्य लोकेषु जायते भक्तिरीदृशी ॥ १३ ॥

स्पष्टम् ॥ १३ ॥

हे महाभाग विभीषण! आपको मैं धर्मज्ञाता के रूप में जानता हूँ । इस लोक में आपके अतिरिक्त और किसमें इस प्रकार की भक्ति हो सकती है ॥ १३ ॥

समस्तशास्त्रसारज्ञं सर्वधर्मपरायणम् ।
अध्यात्मविद्यानिरतमाहुस्त्वां राक्षसेश्वर ॥ १४ ॥

भो विभीषण, त्वां समस्तनिगमादिशास्त्रसारज्ञं सकलशिवधर्मेषु परायणं तत्परमित्यर्थः । शिवाद्वैतज्ञानयोगरूपाध्यात्मविद्यानिरतं सन्तम् आहुरित्यर्थः ॥ १४ ॥

हे राक्षसेश्वर! (विद्वान् लोग) आपको समस्त शास्त्रों का तत्त्ववेत्ता, सर्वधर्म-परायण तथा अध्यात्म विद्या में निरत कहते हैं ॥ १४ ॥

अतः कारणात्—

त्वदीयधर्मसम्पत्तिं श्रुत्वाहं विस्मिताशयः ।
व्रजन् कैलासमचलं त्वदन्तिकमुपागतः ॥ १५ ॥

कैलासमचलं व्रजन्नहं त्वदीयशिवधर्मसम्पत्तिं श्रुत्वाऽऽश्चर्ययुक्तचित्तः सन् त्वत्समीपमागतोऽस्मीत्यर्थः ॥ १५ ॥

आपकी धर्माचरणप्रवृत्ति को सुनकर विस्मितचित्त मैं कैलास पर्वत को जाता हुआ आपके पास आ गया ॥ १५ ॥

प्रीतोऽस्मि तव चारित्रैः शोभनैर्लोकविश्रुतैः ।
दास्यामि ते वरं साक्षात् प्रार्थयस्व यथेप्सितम् ॥ १६ ॥

स्पष्टम् ॥ १६ ॥

मैं आपके लोकविश्रुत सुन्दर चरित्रों से प्रसन्न हूँ । मैं आपको साक्षात् वर दूँगा । यथेप्सित वर माँगो ॥ १६ ॥

इति प्रसादसुमुखे भाषमाणे गणेश्वरे ।
प्रणम्य परया प्रीत्या व्याजहार विभीषणः ॥ १७ ॥

व्याजहार विज्ञापनवाक्यं प्रयुक्तवानित्यर्थः ॥ १७ ॥

प्रसन्नता से युक्त गणेश्वर के ऐसा कहने पर विभीषण परम प्रसन्नता के साथ प्रणाम कर बोले ॥ १७ ॥

अथ तत्प्रकारं षड्भिः सूत्रैः प्रदर्श्य स्वस्य रावणोक्ताभिप्रायमष्टभिः सूत्रैः सूचयति—

आगमानुग्रहादेव भवतः शिवयोगिनः ।
दुर्लभाः सर्वलोकानां समपद्यन्त सम्पदः ॥ १८ ॥

भो गणेश्वर, शिवयोगिनो भवत आगमनरूपानुग्रहादेव सर्वजनदुर्लभाः सम्पदः समपद्यन्त प्राप्ता इत्यर्थः ॥ १८ ॥

आप जैसे शिवयोगी के आगमनरूपी कृपा से ही सब लोगों को दुर्लभ सम्पत्तियाँ मिलती हैं ॥ १८ ॥

तथापि प्रार्थनीयं मे किञ्चिदस्ति गणेश्वर ।
सुकृते परिपक्वे हि स्वयं सिद्ध्यति वाञ्छितम् ॥ १९ ॥

मे ममेत्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ १९ ॥

तो भी हे गणेश्वर! मेरी कुछ प्रार्थना है । पुण्य के परिपक्व होने पर अभीष्ट की सिद्धि स्वयं हो जाती है ॥ १९ ॥

रावणो हि मम भ्राता माहेश्वरशिखामणिः ।
अदृष्टशत्रुसम्बाधं शशास हि जगत्त्रयम् ॥ २० ॥

अदृष्टशत्रुसम्बाधं यथा भवति तथा जगत्त्रयं हि प्रसिद्धं सत् शशास पालयामासेत्यर्थः ॥ २० ॥

मेरे भाई रावण, जो शिवभक्तों में शिखामणि (के समान श्रेष्ठ) थे तथा जिनके पास शत्रु रूपी बाधा नहीं थी, ने तीनों लोकों पर शासन किया ॥ २० ॥

यस्य प्रतापमतुलं सोढुमक्षमशक्तयः ।
इन्द्रादयः सुराः सर्वे राज्यलक्ष्म्या वियोजिताः ॥ २१ ॥

स्पष्टम् ॥ २१ ॥

जिसके अतुल प्रताप को सहने में असमर्थ इन्द्र आदि समस्त देवगण (जिसके द्वारा) राज्यलक्ष्मी से रहित कर दिये गये ॥ २१ ॥

स तु कालवशेनेव स्वचारित्रविपर्ययात् ।
रणे विष्णववतारेण रामेण निहतोऽभवत् ॥ २२ ॥

स्पष्टम् ॥ २२ ॥

वे पराक्रमी रावण काल के प्रभाववश अपने विपरीत चरित्र के कारण विष्णु के अवतारभूत राम के द्वारा युद्ध में मारे गये ॥ २२ ॥

स तु रामशराविद्धः कण्ठस्खलितजीवितः ।
अवशिष्टं समालोक्य मामवादीत् सुदुःखितः ॥ २३ ॥

स रावणो रामबाणेन क्षतं लब्धवान् सन् कण्ठगतप्राणः सन् अवशिष्टं राक्षसेषु हतशिष्टं मां दृष्ट्वात्यन्तदुःखितः सन् प्रत्यवददित्यर्थः ॥ २३ ॥

राम के बाँणों से पूर्णतया विद्ध अत एव कण्ठगतप्राण वाले वे रावण अवशिष्ट (अर्थात् रावणवंश में एक मात्र बचे हुए) मुझको देखकर दुःखी होकर बोले ॥ २३ ॥

अथ रावणोक्तप्रकारमुपपादयति—

विभीषण विशेषज्ञ महाबुद्धे सुधार्मिक ।
अवशिष्टोऽसि वंशस्य रक्षसां भाग्यगौरवात् ॥ २४ ॥

स्पष्टम् ॥ २४ ॥

हे धर्माचरणशील महाबुद्धिमान् विशेषज्ञ! अर्थात् विशिष्ट ज्ञान वाले विभीषण! राक्षसों के महाभाग्य से एकमात्र आप राक्षसों के वंश में अवशिष्ट हैं ॥ २४ ॥

वयमज्ञानसम्पन्ना महत्सु द्रोहकारिणः ।
ईदृशीं तु गतिं प्राप्ता दुस्तरा हि विधिस्थितिः ॥ २५ ॥

वयमज्ञानसम्पन्नाः सन्तो महत्सु महतां विषये द्रोहकारिण इति ईदृशी गतिं प्राप्ताः । तथाहि विधिस्थितिः दैवाधीनवृत्तिः, दुस्तरा हि लङ्घितुमशक्या खल्वित्यर्थः ॥ २५ ॥

अज्ञानी, महान् लोगों के विरोध करने वाले हम इस प्रकार की गति को प्राप्त हुए । भाग्य की स्थिति अनुल्लङ्घनीय होती है ॥ २५ ॥

नवकं लिङ्गकोटीनां प्रतिष्ठाप्यमिह स्थले ।
इति सङ्कल्पितं पूर्वं मया तदवशिष्यते ॥ २६ ॥

इह स्थले अस्मिन् लङ्कापत्तनस्थले नवकोटिलिङ्गं प्रतिष्ठाप्यमिति मया पूर्वं सङ्कल्पितम्, तत्र किञ्चिदवशिष्टमस्तीत्यर्थः ॥ २६ ॥

मैने पहले यह सङ्कल्प किया था कि इस लङ्का नगरी में नव करोड़ शिवलिङ्ग की स्थापना करूँगा । उनमें से कुछ शेष है ॥ २६ ॥

कियदवशिष्टमित्यत्राह—

कोटिषट्कं तु लिङ्गानां मया साधु प्रतिष्ठितम् ।
कोटित्रयं तु लिङ्गानां स्थापनीयमतस्त्वया ॥ २७ ॥

अतस्तत्सङ्कल्पपूरणार्थमित्यर्थः ॥ २७ ॥

छह करोड़ लिङ्गों की मैने भलीभाँति प्रतिष्ठा की । इसके बाद तीन करोड़ लिङ्गों की स्थापना तुम्हें करनी है ॥ २८ ॥

इति तस्य वचः श्रुत्वा दीनबुद्धेर्मरिष्यतः ।
तथा साधु करोमीति प्रतिज्ञातं मया तथा ॥ २८ ॥

स्पष्टम् ॥ २८ ॥

दीनबुद्धि तथा मरणासन्न उस रावण की बात सुनकर 'मैं वैसा ही भलीभाँति करूँगा' ऐसी मैने प्रतिज्ञा की ॥ २८ ॥

युगपच्छिवलिङ्गानां कोटित्रयमनुत्तमम् ।
प्रतिष्ठाप्यं यथाशास्त्रमिति मे निश्चयोऽभवत् ॥ २९ ॥

स्पष्टम् ॥ २९ ॥

फिर मैने निश्चय किया कि तीन करोड़ उत्तमोत्तम शिवलिङ्गों की मैं एक साथ शास्त्रविधि से स्थापना करूँगा ॥ २९ ॥

लिङ्गकोटित्रयस्येह युगपत् स्थापनाविधौ ।
अविदन्नेकमाचार्यमहमेवमवस्थितः ॥ ३० ॥

इह लङ्कायामित्यर्थः । युगपल्लिङ्गत्रिकोटिस्थापनविषये मुख्यमाचार्यमलब्धवान् सन्नेवं स्थितोऽस्मीत्यर्थः ॥ ३० ॥

तीन करोड़ शिवलिङ्गों की स्थापना करने में समर्थ एक आचार्य को न जानने के कारण मैं यहाँ (= लङ्का में) इसी प्रकार (अर्थात् विना लिङ्गस्थापना के) पड़ा हुआ हूँ ॥ ३० ॥

शिवशास्त्रविशेषज्ञ शिवज्ञाननिधिर्भवान् ।
आचार्यभावमासाद्य मम पूरय वाञ्छितम् ॥ ३१ ॥

शिवशास्त्रविशेषज्ञ भो रेवणसिद्ध, भवान् शिवज्ञानस्य निधिर्निक्षेपस्थानभूतः, अत आचार्यभावमासाद्य युगपत्कोटित्रयाचार्यभावं प्राप्य ममाभीष्टं पूरयेत्यर्थः ॥ ३१ ॥

आप शैवशास्त्र के विशेषज्ञ तथा शिवज्ञान की निधि हैं। आचार्य पद को स्वीकार कर मेरी इच्छा को पूर्ण किजिये ॥ ३१ ॥

अथ श्रीरेणुकस्तस्याभीष्टं पूरयित्वाऽन्तर्हित इति श्लोकपञ्चकेन प्रतिपादयति—

तस्येति वचनं श्रुत्वा राक्षसेन्द्रस्य धीमतः ।
तथेति प्रतिशुश्राव सर्वज्ञो गणनायकः ॥ ३२ ॥

प्रतिशुश्राव अङ्गीकृतवानित्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ३२ ॥

बुद्धिमान् राक्षसेन्द्र विभीषण की इस वचनावली को सुनकर सर्वज्ञ गणेश्वर ने 'वैसा ही होगा'—ऐसी प्रतिज्ञा की ॥ ३२ ॥

तत्र सन्तुष्टचित्तस्य पौलस्त्यस्येष्टसिद्धये ।
कोटित्रयं तु लिङ्गानां यथाशास्त्रं यथाविधि ।
त्रिकोट्याचार्यरूपेण स्थापितं तेन तत्क्षणे ॥ ३३ ॥

तत्र लङ्कायां पौलस्त्यस्य विभीषणस्येत्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ३३ ॥

सन्तुष्टचित्त विभीषण की इष्टसिद्धि के लिये त्रिकोटिआचार्य के रूप में रेणुक ने तीन करोड़ शिवलिङ्गों की शास्त्र एवं विधिविधान के अनुसार तत्काल स्थापना कर दी ॥ ३३ ॥

तादृशं तस्या माहात्म्यं समालोक्य विभीषणः ।
प्रणनाम मुहुर्भक्त्या पादयोस्तस्य विस्मितः ॥ ३४ ॥

स्पष्टम् ॥ ३४ ॥

विभीषण उस रेणुकाचार्य की उस प्रकार की महिमा को देखकर आश्चर्यचकित हो गये और बार-बार भक्तिपूर्वक उनके चरणों में प्रणाम करने लगे ॥ ३४ ॥

प्रणतं विनयोपेतं प्रहृष्टं राक्षसेश्वरम् ।
अनुगृह्य स्वमाहात्म्याद् रेणुकोऽन्तर्हितोऽभवत् ॥ ३५ ॥

स्पष्टम् ॥ ३५ ॥

विनय से युक्त प्रसन्न तथा नमस्कार किये हुए राक्षसेश्वर के ऊपर अनुग्रह

कर रेणुकाचार्य अपनी महिमा से अन्तर्हित हो गये ॥ ३५ ॥

बिभीषणोऽपि हृष्टात्मा रेणुकस्य प्रसादतः ।
शिवभक्तिरसासक्तः स्थिरराज्यमपालयत् ॥ ३६ ॥

स्पष्टम् ॥ ३६ ॥

रेणुकाचार्य की कृपा से विभीषण भी प्रसन्नचित्त तथा शिवभक्तिरस से आप्लावित होकर स्थिर राज्य की रक्षा में लग गये ॥ ३६ ॥

अथाष्टदिक्षु प्रसिद्धस्य रेवणसिद्धेश्वरस्य महत्त्वं सङ्कोचेनाष्टभिः सूत्रैः प्रकाशयति—

रेणुकोऽपि महातेजाः सञ्चरन् क्षितिमण्डले ।
प्रच्छन्नश्च प्रकाशश्च परमाद्वैतभावितः ॥ ३७ ॥
कांश्चिद् दृष्टिनिपातेन करुणारसवर्षिणा ।
अपरानुपदेशेन शिवाद्वैताभिमर्शिना ॥ ३८ ॥
अन्यांश्च सहवासेन समस्तमलहारिणा ।
कृतार्थयन् जनान् सर्वान् कृतिनः पक्वकर्मिणः ॥ ३९ ॥
दर्शयित्वा निजाधिक्यं शिवदर्शनलालसः ।
खण्डयित्वा दुराचारान् पाषण्डान् भिन्नदर्शनान् ॥ ४० ॥
यन्त्रमन्त्रकलासिद्धान् विमतान् सिद्धमण्डलान् ।
विजित्य स्वप्रभावेण स्थापयित्वा शिवागमान् ।
आजगाम निजावासं कोल्लिपाक्यभिधं पुरम् ॥ ४१ ॥

प्रच्छन्नश्च सप्तशतवर्षपर्यन्तमिति शेषः । तथा प्रकटितः सन् कांश्चिज्जनान् करुणारसपूरितकटाक्षेण कृतार्थयन्, अपरान् शिवाद्वैतप्रकाशकोपदेशेन कृतार्थयन्, अन्यान् निर्मलसहवासेन कृतार्थयन्, अवशिष्टसर्वजनान् कृतिनः सकलकलाकुशलान् पक्वकर्मिणः परिपक्वमलमायापाशवन्तः सन्तश्च कृतार्थयन् सन्, शिवदर्शनलालसः शिवसमयलम्पटः श्रीरेवणसिद्धो निजाधिक्यम् अनेकचित्रविचित्रनिजमहत्त्वं दर्शयित्वा भिन्नदर्शनान् वैष्णवाद्यन्यसमयनिष्ठान् पाषण्डान् शङ्खचक्राद्यन्यलाञ्छनयुक्तान् दुराचारान् खण्डयित्वा यन्त्रमन्त्रादिचतुःषष्टिकलासिद्धियुक्तान् कापालिकादिपरमत-सिद्धमण्डलान् गोरक्षादिनवकोटिसिद्धान् स्वसामर्थ्येन विजित्य कामिकादि-शिवसिद्धान्तान् स्थापयित्वा निजावासं कोल्लिपाक्यभिधं पुरमाजगाम आससादेत्यर्थः ॥ ३७-४१ ॥

महातेजस्वी रेणुकाचार्य भी पृथ्वीमण्डल पर सञ्चरण करते हुए कभी प्रकट कभी तिरोहित, परमअद्वैत भाव से भावित हो कुछ को करुणापूर्ण दृष्टि से अनुगृहीत करते, कुछ को शिवाद्वैतविषयक उपदेश देते, अन्य लोगों को समस्त मलहारी सहवास से कृतकृत्य करते हुए, पक्वकर्ममलाशय वाले सुकृती जनों को अपना आधिक्य दिखाकर कृतार्थ करते हुए, भिन्न दर्शन वाले पाखण्डी दुराचारियों का खण्डन कर, यन्त्र मन्त्र कला में सिद्ध विरोधी सिद्ध मण्डलों को अपने प्रभाव से जीत कर शैवागम की स्थापना कर शिव दर्शन की इच्छा से अपने आवास कोल्लिपाक्य नामक नगर में आ गये ॥ ३७-४१ ॥

तत्र सम्भावित: सर्वैर्जनै: शिवपरायणै: ।
सोमनाथाभिधानस्य शिवस्य प्राप मन्दिरम् ॥ ४२ ॥

सम्भावित: सत्कृत इत्यर्थ: । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ४२ ॥

वहाँ शिवपरायण समस्त भक्तों के द्वारा सम्मानित होकर रेणुकाचार्य सोमनाथ नामक शिव मन्दिर को गये । ४२ ॥

पश्यतां तत्र सर्वेषां भक्तानां शिवयोगिनाम् ।
तन्वानो विस्मयं भावैस्तुष्टाव परमेश्वरम् ॥ ४३ ॥

भावैर्निर्मलगुणैरित्यर्थ: । विस्मयमाश्चर्यं तन्वानो विस्तारयन्नित्यर्थ: ॥ ४३ ॥

वहाँ पर द्रष्टा बने समस्त शिवयोगी भक्तों के आश्चर्य की वृद्धि करते हुए उन्होंने भावों से परमेश्वर की स्तुति की (अथवा अपने भक्तिभावों से भक्तों के विस्मय को बढ़ाते हुए स्वयं शिव की स्तुति की) ॥ ४३ ॥

अथ सप्तभि: सूत्रै: सोमेश्वरस्य स्तुतिं करोति—

देवदेव जगन्नाथ जगत्कारणकारण ।
ब्रह्मविष्णुसुराधीशवन्द्यमानपदाम्बुज ॥ ४४ ॥

अत्र जगच्छब्देन भुवनान्युच्यन्ते । तत्कारणीभूतबिन्दुमायादीनामपि कारणीभूत! इत्यर्थ: ॥ ४४ ॥

(रेणुकाचार्यद्वारा की गयी स्तुति)—हे देवदेव!, जगन्नाथ, संसार के कारणभूत माया या प्रकृति आदि के कारण, ब्रह्मा विष्णु सुराधीश अर्थात् इन्द्र के द्वारा आपके चरण कमलों की वन्दना की जाती है ॥ ४४ ॥

संसारनाटकभ्रान्तिकलानिर्वहणप्रद ।
समस्तवेदवेदान्तपरिबोधितवैभव ॥ ४५ ॥

संसारनाटकभ्रान्तिकलाजयप्रद इत्यर्थः ॥ ४५ ॥

आप संसारनाटकरूपी भ्रम की कला का निर्वहण करने वाले तथा समस्त वेद वेदान्त के द्वारा पूर्णतया बोधितवैभव वाले हैं ॥ ४५ ॥

संसारवैद्य सर्वज्ञ सर्वशक्तिनिरङ्कुश ।
सच्चिदानन्द सर्वस्व परमाकाशविग्रह ॥ ४६ ॥

'आकाशशरीरं ब्रह्म'[१] **इति श्रुतेश्चिदाकाशस्वरूप इत्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ४६ ॥**

आप संसाररूपी रोग के वैद्य, सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, निरङ्कुश, सत् चित् आनन्द स्वरूप, सर्वस्व तथा पराकाशरूपी शरीर वाले हैं ॥ ४६ ॥

समस्तजगदाधारज्योतिर्लिङ्गविजृम्भण ।
सदाशिवमुखानेकदिव्यमूर्तिकलाधर ॥ ४७ ॥

'ज्वाललिङ्गाय नमः'[२] **इति श्रुतेर्ज्योतिर्लिङ्गस्वरूपेण जृम्भमाण इत्यर्थः ।** 'स्थिरेभिरङ्गैः पुरुरूप उग्रः'[३] **इति श्रुतेः सकलनिष्कलसदाशिवप्रभृतिदिव्यमूर्तिकलाधर इत्यर्थः । अत्र—**'स एको रुद्रः स ईशानः स भगवान् स महेश्वरः स महादेवः'[४] **इति श्रुतिः ॥ ४७ ॥**

सम्पूर्ण संसार के आधार तथा ज्योतिर्लिङ्ग के प्रकाशक (अथवा समस्त जगत् के आधारभूत ज्योतिर्लिङ्ग के प्रकाशक तथा सदाशिव प्रमुख अनेक दिव्य मूर्त्तियों के कलाकार हैं) ॥ ४७ ॥

गुणत्रयपदातीत मलत्रयविनाशन ।
जगत्त्रयविलासात्मन् श्रुतित्रयविलोचन ॥ ४८ ॥

सत्त्वरजस्तमोगुणस्थानातीत आणवकार्मणमायिकाख्यमलत्रयोन्मूलनकर स्वर्गमर्त्यपाताललक्षणजगत्त्रयसृष्ट्यादिपञ्चकृत्यक्रीडाविलासोन्मुख ऋग्यजुःसमाख्यश्रुतित्रयविलोचन इत्यर्थः ॥ ४८ ॥

सत्त्व आदि तीनों गुणों के स्तर के ऊपर स्थित, आणव आदि तीन मलों के विनाशक, त्रैलोक्य के रूप में चलने वाले (सृष्टि आदि) पञ्चकृत्य क्रीड़ा का आनन्द लेने वाले तथा ऋग्यजुःसाम नामक तीनों वेदरूपी त्रिनेत्र वाले हैं ॥ ४८ ॥

---

१. तै०उ० १।६।२
२. म०ना०उ० १४।९
३. ऋ०सं० २।३३।९
४. अ०शि०उ० ३

पाहि मां परमेशान पाहि मां पार्वतीपते ।
त्वदाज्ञया मयैतावत्कालमात्रं महीतले ।
अचारि भवदुक्तानामागमानां प्रसिद्धये ॥ ४९ ॥

स्पष्टम् ॥ ४९ ॥

हे परमेश्वर! मेरी रक्षा कीजिये । हे पार्वतीपते! मेरा त्राण कीजिये । आपकी आज्ञा से मैने इतने समय तक पृथ्वीतल पर आपके द्वारा कहे गये आगमों की प्रसिद्धि (अर्थात् प्रचार प्रसार) के लिये विचरण किया ॥ ४९ ॥

अतः परं स्वरूपं ते प्राप्तुकामोऽस्मि शङ्कर ।
अन्तरं देहि मे किञ्चिदनुकम्पाविशेषतः ॥ ५० ॥

भो शङ्कर सुखकर, तेन प्रसिद्ध सोमेश्वर, अतः परम् इतः परमित्यर्थः । अहं ते स्वरूपं लब्धुकामोऽस्मि, मे मम अन्तरमवकाशं देहि । अनुकम्पां कृपां विशेषतो देहि कुर्वित्यर्थः ॥ ५० ॥

हे शङ्कर! इसके बाद मैं आपके स्वरूप को प्राप्त करना चाहता हूँ । विशेष कृपा कर मुझे थोड़ा सा अवकाश दीजिये ॥ ५० ॥

अथ वृत्तत्रयेण शिवप्रसन्नतां रेवणसिद्धेश्वरस्य लिङ्गैक्य च प्रतिपादयति—

इत्युक्ते गणनायकेन सहसा लिङ्गात् ततः शाङ्करात्
वत्सागच्छ महानुभाव भवतो भक्त्या प्रसन्नोऽस्म्यहम् ।
इत्युच्चैरगदद् वचस्तनुभृतामश्चर्यमासीत् तदा
दिव्यो दुन्दुभिराननाद गगने पुष्पं ववर्षुर्गणाः ॥ ५१ ॥

गणनायकेन रेवणसिद्धेश्वरेण इत्युक्ते एवं विज्ञापिते सति सहसा तत्क्षणेन शाङ्करात् ततो लिङ्गात् सोमेश्वरलिङ्गाद् भो महानुभाव निगमागमेषु महानिश्चयबुद्धिमन् वत्स रेवणसिद्धाख्यकुमार, भवतस्तव भक्त्या नवविधभक्त्या अहं प्रसन्नोऽस्मि, आगच्छ आयाहीति वचः शिव उच्चैरगदद् आवादीत् । तदा तस्मिन् समये तनुभृतां शरीरिणामाश्चर्यं कौतुकमासीत्, गगने दिव्यो दुन्दभिः देवदुन्दुभिः, आननाद सर्वत्र ध्वनितवान्, गणाः प्रमथगणा देवगणाश्च, पुष्पं कुसुमवृष्टिं ववर्षुरित्यर्थः ॥ ५१ ॥

गणेश्वर के ऐसा कहने पर अकस्मात् शिवलिङ्ग से ऊँचे स्वर से वाणी निकली—'हे वत्स! आओ । हे महानुभाव! मैं तुम्हारी (नवधा) भक्ति से प्रसन्न हूँ ।' उस समय सब मनुष्य को आश्चर्य हो गया । आकाश में देवदुन्दुभि बजने लगी और देवगणों ने पुष्प वृष्टि की ॥ ५१ ॥

श्रुत्वा लिङ्गाद् वचनमुदितं शाङ्करं सानुकम्पं
संहृष्टात्मा गणपतिरथो ज्योतिषा दीप्यमानः ।
जातोत्कण्ठैः परमनुचरैर्योगिभिः स्तूयमानो
ज्योतिर्लिङ्गं परमनुविशत् स्वप्रकाशं तदानीम् ॥ ५२ ॥

अथो पुष्पवृष्ट्यनन्तरं संहृष्टात्मा सन्तुष्टचित्तो गणपतिः शिवगणपतिः श्रीरेवणसिद्धो ज्योतिषा शिवप्रकाशेन दीप्यमानः प्रकाशमानः सन् लिङ्गात् सोमेशलिङ्गाद् उदितम् उद्भूतं सानुकम्पं कृपासहितं शाङ्करं वचनं शिवसम्बन्धिवचनं पूर्वोक्तवाक्यं श्रुत्वा, जातोत्कण्ठैर् उद्भूताश्चर्यवद्भिः, अनुचरैः सहचरैः शिवयोगिभिः परमधिकतया स्तूयमानः सन्, तदानीं तस्मिन् समये परं सर्वोत्कृष्टं स्वप्रकाशं निजप्रकाशरूपं ज्योतिर्लिङ्गं 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'[1], 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्'[2] इति श्रुतिसिद्धचिल्लिङ्ग-मनुविशत् स्वरूपहानिवृद्धिव्यतिरेकेण सामरस्येन प्रविष्टवानित्यर्थः ॥ ५२ ॥

लिङ्ग से निकले हुए अनुकम्पायुक्त शाङ्कर वचन को सुनकर गणेश्वर का मन प्रसन्न हो गया । ज्योति से वे दीव्यमान हो उठे । परमउत्कण्ठायुक्त अनुचरभूत योगियों के द्वारा स्तूयमान वे उस समय परम स्वप्रकाश ज्योर्तिर्लिङ्ग में प्रवेश कर गये ॥ ५२ ॥

लीने तस्मिन् शाङ्करे स्वप्रकाशे
दिव्याकारे रेणुके सिद्धनाथे ।
सर्वो लोको विस्मितोऽभूत् तदानीं
शैवी भक्तिः सप्रमाणा बभूव ॥ ५३ ॥

दिव्याकारे मनोहरस्वरूपे रेणुके सिद्धनाथे रेवणसिद्धेश्वरे स्वप्रकाशे शाङ्करे तस्मिन् लिङ्गे सोमेशलिङ्गे लीने सति ऐक्यं गते सति सर्वो लोकः समस्तजनो विस्मित आश्चर्ययुक्त आसीत् । तदानीं तस्मिन् काले शैवी भक्तिः शिवसम्बन्धिनी भक्तिः सप्रमाणा प्रमाणेन सह वर्तमाना बभूव आसीदित्यर्थः ॥ ५३ ॥

दिव्य आकार वाले सिद्धनाथ रेणुकाचार्य के उस स्वप्रकाश शाङ्कर लिङ्ग में लीन हो जाने पर उस समय सब लोग आश्चर्यचकित हो गये तथा शैवी भक्ति प्रमाणित हो गयी ॥ ५३ ॥

श्रीवेदागमवीरशैवसरणिं श्रीषट्स्थलोद्यन्मणिं
श्रीजीवेश्वरयोगपद्मतरणिं श्रीगोप्यचिन्तामणिम् ।

---

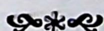
१. क०उ० ५।१५ २. क०उ० ५।१५

श्रीसिद्धान्तशिखामणिं लिखयिता यस्तं लिखित्वा परान्
श्रुत्वा श्रावयिता स याति विमलां भुक्तिं च मुक्तिं पराम्॥ ५४ ॥

इति श्रीमत्षट्स्थलब्रह्मिणा शिवयोगिनाम्ना रेणुकाचार्येण विरचिते वीरशैवधर्मनिर्णये सिद्धान्तशिखामणौ रेणुकविभीषणसंवादे रेणुकशिवलिङ्गैक्यप्रसङ्गो नामैकविंशः परिच्छेदः ॥ २१ ॥

॥ श्रीसिद्धान्तशिखामणिश्च समाप्तः ॥

श्रीवेदागमवीरशैवसरणिं मङ्गलकरसकलसमयशास्त्रोत्तरवेदागमप्रतिपाद्य-वीरशैवसरणिरेव सरणिर्यस्येत्यर्थः, श्रीषट्स्थलोद्यन्मणिं मङ्गलात्मकैकोत्तर-शतस्थलरूपाङ्गलिङ्गषट्स्थलमार्गप्रकाशनशाणोल्लीढरत्नम्, श्रीजीवेश्वरयोग-पद्मतरणिं शोभमानजीवपरमैक्यलक्षणकमलविकसनार्कम्, श्रीगोप्यचिन्ता-मणिं मङ्गलकरशिवरहस्यार्थप्रकाशनचिन्तारत्नं तं श्रीसिद्धान्तशिखामण्याख्य-वीरशैवशास्त्रं यो लिखित्वा परान् लेखयिता, यः श्रुत्वा परान् श्रावयिता, स विमलां भक्तिं परां मुक्तिं च याति प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ५४ ॥



इति श्रीमत्पदवाक्यप्रमाणपारावारधुरीणश्रीमरितोण्डदार्येण विरचितायां तत्त्वप्रदीपिकाख्यायां सिद्धान्तशिखामणिव्याख्यायां रेणुकविभीषणसंवादे रेणुकशिवलिङ्गैक्यप्रसङ्गो नामैकविंशः परिच्छेदः ॥ २१ ॥

...❀...

(फलश्रुति वर्णन)—श्रीवेदागम वीरशैव के सिद्धान्त का अनुसरण करने वाली, मङ्गलकारी छह स्थलों की उगती (अर्थात् चमकती) हुई मणि, जीव और ईश्वर के योगरूपी कमल की सूर्य, गोप्यचिन्तामणि रूप श्रीसिद्धान्त-शिखामणि को लिखने वाला जो मनुष्य इनको लिखेगा या लिखवायेगा या लिखकर सुनायेगा या स्वयं सुनेगा वह निर्मल भोग एवं पर मोक्ष को प्राप्त करेगा ॥ ५४ ॥

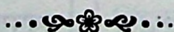
इस प्रकार श्रीसिद्धान्तशिखामणि के रेणुकविभीषणसम्वाद तथा रेणुकशिवलिङ्गैक्यप्रसङ्ग नामक एकविंश परिच्छेद की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदीकृत 'ज्ञानवती' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ २१ ॥



परिशिष्टानि

१. श्लोकार्धानुक्रमणी
२. व्याख्योद्धृतग्रन्थ-सङ्केतसूची
३. न्यायसूची

श्लोकार्धानुक्रमणी



व्याख्योद्धृतग्रन्थ-सङ्केतसूची

अ०को०	अमरकोश
अम०उ०	अमनस्कोपनिषत्
अ०व०	अभियुक्तवचन
अ०शिखो०	अथर्वशिखोपनिषत्
अ०शिर०	अथर्वशिर उपनिषत्
अ०श्रु०	अथर्वश्रुति
आ०	आगम
आ०पु०	आदित्यपुराण
आ०श्रु०	आथर्वणश्रुति
ई०प्र०	ईश्वरप्रत्यभिज्ञा
ऋ०	ऋग्वेद
ऐ०आ०	ऐतरेयारण्यक
ऐ०उ०	ऐतरेयोपनिषत्
ऐ०श्रु०	ऐतरेयश्रुति
क०उ०	कठोपनिषत्
का०आ०	कामिकागम
कि०त०	किरणतन्त्र
कि०आ०	किरणागम
कै०उ०	कैवल्योपनिषत्
कौ०ब्रा०उ०	कौषातकिब्राह्मणोपनिषत्
छा०उ०	छान्दोग्योपनिषत्
जा०उ०	जाबालोपनिषत्
जै०ब्रा०	जैमिनीयब्राह्मणोपनिषत्
त०प्र०	तत्त्वप्रकाश
तै०आ०	तैत्तिरीयारण्यक
तै०उ०	तैत्तिरीयोपनिषत्
त्र०त०	त्रयीतन्त्र
त्रि०म०	त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषत्
दे०का०	देवीकालोत्तर
नि०का०	निश्वासकारिका
नृ०उ०	नृसिंहोत्तरतापनीयोपनिषत्
प०त०	(पति)परातन्त्र
प०त्री०	परात्रीशिका
पा०उ०	पाराशरोपपुराण
पा०यो०सू०	पातञ्जलयोगसूत्र
पु०	पुराण
पौ०आ०	पौष्करागम
प्र०उ०	प्रश्नोपनिषत्
प्राभा०	प्राभाकर
बृ०उ०	बृहदारण्यकोपनिषत्
बृ०जा०उ०	बृहज्जाबालोपनिषत्
ब्र०उ०	ब्रह्मोत्तरखण्ड
ब्र०बि०उ०	ब्रह्मबिन्दूपनिषत्
ब्र०सू०	ब्रह्मसूत्र
भ०गी०	भगवदगीता
भ०जा०उ०	भस्मजाबालोपनिषत्
म०ना०उ०	महानारायणोपनिषत्
म०म०प०	महार्थमञ्जरीपरिमल
म०स्त०	महिम्नस्तव
महो०	महोपनिषत्
मा०का०	माण्डूक्यकारिका
मा०सं०	माध्यन्दिनसंहिता
मी०सू०	मीमांसासूत्र
मु०उ०	मुण्डकोपनिषत्
मृ०वि०	मृगेन्द्रागम विद्यापाद
मै०उ०	मैत्र्युपनिषत्

या०श्रु०	याज्ञवल्क्यश्रुति	श०सं०	शङ्करसंहिता
यो०आ०	योगागम	शि०आ०	शिवागम
यो०शा०	योगशास्त्र	शि०दृ०	शिवदृष्टि
यो०सू०	योगसूत्र	शि०ध०	शिवधर्मोत्तर
रु०जा०	रुद्राक्षजाबालोपनिषत्	शि०र०	शिवरहस्य
लि०उ०	लिङ्गोपनिषत्	शि०सं०उ०	शिवसङ्कल्पोपनिषत्
लि०सू०	लिङ्गसूक्त	श्रु०	श्रुति
व०उ०	वराहोपनिषत्	श्वे०उ०	श्वेताश्वतरोपनिषत्
वा०उ०	वातुलोत्तर	स०ज्ञा०	सर्वज्ञानोत्तर
वा०त०	वातुलतन्त्र	स०प०	सङ्केतपद्धति
वा०प०	वाक्यपदीय	स०म०	सर्वमङ्गलाशासन
वा०व०	वासिष्ठवचन	सि०व०	सिद्धान्तवचन
वा०सं०	वायवीयसंहिता	सि०शि०	सिद्धान्तशिखामणि
वि०प०	विरूपाक्षपञ्चाशिका	सू०गी०	सूतगीता
वि०सा०	विश्वसारोत्तर	सू०सं०	सूतसंहिता
वी०आ०	वीरागम	स्क०पु०	स्कन्दपुराण
वी०त०	वीरतन्त्र	स्मृ०	स्मृति
वे०व०	वेदान्तवचन	स्वा०आ०	स्वायम्भुवागम
व्या०व०	व्यासवचन	हं०उ०	हंसोपनिषत्



न्यायसूची